क्रम

१
नई आलोचना

आज के आलोचना क्षितिज पर दृष्टिपात करते हैं तो उसका प्रत्येक स्तर गतिमय प्रतीत होता है। युग बदला है तो युग के वैचारिक द्वन्द्व ने दृष्टिकोण भी बदले हैं। पहले की कोमल-प्राण कल्पना आज अधिक सक्रिय, अधिक जागरूक हो उठी है। युग और जीवन से टकराकर अब तक की दबी पड़ी कुण्ठाएँ चोट खाये विषधर की भाँति फन उठाए हैं। बुजुर्गों की पीढ़ी आगत-अनागत के आह्वान से भरी थी। उनका अनुभूति-सिक्त सहज भावलहरियों का अक्षय स्रोत, शास्त्रीय नियम एवं लोकमत इन दो कूलों को स्पर्श करता हुआ, शत-सहस्र धाराओं में उच्छ्वसित हो—सदानीरा की भाँति—अप्रतिहत वेग से बहा करता था। उनके मर्यादित चिंतन का बाँध कम टूटता था, उनकी तुष्ट दृष्टि तर्कशील न हुई थी। पर नई चेतना में पला नये युग का नया साहित्यकार तात्कालिक परिस्थितियों एवं दैनन्दिन संघर्षों से टक्कर लेकर अपेक्षाकृत सतर्क हो गया है। वह पूर्ववर्तियों से अपने आपको उच्छिन्न करके सर्वथा नई लीक का राही है। साहित्य के प्रति उसके दायित्व नये हैं, उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्य का मानदण्ड नया है, उसके मूल्यांकन का विधान नया है। भौतिकता के विकास के साथ ज्यों-ज्यों रागात्मकता शिथिल पड़ती जा रही है, बौद्धिकता उभर रही है। फलतः संक्रमण की इस अराजकता के बीच आलोचना की ऐसी अभिनव प्रणालियाँ विकसित हुई हैं जिनमें साहित्य के प्रति एक नवीन और तीव्र चेतना का आभास मिलता है।

तो गतिक्षिप्रता ने आलोचना को कई डग आगे बढ़ाया है। मानवीय चिंतन इतना आगे बढ़ गया है कि उसमें नई सृजनोत्कण्ठा के साथ-साथ बौद्धिक जिज्ञासाओं की तार्किक प्रणाली से निजी सृजन को आँकने की ख्वाहिश भी जग गई है। आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना रचनात्मक पथ पर अग्रसर होती रही, गो कि उसके स्थायी मूल्य और माप की कसौटियाँ अभी सुस्थिर नहीं हुई। दिनानुदिन बौद्धिक नवीनता के आग्रह ने आलोचना के उपादानों को उन निरे रूढ़ अर्थों में ही ग्रहण नहीं किया, अपितु आलोचना-परम्परा की लीक से अलग हट कर साहित्यिक प्रक्रिया के सच्चे स्वरूप और जीवन की रागबोधात्मक अनुभूतियों एवं वाह्य वास्तविकताओं के साथ उसके संवेदनात्मक सम्बन्धों को जानने और समझने का

भी प्रयास किया। अलबत्ता आलोचना की प्राणवान परम्परा अभी विकसित नहीं हुई, पर साहित्य में उसकी गहरी जड़ें है, उसके निर्माण में, उसकी गठन में, उसके स्थायित्व में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

मौजूदा आलोचना प्राचीन और नवीन का सन्धिचिह्न है। वह अभी समृद्धि के उस छोर को नहीं छू पाई, जहाँ से दिग्भ्रान्त होने का ख़तरा टल जाता है। पर अन्य प्रभावों को आत्मसात् कर बाहर के दाय ने उसे संवर्द्धित और परिपुष्ट किया है। साहित्य के समूहगत पर्यालोचन, परीक्षण, विश्लेषण, उसके सत्य किंवा अर्द्ध-सत्य निष्कर्षों की खोज, सम्यक् अनुशीलन तथा देशीय एवं वहिर्देशीय अन्तर्विरोधों ने इधर कितनी ही प्रवृत्तियों को जन्म दिया है जिनमे युगीन वैविध्य और असामान्य गुणयोग है। मुख्य रूप से तो दो ही प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं—अन्तर्वादी और वस्तुवादी। अन्तर्वादी प्रवृत्ति का मूल मनोविज्ञान है जिसमें अहंवृत्ति, आत्म-प्रपीड़न, स्वप्न-परिपूर्ति और दमित इच्छाओं के कारण स्व-रत्यात्मकता (Neurosist neurosis) आदि वैयक्तिक विकृतियाँ संग्रथित हैं। कुछ आत्मकेन्द्रिक आलोचकों ने मनोविश्लेषण का दायरा सीमित कर ऐसे अन्तर्मुखी, अगम्य, अशरीरी तत्त्वों की खोज की है जिनमें मानव-मन के भीतरी पर्त्तों में दबी पड़ी काम-कुण्ठाओं का विवेचन है। जैसे-जैसे भौतिकशास्त्रियों की गवेषणाएँ आगे बढ़ रही है, मानव-जिज्ञासा के पीछे छिपी कतिपय स्वीकृत-अस्वीकृत मान्यताओं के परीक्षणात्मक प्रयोग शुरू हो गए हैं।

पराजित भोगवाद

कहना न होगा—ऐसे आलोचक फ्रायड के मतवादों से प्रभावित हैं जिसने मनुष्य की तमाम विकृतियों अथवा सांघातिक मानसिक रोगों की उत्पत्ति निरोधित प्रेरणाओं में खोजी है। उसके अनुसार मनुष्य की मनःप्रवृत्तियां ऐसी हैं जो स्वभावतः अप्राप्य की ओर दौड़ा करती हैं। वे उन वस्तुओं को पाने के लिए सतत चेष्टाशील रहती हैं जो नितांत सामाजिक अथवा व्यावहारिक जीवन में अमान्य है। अपने प्रयत्न में बाधा पाने से मनुष्य की प्रबल भोगेच्छा, उसकी उन्मत्त, उद्दाम लालसाएँ, उग्र संवेग निरन्तर दमित होने के कारण अचेतन मन में द्वंद्व पैदा करते हैं और ऐकांतिक वृत्तियों पर हावी होकर अन्तःकरण के अभेद्य स्तरों में संचित हो जाते हैं जो बाहर से तो ओझल, पर भीतर से मनोव्यापारों का अविभाज्य अंग बने रहते है। इन तिरोभूत अवांछित मनोवेगों, घुटे इन्सानी जज़्बातों का क्षणिक तृप्ति से शमन नहीं होता, अपितु समय-असमय इन्हें अनि-यन्त्रित उत्तेजना मिलती रहती है जो सजग चेतन के असंख्य तारों को अनायास ही झनझना देती हैं। मन के गह्वर में दबी पड़ी ये काम-कुंठाएँ, फ्रायड के अनुसार, वातावरण के अनुकूल नियन्त्रित होती रहती हैं और मनुष्य के उच्चतर 'अहं' द्वारा उनका संस्कार या परिष्कार होता रहता है। पर जब-जब उनमें भयंकर विस्फोट

होता है अर्थात् मनुष्य की उच्छृंखल वृत्तियों पर से बुद्धि की रास ढीली पड़ जाता है तो मानसिक उलझनों और असन्तुलित मनोविकारों की कोई थाह नहीं है।

फ्रायड ने मानव-मन की मूल प्रेरक शक्ति 'काम' मानी है। इसी कसौटी पर उसने अपनी सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक भित्ति खड़ी की है। मनुष्य की इच्छा-अनिच्छा, सुकृत्य-दुष्कृत्य, क्षुद्र एवं उदात्त चिन्तन, विचारधाराएँ, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष और जानी-अजानी क्रियाएँ, सचेत, अर्द्धचेत तथा अचेत मन के अज्ञात, अवांछित निर्देश, सुषुप्ति अथवा जाग्रतावस्था के कार्य-व्यापार, उसकी तूफ़ानी या संतुलित वृत्तियाँ—सभा का उद्गम 'काम' अर्थात् भोगजन्य उत्तेजना है, जिसको फ्रायड युवावस्था में ही नहीं बल्कि शैशवावस्था से ही—अविच्छिन्न रूप में—स्वीकार करता है।

अपने यहां भी विश्लेषणवादी आलोचकों का एक ऐसा वर्ग बन गया है जो फ्रायड के पदचिह्नों का अनुसरण करता हुआ स्त्री और पुरुष के बीच के स्थूल शारीरिक द्वंद्वात्मक आकर्षण को ही सर्वोपरि मानता है।

"हमारे व्यक्तित्व में होने वाला संघर्ष मुख्यतया काममय है और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा में काम वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है।" **(डॉ० नगेंद्र, "विचार और अनुभूति")**

इसी प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने समस्त छायावादी काव्य को 'काम' से प्रेरित माना है। प्रेमचन्द वाले लेख में उन्होंने लिखा है :

"साहित्य में कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूँ विश्व साहित्य का वृहदांश इन्हीं काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में संवर्द्धन प्राप्त करता है।" **("विचार और विवेचन" पृष्ठ ९३)**

'अज्ञेय' ने तो आज के समूचे साहित्य को कुण्ठाजात माना है। 'त्रिशंकु' में "परिस्थिति और साहित्यकार" शीर्षक निबंध में उन्होंने स्पष्ट उद्घोषणा की है—

"आज का हिन्दी साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का, या कह लीजिए लालसा का, इच्छित विश्वास (wishful thinking) **का साहित्य है।"**

इसी लेख में एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं :

"······**हमारे देश की आधुनिक अवस्था में अनुकूलता की, संतोषजनक सामाजिक परिवृत्ति की माँग दुस्सह हो उठी है।"**

इसी माँग के कुण्ठित हो जाने से जो दोहृद, जो क्लान्त अतृप्ति पैदा होती है वह एक विशेष प्रकार के साहित्य को ही प्रेरित कर सकती है।

"आज का हिन्दी साहित्य प्रायः ठीक ऐसा ही साहित्य है।"

'अज्ञेय' ने मनुष्य को अनुशासित करने वाली दो प्रमुख वृत्तियाँ मानी हैं—अहं और काम, जिनमें परस्पर संघर्ष होता रहता है। मनुष्य की उपभोग वृत्ति के

साथ उसका अहं टकराता रहता है। कहीं अहंभाव में दमित काम का पर्यवसान हो जाता है और कही काम के अनुशासन को स्वीकार करके अहंभाव की एकांगी विकासमूलक साधना की चरम परिणति सी दृष्टिगत होती है। नैतिक व्यवधान और सामाजिक परिवेश मानवीय विफल कुण्ठाओं पर प्रवंचना का पर्दा डाल देते हैं जिससे असहनीय स्थिति, अर्थात् उनकी भाषा में—दौह्र्द पैदा हो जाता है।

फ्रायड के मन:कल्पना सम्बन्धी सिद्धांतों के इलाचन्द्र जोशी भी क़ायल हैं, पर उनका अनुभव-क्षेत्र विशाल है और वे किसी भी मतवाद की चौहद्दी में न बँध-कर मनोविज्ञान की व्यापक स्थितियों को स्वीकार करते हैं :

"मेरे मन में मानवीय मन का विभाजन केवल दो या तीन खण्डों में नहीं किया जा सकता। मनुष्य का मनोलोक केवल सचेत मन या अर्द्धचेत मन तक ही सीमित नहीं है। वह असंख्य स्तरों में विभक्त है, जिनमें से अधिकांश स्तर साधारण चेतना की अवस्था में हमारी अनुभूति के लिए अज्ञात रहते हैं। जिन अवांछित प्रवृत्तियों का हम दमन करते जाते हैं वे किन्हीं स्तरों में जाकर उन्हीं में घुलमिल जाती हैं। प्रतिक्षण एक न एक अज्ञात स्तर हमारे सचेत मन को प्रेरणा देता रहता है। पर असाधारण अवस्थाओं में एक नहीं अनेक स्तर, एक दूसरे से टकराते हुए, सचेत मन पर आकर हमला करते हैं और एक प्रचण्ड मानसिक भूकम्प की अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। अन्तस्तल में निहित कौन स्तर कब और क्यों उठ कर तूफ़ान मचा बैठेगा, इसका कोई भी निश्चित नियम नहीं है।"

("विश्लेषण" पृष्ठ १०९)

हम तो कहेंगे मानव-मन की क्रिया-प्रतिक्रिया इतनी सूक्ष्म और अदृश्य है कि उसे किसी विशेष खंडों अथवा स्तरों में विभक्त किया ही नही जा सकता। मन की संक्रमणशील शक्तियाँ केवल प्रातीतिक हैं। वे एक ऐसे स्वत:पूर्ण समवाय की सजीव प्रक्रिया हैं जो अपने आप में अविभाज्य हैं। उन्हें अणु, परमाणु या उससे भी सूक्ष्म-तम कणों में विभाजित करना असम्भव है। मन का निर्माण इतना उलझावपूर्ण और रहस्यमय है, साथ ही उसके गुणात्मक मूल्यों की सत्ता इतनी संश्लिष्ट और अविभाज्य है कि उसके स्वरूप का निर्धारण किया ही कैसे जा सकता है। अतएव अनन्त और अमित चेतना को 'काम' की सीमित परिधि में बंदी बनाना अथवा उसका एक ही मूलगत एवं अपरिणत आधार खोजना सर्वथा ग़लत और भ्रामक है। मन की मुक्त तरंगें अप्रतिहत प्रवेग से अनेकधा होकर प्रवहमान होती हैं जिनके ओर-छोर का पता लगाना अथवा मनोलोक की सभी असंख्य वृत्तियों को कामोन्मुख मानना निरी विडम्बना है। भोगजन्य उत्तेजनाएँ तो क्षणिक उन्माद की शिखाएँ हैं जो एक बार प्रदीप्त होकर किसी भी स्थितप्रज्ञ साहित्यकार की बुद्धि को अस्थिर कर सकती हैं। किन्तु महान् स्रष्टा की सृजन-चेतना तो तभी विराट् होगी जब कि वह सर्वांश के श्रेय-प्रेय को आत्मवत् ग्रहण करने का अभ्यस्त होगा।

प्रश्न है कि क्या किसी भी अदृश्य अथवा इन्द्रियातीत सूक्ष्मतम संस्कारों को अन्तिम दृष्टि से वास्तविक सिद्ध किया जा सकता है या यूँ ही बहमों एवं असत्य आधारों को फ्रायड द्वारा पोषण मिला है ? मन से परे अचेतन की अगम्य अवस्थाओं से साक्षात्कार वही व्यक्ति कर सकता है जो अन्तर्नुभूति के बल पर अन्तस्साधना के मार्ग का अनुधावन कर चुका है, फिर भी ये भीतरी अनुभूतियाँ मानसिक वातावरण में से गुज़र कर जब भाषा में व्यक्त होती हैं तो उनमें परस्पर भेद-प्रभेद एवं विसंगतियाँ आ ही जाती हैं जिनकी न व्याख्या हो सकती है, न विश्लेषण ।

स्वयं फ्रायड के दो शिष्यों एडलर और यूंग ने आगे चल कर [उसका विरोध किया था । फ्रायड के काम-वासना के महत्त्व और चेतन-अचेतन के अन्तर को उन्होंने सर्वथा अनुपयुक्त माना था । एडलर के मतानुसार मनुष्य की मूल प्रेरणा-शक्ति लोकैषणा अथवा बड़प्पन प्राप्त करने की इच्छा है, लेकिन उसकी ये ज़बर्दस्त महत्त्वाकांक्षाएँ कठोर यथार्थ के अत्यन्त संकुचित दायरे में गिरफ्तार हो जाती हैं । शनैः शनैः उसमें आत्महीनता की भावना जगती है जिससे उसके भीतरी जीवन में बहुत कुछ अस्तव्यस्तता और अशान्ति छा जाती है ।

इसके विपरीत यूंग ने मनुष्य में विभिन्न मनःस्थितियाँ, इच्छाशक्ति और व्यक्तिगत आकांक्षाएँ होते हुए भी कलाकार के रूप में उसकी उच्चतर स्थिति मान कर उसे 'सामूहिक मनुष्य' और मानव-मात्र के अचेतन मानसिक जीवन को प्रेरित और रूपायित करने वाला प्राणी स्वीकार किया है। उपर्युक्त विवादों से यह स्पष्ट हो गया कि मन के अकल्पनीय उद्वेगों की कोई ठोस परिसीमा नही है । यह अवश्य है कि फ्रायड ने चिन्तन को एक नया मोड़ दिया, पर आधुनिक मनोविज्ञान हमारे भीतर काम कर रहे जीवन और चैतन्य के स्रोतों की जो खोज कर रहा है उसमें वह बहुत दूर तक नही ले जा सका है । ज्यों-ज्यों नये संशोधित सिद्धांत आगे आएँगे, पुरानी मान्यताएँ पीछे पड़ जायेंगी । मनोविश्लेषणवादी आलोचक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में स्वयं इस बात को स्वीकार कर चुके हैं । इलाचन्द्र जोशी फ्रायड के एकांगी और संकीर्ण दृष्टिकोण की भर्त्सना करते हुए अपना अभिमत यों व्यक्त करते हैं :

"फ्रायड ने यह निर्देशित किया है कि हम नींद की अवस्था में—जाग्रत अवस्था में भी—जितने भी स्वप्न देखते हैं वे बदले हुए रूपों में हमारी दमित यौन भावनाओं को ही विस्फुटित करते हैं । उसके कथनानुसार हमारे स्वभाव की जितनी भी विकृतियाँ हैं उनका मूल कारण दमित यौन प्रवृत्ति हैं, और जितनी सुकृतियाँ या सुसंस्कृत और समुन्नत प्रवृत्तियाँ हममें पाई जाती हैं वे भी दमित यौन प्रवृत्ति के उदात्तीकृत रूप हैं । गरज़ यह कि मानव-जीवन को प्रगति की ओर बढ़ाने वाली अथवा विकृति की ओर पीछे घसीटने वाली मूल परिचालिका शक्ति एक ही है, और यह है यौन-प्रवृत्ति । यह कैसा एकांगी और संकीर्ण दृष्टिकोण है, विशेषज्ञों को यह बताने की आवश्यकता न होगी । यह ठीक है कि यौन-प्रवृत्ति के भीतर एक बहुत बड़ी अणु-शक्ति निहित है, जिसके अनियन्त्रित विस्फोट से मनुष्य के समस्त जीवन

पर भयावह प्रभाव पड़ सकता है तथा जिसके सुनियन्त्रण से जीवन के सुचारु संचालन में एक बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। पर समस्त मानवीय भावनाओं, मनुष्य की सभी सुख-दुःखमयी वेदनाओं और आकांक्षाओं की मूल नियंता एकमात्र यही प्रवृत्ति है, ऐसा समझना घोर भ्रामक होगा। असंख्य मानवीय मूल प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जो यौन भावना से तनिक भी सम्बन्ध नहीं रखतीं और जो मानव के संघर्षमय जीवन को कुछ निश्चित दिशाओं की ओर धक्का देती रहती हैं।"

("विश्लेषण" पृष्ठ १०८)

डॉ० नगेन्द्र अभी फ्रायड के मतवादों से मुक्त नहीं हो पाए हैं—"प्रगतिवाद के एकाध नादान दोस्त की मोटी अक्ल में फ्रायड का महत्त्व नही बैठ पाता, पर इससे फ्रायड का कुछ नहीं बनता-बिगड़ता।"

पर लगता है उनके विचार अब डगमगाने लगे हैं और वे फ्रायड से पीछा छुड़ाना चाहते हैं। एक रेडियो-प्रसारित वार्ता में उन्होंने कहा था, "मेरे सहयोगी और सम-सामयिक मुझे फ्रायडवादी समझते हैं, किन्तु उनकी यह धारणा ग़लत है।"

'अज्ञेय' तो पक्के यौनवादी होते हुए भी प्रगतिशीलता का दम्भ भरते नहीं थकते। ये दृष्टिकोण ही उनके जीवन के 'सूत्र' हैं और पुस्तकें उनकी भाष्य।

लेकिन फ्रायड के इस स्थूल दैहिक आकर्षण ने इधर अपरिपक्व नौसिखुओं की बुद्धि को इतना झकझोरा है कि जो स्थापनाएँ अब पश्चिम में ही संदिग्ध हो गई हैं या उन्हें ना-काफ़ी मान कर कितने ही हेर-फेर किए जा रहे हैं—उन्हें नये सिरे से अपना कर वे अपने आपको गौरवान्वित मानते हैं। दो-एक प्रतिष्ठित आलोचकों की शह पाकर तो आधुनिक मनोविज्ञान के प्रतिमानों को, जो स्वयं शैशव और प्रयोग की संदिग्धावस्था में हैं, हिन्दी साहित्य पर इस प्रकार थोपा जा रहा है कि नकारात्मक संकीर्ण स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया जा रहा है। फ्रायड के इन अन्ध मतानुयायियों को देखकर उन अर्द्धविक्षिप्त, कामातुर और विकृत रोगियों की लम्बी क़तार आँखों के सामने आ खड़ी होती है जिनके मस्तिष्क में विवशता की घुटन है और वहमी उलझनों के कीड़े कसमसा रहे हैं। मनोविज्ञान की आड़ लेकर और मतवादी संकीर्ण सीमाओं के कटघरे में बांधकर जो साहित्य को एकांगी और मर्यादाहीन बना रहे हैं वे उसे चरम विकास के मुँहाने पर ले जाने के बहाने कहाँ—कितनी दूर तक—अधबीच में—ले जाकर छोड़ देंगे—कहा नहीं जा सकता। भीतर-ही-भीतर वासना का 'घुन' उन्हें खाए जा रहा है जो इनके पशुत्व को उभार कर अधिकाधिक उन्हें खोखला और पुंसत्वहीन बना रहा है।

निःसन्देह, इन भीतरी राग-विरागों के दिमाग़ी फ़ितूर और तिस पर अनर्गल इच्छा-आकांक्षाओं के न जाने कितने ही मिलेजुले अनन्त स्तर हैं जिनके जटिल जाल में समूचा जीवन और उनके अनगिन व्यवहार-व्यापार उलझे हैं। संवेगों में गुँथ कर ये दबे-घुटे विकार ही तीव्र से तीव्रतर होकर जैसे आज के छिन्न-भिन्न जीवन के

बिखराव और बुद्धि के अजीर्ण की खट्टी डकारों से अंधेरी गुहाओं को गुँजाते अंतर्मन के कोनों-कोनो में झांक लेने का दंभ भरते हैं। सब कुछ नया, अनदेखा, अनजाना, बे-समझा—एक निरर्थक दुःस्वप्न-सा—घुटन और हताशा की पलायनवादी परिणति में आ सिमटा है। जीवन के अनन्त, फेनिल प्रवाहों की ओर उन्मुख, पर उक्त प्रवाह के गत्यवेग को रुद्ध करने वाली भीषण चट्टानों की ही तरह जहाँ अनेकानेक विकारों के उपकरण मौजूद हैं—ऐसे 'ओडिपस काम्प्लेक्स' के चक्राकार आवर्त्तों में दिग्भ्रान्त—लक्ष्य से भटके हुए, मगर फिर भी किसी एक ओर ही बढ़ने की ज़िद्द ठानें—तन-मन की थकान और जीवन-संघर्षों की तलखी लिये ऐसे-ऐसे दूरस्थित छोरों पर भटक जाते हैं जहाँ सामंजस्य के बिन्दु या किसी प्रकार का मौलिक साम्य नही है, जहाँ इत्तफ़ाक़ से एक हवा टकराई तो दूसरी क़तराकर गुज़र जाती है। मनोवैज्ञानिकों के मत में यह 'ओडिपस काम्प्लेक्स' ही तो सारी मुसीबत की जड़ है। बस, यही तो है वह नक़ाब जिसकी ओट में असली और नकली चेहरे छुपे रहते हैं। अवचेतन की दुर्भेद्य परतों में आत्म प्रपीड़न, अहंकार और व्यक्तित्वहीनता; घृणा, द्वेष और दुर्भावना; विचार, भावना और परिस्थितिगत द्वन्द्व; आकर्षण-विकर्षण और कितनी ही सुरुचियों-कुरुचियों से उपजी अकारण प्रवृत्तियाँ—ऐसे-ऐसे असंख्य अपराधों की संभावनाओं को नित्य जगाते रहते हैं जिनमें बहुमुखी विराट् वाङ्मय के अन्तर्प्राण स्पन्दन अपने छिछले प्राणस्पन्दन से एकमेक कर ये मताध, दम्भी और संकीर्णमना लोग निजी इच्छा-आकांक्षाओं के बिम्ब-प्रतिबिम्ब उभारते रहते है। साहित्य के जीवन्त, प्रेरणादायक स्वरूप को न समझते हुए अपने क्षुद्र विन्यासों की दुर्दान्त छलना में बहक कर ऐसे-ऐसे अप्रत्याशित परिकल्पनाओं के 'क्लाइमेक्सों' द्वारा इस तरह के दृष्टि-कोण, मतवाद, धारणाएँ और भेद-विभेद प्रस्तुत कर रहे हैं जिनके द्वारा एक नितान्त कुंठित जड़ता में साहित्य के सृजनशील तत्त्वों का दम घोटा जा रहा है।

किसी भी आलोचक को आलोचना की निजी कसौटी अख्तियार करने की तो स्वतन्त्रता है, परन्तु साहित्य को इस प्रकार स्वेच्छानुसार से कुण्ठित करने का उसे कोई अधिकार नहीं।

अतिचारवाद या अवैध उन्मुक्ति

उपर्युक्त मनोविश्लेषणवादी धारा के समानान्तर कुछ अन्य प्रतिगामी प्रवृत्तियाँ भी साथ-ही-साथ पनप रही हैं। मुख्यतः हमारे अत्याधुनिक समीक्षकों में यह भावना घर करती जा रही है कि विचार और अभिव्यक्ति में बे-रोकटोक स्वतन्त्रता बरतनी चाहिए। भले ही वे प्रगतिशील हों या प्रयोगशील, अथवा ऊपर से फ्रायड के दुश्मन ही क्यों न हों—वे किसी भी साहित्य के आचार-उपचार को न मान कर कहते हैं—'किसी भी प्रतिबन्ध को न मानो, जो बात कहनी हो खुले दिल से कहो। किसी की पर्वाह न करो, किसी की लिहाज़ में अपने भीतर की दबी हुई वासनाओं, अतृप्तियों, आकांक्षाओं का गला न दबाओ। अतएव उन तत्त्वों और निषेधों को निर्मूल कर दो, जो कला के रूप और विषय की पूर्ण स्वतन्त्रता एवं निर्बाधता में

अड़ंगा डालें। ऐसा प्रतीत होता है कि मानसिक संघर्ष मनुष्य की चेतना को ठेल कर और उसका कसमसाता भीतरी विद्रोह ऊब कर व खीझ कर समस्त बन्धनों को तोड़ता हुआ बाहर फूट पड़ना चाहता है। मनोविश्लेषणवादियों का कामशास्त्र बहुत कुछ मनःकल्पना है, अतः बौद्धिक अधिक है। जिन्हें इसमें काल्पनिक सुख मिला वे इससे सम्मोहित ही अधिक हुए, क्योंकि भारतीय साहित्य-परम्परा के अन्तर्गत इस विजातीय तत्त्व की पूर्णतया खपत न हो पाई। यहाँ के मनोविश्लेषणवादी आलोचक भी इसे बुद्धि द्वारा ही ग्रहण कर सके, अनुभूति द्वारा उसे अनुप्राणित नहीं कर पाए।

किन्तु यथार्थवादियों ने इस भावना को नये स्वर से जगाया है। वे मन के छद्म आवरणों का पर्दाफ़ाश कर 'काम' के उद्वेग का खुला, निर्बाध निष्कासन पसन्द करते हैं। इस पतनवादी प्रवृत्ति की ऐसी लहर सी आई है कि उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता आदि पर तो इसका गहरा प्रभाव है ही, आलोचना भी इसके असर से अछूती नही रह सकी है।

एक और प्रवृत्ति इधर जोरों पर है, जो साहित्य की सहज गति को रुद्ध करने वाली है। प्रायः जो आलोचक आलोचना के क्षेत्र में उतरते हैं, वे विवाद या तर्क-वितर्क करना तो पसन्द करते हैं, पर ग्राही नहीं हैं। कोरी युक्तियाँ ही उनके पास हैं, अनुभूति की पूँजी उनके पास बहुत कम होती है। परिणाम यह होता है कि ऐसी अधिकांश आलोचनाएँ असंगत और अविश्वसनीय उतरती हैं।

प्रगतिवादी समीक्षा

नये युग की नवोद्भावित चेतना ने इधर साहित्य को नई राह दी है। जीवन बिखर कर इतनी धाराओं में बहने लगा है कि साहित्य का गति-परिवर्त्तन अवश्यम्भावी भी हो गया। समष्टिगत गतिवेग ने प्रगतिवादी आलोचना को प्रश्रय दिया और इस तरह की आलोचना खूब पनपी भी, पर परम्परागत संस्कारों में अनास्था उत्पन्न करके विचारों की कशमकश, श्रेष्ठता के दम्भ और नित-नई समस्याओं की खीचतान ने जीवन के दुर्बल पक्ष ही उसमें अधिक उभारे। फिर ज्यों-ज्यों प्रगतिवाद मार्क्सवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic Materialism) से प्रभावित हुआ, वह वर्गहीन समाज-व्यवस्था में विश्वास करने लगा और उसके बाह्य परिवेश भी बदल गए। नई-नई शंकाओं के साथ नए-नए समाधान और निराली समस्याएँ भी सामने रखी गई। वर्तमान को अतीत से विच्छिन्न करके देखा गया और साहित्य के शाश्वत तत्त्व द्वन्द्ववाद में आ सिमटे।

इस द्वन्द्व से उद्भूत एक गतिरोध इधर की आलोचनाओं में दीख पड़ रहा है। प्रगतिवादी समीक्षक द्वन्द्व में ही विकास का स्रोत समझकर जिस अधिकारवादी रुख को अपनाते जा रहे है वह संकीर्ण सत्तावाद का वाहक बन कर प्रतिगामी और परस्पर-विरोधी तत्त्वों का एक दूसरे में अंतर्गठन कर साहित्य को गतिमान करने की

बजाय उसके वेग को रोक रहा है।

अब तक विशेष सिद्धान्तों की कसौटी पर विभिन्न विचारधारा के विपक्षी दलों में ही परस्पर आलोचना-प्रत्यालोचना हुआ करती थी, जिससे साहित्य के अच्छे-बुरे, सबल और दुर्बल पहलू उभर आया करते थे। इससे राहत मिलती थी और अपनी-अपनी रुचियों को प्रश्रय देने का मौका भी मिल जाता था। मसलन, ऐसी आलोचनाएं सदैव अभिनंदनीय होती थीं और हमारी राय में कभी भी उनकी महत्ता कम न होगी जो साहित्य के मिथुनाचार का बहिष्कार कर उसे स्वस्थता की ओर प्रेरित करेंगी।

"वात्स्यायन जी बार-बार कलाकार के 'स्वानुभूत सत्य' और उसकी 'ईमानदारी' की बात उठाते हैं, बातें दोनों ही ठीक है। जिस साहित्य में कलाकार का अपना स्वानुभूत सत्य नहीं होता वह घटिया साहित्य होता है, घटिया और प्रभावशून्य। बिलकुल ठीक बात है। उसी तरह जिस साहित्य के पीछे साहित्यकार की ईमानदारी नहीं होती वह दो कौड़ी का साहित्य होता है। बिलकुल ठीक बात है। देखना यह है कि इसमें कुछ बात बिन-कही भी छोड़ दी गई है। वह बिन-कही बात यह है कि एक ख़ास तरह की अनुभूति ही अनुभूति है और एक ख़ास तरह की ईमानदारी ही ईमानदारी। यानी अगर अपने कमरे में बन्द आप अपने काम-ग्रसित या अहंपीड़ित या घुटन और अवसाद भरे मन की बारीक गुलकारियाँ दिखलायें तो वह आपकी सच्ची अनुभूति और स्वानुभूति मानी जायेगी, लेकिन अगर आप किसी क्रांतिकारी भावना या घटना का चित्र खींचे तो वह आपकी स्वानुभूत बात नहीं मानी जायेगी, वह रचना कम्युनिस्ट प्रचार के अन्दर परिगणित हो जायेगी। मगर बात समझ में नहीं आती कि मेज़ पर पड़ी हुई धूल या ज़मीन पर रेंगते हुए कीड़े या मक्खी को अपने जाल में फंसाने वाली मकड़ी या मैथुन करती हुई छिपकली या कबूतरी या पनीली स्याही की दावात का यथार्थवादी, क्लिनिकल परफेक्शन तक पहुँचा हुआ चित्रण अगर कवि की ईमानदारी में दाख़िल है तो कूच बिहार के गोलीकांड पर एक कहानी या कविता या रिपोर्ताज लिखना उसकी ईमानदारी में दाख़िल क्यों नहीं? शरद् की जुन्हाई या नदी तट की अपार बालुका राशि देखकर ही हमारे इन कवियों की सरस्वती क्यों जागती है? निशीथ की ठिठुरती हुई निःस्तब्ध बेला में उन्हें हर बार अपनी प्रिया का ही ध्यान क्यों आता है, एक बार भी किसी गरीब बेचारी लड़की का ध्यान क्यों नहीं आता जो ठिठुरते हुए रात काट रही है और जिसकी हर रात इसी तरह कटती है? कवि तो बड़ा भावुक प्राणी होता है। क्या एक बार भी उसे इस गरीब लड़की की पीड़ा की अनुभूति नहीं होती? अगर होती है तो उसके अपने साहित्य में उसका प्रमाण? और अगर नहीं होती तो क्यों नहीं होती? वह सत्य कभी भी उसका स्वानुभूत सत्य क्यों नहीं बनता, क्यों ये चीज़ें सदा उसके लिए बेग़ानी रही आती है? कवि के सारे प्रतीक व्यर्थता और थकान, पीड़ा और अवसाद, पराजय और मृत्यु के ही क्यों हैं, एक ख़ास तरह की Ennui क्यों उसका दामन नहीं छोड़ती? क्यों नयी ज़िन्दगी का उबाल, उसका जोश और जवानी, उसका अजेय संकल्प, उसका हज़ार तक-

लीफ़ों में भी मुसकराना, उसका sense of fulfilment 'अज्ञेय' जैसे कवियों के यहाँ नहीं मिलता (यहाँ चाहे विदेशी साहित्य में) यह सवाल हम वात्स्यायन जी से पूछते हैं। क्यों ऊब और थकन और मौत और अंधेरे और फ्रायडीय मनोविज्ञान के बारीक से बारीक रेशों की तराश आपको उनके यहाँ मिल जायगी, मगर शासक-वर्ग के बड़े-से-बड़े जुल्म और बड़ी से बड़ी सख्तियाँ, गोलियाँ और लाठियाँ और पुलिस की हिरासत में और जेलों में दी गई यंत्रणाएं—इनकी सबकी कोई प्रतिध्वनि इस कवि-हृदय में नहीं होती, इनके खिलाफ़ एक भी प्रतिवाद का स्वर उसके मुँह से नहीं निकलता। मरे हुए कुत्ते को देखकर यह बीस पंक्तियों की एक कविता लिख सकता है, मगर सलेम के जेल गोलीकांड में मरे हुए पच्चीस और घायल एक सौ राजबंदियों की बाबत पढ़कर और सुनकर उसे दो पंक्तियाँ लिखने की भी प्रेरणा नहीं होती। कवि कहेगा—यह मेरा स्वानुभूत नहीं है।"

(अमृतराय, 'हंस', दिसम्बर, १९५१)

और इसी तरह फ्रायडीय पद्धति की कुत्सित मनोवैज्ञानिकता को कड़ी लताड़ देते हुए शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है :

"मोटे तौर पर, मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करके सहज वृत्तियों, आवेगों और भावनाओं को अधिक मानवीय, संस्कृत और स्वस्थ बनाने वाले सामाजिक प्रभावों का निर्देश करना मनोविज्ञान का काम है। परन्तु ये मनोवैज्ञानिक !

इन लकड़बग्घों के घृणित मनोविज्ञान पर टिप्पणी करना भी किसी इंसान का स्वाभिमान गवारा नहीं कर सकता।......मानवीय विचार, नैतिक मर्यादा, मानवीय भाव, सांस्कृतिक परम्परा, समाज सम्बन्ध, कला-दर्शन, विज्ञान आज कोई चीज भी तो इन मौत के व्यापारियों के निकट सत्य और पुनीत नहीं है। मानव-आत्मा और मानव-विवेक की हत्या करके वहाँ पर एक विक्षिप्त नरभक्षी कुंभकरण को जगाना आज उनकी विध्वंस योजना का अनिवार्य अंग है। उनका दुःस्वप्न कभी सफल नहीं हो सकता, क्योंकि जीवन मृत्यु से अधिक बलवान है।"

('नई चेतना,' अंक ४,१९५१)

मगर मानवीय विवेक जगाने वाली और सद्भावना व हमदर्दी से विचारों के आदान-प्रदान की चीजें इधर कम लिखी जा रही हैं। कुछ अर्से से प्रगतिवादी समीक्षा में ऐसी शाब्दिक पटेबाजी चल रही है कि ये लोग खुद एक दूसरे पर कीचड़ उछाल कर बेबुनियाद सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार में समय नष्ट कर रहे हैं। अविश्वास और क्षुद्र अहंकार ने उनके बीच दुर्लंघ्य प्राचीरें खड़ी कर दी हैं। इसका एक सबसे बड़ा कारण यह है कि प्रगतिवादी या मार्क्सवादी कहे जाने वाले आलोचक अधिकतर तो वे अधकचरे अवसरवादी नवयुवक हैं जो नवीनता की चकाचौंध में बे-पर के उड़ कर धरती पर पैर टिकाना नहीं चाहते। वे बदहवास एड़ लगाकर इस क़दर आगे बढ़ने की हिमाक़त कर रहे हैं कि प्रगति की दौड़ में सबको पीछे ढकेल देना चाहते हैं। ऐसे ग़ैरजिम्मेदार लेखक न साहित्य को नई परम्परा दे सकते हैं, न गम्भीर

मौलिक जीवन-दृष्टि और न मानव-हृदय को उद्वेलित करने वाला अन्तर्भावों का घात-प्रतिघात । प्रगतिवादी विचारधारा के कतिपय मान्य आलोचकों ने यथार्थ समस्याओं को सामने रखकर युगीन दायित्वों की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया था अवश्य, पर अब तो उनके दिलों में भी गहरी खाई, विचारों में विलगाव और साहित्य के खरेपन की परीक्षा करने वाली उनकी एक-सी प्रतीत होने वाली कसौटियाँ दिन-दिन रंग बदल रही हैं । महान् क्रांति के उन्नायक और साहित्य को सशक्त बनाने वाले उत्तरदायी लेखक आज गुमराह हुए से लगते हैं ।

नवम्बर, १९५१ के 'हंस' में अमृतराय ने प्रगतिवादी आलोचकों की सर्जनात्मक शक्ति का परिचय देते हुए डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त, अमृतलाल नागर, डॉ. रांगेय राघव, डॉ. शिवमंगलसिंह सुमन, शमशेर बहादुर सिंह, चन्द्र भूषण त्रिवेदी, राधाकृष्ण आदि कई लेखकों के नाम गिनाए थे और लिखा था : "क्या इस बात से इन्कार किया जा सकता है कि सभी लोग बहुत मौलिक प्रतिभाएँ लेकर साहित्य में आए हैं और सभी ने अपने-अपने माध्यम से साहित्य को भावों की नई गहराइयाँ, नई सूझ-बूझ, ज़बान की नई करवटें, टेकनीक के नये निखार दिए ? पर क्या इतने ही से यह बात साफ़ नही हो जाती कि हमारी पीढ़ी बाँझ नहीं है ?"

उपर्युक्त मत से हम सहमत हैं और मानते हैं कि प्रगतिवादी समीक्षा महज़ ढूह पर स्थित या उजाड़ वीराने में से नही गुज़र रही है । उसमें प्रेरक शक्ति है, युग-चेतना के अधिक अनुकूल सत्य की साधना है और सामाजिक अर्थ में सृजनशील तत्त्व भी उसमें अधिक सक्रिय हैं ।

जहाँ तक प्रगतिवाद की सहज गतिशील प्रवृत्तियों का प्रश्न है, वे केवल स्वीकार्य ही नही अपितु सामाजिक चेतना को उद्बुध करने के लिए आवश्यक भी हैं । कोई भी उनकी उपयोगिता एवं दुर्जेय शक्ति का तिरस्कार नहीं कर सकता । साहित्य के गृहीत रस को सर्वसुलभ बनाने के लिए युग की आत्मा की अनेकमुखी व्यंजना अनिवार्य है और साहित्यकार अपनी संवेदना को अधिकाधिक उभाड़ कर मानव-जीवन की व्यापक अनुभूति में पैठ सकता है । प्रगतिवाद शुरू से ही सामूहिक उत्क्रांति के रूप में सभी थोथे और औपचारिक बन्धनों को विच्छिन्न करता हुआ एक गतिशील विराट् शक्ति बन कर आया । उसने न केवल प्रचलित रूढ़ धारणाओं के विपरीत, वरन् समाज के ढाँचे और उसकी मौजूदा व्यवस्था में निहित अन्याय आर्थिक असमानता, समाज के घुन 'पूँजीवाद', अनिवार्य वर्ग-संघर्ष और परस्पर विरोधी धर्म-अधर्म, सामान्य-विशिष्ट, सापेक्ष-निरपेक्ष, औचित्य-अनौचित्य की द्वंद्वात्मक अन्विति पर गहरी चोट की । उसने हमारी धार्मिक और नैतिक स्थापनाओं को लेकर जीवन-साम्य का समाधान प्रस्तुत किया और दलित, शोषित मानवता के चित्र आँक कर न केवल हमारी कोमल वृत्तियों को झकझोरा, बल्कि समाज की उभरती

हुई शक्तियों और साहित्य व कला के द्वैत और विसंगतियों पर भी दृष्टिपात किया।

व्यापक से वृहत्तर व्यापकता की ओर मनुष्य की गति है। वह निजत्व का प्रसार और बौद्धिक चेतना को क्रमशः विकसित देखना चाहता है। प्रगति की भावना उसके विचारों को ठेलती, कुरेदती और आगे बढ़ाती है, अन्यथा जीवन चल नहीं पाता। शरच्चन्द्र ने लिखा है, "यदि मृत और खण्डहर ही हमारा रास्ता रोके रहेंगे तो आगे बढ़ने को पथ कैसे मिलेगा? वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य की भावनाएँ विकसित होती रहती हैं। विगत युगों में जो हमारा जीवन-लक्ष्य था वह आज भी कैसे स्थायी रह सकता है? अपने सुख-दुःख में तो हृदय एक परितृप्त विह्वलता का अनुभव करता ही है, किन्तु समाज में रह कर वह वाह्य संघर्षो से भी मुँह मोड़ कर कैसे जी सकता है? अतएव विकास के क्रम का कौन हिमायती न होगा, पर यह उत्कर्ष, यह विकास साहित्य में मूर्त्त होना चाहिए। कोरे सिद्धांत, कोरा विरोध, कोरी स्थूल कल्पना कुछ मानी नही रखती। कोई अत्युक्ति न होगी यदि यह कहा जाय कि परस्पर-विरोधी वृत्तियों एवं संघर्ष-भावना से प्रेरित होकर साहित्यकारो ने साहित्य मे कुछ ऐसी सीमारेखाएँ निर्धारित की है जिसके संकुचित दायरे में हमारी सामान्य सृजन-शक्ति और उदात्त अंतश्चेतना उत्तारोत्तार ह्रास को प्राप्त हो रही है।

'इज्म' की भावना ने अभीष्ट उद्देश्य को भुलाकर तर्क-वितर्क और नये मत-वादों की प्रवर्त्तना की है। हमारी साहित्यिक प्रतिभाएँ कुछ गुटों, वादों और दल-बन्दियों के दलदल में फँस कर अपनी शक्ति का अपव्यय कर रही हैं। उन्होंने एकांगी, असामाजिक रुख़ अपनाकर एक दूसरे के विचारों का बहुत कुछ खण्डन-मण्डन किया है और साहित्य के उच्च लक्ष्य से पथभ्रष्ट होकर अराजक साहित्य की सृष्टि की है।

"अपने क्रान्ति-विरोध का सबूत देकर चौहान ने बुर्जुआ मनोविज्ञान की माला जपनी शुरू की। मार्क्सवाद अधूरा है, उसे बुर्जुआ मनोविज्ञान से मिलाकर भरापूरा बनाओ—यानी साहित्य का लड़ाकू वर्गरूप ख़त्म कर दो, साहित्य को ग़ैर जानिबदार बनाओ, वर्ग-संघर्ष मे निर्लिप्त और निस्संग रहो, चौहान ने पूँजीवाद के पढ़ाए हुए तोते की तरह यह रट लगानी शुरू की। रूप के नाम पर छायावादी विचार-वस्तु की हिमायत की और आख़िर में अश्क जैसे टुटपूंजिया लेखक को गोर्की और प्रेमचन्द की बराबर बिठाया। प्रगतिशील लेखकों का मोर्चा कमज़ोर करने के लिए चौहान ने यह नारा उठाया कि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है और कला आत्मसिद्धि का परिणाम है।"

(डॉ० रामविलास शर्मा, 'नया सबेरा' में प्रकाशित शिवदान सिंह चौहान पर लिखे गए निबंध से)

"कुओं० मो० जो० के अनुसार जो व्यापक संयुक्त मोर्चा तीस वर्ष संयुक्त

कार्य और सम्मिलित संघर्ष और उससे उत्पन्न चीनी लेखकों की पारस्परिक सद्भावना और एकता का स्वाभाविक परिणाम होना था, उसे रामविलास शर्मा ने तीन-चार वर्षों तक नियमित रूप से प्रगतिशील लेखक आंदोलन की जड़ों पर कुठार चलाने और देश की साहित्यिक शक्तियों में फूट और वैमनस्य की चौड़ी खाई खोदने के बाद हठात् एक अनिवार्य आरम्भ-बिन्दु के रूप में पेश कर दिया और इस प्रकार अपनी और अपने कुत्सित समाजशास्त्रीय जनद्रोही गुट की संस्कृति-विरोधी करतूतों पर पर्दा डालने की चेष्टा की।"

(शिवदान सिंह चौहान—"आलोचना", अक्तूबर, १९५१)

रूस के सुविख्यात लेखक मैक्सिम गोर्की को लेकर ही इन दोनों आलोचक महारथियों के आरोप-प्रत्यारोप का एक नमूना देखिए—

"चौहान मार्क्सवाद और पतित पूँजीवादी मनोविज्ञान के समन्वय का मसौदा पेश करते रहे हैं, वह साहित्य में तटस्थता की माँग करते रहे है और गोर्की तक के लिए उन्होंने लिखा है कि उस महान् लेखक ने रूसी क्रान्ति के अवसर पर, 'तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ की', उनका इसी तरह की वाल्तेयर और शेली की रचनाओं की तरह 'कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा।' चौहान की कोशिश रही है कि प्रगतिशील साहित्य को तत्कालीन प्रश्नों से हटा कर शाश्वत तथा अर्द्ध-शाश्वत प्रश्नों की तरफ मोड़ा जाय।" ('हंस', मई, १९५१)

"प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना क्यों नहीं की जा सकती, और गोर्की को प्रेमचन्द से हीन क्यों नहीं सिद्ध किया जा सकता ? और सबसे पहले यह सिद्ध करने का श्रेय भी डॉ० रामविलास शर्मा को है। सच तो यह कि 'साहित्य' के इस डाक्टर ने एक ही तीर से विश्व के तीन महान् लेखकों—टालस्टाय, दास्तावस्की और गोर्की—को प्रेमचन्द के मुकाबले में धराशायी कर दिया। उन्होंने 'युग के साथ' होने की 'जनवादी' कसौटी पर कस कर सिद्ध किया कि "अनेक दृष्टियों से ये महान् लेखक अपने युग से पिछड़े थे।" (देखिए डॉ० रामविलास शर्मा कृत 'प्रेमचन्द' की भूमिका, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३)

इस हिन्दी आलोचक के ही शब्दों में गोर्की के पिछड़ेपन का जरा मुलाहज़ा फर्माइए।

"गोर्की में आवारापन अत्यधिक था और वर्ग-संघर्ष की उसे पूरी-पूरी जानकारी न थी। उसने अपनी डायरी में अपनी आवारा प्रवृत्तियों का मार्मिक वर्णन किया है। अपने रोमांटिकपन के कारण वह क्रान्ति के पश्चात् भी क्रान्ति के पूर्व के ही चित्र बनाता रहा। प्रेमचन्द अपने युग के साथ थे और अपने युग की उथल-पुथल को उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है।" (वही 'पृष्ठ' ३)

"......इस वक्तव्य के गूढ़ार्थों में गागर में सागर भरा हुआ है।"

('प्रेमचन्द और गोर्की' पुस्तक से उद्धृत, पृष्ठ ५५४)

और 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' पुस्तक में डॉ० रांगेय राघव का यह आक्रोशभरा विद्रूप :

"डॉक्टर साहब ठीक कहते हैं। चौहान जी की ग़लती है कि वे अपनी तरह सबको ग़लती महसूस करने वाली ईमानदारी का मालिक समझते हैं। उन्हें टुटपूंजिया वर्ग की अवसरवादिता के पक्ष पर मार्क्सवाद से शिक्षा लेनी चाहिए। तब यहाँ मिसालें गिना देना ठीक होगा। आज जैसे डॉ० रामविलास शर्मा चीन की खाल खींच रहे हैं एक दिन वे रूस की आँख निकाल रहे थे।" (पृष्ठ ८०)

डॉ० रामविलास शर्मा ने सुमित्रानन्दन पंत और राहुल सांकृत्यायन पर लम्बी आलोचनाएँ की थी, जिन पर कितनों ने ही अपने-अपने ढंग से एतराज़ किया। अर्से तक एक हंगामा सा मचा रहा, जिसके आसार अब भी सर्वथा मिटे नही हैं। डॉ० धर्मवीर भारती ने पंत जी का पक्ष लेते हुए 'संगम' में लिखा :

"जैसे एक पागल कुत्ता कभी-कभी खिसिया कर अपनी ही पूँछ नोचने के लिये नाचने लगता है, वैसे ही इन प्रगतिवादियों ने अपने ही पक्ष वालों को हाथ नचा-नचा कर गालियाँ देनी शुरू कीं। सबसे पहला वार हुआ पंत जी पर। पंत जी के उस कैम्प में जाने से लोगों को आश्चर्य हुआ था, परन्तु पंत जी की सरलता से जो लोग अवगत थे वे जानते थे कि कैसा जाल बिछाया गया था। और बाद में उनके शिकंजे को पंत जी के लिए बर्दाश्त करना असम्भव हो गया।"

और राहुल जी के पक्ष-समर्थन में डॉ० प्रभाकर माचवे ने 'प्रज्ञाचक्षु' नाम से अपना आक्रोश यों व्यक्त किया :

"डॉ० रामविलास शर्मा के लेखों का शास्त्रीय विश्लेषण आवश्यक है, चूँकि उनका दृष्टिकोण नितांत अशास्त्रीय, अवैज्ञानिक है। राहुल को तो उन्होंने निमित्त मात्र बनाया है। उनका उद्देश्य कुछ और ही है। उनका उद्देश्य ध्वंसात्मक नीति के लिये नैतिक समर्थन प्राप्त करना है। उस नीति की असफलता की खीझ से व्याकुल रामविलास इस प्रकार की अंधी आलोचना के लेख लिख कर प्रगतिशील आन्दोलन का कितना बड़ा अहित कर रहे हैं, यह शायद वे नहीं समझते। एक ओर संयुक्त साहित्य मोर्चे की चर्चा और दूसरी ओर ये प्रतिदिन के फरमान—आज शिवदान सिंह चौहान को चारों खाने चित्त करो, कल पन्त को पटक दे मारो, परसों रांगेय राघव को 'धोबी पछाड़' दो, नरसों यशपाल पर लट्ठ लेकर दौड़ पड़ो। यह है साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में रामविलास की पहलवानी, और उनके पट्ट शिष्य चन्द्रबली सिंह जी का उस्ताद की तावीज़ पहन मुग्दर में तेल चुपड़ना।"

('नवयुग', २४ जून, १९५१)

इस पर बौखलाकर डॉ० शर्मा ने लिखा :

"यह कीचड़ फेंकते हुए इन सज्जन को खुद उनकी दुर्गन्ध से इतनी पीड़ा

हुई कि उन्होंने मुंह पर कपड़ा बाँध लिया और असली नाम का 'प्र' लेकर नकली नाम प्रज्ञाचक्षु रख कर ही साहित्य के मैदान में क़दम रख सके।"

('हंस', मई, १९५१)

उपर्युक्त आरोप का उत्तर दिया डॉ० रांगेय राघव ने। अपनी पुस्तक 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' में उन्होंने लिखा :

"तो यह पता चला कि डाक्टर साहब के तर्क के अनुसार जब कोई नाम बदलकर लिखता है तो वह डरता है। तब रामविलास जी जब अगिया बैताल, निरंजन, अशोक आदि नामों से लिखते थे तब वे डरते थे। या तो डाक्टर साहब को अपनी नौकरी का डर रहा होगा या उन्हें वैसे साहित्य को स्वीकार करने में झेंप होगी। जब वे घासलेटी साहित्य को, पार्टी दस्तावेजों को छन्दबद्ध करके रख रहे थे और उससे जनवादी कला का दम घोट रहे थे तब शायद उन्हें अपने डाक्टर जैसे भारी-भरकम नाम के बदनाम होने का डर था, क्योंकि खड़ीबोली की वह कविताएँ जो आधुनिक प्रचलित शैली में लिखी गई हैं उन पर उनका 'डाक्टर' शोभित है।"

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें आहत क्षोभ, दुराग्रह, आवेश और घृणोत्पादक दलीलों का प्रश्रय लिया गया है। एक ही विचार-धारा और सम सिद्धान्तों के सम्मानित लेखकों में इस तरह के विवेकहीन तर्क और कटूक्तियाँ पेश की जा रही हैं कि जिससे संकीर्ण विचार-वृत्त में ही सिमट कर प्रगतिवादी समीक्षा सर्वथा एकांगी और विध्वंसक होती जा रही है।

और भी कितनी ही खामियाँ हैं जिन्हें नजरन्दाज़ नहीं किया जा सकता—

१. रूसी मान्यताओं को लेकर चलने के कारण प्रगतिवाद अपनी भारतीय जीवन-व्यवस्था में पूर्णरूपेण गृहीत न हो सका, पर इसके समर्थकों ने इसके सामान्य गुणों के लम्बे-लम्बे भाष्य कर हमारे देशकाल की विशिष्ट परिस्थितियों पर इसे जबर्दस्ती थोपने का प्रयास किया है।

२. प्रत्येक कलाकार अपने युग से सदैव आगे होता है। उसकी प्रतिभा निर्माणोन्मुख और संघर्षों को चीरती हुई सहज गतिशील होती है, फिर संगत-असंगत तर्कों द्वारा प्राचीनों का मूल्य घटाना अथवा तात्कालिक परिस्थितियों की अवहेलना कर उनके कृतित्व की किसी खास पैमाने से नापजोख करना सर्वथा अशोभनीय है।

३. 'शाश्वत' और 'चिरन्तन' से चिढ़ने वाले नासमझों द्वारा प्राचीन श्रेष्ठ साहित्य तक को आज के उथले, दिशाहीन साहित्य की तुलना में घटिया सिद्ध करना या उन्हें पृथक् करने वाली विभाजक रेखाएँ खींचना (क्योंकि उसमें उनका अभीष्ट या निर्दिष्ट मान्यताएँ नहीं हैं) अपनी प्राणवान साहित्यिक पूँजी को बिल्कुल चौपट करना है।

४. ऐसी विचार-परम्पराएँ, जो वर्ग-विशेष से सम्बद्ध होती हैं, उससे बाहर उनका कोई विशेष मूल्य नहीं होता। इसके विपरीत जातिगत और देशगत सीमाओं को अतिक्रान्त कर जो मानवीय अनुभूतियाँ सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन हो जाती हैं उनकी महत्ता सदैव अक्षुण्ण बनी रहती है। वे 'आउट आव डेट' नहीं होतीं, बस वे ही युग-युगान्त की धरोहर हैं। उन्हीं में स्थायिता और असाधारणता होती है जो 'शाश्वत' और 'चिरन्तन' की कोटि में आ जाती है।

५. प्रगतिवादियों ने मोटे तौर पर 'दलितों' और 'शोषितों' को अपनाया, उनके तईं ही समझा-बूझा, समस्त त्रुटियों और कमज़ोरियों पर पर्दा डाल कर उन्हीं की वेदना और निरीहता का रोना रोया। परन्तु दूसरे पक्ष वालों की भावनाओं और मनोगत द्वंद्वों से क़तई आँखें मूँद ली, गो कि सच्चे टिकाऊ साहित्य में श्रेय-हेय को समान रूप से समेटने की सामर्थ्य होनी चाहिए।

६. इन लोगों ने जीवन के 'सूक्ष्म' को 'स्थूल', 'कोमल' को 'कर्कश' और 'सुगढ़' को 'अनगढ़' के अर्थ में लिया है। पर सर्वथा विपरीत छोरों को मिलाने की न इनमें योग्यता है, न सहनशीलता।

७. नास्तिक तो ये हैं हीं, आत्मा की सत्ता में भी पूर्ण अनास्था है। वे सभी स्वप्न, आदर्श, प्रेरणाएँ और महत् संकल्प इनकी दृष्टि में मिथ्या हैं जिन्होंने (मार्क्स से पूर्व) गम्भीर चिन्तना दी है, जो हमारी संस्कृति के ऊर्ध्व विकास से सम्बद्ध रहे हैं और जीवन की गत्यात्मक धारायें जहाँ से उद्भूत हुई हैं। इनका दृष्टिकोण निरा भौतिक है और जीवन-दर्शन अत्यन्त संकुचित।

८. प्रगतिवादियों ने जीवन की आर्थिक व्याख्या स्वीकार की है, पर क्या प्रतिकूल आर्थिक परिस्थितियों और विषम सामाजिक अवस्थाओं में आप्त साहित्य की सृष्टि नहीं हुई? यथार्थ के मूक्, चेष्टाविहीन चित्रण में उनकी वृत्तियाँ पूर्ण लय नहीं हुई, वे मानों अस्थिर वात्याचक्र में ऊपर-ही-ऊपर चक्कर काटते रहे। फलतः उनमें कृत्रिमता अधिक, अनुभूति की सचाई और रसभीजी चिन्तना कम है।

९. प्रगतिवादी दर्शन गतिवाद की जागृति का हिमायती होकर भी जीवन के श्रेय-प्रेय का वाहक न बन सका, यही कारण है कि कोई व्यापक मानवीय भावना—ऐसी भावना जिसमें व्यक्ति, समाज और वर्गों के भेद रहते हुए भी सब द्वन्द्वों से परे संकुचित सीमाएँ मिट जाती हैं, हमें प्रगतिवाद में नहीं मिलतीं।

१०. शुरू में प्रगतिवाद एक नये आशा-भरे सन्देश को लेकर अखाड़े में उतरा था। बड़ी आकर्षक बोली में उसने जनता का ध्यान आकृष्ट किया। खूब जूझने के बाद उसने सत्ता हासिल की, पर अन्त में उसी पुरानी कीचड़ और गन्दगी में जा सना।

११. 'प्रगति' का अर्थ है 'आगे बढ़ना', लेकिन उग्रपन्थी संकीर्ण विचारधारा ने साहित्य में उल्टे 'अ-गति' पैदा की है। ऐसी प्रगति उस 'कोल्हू के बैल' की सी

है जो गोल परिधि में आँखों पर पट्टी बाँधे आगे डग तो बढ़ाता है, पर किसी निश्चित ध्येय पर नहीं पहुँच पाता ।

१२. 'संयुक्त मोर्चे' का नारा व्यर्थ का वितंडा है, लेखकों का ध्यान आकर्षित कर उपयोगी साहित्य की सर्जना में इससे क्षति पहुँची है । क्या किसी भी सच्चे सर्जक की निर्बन्ध लेखनी को किन्ही प्रस्तावित उद्देश्यों, कार्यक्रमों, नियमों और एक विधान से बाँधा जा सकता है ?

१३. एक प्रगतिशील आलोचक* के शब्दों में—"मार्क्सवाद ने जीवन को देखने-समझने और बदलने के लिए अमल करने का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया है, पर यह दृष्टिकोण जादू की लकड़ी नहीं है कि उसको छूते ही आदमी 'सर्वगुण-सम्पन्न' बन जाता हो ।"

१४. निश्चय ही साहित्य गतिमय है, परिवर्त्तनशील है, भले ही उसका गतिमय प्रेरक रूप तुरन्त पकड़ में न आता हो, किन्तु उसके कोई निश्चित् फार्मूले नहीं हैं । विगत कुछ दशकों में हर नगण्य विचारधारा और व्यक्तिगत प्रवृत्तियों को लेकर जो नित-नये 'वादों' की सृष्टि हो रही है उससे साहित्य के सहज औचित्य बोध से विमुख—विसंगतियों और उलझाव के कारण—उसकी मूल स्थापनाएँ डगमगा गई हैं ।

असंतुलन

आज अन्तर्वादी और वस्तुवादी समीक्षा का द्विधाग्रस्त वैषम्य ही हमारी समस्या नही बना हुआ, अपितु अपने यहाँ चितकों का एक ऐसा वर्ग भी है जो विभ्रम और संशय की इस स्थिति में कुछ निश्चय नहीं कर पा रहा है । साहित्य के पहले के स्थापित सिद्धान्त एवं मानदंड, अथवा उसकी मान्य सीमा से परे वे उसमें ऐसे अभिनव तत्त्व खोज लाना चाहते हैं जो अब तक कभी प्रयोग में नहीं आए । उनका मत है कि जो कुछ लिखा जाय उसमें नव्यता और निरालापन तो होना ही चाहिए । उनमें अपनी श्रेष्ठता का दम्भ तो है ही, साहित्य के अंतरंग अक्षय स्रोतों के प्रति खुला विद्रोह भी है जिससे एक तिक्त घुटन और असन्तोष का स्वर नित-नई बदलती विचारधारा के साथ तीव्रतर होता जा रहा है । सनातन मान्यताओं के प्रति निष्ठा खोकर वे ऐसे बेतुके सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में नहीं हिचकते जिनसे उनकी भावनाओं का कभी लगाव नहीं हुआ, जिनको उन्होंने अपने भीतर अनुभव करने की आवश्यकता नहीं समझी और जिनमें उनकी आत्मा की किंचित् भी कभी पैठ नहीं हुई ।

इस नव्य भूमि पर उतरने के प्रयास में उनकी भ्रमित चेतना साहित्य के मर्म और असलियत को भुला बैठी है । एक विचित्र विरोधाभास सा इधर दीख पड़ रहा

१. शिवदान सिंह चौहान, 'आलोचना' अक्तूबर, १९५१

है जिससे एकाएक विरोधी दबावों से विशृंखल वृत्तियाँ, अनिश्चय और संशय में, उनके स्वानुभूत से तादात्म्य नहीं कर पाती।

इन अन्तर्विरोधों की कोई सीमा नहीं है और न इनके द्वारा किसी विशेष मत या सिद्धान्त का प्रतिपादन ही हो सकता है। एक प्रवृत्ति यदि सृजन को व्यक्ति-परक तो दूसरी उसे सामाजिक बनाने के पक्ष में है। सामाजिक संकल्प से अधिक उसमें व्यक्ति के विकल्प गुँथे हैं। साहित्य की संगठित शक्तियाँ आज एक ऐसी अविभाज्य इकाई के रूप में नही दीख पड़तीं जिसमें स्रष्टा के संवेदक पहलू तिरोहित होकर एक पुंजीभूत प्रकाश पैदा कर सकें। इसके विपरीत 'वादों' का वह एक बड़ा उलझावपूर्ण समवाय है जिसमें वादपरक होना उसकी सम्पूर्ण साधना की एक अनिवार्य शर्त बन गई है और जिनका न परस्पर समझौता हो सकता है और न समन्वय। स्पष्ट है कि साहित्य के ये वादपरक पहलू एक सम्पूर्ण समष्टि के रूप में नहीं, व्यष्टि के रूप में एक बड़ी प्रायोगिक प्रक्रिया के अंग भर हैं जिनमें ज़िन्दगी की सही सीमाएँ आँकने की ताकत है, न वस्तु और अभिव्यंजना का अंतरंग सम्बन्ध और न सहजात स्वनिर्मित वैचारिक स्वीकृति।

आज आलोचना का क्षेत्र विस्तृत है, पर उसके अभावों की सर्वांगीण पूर्ति के लिए कौन से प्रयत्न हो रहे हैं? हमारी वर्त्तमान आलोचना का स्तर क्या है? पाठकों की माँग क्या है और उसकी किस प्रकार पूर्ति हो रही है? यह किसी ने कदाचित् सोचने का कष्ट नहीं किया। तर्क-वितर्क और वाद-विवादों का आग्रह ज़ोरों पर है जिससे उसमें साधन-संबल बटोरने की शक्ति बढ़ी है, पर साहित्य की यह शंकाकुल स्थिति जीवन और जगत् के गतिमय प्रेरक तत्त्वों को कितने समय तक रूपायित कर सकेगी—यह समझना है।

ज्यों-ज्यों साहित्य में दिखावटी, अतिरंजित और वाह्य असम्भावनाएँ बढ़ रही हैं, पलायनवादी नकारात्मक तत्त्व उसमें अधिकाधिक उभर रहे हैं। नवीन परिस्थितियों के साथ भौतिक आवेष्टन, युग-विशेष की मान्यताएँ, संवेग, रुचियाँ और मनोगत द्वन्द्व जीवन की जटिल समग्रता के साथ सामंजस्य नही कर पाते। अतएव इस द्रुत और अस्थिर क्रम में मनुष्य इतना हत्बुद्धि और विभ्रान्त सा है कि वह साहित्य के ओर-छोर हीन विस्तार के बीच मुँह बाए निःस्तब्ध खड़ा है। सामाजिक समस्याओं में उलझा हुआ और अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखों में रत, साथ ही जीवन-यापन की अविरत अस्थिरता, परेशानी, व्यस्तता और कशमकश ने उसके रसोद्रेक को शिथिल और चिन्तना को ऐसा पंगु-सा बना दिया है कि वह कुछ भी सोचने-समझने में सक्षम नहीं है। एक विचित्र प्रकार का 'अहं' उसमें जगा है जो भीतर-ही भीतर घुलकर प्राचीन और नवीन के समय-प्रसार और वैविध्य से एकरस नहीं हो पाता। अतः साहित्य में स्थायी और निर्माणक तत्त्वों का बहुत कम समावेश हो पा रहा है। अतीत की थोथी, बेजान मिट्टी में या तो नये आशांकुर उगाने की चेष्टा की जा रही है अथवा नये-नये मतवादों के नागपाश में जकड़े जाकर जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव

संवेदना और बेबस दुराग्रह का अनिश्चित कुहासा छाया है।

फिर भी आलोचक चूँकि अधिक जागृत है वह भीतरी और बाहरी अन्तर्विरोधों में संतुलन स्थापित कर साहित्य को नई गति दे सकता है। प्रत्येक युग के कुछ खास प्रश्न होते हैं और नीर-क्षीर-विवेकी आलोचक की प्रखर प्रतिभा अपने ढंग से उन सभी का समाधान खोजती है। युग-युगान्तर की कड़ी से बँधकर वह समय की नब्ज़ को टटोलता हुआ सचेत होकर, जागरूक रह कर, सर्जक के हृत्स्पंदन को उसके सृजन के स्पंदन से एकरूप कर साहित्य के मूल आधारों को नया पथ देता है।

आलोचना का आधेय

इसमें संदेह नहीं कि लेखक के मनोबल पर परिस्थितियों का भारी दबाव है और वह इसे बखूबी महसूस भी कर रहा है, पर आलोचक का आस्थावान हृदय अभिव्यक्ति को निरूपित करने वाली क्षमता का दिग्दर्शक होता है, अतः वह कभी भी हार नही मानता। एक स्पष्ट जीवन-दर्शन, विचारों एवं अनुभूतियों की एकतानता, भावना एवं विवेक बुद्धि का समीचीन संतुलन—इस प्रकार उसके सहज ज्ञान द्वारा प्रतिपादित स्वयंसिद्ध और अकाट्य तर्क साहित्य के रूप और मूल्य के प्राणवान स्पन्दनों के वाहक बन सकते हैं, मोटे रूप में—उसके उथले विश्लेषण से नहीं, बरन् उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधियों और निहित अर्थवत्ता को वह आत्मसात् कर सकता है। आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह साहित्य के सत्य और सौदर्य को अधिक पूर्णता और अंतर्दृष्टि से आँके, उसकी समग्रता में पैठ कर विषय-वस्तु का अंगांगि अनुपात खोजते हुए अधिक गहराई और सशक्त रूप में उसे छुए।

आलोचक के पास मूल्य आँकने की व्यावहारिक कसौटियाँ हैं, किन्तु उसके कृतित्व की अंतरंग परीक्षा द्वारा हमें देखना यह है कि उसमें उत्कर्ष का धरातल क्या है, युगीन दायित्वों को उसने कहाँ तक निभाया है और किन शक्तियों को मुखर करता हुआ वह सनातन कला का मापक बन सका है। उसकी दृष्टि जितने ही सुदूर तक फैले जीवन पर पड़ेगी उतने ही सौंदर्य के शाश्वत स्वरूप की प्रतिष्ठा वह अपने कृतित्व में कर सकेगा और उसकी गहराइयों में उतर सकेगा। उसके दिल-दिमाग का दायरा ज्यों-ज्यों फैलता जायगा उसकी दिलचस्पियाँ बढ़ेंगी, सार्वजनीन संस्कारों को ग्रहण करने के अलावा उसके रागात्मक सबंधों और अनुभूतियों का क्षेत्र विस्तृत होगा और युग-सत्य को प्रेष्य बनाकर सामयिक स्थितियों को वह अधिक सचाई से आँक सकेगा।

आलोचक की युक्तियों में युगानुरूप विश्वासों के प्रतिरूप और अन्तर्दृष्टि की दुर्जेय शक्ति निवास करती है। किसी भी कलात्मक कृति और उसके सौंदर्य-भावन की प्रक्रिया को ऐसी विवेक-तुला पर रख कर जाँचना-परखना चाहिए कि जिससे उसकी असलियत आँकी जा सके। सामंजस्य की कसौटी पर आलोचक एक बड़ी हद तक किसी भी कृति की नाप-जोख कर सकता है, पर स्थिर किए मानदंड

और समीक्ष्य सामग्री दोनों में समानुपात और सर्वांगपूर्णता तो अवश्य होनी ही चाहिए।

तो फिर वह कौन सी तुला है जिस पर समीक्ष्य सामग्री को तोला जाय ? सबसे पहली बात तो कला-परीक्षण करते समय आलोचक को अपने गम्भीर दायित्वों को ध्यान में रखना है। साहित्य के स्वस्थ समुन्नयन के लिए—जब कि इस संक्रान्ति युग में सारे प्राचीन मूल्य और मान बदलते जा रहे हैं—सामयिक उतार-चढ़ाव को भाँपता हुआ वह रूप और स्वरूप की वर्चस्वता को लेकर बाह्य विवेचन और आन्तर अनुभूति के नित्य सम्बन्ध की ओर दृक्पात करे। उसमें यदि सचाई होगी तो वह स्थापित कसौटियों में निष्पक्षता और निष्ठा बरत सकेगा।

साध्य और साधन

आलोचक की खूबी 'सत्य' की पकड़ है, पर हाँ—इस अनित्य 'सत्य' का जो मूल प्रकार है वह सदा अविच्छिन्न रूप से परिवर्त्तनशील तत्त्वों के ऊपर उठा होना चाहिए। आज साहित्य ऊँचे उसूलों के बोझ से दबा कराह रहा है। विभिन्न वादों, मत-मतान्तरों और सिद्धान्तों से उसकी साँस घुट रही है, लेकिन कोई भी उसकी मर्यादा को नहीं माप सका है। युगीन समस्याएँ नित्य बदलती हैं और इन्सान उनसे जूझता है, खेलता है, उलझता है, पर उनकी कोई थाह नहीं पाता। समय से टकराकर साहित्य के शाश्वत उपादान जीर्ण होकर धूलिसात् नहीं होते, वरन् नित नए रूप में उभरते हैं। आलोचक को इस द्वन्द्व, इस कशमकश में से ही पथ खोजना पड़ता है। उसकी लेखनी की शक्ति असीम है, किन्तु उसकी शक्ति की असीमता सर्वसंवेद्य अनुभूति-प्रवणता में है। उसे समीक्षा के व्यापक तत्त्वों की गवेषणा करते हुए ऐकान्तिक से समष्टिगत और एकदेशिक से सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहिए।

आज आवश्यकता इस बात की है कि आलोचक अपनी आन्तरिक दायित्व-भावना को पूर्णतया उद्बुद्ध करे। वह दिग्भ्रमित न हो, अपितु विरोधी सिद्धान्तों एवं वाद-विवादों की वहिर्गत विषमता को अन्तरतम ऐक्य की एकनिष्ठ साधना के बल पर साहित्य के स्वीकृत सौंदर्यात्मक स्वस्थ तत्त्वों को आत्मसात् कर ले, क्योंकि उसकी मूल्य-मान्यताओं का प्रश्न केवल बौद्धिक संवेदन का प्रश्न नहीं है, साहित्य के निर्माण और विन्यास का प्रश्न है।

वर्त्तमान युग के दो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त विशिष्ट आलोचक टी० एस० इलियट और आई० ए० रिचर्ड्स ने एकमत हो स्वीकार किया है—"आलोचक का उद्देश्य किसी वस्तु के मूल्यों का निर्धारण करना है।"

पर इससे एक और सवाल पैदा होता है कि ये निर्धारित मूल्य कैसे हों और वह उन्हें किस रूप में सामने रखे। आलोचना का सौष्ठव, उसकी अर्थवत्ता, और उसका तात्त्विक आधार उसके महत्तर अन्तःसंयोजन में निहित है जहाँ आलोचक

केवल उस हवा से—जहाँ कि वह साँस लेता है—क्षर परमाणुओं को एकत्र कर ही तुष्ट नहीं होता प्रत्युत् कलात्मक मूल्यों का अपनी चेतना से तादात्म्य कर और अपने मनःप्राणों में उन्हें उतार परिचालित करता है। संत व्यूवे के मत से "साहित्य की श्लाघ्य परिपाटियाँ स्थापित करके ही आलोचना को ऊँचा उठाया जा सकता है।" साहित्य तो अनन्त स्रोत है जिसकी प्राणदायिनी बूँदें आत्मा का अभिसिंचन और चेतना-केन्द्रों को अनुप्राणित कर सकती हैं। साहित्य को आँकने वाली कोई निश्चित मापरेखा तो नहीं खींची जा सकती, परन्तु कलात्मक मूल्यों का महत्त्व आलोचक की प्रबुद्ध सहानुभूति में रम कर कहीं अधिक व्यापक, कहीं अधिक महनीय हो सकता है। वह अपनी जिम्मेवारी को जितनी ही गहराई से समझेगा उतनी ही अपनी निर्दिष्ट कसौटियों को साहित्य की स्थायी परम्परा से ग्रथित कर सकेगा।

२

नई कविता केन्द्र और परिधि

इधर कुछ अर्से से अर्वाचीन काव्य के उच्चतर विकास का प्रतिनिधित्व करने वाली जो कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं उनमें असंख्य विसंगतियाँ, विभ्रम और अन्तर्विरोध नज़र आ रहे हैं। कवियों की मनोवृत्ति क्या है, विगत युगों के आगत की परिणति और अनागत की प्रेरणाओं से परिचालित उनके नवीन केन्द्रस्थ विश्वास और परिधिगत मूल्यों के आयाम किस दिशा की ओर अनुधावित हो रहे हैं, मुख्य रूप से तात्कालिक वर्त्तमान के लिए अर्थबोध चाहने वाले इन [illegible] [illegible] ने अपने बहुमुखी माध्यमों और युगनिष्ठ भावोन्माद से निष्पन्न अप्रतिरोधित रसोद्रेक द्वारा एक अपनी विशिष्टता तो क़ायम की है किन्तु इस विशिष्टवाद ने निरवधि काल प्रवाह की अपरिहार्यता को चुनौती देते हुए कवि-चेतना के इलहामी स्वरूप पर बल देकर—कि कवि को दरअसल किस युग विशेष का संदेशवाहक बनना है—साथ ही निजी अन्तःस्फूर्ति द्वारा इन्द्रियगम्य और इन्द्रियातीत के आवरण-पट को छिन्न कर वह कौन से ऊर्ध्वाकाशों को स्पर्श करने का प्रयत्न कर सकता है और उसके परिवेश के विभिन्न धरातलों का मिलन-बिन्दु क्या है तथा भीतरी भावबोध का उद्‌घाटित स्तर वस्तु-सत्य के मापदण्ड के समकक्ष है कि नहीं—ये कुछ विचारणीय प्रश्न हैं जो आज के सृजन के मूल में समाजद्रोही तत्त्वों को बटोरकर विस्फोटक बारूद का काम कर रहे हैं। आधुनिकता की भ्रांति, मांसल कल्पना-प्रियता और अवचेतन-विलासिता के अतिरेक ने नव्य जीवन-मूल्यों की स्थापना को एक अप्रत्याशित मोड़ दिया है और उसकी सर्वथा नयी व्याख्या प्रस्तुत की है।

कहना न होगा—काव्यगत मूल्यों का उक्त क्रम-विपर्यय कभी-कभी खिलवाड़ के सिवा कुछ नही। वर्ग-संघर्ष के दौर में अस्थिर अनुभूति और अयाचित राग-विराग से सिरजे गए इन रंग-रेखाओ के व्यापार का क्या कोई मापदण्ड नहीं है? जहाँ रेखाओं की गति निर्बन्ध हो और नानाविध टेकनीक की गुत्थियों का अक्रम ही क्रम बन जाय, 'वास्तव' एवं 'प्रतीति' में कोई भेद न रहे तथा विशृंखल विषयों अथवा असम्बद्ध शब्द-चयन के वैचित्र्य में ही अर्थ खोजने की चेष्टा की जाय तो प्रेरणा का स्रोत उक्त परिधि के भीतर या बाहर कहाँ ठेल ले जायगा—कहा नहीं जा सकता।

माना कि व्यष्टि मानव और समष्टि मानव के पूँजीवादकालीन दुर्निवार अन्तर्विरोध के फलस्वरूप अनेक कवियों ने कविता का नया रूप-संस्कार किया है, तथापि जीवन के प्रति उस विस्तृत और गंभीर प्रतिक्रिया को एक गत्यात्मक व्याख्या के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में जो उनकी अंतरंग विद्रूपता कल्पना-विम्बों में उभरी है उन पर बौद्धिक प्रक्रिया का ऐसा आवरण चढ़ा है कि वह अतीत और वर्त्तमान के व्यवधान के बीच सांगोपांग संपूर्ति का साधन अथवा सहज संवेद्य बनकर आत्मा में रमने वाला नहीं हो सकता। भूत में प्रतिपल परिणत होता वर्त्तमान और भविष्य की गोप्य परिधि में सिमटा अनागत नित-नई मानव-चेतना का पाथेय बनकर प्रगति-पथ की ओर निर्देश करता है। जब-जब नवोदित क्रान्ति ने लोक-चेतना में आलोड़न उत्पन्न किया है, नई ताज़ी खुली हवाओं के झोंके बहुमुखी क्रियात्मक शक्ति एवं संघर्ष के प्रति जागरूक बनाकर विचार और कर्म की संकीर्णता से मुक्त करते हैं, पर इसके विपरीत यदि ये हवाएँ कृतिकार की क्षमताओं पर अट्टहास करती अथवा उसके अंतस्तल को झकझोरती नैसर्गिक सृजन की मूल प्रेरणाओं को विच्छिन्न करने वाली हैं तो युगीन दर्शन, आचार और रीति-नीति उनके क्रूर थपेड़ों से आहत होकर बेमानी हो जाते हैं।

उन्मुक्त वातायन या गाती-मचलती आज़ाद हवाएँ खुले दिल और खुले दिमाग़ को शह देती हैं। वे सुप्त मानस को जगाने वाली और भीतर की बन्द कारा में नई रूह जगाने वाली हैं, मगर ये सरपट पास से गुज़रने वाले प्रचंड बवंडर—अपने संक्रमणकारी प्रभाव से—क्या कलाकारिता की कसौटी को ही नष्ट-भ्रष्ट न कर देंगे?

प्रगतिवाद

छायावाद की रूढ़ियों की प्रतिक्रिया सहसा प्रगतिवादी कविताओं में प्रबल जीवनाकांक्षा का उन्माद लेकर प्रकट हुई थी। साधारणतः किसी प्रमुख प्रवृत्ति के बहुत दिनों तक एक ही दिशा में चलते रहने से जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है वही कालान्तर में प्रबुद्ध मानवों द्वारा प्रगति-पथ खोजती है। प्रगति एक हद तक अनिवार्य और जीवन-सापेक्ष्य भी है। आत्मकेन्द्रित, विशृंखल भाव-चेतना वाह्य जीवन-क्रम में एक प्रकार का अवरोध उत्पन्न कर देती है, जिससे वाध्य होकर गतिशील सत्य और सामाजिक चेतना के भीतर से उपादान खोजने पड़ते हैं। कलाकार चूँकि अधिक जाग्रत है वह भीतरी और बाहरी अंतर्विरोधों में संतुलन स्थापित करता है और अपनी सशक्त अभिव्यक्ति द्वारा समाज का नेतृत्व करता है।

आज के संघर्षशील युग में ज़िन्दगी की मौजूदा कशमकश और विरोधाभासों ने मानव के पूर्ण रसोद्रेक को शिथिल, नियन्त्रित और शुष्क बना दिया है। जीवन की दृष्टि-भंगी बदल गई है। कवि की प्रखर चेतना द्वंद्वात्मक शक्तियों को ललकार कर क्रान्ति का आह्वान किया चाहती है। यह आँधी सिर्फ़ हवा नहीं, इसकी दिशा विकासोन्मुख है। इसके कोलाहल के भीतर बदलती दुनियाँ की तस्वीर छिपी है। नवीन जीवन के

निर्माण की ओर उत्प्रेरित यह गतिशील क्रान्तिकारी दृष्टिकोण ही आज प्रगतिवाद के नाम से रूढ़ हो गया है और आलोचक इसके पक्ष-विपक्ष में अपने अभिमत व्यक्त करते रहे हैं।

अन्तर्भूत सत्य की साधना ही साहित्य में भावयोग है और प्रगतिवाद की यह पहली और आवश्यक शर्त होने के कारण बहुत कुछ संकुचित और अवास्तविक आदर्शों को ठुकराया गया है। छायावाद का सूक्ष्म, वायवी कला-विलास इधर बहुत कुछ एकांगी हो गया था। उसमें जीवन की सीधी निर्बाध अभिव्यक्ति न थी, इसलिए यह स्वीकार करने में हमें आपत्ति न होनी चाहिए कि लोगों के दृष्टिकोण बदलने में प्रगतिवाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है। वह कुछ इतनी तेजी से प्रिय भी हुआ कि उसके कलम के जादू को कोई रोक नहीं सका। उसने वाह्य विश्व के संघात को उदात्त बनाकर दर्शाया और प्रगति के मार्ग में रोड़ा अटकाने वाली प्रतिगामी शक्तियों को कुचल कर भावी क्रान्ति के लिए आवश्यक मनोभूमि का निर्माण किया।

पर यह प्रगतिवाद का विधायक पक्ष है। प्रश्न उठता है—अपनी बौद्धिक निष्ठा और तार्किक आशावाद के अलावा उसने साहित्य को और क्या दिया? वह किन आस्थाओं, किस चेतना और किन संस्कारों से गतिमान होकर अग्रसर हुआ और उसने कौन सी 'मिशन' पूरी की? सचाई से प्रेरित होकर जब-जब आत्म-विश्वास और दृढ़ संकल्प के साथ जन-जीवन से तादात्म्य स्थापित किया गया तब-तब साहित्य समाज के संस्कारों की समष्टि बनकर आया और श्रेष्ठ एवं स्फूर्तिप्रद समझा गया। मत-प्रचार की संकीर्णता से मुक्त जहाँ वह विचार-जाग्रति का प्रणेता बना वहीं निम्न तल से उठकर उच्च धरातल पर जा टिका और कलाकार की अमर साधना का प्रतीक बनकर प्रकट हुआ।

युग-विशेष की माँग क्या है—इस प्रश्न ने अनेक बार हमारे साहित्यकारों की सामाजिक और राजनीतिक चेतना को झकझोरा। उनके परम्परागत संस्कारों पर समय-असमय परिस्थितियों की चोट पड़ी और वे काल्पनिक आदर्शों को भुलाकर एक नवीन संस्कृति के स्वप्नद्रष्टा हो गए। निराला, पंत, नरेन्द्र, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर आदि कवि भी इस लहर में बह गए। स्वप्नदर्शी पंत ने आकाश से पृथ्वी की ओर झाँका और दूसरों को भी ऐसा ही करने के लिए प्रेरित किया।

'ताक रहे हो गगन?
मृत्यु—नीलिमा—काल-नयन?..
निःस्पन्द शून्य, निर्जन निःस्वन?
देखो भू को!
जीवन प्रसू को!
हरित भरित तरु
पल्लवित मर्मरित

कूजित गुंजित
कुसुमित
भू को !'

सुन्दर से असुन्दर को सहन करने की भावना भी उनमें जगी।

'वह अन्तःसौन्दर्य, सहन कर सके
बाह्य वैरूप्य विरोध।'

पंत के सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा अंश प्रगतिवाद से प्रेरित है। प्रगति की होड़ में न जाने कितने ही अन्य कवियों ने भी सुन्दर कविताएँ रचकर साहित्य को समृद्ध किया, लेकिन शनैः शनैः यह 'वाद' फैशन बन गया और बाहरी संघर्ष से भीतरी प्रतिक्रिया का सामंजस्य न हो सकने के कारण अनेक बार प्रगतिवादियों के कृतित्व का संतुलन खो गया।

सन् १९१० की बोल्शेविक क्रान्ति ने न सिर्फ़ रूस में, वरन् यहा भी जीवन की नींव हिला दी थी। फलतः किसान, मज़दूर, दीन-दुखी, शोषित-उत्पीड़ित वर्ग ही कवियों के आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बन गया। जीवन का अंतर्विरोध यहाँ तक बढ़ा कि कुछ समय तक साहित्य के मूलभूत तत्त्वों में भी तनाव और तीखापन अनिवार्य समझा गया।

'आज शोषक-शोषितों में, हो गया जग का विभाजन !
अस्थियों की नींव पर, अकड़ा खड़ा प्रासाद का तन
धातु के कुछ ठीकरों पर मानवी संज्ञा विसर्जन।
मोल कंकड़-पत्थरों के, बिक रहा है मनुज जीवन।'

(शिवमंगलसिंह 'सुमन')

'वह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़ों से आज गई बीती।
बुझ जाती तो आश्चर्य न था, हैरत है पर कैसे जीती॥'

(अंचल)

'रे दो दिन का
उसका यौवन।
सपना छिन का
रहता न स्मरण।
दु:खों से पिस,
दुर्दिन में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन ?

बह जाता असमय यौवन धन ?
बह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस-खेला कुछ क्षण ?'

(सुमित्रानन्दन पंत)

'नष्ट कर दो
आज धरती पर खड़े
अभिशाप से······
इन राजमहलों को जलाकर
नष्ट कर दो
लक्ष्मी के लाड़लों के
ये विशाल भवन !
हैं खड़े जो नींव लेकर
आज मानव के रुधिर की ।
नष्ट कर दो·······
शेष रह जाये न कोई
इस जगत में······'

(विश्वनाथ मिश्र)

'बहुत बज चुकी जर्जर वीणा, बहुत प्रेम का गान हुआ ।
बहुत हो चुका रास-रंग कवि ! बहुत दिनों मधुपान हुआ ।
बहुत दिनों तक हुआ न्याय का और बहुत अपमान हुआ ।'

(नरेन्द्र)

'तरुण क्रांति मन मन मचलेगी, प्रांत प्रांत पुर पुर बिछलेगी,
सड़ी-गली प्राचीन रूढ़ि के भवन गिरेंगे, दुर्ग ढहेंगे ।'

(नेपाली)

विश्व-साहित्य से अनुप्राणित होकर यहाँ के साहित्य का गति-परिवर्त्तन अवश्यम्भावी भी हो गया था । अत: जीवन बिखर कर अनेक धाराओं में बहा और यद्यपि बीच में कितनी ही बाधाएँ आई, किन्तु उसकी प्रगति न रुकी और रुकावटों, विघ्नों के बावजूद भी वह आगे बढ़ता रहा । आज भी ऐसे रुढ़िवागीश लेखकों की कमी नहीं है जो प्राचीन आदर्शों से चिपटे रहकर साहित्य की गति को रुद्ध करना चाहते हैं, लेकिन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उनके द्वारा भी यह सत्य स्वीकृत हो

चुका है कि साहित्य सीमित अथवा व्यक्ति-केन्द्रित होकर नहीं जी सकता। सामाजिक दायित्वों की सर्वथा उपेक्षा करके शक्ति अर्जन करना उसके लिए असम्भव है। कारण—जीवन-सत्य की परिणति ही साहित्य की सार्थकता है।

इस व्यापक सत्य को स्वीकार करके कवि नूतन पथ पर अग्रसर तो हुआ किन्तु मानव-समाज के विकास के साथ क़दम से क़दम मिलाकर युग को वाणी देने का युगीन दायित्व न निभा सका। प्रगतिवादी कविता पनपी तो सही, किन्तु उसमें विद्रोह का स्वर इतना तीखा था कि साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के खिलाफ़ मार्क्सवाद और सर्वहारा वर्ग के नाम पर बेहद उच्छृंखलता समा गई। शनैः-शनैः मनोविज्ञान ने नग्न 'सेक्स' चेतना जगाई और यथार्थ के हामी बनकर बिना किसी अंकुश के न सिर्फ़ उनके अस्वस्थ मन एवं विकृत मस्तिष्कों के परीक्षण किये, बरन् उनके उपचार का भी दावा किया।

आध्यात्मवाद और आत्मानुभव को ठुकराकर नितान्त स्थूल दृष्टिकोण अख्तियार किये गए, साथ ही नीति और आचारवाद को अस्वीकार करके नर-नारी के पारस्परिक गर्हित सम्बन्ध, यहाँ तक कि उनके लैंगिक आकर्षण तक को स्वस्थ, प्रकृत प्रेम के अन्तर्गत लिया गया।

'उन धान के कटे हुए खेतों के उस पार,
भैंस के पीछे एक काली-सी किसान-कन्या
नाटे से बरगद की घनी उस छाँह में
पास में मोटा-सा लट्ठ लिए एक युवक
भैंस की पीठ पर कुहनी टिकाए हुए
देखते ही देखते चिकोटी काटी उसने..
छातियाँ मसल दीं, उसने और....... !
गाड़ी में बैठे हुए बाबू के मन में........
सेक्स-चेतना की प्रतिक्रिया हुई 'छिः, छिः' में,
'देखिए असभ्यता गँवारों की,
खुले मैदान में...........
खेत खलिहान में
'ये' के आगे बढ़ने में उनकी सुसभ्य बाणी.....
प्रौढ़ा नायिका की भाँति सकुच सिमट गई !
उन्हें क्या पता कि.......
स्वस्थ काम को अपेक्षा नहीं
महल, अटारी, और तोशक-पलंग की।'

(मंगला मोहन)

अनेक कवियों ने अपने कृतित्व में सहज मर्यादा तक को भुलाकर उच्छृंखल यौन-रुचियों को परितृप्त करने के लिए रसात्मक सर्जना की, जो उन्हीं की प्रतिगामी इच्छाओं की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति के रूप में या कहें कि छिन्नमूल वैयक्तिकता के आस्फालन से मुक्त संवेगजन्य तीव्रता में फूट पड़ी।

'नस नस में छलक-छलक उठती कैसी तृष्णा मदिरा अज्ञात
किस नव तरंग से कसक वक्ष कर रहा प्रबल उत्तप्त घात
यह सावन की मदभरी रात'

(*अंचल*)

पंत की स्वस्थ चुम्बनेच्छा कितना ही सदाशय और सद्भाव लिए हो, किन्तु व्यावहारिक जीवन में अमनोवैज्ञानिक और व्यर्थ की जल्पना मात्र है।

'धिक् रे मनुष्य तुम स्वस्थ शुद्ध निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर !
क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा बुद्धिमान,
नर-नारी का यह सुन्दर स्वर्गिक आकर्षण !!'

प्रगतिवाद आज के साहित्य का सब से पुष्ट अंग है। नव-चेतना उसमें जिस अनुपात से प्रतिबिम्बित हुई उसी अनुपात में जनमत को प्रभावित करने की शक्ति उसमें जगी, पर शिकायत यही है कि अपने यहाँ प्रगतिवाद का ठीक विकास नहीं हुआ और रूसी मान्यताओं को लेकर चलने के कारण अपनी भारतीय जीवन-व्यवस्था में वह पूर्णरूपेण गृहीत न हो सका। प्रगतिवादी दर्शन गतिवाद और जाग्रति का हिमायती होकर भी जीवन के श्रेय-प्रेय का वाहक न बन सका, यही कारण है कि कोई व्यापक मानवीय भावना—ऐसी भावना जिसमें व्यक्ति, समाज और वर्गों के भेद रहते हुए भी सब द्वन्द्वों से परे संकुचित सीमाएँ मिट जाती हैं—हमें प्रगतिवाद में नहीं मिलती। विरोधों के बीच प्रतिगामी शक्तियों पर दृष्टि रखते हुए विकास का पथ खोज लेना, सामान्य सिद्धान्तों में वैभिन्न्य-विभेद के बावजूद व्यापक समानता को सापेक्ष बनाना और जैसे अंधकार एवं प्रकाश का एक सन्धिस्थल होता है उसी प्रकार प्रतिकूल प्रेरक क्रियाओं में भी परस्पर सांगठिक तत्त्व खोज लेना साहित्य में अभिव्यक्ति की पूर्णता की कसौटी है। प्रगतिवाद इसी कसौटी पर उतर कर हमारे अतीत और वर्त्तमान की, पूर्ववर्ती और परवर्ती मूल्य-दृष्टियों का समन्वय प्रस्तुत कर सकता है।

हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि हमारी आज की समस्याएँ भी वे ही हैं जो पहले थीं और उनमें किंचित् उलट-फेर नहीं होना चाहिए। प्रत्येक युग की कुछ भिन्न समस्याएँ होती हैं और उनका हल भी नये ढंग से किया जाता है। लेकिन श्रेष्ठ

साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह अंतर्द्रष्टा बन कर अपने चारों तरफ देखे और वस्तु के तल में पैठने का प्रयास करे। उसे तात्कालिक समस्याओं में नहीं उलझ जाना चाहिए, केवल कुछ प्रश्नों और एक-दो समस्याओं में ही वह अपनी समस्त शक्ति केन्द्रित न कर दे, उसे तो साहित्य के चिरंतन सत्य और निरपेक्ष ध्रुव पर आ टिकना चाहिए। वह अनेक कोणों से जीवन के विभिन्न पक्षों और मिलन-बिन्दुओं की परख करे और युग-चेतना से सम्पृक्त होकर यथार्थ स्थितियों की पर्यालोचना में प्रवृत्त हो। कारण— सृजनशील लेखक टकसाली सिद्धान्तों अथवा उथले विश्लेषण से काम नहीं चला सकता, उसे किन्हीं भी मनोवैज्ञानिक गुत्थियों और चेतन-अचेतन के द्वन्द्व-संघर्ष का सामना करने के लिए स्वकीय सिद्धान्त किंवा निर्दिष्ट दृष्टिकोण तो अपनाने ही पड़ते हैं।

प्रगतिवाद के विषय में आज जो विवाद फैले हुए हैं उसका कारण है कि इधर उसका दायरा बहुत संकुचित हो गया है। सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति न होकर राजनीतिक द्वन्द्व और तनाव की कशमकश ही साहित्य में व्यक्तहो ने लगी है। यथार्थ के मूक, चेष्टा-विहीन चित्रण में चिरन्तन प्रश्न गौण हो गए हैं और स्वयं यथार्थता भी इतनी जटिल और बहुमुखी हो गई है कि जिस प्रश्न के कल तक एक या दो ही समाधान हो सकते थे, वह आज खण्ड-खण्ड होकर सामने बिखरा पड़ा है और उसको समेटना एक समस्या बन गया है। मनुष्य के रुझान, उसके विचार और दृष्टिकोण, उसकी भावनाएँ और संवेदनाएँ एक विशेष सामाजिक परिवृत्ति से घिरे हैं। परिस्थितियों के दवाब ने उसे परवश कर दिया है, उसकी क्लान्त अतृप्ति दुस्सह हो गई है, फलतः उसकी अभिव्यक्ति भी घटिया किस्म की और बेजान होती जा रही है।

प्रयोगवाद

साहित्य और कला के विषय में प्रयोगवादियों की आमतौर पर बुनियादी स्थापनाएँ निम्न हैं :

नवीन भाषा, नवीन छन्द, नवीन टेकनीक, असाधारण प्रतीक-विधान और मनमानी भावात्मक इकाईयों का कविता में अतिरंजित रूप।

नित-नए प्रयोगों की प्रक्रिया के भीतर से जीवन और वस्तु-सापेक्ष्य प्रायोगिक क्रान्ति।

वस्तुपरक दृष्टिकोण का आत्यंतिक आग्रह।

स्वतन्त्र चिन्तन, रूप-शिल्प, काव्योत्कर्षकारी व्यंजना, सामाजिक संगठन से पराभूत या गुमराह भावचेतना का प्रयत्नपूर्वक पोषण, [illegible] एवं कलात्मक साज-सँवार।

जीवन के मूल तत्त्वों में वांछित उलट-फेर और अस्तव्यस्त उलझी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को सहज संवेदनीय बनाना।

एक प्रयोगवादी कवि के शब्दों में "सरलतम भाषा में रंग-बिरंगी चित्रात्मकता से समन्वित साहसपूर्ण उन्मुक्त रूपोपासना तथा उद्दाम यौवन के सर्वथा मांसल गीत।"

प्रयोगवादियों का दावा है कि मनुष्य की मूल्य दृष्टियाँ—युग और वातावरण के अनुरूप—उत्तरोत्तर विकसित होती रहती हैं, अतएव उसकी नवोद्भावित चेतना भीतरी बोधवृत्ति का जो परिष्कार और रूपान्तर करती चलती है वे ही समयानुरूप साहित्य में जीवन्त और सशक्त प्रयोग बन जाते हैं। मानवीय भावनाओं का आलोड़न सामाजिक चेतना से सर्वथा विच्छिन्न नहीं किया जा सकता, इसी कारण उसमें समयाश्रित द्वन्द्व-संघर्ष और उसी की मजबूरियों से उत्पन्न पलायन के तत्त्व उभरते रहते हैं जो अनेक बार उसकी पूर्णता के परिचायक बन जाते हैं।

चूँकि युग बदल गया है, अब भावप्रवण मिथ्या परिकल्पनाओं के छायाभास वैभव में मानव की वृत्ति नहीं रमती और जीवन की बोझीली, ठोस बौद्धिकता ने भी उसमें संशय और खीझ पैदा कर दी है। युगानुरूप विश्वास और मस्तिष्क को जाग्रत करने के लिए ये प्रयोग साहित्य की प्रेरणा बन सकते हैं। ये जीवन के 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' को आत्मसात् करके कला-साधना का पथ प्रशस्त कर सकते हैं—इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

प्रयोग की प्रवृत्ति और बड़े पैमाने पर प्रयोगशील सक्षम उपकरणों के संघटन का प्रश्न कुछ ऐसी व्यापकता लिए है कि उसकी अनिवार्यता किसी सूरत में अस्वीकार नही की जा सकती। पर प्रयोगों के मूल्यांकन की कसौटी क्या हो? उनका रूप कैसे सुस्थिर किया जाय? किन पैमानों पर उन्हें जाँचा और परखा जाय—ये कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं।

जिज्ञासा और ऊहापोह का यह नया युग किसी पुरानी वस्तु को उसी रूप में स्वीकृत करने के लिए कैसे उद्यत हो सकता है? समय की रगड़ से परम्परागत विश्वासों और निष्ठा को जो गहरा धक्का लगा है इसके फलस्वरूप कितनी ही नवीन समस्याएँ सामने आ खड़ी हुई हैं और कवि अथवा कलाकार को अपनी बात को अधिकाधिक मार्मिकता एवं प्रभविष्णुता प्रदान करने के लिए अभिव्यंजना में नये-नये प्रकारों से जूझना पड़ता है।

बात यह है कि प्राचीन से ऊब कर नवीनता की चाह प्रत्येक में होती है और सनातन भावनाओं को अनेक बार नए चोले में पेश किया जाता रहा है। हर लेखक का अपना निराला ढंग होता है, वह दूसरे से भिन्न तौर-तरीका अख्तियार करना चाहता है, कम से कम उसमें यह ख्वाहिश तो होती ही है कि वह अपनी बात को चमत्कारिक ढंग से कहे। दूसरे लोग उसकी प्रतिभा की दाद दें और वह जो कुछ कहे या प्रकट करे उनके दिल-दिमाग़ में पूरी तरह धँस जाय। इसी भावना से प्रेरित होकर सर्जक अभिनव प्रयोग करता आया है और दूसरों को प्रभावित करने की सतत चेष्टा करता रहा है।

प्रयोगों की यह परम्परा नई नहीं है, वह आज के मस्तिष्क की उपज भी नहीं है, हाँ—उसे 'वाद' बनाने का दुराग्रह नया कहा जा सकता है।

यह निर्विवाद है और काव्य-सृजन की आदिम परम्परा से लेकर उसके परम पुष्ट विकसित काल तक का इतिवृत्त भी यही सिद्ध करता है कि प्रयोग सदा से होते आए हैं और उनसे कल्पना की समृद्धि एवं सारस्य की अभिवृद्धि होती है। सूक्ति, वैचित्र्य, अलंकार, श्लेष, यमक, अनुप्रास, अतिशयोक्ति आदि तथा ध्वनि, रीति, लक्षणा, व्यंजना, असामान्य रूप-विधान अथवा वस्तु, दृश्य, घटना और जीवन के अनवरत संघर्ष-विराम से प्रेरित संवेदनशील अनुभूति साहित्य-स्रष्टा की उत्कण्ठा, एकाग्रता व तन्मयता से एकात्म्य हो काव्य की सशक्त सार्थकता को उजागर करती रही है, पर साथ ही यह भी सच नहीं कि विचित्र व्यंजना अथवा नितांत नए भावों को नई शैली में नए रूप-विधान के साथ प्रस्तुत करना ही एकमात्र काव्य की कसौटी है। न कभी काव्यगत प्रयोग इतने छिछले स्तर तक ही वांछनीय हुए हैं जहाँ कलात्मकता बाधक हुई हो और न शिल्प एवं प्रकार में अद्भुत संभावनाओं का इतना उत्कट आग्रह ही कभी ग्राह्य हुआ कि जिनमें नई सृजन-प्रेरणा का नितांत अभाव हो। पुराने जमाने के कवि अपने प्रयोगों में भी सत्य के खोजी हुआ करते थे और उनका सत्य भी वही हुआ करता था जिन्हें वे समग्र रूप से ग्रहण अथवा आत्मसात् कर लेते थे। विचारों को अलंकृत करने के उद्देश्य से रूपक या उपमा, सहभाव अथवा सादृश्य कल्पना उनके अपने स्वानुभवों और चारों ओर के पर्यवेक्षण और जीवन के प्रति अंतःप्रेरित एवं काल्पनिक प्रतिक्रिया के आधार पर निर्णीत होती थी। उनका काव्यत्व, उनका समग्र शिल्प-विधान—इसी चरम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त नियोजित होता था कि सर्वस्वीकृत ढाँचे में ढले होने के कारण विशिष्ट वैयक्तिक सम्बन्धों से समन्वित होते हुए भी वे सार्वजनीन रूप से कैसे मान्य हों, यथा—

**"पिया बिनु साँपिन कारी रात
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया,
डसि उलटी ह्वै जात।"**

उपर्युक्त पंक्तियों में सूरदास ने कृष्ण पक्ष की भयावह रात्रि की उस काली सर्पिणी से तुलना की है जो डसने के उपरान्त तुरन्त उलटी हो जाती है और इस तरह उसके पेट की श्वेतिमा रात्रि की उत्तरार्द्ध चाँदनी सी कौंधकर विरहिणियों के लिए अत्यन्त कष्टप्रद और असह्य होती है। रात्रि की सर्पिणी से तुलना आज भी एक नया और अद्भुत प्रयोग कहा जा सकता है, पर कितना समीचीन और वस्तुस्थिति के सत्य को ग्रहण करने वाला।

**"ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी
गहि न जाइ अस अदभुत बानी"**

(तुलसीदास)

अयोध्या कांड में राम के बन से पुनः अयोध्या लौट चलने की गम्भीर वार्ता का प्रसंग है। राम-प्रेम में विभोर भरत की वाणी श्रोताओं को ग्रहण करना उसी प्रकार कठिन प्रतीत हो रहा है जैसे हाथ में दर्पण थामे हुए भी और मुख की प्रतिच्छवि इतनी समीप और नज़रों के सम्मुख होते हुए भी पकड़ में नहीं आती।

इसी तरह के अगणित प्रयोग भक्तिकाल और रीतिकाल के कवियों में अपितु कहें कि उनसे भी पूर्ववर्त्तियों और परवर्त्तियों में मिलते हैं, परन्तु काव्य में जो अपेक्षित स्थायी गुण होने चाहिये अर्थात् कभी न शेष होने वाली भव्यता और एक असीम अनन्तता—उसका पहले निर्वाह किया जाता था। विचारधारा में प्रगति लाने वाले अंतः सूत्रों की जाँच करके प्रत्येक की विशेषताओं का वर्गीकरण और सम्बन्धों का निरूपण कर लेने के पश्चात् उस विशिष्ट काल-खंड के भीतर उसी की कोटि की या उससे महत्तर मूल्यों की स्थापना में एक-एक पहलू का सर्वव्यापी महत्त्व निर्दिष्ट कर नव्य दिशा की ओर अग्रसर होने की चेष्टा की जाती थी। तर्क-संगत वास्तविकता मौलिक और शाश्वत यथार्थ को विस्मृत न करती थी और निरपेक्ष सत्य की सीमा-रेखा मार्ग की असीमता को झुठला न पाती थी। सर्वसम्मत औचित्य के आधार पर व्यक्ति की क्रियाशीलता सामाजिक क्रियाशीलता बनकर महत्त्वाकांक्षा और निःश्रेयस में प्रगति करती थी। यों प्रगतिशील या प्रयोगशील कहे जाने वाले साहित्य की मान्यताएँ किसी विशिष्ट राजनीति, वर्ग अथवा सामयिक परिस्थितियों से संयुक्त न होकर सचाई से उन तथ्यों का अधिकतर आकलन करती थीं, जिसमें एक समन्वित समग्रता तो निहित होती ही थी, पर जो कालान्तर मे साहित्यिक सोद्देश्यता की भी उत्प्रेरक सिद्ध होती थीं। किन्तु इसके विपरीत आज की सन्देहशील अनिश्चितता में कवि की हर अनियन्त्रित अभिव्यक्ति को स्थितिजन्य कहकर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सत्य और सर्वोचित की परिपक्वता में परिणत करने का दंभ कितना गर्हित साबित हुआ है। कुंठित मस्तिष्कों की ह्रासमूलक प्रवृत्तियाँ, नर-नारी के यौन व्यापार और उनकी प्रेम-घृणा के संवेदनात्मक चित्र अथवा प्रकारान्तर से जनवादी आस्था की दुहाई देकर झूँठ-मूठ के शिल्प-विधान की प्रवंचना द्वारा जनता के स्वप्न या नई ज़िन्दगी की निर्माण-चेतना को ललकारना कहाँ तक सही है और किस रूप में निष्क्रियता का अन्त कर वह नया जीवन फूँकने में समर्थ होगा—कहा नही जा सकता।

सबसे बड़ी दिक्क़त प्रयोगवादी रचनाओं की सीमा-रेखा निर्धारित करने में होती है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों में इतना सूक्ष्म भेद है कि पार्थक्य कभी-कभी कठिन सा हो जाता है और अनेक प्रगतिवादी रचनाएँ प्रयोगवाद के अन्तर्गत भी परिगणित की जा सकती हैं। यथाः

"और वे तारे अभी भी टिमटिमाकर आँख मटकाते किलकते,
है उन्हें क्या ज्ञात ?

कितनी भूख से मन छटपटा कर सो गये फुटपाथ पर हैं,
और कितने घोर अत्याचार
होते हैं यहाँ पर,
निकल आए इन्हें क्या, बस हो गई है रात।"

यह प्रगतिवादी कविता है। इसी भावना से प्रेरित एक प्रयोगवादी कविता :

"ज्योति के ये केन्द्र हैं क्या ?
ये नवल रवि-रश्मि जैसे,
चाँदनी से शुद्ध उज्ज्वल,
मोतियों से जगमगाते,
हैं विमल मधु मुक्त चंचल।
श्वेत मुक्ता सी चमक, पर
कर न पाये नभ प्रकाशित,
ज्योति है निज कर न पाये,
पूर्ण वसुधा किन्तु ज्योतित।
कौन कहता दीप ये जो
ज्योति से कुटिया सजाते ?
ये निरे अंगार हैं बस,
जो निकट ही जगमगाते।
ये न दे आलोक पाये ?
बस चमक केवल दिखाते,
झिलमिलाते मौन अगणित
कब गगन-भू को मिलाते ?
ज्योति के तब केन्द्र हैं क्या ?"

(महेन्द्र भटनागर)

उपर्युक्त दोनों कविताओं में बहुत कम अन्तर है। ऐसी ही सैंकड़ों कविताएँ एक दूसरे में गुँथकर बिखरी हुई हैं जिनमें प्रगतिशील उपकरणों और युग-विशेष के विशिष्ट अभिधानों के अलावा छन्द, भाषा, शैली और अभिव्यंजना के माध्यमों में नवीन प्रयोग बरते गए हैं। विगत पन्द्रह-बीस वर्षों में 'प्रगति' के मैदान में आगे आने की नए-पुराने कवियों में जो परस्पर होड़-सी होती रही उसी ने उनमें चिहुँकती टीस और उफनता जोश भरा और उसी ने उन्हें नए सक्षम प्रयोगों की प्रेरणा दी। भगवती चरण वर्मा, नरेन्द शर्मा, अंचल, दिनकर—यहाँ तक कि निराला और पंत तक ने आगत जागरण-युग की भावनाओं को वहन करते हुए कविता को अधिक संवेदक और सशक्त बनाया। उस समय जो जनवादी कविताएँ लिखी गईं उनमें सामाजिक तत्त्व और वैचारिक संघर्ष तो है ही, विषय-वस्तु और रूप-विधान में भी

ऐसे कलागत प्रयोग किए गए हैं कि उनमें अभिप्रेत सामंजस्य उत्पन्न होकर विभेदक-सीमा मिट गई है। प्रगतिशील और प्रयोगशील दोनों प्रकार के तत्त्वों ने उन्हें ऐसा ठोस आधार प्रदान किया है कि आज वे एक विशिष्ट दिशा, एक निश्चित गन्तव्य-पथ की ओर संकेत कर सकी हैं।

प्रगतिवादी तत्त्व अब तक प्रयोगवाद के भी पूरक रहे थे, यद्यपि यह नवागत प्रवृत्ति अभी स्पष्ट नही हो पाई थी। प्रगतिवाद में सामाजिक चेतना और राज-नीतिक द्वन्द्व-संघर्ष प्रमुख होता है, जबकि प्रयोगवाद में प्रखर वैयक्तिक चेतना के साथ-साथ भाव-वस्तु और शैली-शिल्प के प्रयोगों के प्रति अपेक्षाकृत जागरूकता और वस्तुपरक व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण होता है। आज के संघर्षशील युग में मौजूदा परि-स्थितियों के साथ कवि-धर्म निभाना कुछ कठिन सा हो गया है। ऐसे अन्तर्विरोधों को दूर करने और कविता की जीवन्त शक्तियों को उद्‌बुद्ध करने के लिए प्रयोगों की आवश्यकता दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। प्राचीन से जब मन ऊब जाता है तो कुछ नया पाकर संतोष होता है, ताज़गी और चुस्ती आती है। यों भी सृजनशील कलाकार पुरानी लीक पर क़दम से क़दम मिलाकर देर तक नही चल सकता, वह अपनी निजता ढूँढ़ता है। अपनी अभिव्यंजना-शक्ति विचित्र ढंग से मुखरित करता है, कम से कम एक-दो पग आगे बढ़ कर साहित्य पर कुछ अपनी स्थायी छाप छोड़ने की इच्छा तो रखता ही है।

कहना न होगा कि उक्त परिवर्त्तन आज दृष्टिगोचर हो रहा है। साहित्य-कार की बहुमुखी प्रतिभा व्यापकता की ओर बढ़ रही है। भले ही विषयभूत विविध बाह्य परिस्थितियों तक ही उसकी दृष्टि सीमित हो, किन्तु निश्चेष्ट होकर बैठना उसे नही सुहाता। वह साहित्य को एक नया मोड़ देना चाहता है। नई पनपती हुई प्रवृत्तियों के साथ यथार्थ के अधिक निकट आने की प्रेरणा उसमें जग रही है।

तो साहित्य और कला में जहाँ तक जीवन की विशाल विविधता के समा-वेश का प्रश्न है, उसका क्षेत्र व्यापक और विस्तृत किया जाना ही चाहिए। इसी से वह आगे बढ़ सकता है और मनुष्य की अंत:शक्ति को जगा सकता है, पर इससे आगे वह क्या है? जीवन की दृष्ट विराट् वास्तविकताओं के अनुपात में वह कहाँ तक श्रेष्ठ चिंतक के आत्म-विश्वास का प्रतीक बनकर प्रकट हुआ है–यह विचार-णीय है। मिथ्यात्व के कुहरे को भेद कर वास्तविक भूमि पर उतरना शुभ है, लेकिन इसका यह अर्थ नही कि काव्य के परम्परागत रूप को तोड़-मरोड़ कर कल्पना की अभिनवता और नवीन प्रतीकों के सृजन में इतना विभोर हो जाये कि अंतरंग चिंतन और रागात्मक आलोड़न की सर्वथा उपेक्षा ही हो जाय।

काव्य का ध्येय मनुष्य का अनुरंजन है। तीव्र भावावेश में ही हृदयस्थ अनुभूतियाँ कविता बन आती हैं। जहाँ भावावेश मन्द होगा वहाँ भावना मूक और भाषा फीकी पड़ जाएगी, साथ ही काव्य संकीर्ण परिधि में बन्दी होकर उन्मुक्तता और जीवन से तादात्म्य खो बैठेगा। इस स्थिति में काव्य की अंतरंग परीक्षा द्वारा हमें देखना यह

है कि उसके उत्कर्ष का धरातल क्या है, अपने युग से उसका क्या सम्बन्ध है और वह किन शक्तियों को मुखर करता हुआ सनातन कला का मापक बन सका है। सर्जक की दृष्टि जितने ही दूर तक फैले जीवन पर पड़ेगी उतने ही सौन्दर्य के शाश्वत स्वरूप की प्रतिष्ठा वह अपने कृतित्व में कर सकेगा और उसकी गहराइयों में उतर सकेगा। उसके दिल-दिमाग़ का दायरा ज्यों-ज्यों फैलता जाएगा, उसकी दिलचस्पियाँ बढ़ेंगी, सार्वजनीन संस्कारों को ग्रहण करने के अलावा उसके रागात्मक सम्बन्धों और अनुभूतियों का क्षेत्र विस्तृत होगा और युग-सत्य को प्रेष्य बनाकर सामयिक स्थितियों को वह अधिक सचाई से आँक सकेगा।

यह सच है कि लिखने के कोई आम नियम नहीं होते। प्रत्येक को अपने ढंग से कहने का अधिकार है। यह भी आवश्यक नही है कि सबके प्रेरक उपकरण एक से हों, कुछ न कुछ भिन्नता तो बनी ही रहती है, किन्तु यह असम्भव है कि लेखक कलात्मक सिद्धांतों के बदले अन्य महत्त्वहीन सिद्धांतों की रचना करे। साहित्य के शाश्वत उपादानों की अवहेलना करके ऐसी चीज़ें लिखें जिससे उसकी भावनाओं का लगाव न हो, जिसको अपने भीतर अनुभव करने की उसने आवश्यकता न समझी हो और जिसमें उसकी आत्मा न झाँकती हो।

युग बड़ी तेजी से बदल रहा है और युग के साथ-साथ साहित्य स्रष्टा की अभिव्यक्ति के मनोवैज्ञानिक पहलू भीं बदल रहे हैं। काव्य-प्रणालियाँ इतनी बहुमुखी हो गई हैं कि सृजन-व्यापार में संलग्न मानस की गतिविधि और उसकी सूक्ष्म प्रक्रियाएँ समझना कठिन हो गया है। यह माना कि नवीन परिस्थितियों के साथ भौतिक आवेष्टन, युग-विशेष की मान्यताएँ, संवेग, रुचियाँ और हमारी मनोवृत्ति के द्वन्द्व जीवन की जटिल समग्रता के साथ सामंजस्य नहीं कर पाते, फिर भी कलाकार की अपनी सीमा होती है और उसकी दृष्टि अतीत से जुड़कर उसकी आत्मा के भीतरी स्वरूप को पहचानती है।

प्रयोगवादियों ने अब तक साहित्य-क्षेत्र में कुछ अछूते विषयों पर दृग्पात किया है सही, किन्तु उनका अपना कोई स्वतन्त्र दर्शन नहीं है। अभी उनकी कविता का कोई रूप भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। अधिकांश प्रयोगवादी रचनाओं में जो मिलता है वह है गहरी अस्पष्टता, असंतुलन, वैचित्र्य और प्रत्येक वस्तु को एक नवीन दृष्टिकोण से देखने का गहरा मोह। जब से साहित्य में यथार्थ के चित्रांकन की प्रवृत्ति बढ़ी है, सारा साहित्य वैयक्तिक वास्तविकता की दुरूह एवं कल्पनात्मक अभिव्यक्तियों से भरता जा रहा है। वह ज़िन्दगी के किसी भी पहलू, किसी भी पक्ष का दिग्दर्शक और कहीं से भी मसाला बटोरने की ताक में रहता है। मनोगत द्वन्द्व-संघर्ष, अन्दरूनी आवेग-प्रवेगों को समझने का उसके पास न अवकाश है और न उत्साह। निष्ठुर व्यक्तिवादिता पनप रही है, सहज तत्त्व गौण पड़ गए हैं। अन्तर्जगत् की प्रहेलिकाओं में उलझा कवि स्वयं नहीं समझ पा रहा है कि वह लिखना क्या चाहता है और लिख क्या रहा है। उसके तर्क बाहर से सत्य प्रतीत होते हुए

भी भीतर से थोथे और बेजान हैं। उसकी लेखनी राह-बेराह रेंगती है और मन के निराधार अलक्ष्य तारों को सहसा झनझना देती है।

प्रयोगवादी धारा का एक रूप है काव्य की परिचित परम्परागत लीक से अलग हटकर चलना। वह अपनी प्रकृति और स्वरूप दोनों में भिन्न है। उसकी दूसरी विशेषता है वैचित्र्य-विधान की प्रवृत्ति और बिखरी वस्तुओं पर सुदूर के मोहक चित्रों, झिलमिल छायाओं, रूपकों और कल्पित प्रतीकों का आरोप, समष्टि से निरपेक्ष वह व्यक्तिगत अतृप्त कुण्ठाओं से आक्रान्त है और उसकी प्राणवत्ता ही स्वच्छन्द विचारों के दबाव से जो कल्पना में छायाचित्र उभर आएँ उनका अनूठा चित्रण है। प्रयोगवादी हर पंक्ति में प्रयोगगत और व्यंजनागत चमत्कार चाहता है, भले ही उसे अनेक स्थलों पर बेमेल और इयत्ता खोकर अपनी प्रतिपादित विशिष्टताओं को मिथ्या साबित करना पड़े।

"सामने के शीत नभ में
आयरन ब्रिज की कमानी, बाँह मस्जिद की बिछी है।

(नरेशकुमार मेहता)

"मेरे प्राणों के पहिए भूमि बहुत नाप चुके
सिनेमा की रीलों-सा कसके लिपटा है सभी कुछ
मेरे अन्दर कमानी खुलने को भरती है हुमास
लो सुनो, इतना ही कहना है, सुनो
"तुम से मुझे······"
किन्तु ठहरो तो शायद
इससे भी अच्छी कोई बात याद आ जाये।"

(रघुवीर सहाय)

नीचे की पंक्तियों में आँखों को लालटेन की भौंडी परिधि में समेटा गया है :

"दिन से बुखार,
रात्रि की मृत्यु,
के बाद हृदय पुंसत्व हीन,
अन्तर्मनुष्य रिक्त सा गेह,
दो लालटेन से नयन दीन।"

(गजानन मुक्तिबोध)

इस दूसरी कविता में नयनों को दो मोमबत्तियों सा जलाया गया है :

"मित्र ! युग संक्रांति के इस मोड़ पर
मैं रुका कुछ वर्ष
चरण स्थिर, शृंखला में बँध गए

मोमबत्ती की तरह जलते रहे दोनों नयन,
अपने विकल्पों की जलाये लौ ।"

(नरेशकुमार मेहता)

कहीं 'प्राण के दीप' जलाये गए हैं—
'प्रणय पंथ पर प्राण के दीप कितने
मिलन ने जलाए, बिरह ने बुझाए ।'

(शम्भूनाथ सिंह)

यहाँ पलकों के मंदिर में पुतली का दीपक जलाया गया है :
'पलकों के मंदिर में मैंने
पुतली का दीप जलाया जब
हे देव ! तुम्हारी रूप-किरण में
'लौ' ने स्नेह जलाया जब
नभ-पथ की सतरंगी रेखा,
बरसी कण-कण शीतल चन्दन ।'

एक अन्य स्थल पर वही पुतली रूपी नौका में परिवर्तित हो गई है :
'पुतली की नौका मैंने जब खोली अधीर
देखा पतवार सँभाले जो
छवि बैठी थी– तुम वही पीर ।'

(केदारनाथ मिश्र)

'अज्ञेय' ने किसी दूर टिमटिमाते तारे से इनकी उपमा दी है :
'तेरी थीं वे आँखें, आर्द्र, दीप्तियुक्त मानो किसी,
दूरतम तारे की चमक हो ।'
एक कवि महाशय आँखों से प्रश्न करते हैं :
'कोमलता का प्रश्न सदा से
इन आँखों में कितना जल है !'

(भगवतीचरण वर्मा)

एक अन्य कविता में 'चुम्बन' ही दीपक बन कर जल रहा है :

'तुम्हारा चुम्बन जल रहा है भाल पर
दीपक सरीखा
मुझे बतलाओ
कौन सी दिशि में अँधेरा अधिक गहरा है ।'

(दुष्यंत कुमार)

और एक दूसरे कवि आँखों की बेमाप गहराइयों में ही मानों खो गये हैं :

'आँखें याद आती हैं
जिनमें मैं समुन्दर की बेमाप गहराइयाँ
बनकर खो गया हूँ।'

(केदारनाथ सिंह)

नूपुर-ध्वनि और चप्पल की आवाज़ में कोई साम्य नही है, फिर भी :

'तू सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि
यद्यपि बजती थी चप्पल।'

(भारतभूषण)

कहीं पाँवों की ध्वनि बारात बनकर आई :

'पावों की ध्वनि की बारात ले
बिजलियों की आँखों की छाया में
सड़क बढ़ी जा रही
किनारे पर गंगा के।'

(रामदरश मिश्र)

एक अन्य कविता में ऊँटों की कतार को रेंगने वाले काले प्रश्नचिन्हों-सा आँका गया है :

"साँझ हुई–
दूर, आकाश के पीले
रेगिस्तानी टीलों पर,
भूखे शिथिल ऊँट,
सुर्ख़ क्षितिज की ओर ऊपर सर उठाए
पीठ पर चारा लादे,
किसी ओझल पड़ाव की ओर थके माँदे,
काले प्रश्नचिन्हों से रेंगने लगे।"

(सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

निम्न दो कविताओं की पहली कविता में 'मौन सुधियों के राजहंस' और दूसरी में 'सपनों के कलहंस' कहीं दूर से तिरकर उड़ते आते या जाते हैं :

'मौन सुधियों के राजहंस दूर-दूर उड़े जाते हैं'

(नेमिचन्द्र जैन)

"एक रोज मेरे आँगन में पर फैलाए
सपनों के कलहंस कहीं से तिरते आए।"

(रामानंद 'दोषी')

लेकिन वे ही सपने एक कविता में 'फूलों की नाव', दूसरी में 'सिन्धुफेन' और तीसरी में 'प्राण की लघु नाव' बन गए हैं :

'कि जब तुम्हारे सपनों के फूलों की नाव,
छिन्न भिन्न हो गई थी
किसी के 'बैंक-बैलेंस' की
चट्टान से टकराकर।'

(वीरेन्द्र कुमार जैन)

'सिन्धुफेन से सपने विलीन हुए'

(शम्भूनाथ सिंह)

'अरे यह जागरण की रात
पावन प्रार्थना की रात
निशि का तिमिर-पारावार
उसमें बढ़ रही अविराम
मेरे प्राण की लघु नाव'

(ब्रजमोहन गुप्त)

नीचे उद्धृत पंक्तियों में बादल की दीप्त श्वेतिमा हड्डी की मनहूस सफ़ेदी के समकक्ष आँकी गयी है :

'पूरब दिशि में हड्डी के रंगवाला बादल लेटा है
पेड़ों के ऊपर गगन खेत में
दिन का श्वेत अश्व मार्ग के श्रम से थककर मरा पड़ा ज्यों।'

(नरेशकुमार मेहता)

यहाँ प्रकाश की उपमा शव के सफ़ेद परिधान से दी गई है :

'इनका प्रकाश
जग के विशाल
शव का सफ़ेद परिधान साफ़।'

(गजानन मुक्तिबोध)

और इन्हीं कवि महोदय ने एक अन्य स्थल पर पूनो की चाँदनी की झिलमिल झिलमिल रेशम से तुलना की है :

'फैली यह सफलता की, भद्रता की
कीर्ति-श्री रेशम की पूनो की चाँदनी।'

परन्तु एक अन्य कवि ने चाँदनी को 'शुद्ध वनस्पति घी' समझने का दुस्साहस किया है :

'यह देखो दूधिया चाँदनी
आज बिखेरी है धरती पर
शुद्ध वनस्पति घी सी जिसमें रंग न अब तक मिल पाया है।'

(केशवचन्द्र वर्मा)

यहाँ देखिए—

'पूर्णमासी रात भर
पीती रही सुधा
अंक में शशि के सिमटकर
धोती रही श्यामल बदन
सुधबुध बिसार
दिन सरीखी श्वेत चादर ढाँक।'

(शकुन्तला माथुर)

'चाँदनी रात है—
किसी अबोध कुमारी के सरल नैनों सी
अथाह, मदभरी, गीली····'

(नेमिचन्द्र जैन)

'हर रात
जब चाँदनी
हर संभव गलियारे में
झाँकने की कोशिश करने लगती
और जब स्वप्न के
रंगीले पंख लगा नीचे फैले
सीमाहीन आकाश में
दिन भर की यथार्थता की चट्टान से टकरा
चूर चूर हो जाती।'

(अनिल)

'चाँदनी का जिस्म टूटा जा रहा है
चाहती शबनम
किसी अभिसारिका के मधु कलश में
मुँह छिपाना
रात के पिछले पहर तक
प्राण कितनी बेबसी है'

(परमार)

'बाँह पर धर गाल
बिथुरी अलक सुन्दर
गा उठी अपनी कहानी
तिमिरहर उन्मादिनी।'

(रांगेय राघव)

लेकिन जब--

'उल्काओं के रथ पर सवार हो गई हवा,
डस लिया तिमिर अजगर ने तारों का राजा।'

(नीरज)

तो एक दूसरे कवि के शब्दों में —
'बंचना है चाँदनी सित
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार।'

(अज्ञेय)

निम्न दो कवियों ने चाँद की लजीली बधू से उपमा दी है :

"बिलकुल बधू सी है चाँदनी
बिदा की बेला में
लजायी सी उन्मादिनी
यही है यही है शरद हासिनी"

(राजेन्द्र किशोर)

और

"डाल कर परदा कुहासे का
यह शरद की साँझ दुल्हन सी
गाँव के सिहरे सिवानों पर
पालकी से सहम कर उतरी।"

(शंभूप्रसाद श्रीवास्तव)

और इसमें उलटे मन की शून्यता को काली बेमाप चादर-सा बताया गया है :
'व्यर्थता की स्याह-सी बेमाप चादर से
अभी ज्यों ढक गया हो शून्य जी का प्रान्त

(नेमिचन्द्र)

'सेमल की गरमीली हल्की रुई समान
जाड़ों की धूप खिली नीले आसमान में
झाड़ी झुरमुटों से उठे लम्बे मैदान में।'

(गिरिजाकुमार माथुर)

अनुभूति की गहराई कभी अन्तर की विराटता खोजा करती थी और काव्य के मूलाधार—भाव, विचार और कल्पना—मनुष्य की बुद्धि, हृदय, मस्तिष्क इन तीन शक्तियों से परिचालित हुआ करते थे, पर तब की हृदयगम्य अनुभूतियाँ आज बुद्धिगम्य अनुभूतियाँ बन गई हैं। उनमें वैसी रागात्मकता या रंजनकारी तरलता नहीं है जो उमड़-घुमड़ कर आप्लावित करले, इसके विपरीत एक दुरूह श्रमसाध्य मस्तिष्कीय व्यायाम है जो नव्यता के आधार पर प्रभावों की समग्रता और उसके सहज वैशिष्ट्य के साथ बलात्कार सा करता है।

"जिंजर बोटल काली भौंहें
प्रश्नचिन्ह सी झूल रही हैं
चातक सी ये कर्ण विभायें
और पोटैटो-फिंगर जैसी
ओठों की दुर्बल सीमाएँ,
बूट ब्रशों सी काली मूछें
युद्ध-क्षेत्र की खाई जैसी
रिक्त कपोलों की गहराई
भस्मित वायुयान के झुलसे
डैने जैसे जर्जर कन्धे,
गिलगिट की स्ट्रैटेजी जैसी
मेरुदण्ड की गढ़ी हड्डियाँ
सर्चलाइट की मन्द बैटरी जैसी छाती
किसी साइरेन सी आतंकित गहरी साँसे।"

(लक्ष्मीकान्त वर्मा)

साम्य और वैषम्य के कुछ और अजीबोग़रीब चित्र जरा देखिए :

"कोकाकोला जैसा हुस्न
बुझा बुझा सा लाल लाल सा
चिउंगम जैसी मुहब्बत
फीकी फीकी सी मीठी मीठी सी
लोशनों डाइयों की मदद से

घुला घुला सा रँगा रँगा सा निखरा-निखरा
तेरे केशों का लच्छा लच्छा।"

(कर्तारसिंह दुग्गल)

'बादामी पंखुड़ियों से नख
गदराई मटर फली-सी रक्तिम अँगुलियाँ
तीसी केलों से सुन्दर सुरमई नयन
गेहूँ का गोरा पेड़
कोंपली ओंठ'

(रामसेवक श्रीवास्तव)

"गालो की धरती पर
आँसू की झीलें है !
आँखों का आसमान
बरस बरस जाता है !
रूढ़ियों का हृदय किन्तु
तरस नहीं खाता है
किरणों के छूने से
आँसू की झीलों में,—
इन्द्रधनुष के समान
सरसिज के दल के दल
खिलते हैं—भासमान !
सिहरन से हिलते है !"

(शिवकुमार श्रीवास्तव)

कवि की कोमल कल्पना दृश्यवस्तु के बिम्ब या उनकी छाया ग्रहण कर नव-रूप विधायिनी शक्ति के रूप में स्फूर्त्त हुआ करती थी अर्थात् संवेदनजन्य अनुभूति के योग से सादृश्य-सारूप्य के सहारे दृष्ट छवियों को प्रकृत साँचों में ढाल कर कितने ही भावरंजित चित्र उभारा करती थी, पर आज की उपमाएँ महज़ ज्यामिति या एलजब्रा के लाक्षणिक प्रयोग हैं जो कुंठाओं की कसकन लिये पाठकों के मर्म पर उतर आते हैं—

"तुम्हारे पास, हमारे पास
सिर्फ़ एक चीज़ है
ईमान का डंडा है
बुद्धि का बल्लम है
अभय की गैंती है

हृदय की तगारी है —तसला है,
नये नये बनाने के लिए
भवन आत्मा के
मनुष्य के,
हृदय की तगारी में ढोते हैं हमी लोग
ज़िन्दगी की गीली और
महकती हुई मिट्टी को ।"

(गजानन मुक्तिबोध)

नीचे उद्धृत पहली कविता में पगडंडी सर्पिणी सी फन फैलाए है—

"पगडंडी ऊपर भुजंगिनी सी; उन्मना
आदि भूमि क्वारी अनछूई विपदामयी
उठी फन फैला कर टेढ़ा मेढ़ा ।"

(शम्भूनाथ सिंह)

किन्तु दूसरी कविता में उसी पगडंडी की उंगली थामकर चलने को चुनौती दी जा रही है :

"जो पगडंडी की उंगली थामकर
है चलना तो कैसे राह बनाओगे ?"

(रामावतार त्यागी)

दरअसल आज का तिक्त वातावरण बेहद आवारागर्द और आकाशजीवी वृत्तियाँ उभार रहा है, फलतः सब कुछ चारों ओर उसे बेग़ाना सा लगता है । एक अट्टहास करता हुआ प्रेतअर्थ पिशाच सृजन-चेतना पर छाया है जो वस्तुस्थिति के आगे नतशिर नहीं, बल्कि बड़े ही उद्धत नाज़-अन्दाज़ से सिर ऊँचा किए है । ज़िन्दगी के इर्दगिर्द न जाने कैसी उमड़ती-घुमड़ती मनहूस घटाएँ उजियाला-अंधेरा, सैलाब, काई की-सी स्याह घनता लिए एक मिथ्या अभिजात्य या इसके ठीक विपरीत अनास्था का कफ़न ओढ़े है :

'भीतर कहीं
सफ़ेद होंठ
पीली आँखें
मुर्दा बाहें
अब रह-रह कर चिल्लाती हैं।'

(कैलाश बाजपेयी)

और

'और अब हम बोलते हैं,

बात होठों पर तनिक निःशब्द रखकर—
तोलते हैं,
न जाने कैसे, कहाँ से,
वह हमारे शब्द लेकर,
हमें छूँछा अर्थ देकर,
हमारी ही मुट्ठियों से—
एक जीवित सोनचिड़िया-सी
फुदकती भाग जाती है !"

(केदार नाथ सिंह)

रूप और सौंदर्य की मार्मिक, संवेदनात्मक अभिव्यक्ति भी बाहरी मुलम्मा बनकर रह गई है :

"सोने की वह मेघ चील
अपने चमकीले पंखों में ले
अंधकार अब बैठ गई दिन अंडे पर
नदी बधू की नथ का मोती चील ले गई।"

(नरेश मेहता)

चूँकि हर युग का कवि जिज्ञासु है, अतएव पर्दे के पीछे ताक-झाँक करने की प्रवृत्ति को वह आज भी इसी जिज्ञासा का एक अंग मान रहा है। ऊटपटाँग कविता की रसज्ञता में बहकर वह उसके भौंडेपन को ढकने का प्रयास करता है। इस ना-तकल्लुफ़ी के दौर में वह अपने संयम का आवरण उतार कर इस क़दर दुराग्रही और आत्मविश्वासी बन गया है कि उसे अपने 'आचार्यत्व' का दंभ है, वह अपनी बड़ी कीमत कूतता है और यथार्थ से कतराकर ऐसे-ऐसे कल्पित स्वप्नजाल में उलझ जाता है—बन के पंछियों की तरह आज़ाद और मुक्त– एक अजीव मस्ती और बेग़ानापन लिये—जहाँ वासना सत्य है, प्रेम वंधन है और अनावृत्त आचरण और कुरुचि उकसाना ही गौरव समझा जाता है। कविता क्या है—मानसिक ऐय्याशी का प्रतीक–जो अपने रंगीन पंखों पर मानों कही उड़ा कर ले जायगी। अपने अंतर्मन के आगे चकमक सुनहरी चित्र उभार कर और बौद्धिक रिक्तता व विघटन को तूल देकर वह कुछ ऐसा नया और चौंका देने वाला वैलक्षण्य खोजता है जिससे चोखे रंग देने वाले उपादानों के आगे उसकी कल्पना का दारिद्रय छिप जाये। घुमाफिरा कर अप्रत्यक्ष रूप में कोई ऐसा पहलू हाथ लग जाय जिससे कोई बड़ी झंझट न हो और इस प्रकार उसकी कलई खुलने से रह जाय।

"किसी खाली दियासलाई की बची
अन्तिम जलती तीली-सी हँसी;

मोरपंख की आँखों के प्यार भरे गीत !
बल्मीक पर फैली हुई चाँदनी की बेल !
शबनम के अलंकार !
इन्हें अब रहने दो !"

(शिवकुटीलाल वर्मा)

"एक तीव्र शोर !
मन ने दर्द से कहा—ये हम सब हैं !
टूटे प्यालों में सिगरटों की राख
खोखली हँसी की झनकारें—
मुर्दे तड़प उठे।"

(मलयज)

इसी प्रकार—

'अपशकुन खम्भे सरीखा मौन !
बूटों से रुंधे इन नगर खेतों पर
टँगा है—ईसा सरीखा !'

(जनमित्र)

'चुप का कफ़न' ओढ़े एक दूसरी कविता—

'बाँसुरी की कब्र पर चुप का कफ़न में
मुट्ठियाँ पत्थर किए हैं बंद।
कौन ?
चुप के वस्त्र को,
तेज सुई की तरह से छेदता ?
विश्व के इस रेत बन पर
मैं अहं का मेघ हूँ।
उन दिशा की दासियों के संगमरमर के करों में,
जय वस्त्र है मेरा थमा।'

(नरेशकुमार मेहता)

यहाँ 'कफ़न का कवच' जीवन का संरक्षक बन गया है—

"हम कफ़न लपेटे चलते सदा, सही है,
इसलिए कि बस, जीवन का कवच यही है।"

(भारतभूषण अग्रवाल)

और निम्न पंक्तियों में 'इन्द्रधनुष की बदली' जैसे सारी कविता पर छाई हुई है।

"चुपके-चुपके प्राणों की यह अदला बदली,
भीतर बाहर छायी इन्द्रधनुष की बदली।"

(त्रिलोचन शास्त्री)

प्रतीक या उपमान स्थूल वस्तुतत्व के लिये नहीं, अपितु उसकी अंतःप्रकृति के अनुरूप सूक्ष्म सम्बन्ध तत्त्व पर आधारित होने चाहिए, लेकिन वर्त्तमान नई कविता की प्रतीकबहुल, यत्नसाध्य और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के ऐसे सैंकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिसमें बदले हुए दृष्टिबिन्दु से उपमाएँ, रूपक और साम्य प्रस्तुत किये गये हैं। कला की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में उनकी उपादेयता और औचित्य क्या है और वे किस हद तक सफल कहलायेंगी—यह तो बताना कठिन है, हाँ—इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नवीन वर्ण्य-विषय और नूतन प्रयोगों के मोह में निरर्थक रूप-विधान और कलाहीन प्रचार सर्वथा रुक जाना चाहिए।

मौजूदा युग की प्रत्यक्ष स्थूलता एवं इतिवृत्तात्मकता के फलस्वरूप कवियों में यह विपरीत प्रतिक्रिया इतनी अन्तर्मुखी और वैयक्तिक होती चली जा रही है कि उनकी दृष्टि जनवादी प्रवृत्तियों को पूर्ण रूप से न अपनाकर काल्पनिक कुहासे और रंगीन छायाचित्रों में भटक रही है। शब्द-रचना, पद-विन्यास, प्रतीकवाद (Symbolism), रूपप्रकारवाद (Formalism), स्थूल सज्जा और शैली-शिल्प के गुम्फित वैभव में भ्रमित उसकी चेतना अपनी कला के मर्म और असलियत को भूल बैठी है। कई बार उपमाएँ पचाई नहीं, थोपी गई सी जान पड़ती हैं।

छायावादी रूमानियत कम होने पर ज्यों-ज्यों नव्य वास्तविक भूमि पर उतरने का प्रयास किया गया त्यों-त्यों साहित्य में एक विचित्र विरोधाभास उपस्थित होता गया और यह विरोध दो व्यक्तियों में नहीं, वरन् एक ही व्यक्ति की विभिन्न मानसिक स्थितियों से उत्पन्न दृष्टिकोणों में दीख पड़ा। 'अज्ञेय' द्वारा संपादित 'तार सप्तक', 'दूसरा सप्तक' और 'तीसरा सप्तक' के अनेक कवियों में यह विभेद-वैभिन्न्य स्पष्ट है। अनेक बार उनकी अन्तरंग प्रेरणा उनकी संवेदनाओं से असम्बद्ध-सी लगती है और एकाएक विरोधी दबावों से उनकी विशृंखल वृत्तियाँ, अनिश्चय और संशय में, उनकी स्वानुभूतियों से अन्तर्गठन नहीं कर पाई हैं।

हमें किसी भी 'वाद' से परहेज नहीं है, न 'वाद' की ओट में हम किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु को तिरस्कृत और बहिष्कृत करना चाहते हैं। पर साहित्य की यह शंकाकुल स्थिति जीवन और जगत् के गतिमय प्रेरक तत्त्वों को कितने समय तक रूपायित कर सकेगी—यह समझना है। कोई भी साहित्य इसीलिए श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह प्रयोगशील या वादपरक है। उसकी हीनता अथवा श्रेष्ठता की कसौटी तो उसकी अन्तर्हित शक्ति एवं रसात्मकता ही सिद्ध करती है।

प्रयोगवाद की सार्थकता में हमारा अविश्वास नहीं है, बल्कि इसके विपरीत हमें प्रायोगिक अनगढ़ आकारों का रूप सुस्थिर करना है और उसमें सार्वजनीन तत्त्वों

का समावेश कर अन्तर्नुभूतियों से समन्वित करना है । सत्साहित्य जीवन का दर्पण ही नहीं, बल्कि भीतर रमकर युग-युगान्तर की जीवन-धारा को मोड़ने की क्षमता भी रखता है । अतएव सच्चे साहित्यकार की जिम्मेदारियाँ बड़ी हैं । वह आत्मा का इंजीनियर है । वह न केवल सच्ची कला के निर्माण में सहायक होता है, अपितु उसका संस्कार और परिष्कार भी करता है । उसकी लिखने की पद्धति अथवा टेक-नीक साधारण से भिन्न होती है । वह पुराने ढंग को नये ढंग से अख्तियार कर सकता है अथवा अपनी रचना को अतीत से विच्छिन्न करके नये युग के अनुरूप गढ़ सकता है । जब तक सच्ची कला के साथ सच्चे कलाकार का इतिहास जुड़ा रहेगा तब तक साहित्य में अभिनव प्रयोग होते रहेंगे और कलाकार की सृजनशील प्रतिभा भरपूर शक्ति के साथ उसका उपयोग करेगी ।

हमें कोई आपत्ति न होगी यदि प्रयोगवादी कवि जीवन के विराट् सपनों को अपने कृतित्व में अधिकाधिक साकार करें, अपनी निश्छल और बिखरी स्वानुभूति को आकर्षक और नूतन ढंग से दूसरों के सामने रखें, उनकी अभिव्यक्ति में जनवादी स्वर हों, उनकी पुकार में मर्म को कचोटने वाली संवेदना हो और सबसे बड़ी बात उनमें व्यापक सत्य, [illegible] और रागतत्त्वों को उद्वेलित करने की शक्ति हो । ऐसी चीज़ें दिल खोल कर अपनाई जायेंगी, किन्तु जहाँ नवीन प्रयोगों के मोह में पड़कर भाव और भाषा अटपटी हो गई है, अतिवैयक्तिक शब्दों में भावनाएँ अनमिल हो गई हैं और छंद, लय, ताल की वर्जित स्थापनाओं से सहज एकसूत्रता विच्छिन्न हो गई है वहाँ प्रयोगवाद निरा बच्चे का खिलवाड़ है । यह मनोरंजन तो कर सकता है, साहित्य की महान् परम्पराओं को जीवित नही रख सकता ।

विकल्प या स्वेच्छाचार

सबसे बड़ी घातक स्थिति इस स्वेच्छाचारी दौर में अव्याहत स्वातन्त्र्य और उन्मुक्त उच्छृंखलता की भावना है जो कविता को दिग्भ्रमित और डाँवाडोल कर रही है । घोर प्रतिक्रियास्वरूप एक नकारात्मक अनास्था और अविश्वास—सैद्धा-न्तिक ऊहापोह में—न केवल ह्रासोन्मुखी पूँजीवाद से त्रस्त है, अपितु तमाम समाज और सामाजिकता से उसे भयंकर द्रोह है । अत्यधिक आत्मकेन्द्रित और अहंवादी तर्क क्रियात्मक रूप से एक ऐसे नये संघर्ष के स्वरों का उद्घोष कर रहे हैं जिससे साहित्य में कुरुचि और अपरिष्कृत द्विधा के उद्दाम चित्र मिलते हैं । कलात्मक संयम, तत्त्वचिंतन और एकनिष्ठ साधना का तो प्रश्न ही नहीं उठता, इसके विपरीत दुर्दमनीय सौन्दर्येच्छा, यौन-प्रेम और अनियंत्रित आचरण ने उनकी अभिरुचि और ग्राहक शक्ति को नितान्त छिछला बना दिया है । अतएव काव्य-सृजन की प्रक्रिया में—बौद्धिक जोड़तोड़ रूपायित होकर—नये-नये पहलू और ढाँचे उभारते हैं । शब्दों और वाक्यांशों के नये आरोह-अवरोह छन्दों को साधने और अनुभूति को चरितार्थ

"कभी तुम बहुत पास लगते हो
दुख की किसी तह में
बैठी हुई, छिपी हुई
दिल की धड़कन हो जैसे
कोई गुप्त कम्पन ।
और वासना के भूखे मेरे आलिंगन
ढूँढ़ते रहते हैं तुझे
भुजाओं की पहुँच के बीच
क़दमों की दूरी में
मेरे वासना के भूखे आलिंगन ।"

(कर्तारसिंह दुग्गल)

"और यदि तुम कह गए कुछ सत्य तो
फिर तुम असभ्य,
समाज से अनभिज्ञ
'अनसोशल' कहाओगे ।
किन्तु, सारी जिन्दगी भूखे मरोगे,
जूतियाँ चटखाओगे ।
है अभी काफ़ी समय—
यदि चेत जाओ ।
क्या सही है इसे छोड़ो ।
जिस तरह भी बने
अपने पर मुलम्मे को चढ़ाओ ।
ये समय की माँग है
ये नाइण्टी परसेन्ट लोगों के दिमाग़ों का निचोड़ ।"

(विनोद शर्मा)

लगता है—मानववाद की इस उषःबेला में कवि को अकस्मात् ऐसी नवोपलब्ध, विचित्र दृष्टि हासिल हुई है कि वह बेहद आवेश या दुर्दम्य तिक्तता में एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया है जो ध्वंसावशेषों पर नियति का अधिनायक बनकर अपनी महत्त्वाकांक्षाओं का प्रासाद खड़ा करना चाहता है । नई पाबन्दियों और आचार-विधानों ने अच्छे-बुरे की विभेदक सीमाएँ तोड़ दी हैं । धारणा कुछ और है, कर्म कुछ और । स्थूल वास्तव की रूपान्तर प्रक्रिया ने अंतर्मन को इतनी श्रेणियों में विभक्त कर दिया है कि प्रणय तक का मर्मर संगीत अब दृश्येतर जगत् का कोमल प्रकम्पन उत्पन्न नहीं करता, वरन् पृथ्वी से सटे क्षितिज से कितने ही 'डाइमेन्शनों' में या हल्की-गाढ़ी रेखाओं में मानो घुटी-घुटी सी सिसकियाँ उभारता है । 'प्रेम की ट्रेजेडी' की कुछ पंक्तियाँ—

←▽→
(हाय !)
←△←
(नहीं चैन,
जागते ही कट गयी रैन···)
→   ←
(प्रेम यानी इश्क यानी लव !)
"!"
"!!"
▽+△
················
?
(अरमानों के गाल पर चाँटा
झरबेरी का काँटा)
←?→
(मुहब्बत में घाटा !!)

(सैयद शफ़ीउद्दीन)

आवेश, आहें, एक दबी सी चीख, बीच-बीच में असह्य मौन और आँसू भरी सिसकियाँ––रात के सन्नाटे में––रेडियो-संगीत सुनकर एक दूसरे कवि को मानो कुछ और ही अहसास होता है :

"मैं
सुनूँगा तेरी आवाज़
पैरती बर्फ़ की सतहों में रोशन
तीर-सी
शबनम की रातों में
तारों की छूटती
गर्म
गर्म
शमशीर सी।
तेरी आवाज़
ख्वाबों में घूमती-झूमती
आहों की एक तस्वीर सी
सुनूँगा : मेरी-तेरी है वह
खोई हुई

रोई हुई
एक तक़दीर सी।
(पर्दों में– जल के– शान्त
झिलमिल झिलमिल
कमल दल)
...   .

रात की हँसी है
तेरे गले में
सीने में
बहुत काली सुर्मयी अलकों में
साँसों में, लहरीली पलकों में
आई तू – और किसकी ?
फिर मुस्कराई तू··।
(नींद में – ख़ामोश – वस्ल··)"

(शमशेर बहादुर सिंह)

इसी लय पर एक और कविता—

"नहीं
मुझे कुछ भी······याद नहीं
कुछ भी तो याद नहीं आता······
ओठों को छू-छू कर
पलकें छा लेते हैं
वही······
वही अपने कन्धों पर बिखरे
बहके बहके
रेशमी मुलायम अलकों के बादल
और उनमें
भटकती निगाहों सी
मेरी दिग्भ्रान्त उंगलियाँ।"

(राजेन्द्र यादव)

प्राचीन वर्जनाओं को स्वाभाविक मनःस्थिति में स्वीकार करने में आज के कवि को अनैतिकता या दुर्बलता की हिचक महसूस नहीं होती। चूँकि सभी पहली मान्यताओं के समक्ष गहरे प्रश्नचिन्ह लगे हैं, अतः अपने अधिकांश कृत्यों और उनके पक्ष में दिये गए तर्कों का वह स्वयं उत्तरदायी है। बाहरी और भीतरी अव्यवस्था अथवा क्रमभग्नता के कारण एक सीमाहीन सैलाब से घिरा अपनी बोधवृत्ति के

सन्दर्भों से वह नितान्त अलग जा पड़ा है जहाँ द्विविधा में विकल्पहीन एक अस्पष्ट कुहेलिका ने उसे दिग्भ्रमित कर दिया है ।

इसका परिणाम है कि वादों का एक भीषण बवंडर उठ खड़ा हुआ है और नये-नये प्रेरणास्रोत, नए-नए तौर तरीके और नई-नई मनोवृत्तियाँ काम कर रही हैं । मौजूदा जीवन-संघर्ष की थकान और पस्ती ने एक विचित्र अहं और पलायनवाद जगाकर उसे ऐसा बना दिया है कि जो 'मूड' या तरंग उसमें उठती है उसी के मुताबिक वह बाहरी तथ्यों को खोजता है और उसका उद्देश्य किन्हीं सामाजिक आग्रह या स्थायी काव्यगत मूल्यों को आँकने का नहीं है, बल्कि सत्याभासों की आड़ में उसकी अपनी दुर्निवार अनिश्चितता, व्यंग-विद्रूप, दुःख-दैन्य, आधि-व्याधि, पीड़ा-घुटन, कुछ खोजने और पाने की हविस, स्पर्द्धा का भाव और सीमाएँ तोड़कर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति, वैयक्तिक और ऐकान्तिक अंगीकरण, ऐन्द्रिय तुष्टि के निमित्त यौनवादी 'एप्रोच', सबसे बढ़कर आंतरिक द्वन्द्व और विरोधी तत्त्वों के बीच समाधान पाने के लिए प्रतिपाद्य विषय के रेशे-रेशे को उधेड़कर अत्यन्त होशियारी से तराशे हुए उपादान, साथ ही दृष्टिकोणवादी अनेकता को पचाकर अथवा प्रयोजित नवीनता से चुने गए उपकरणों को साधकर अपनी वैचारिक प्रक्रियाओं को स्वस्थ और श्रेयस्कर और दूसरे को ग़लत और निकम्मा साबित करने का वह प्रयत्न कर रहा है । ज्यों-ज्यों सामयिक उत्तेजना और छिछली भावुकता के कारण उसके जज़बाती अफ़साने 'प्रोपेगेंडा लिटरेचर' बनते जा रहे हैं, अपने ढंग से इस्तेमाल करने के उसे कितने ही 'गुर' भी मालूम हो गए हैं—जो एक नये तर्ज़ और अन्दाज़ में कमाल की हद तक तो ले जाते हैं, पर बात के चटखारे और लहक में ही जो अपनी अहमियत खो देते हैं ।

एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि ऐसी कविता ने विस्तार, गहराई और शक्ति सामर्थ्य की दृष्टि से क्या कुछ दिया, क्या कुछ सहेजा और बिखेरा । इस प्रश्न और इस जैसे अनेक प्रश्नों का उत्तर यही है कि मौजूदा कवि अपनी सविशेष कल्पना के उन्मुक्त क्षणों को कुछ शब्दों में बाँधकर प्रकट करता है । वह हवा में तैरता सा है । उसमें कुछ खुशियाँ हैं तो कितनी ही ग़मियाँ और नाराज़गियाँ भी । जिसे इतिहास नहीं जगा पाया, उसे ये जगाये हुए हैं अर्थात् ये स्वयं ही अपना इतिहास हैं और इतिहासकार भी । एक ओर मूल्यों का विघटन प्रारम्भ हो गया है तो दूसरी ओर मूल्यान्वेषण का शौक चर्राया है । ऐसी कविता की टेकनीक और शैली-शिल्प अलग है, पर उसमें क्रमभग्न एवं असंगत तत्त्वों को दर्शाने की अजीब शक्ति है । कारण—उसकी वैचारिकता अधिक अर्थविस्तारों वाली होती है, उसने कितनी ही युगीन स्थितियों और स्तरों को बिना रुके बहुत थोड़े समय में पार किया है । नई और पुरानी परम्पराओं से टक्कर लेकर आज के वैज्ञानिक विकास और चमत्कारों के बीच वह खुद भी वर्णसंकर तत्त्वों को बटोर कर बेहद चटख और मनमौजी हो गई है जिस पर किसी भी प्रकार का लेबल नहीं लगाया जा सकता । सही तो यह है कि नया कवि अपनी उत्कट भावनाओं को किसी भी रूप में प्रकट करने से नहीं क़तराता । शब्द, अर्थ, रस,

ध्वनि, लय, गति, छन्द, व्याकरण और अलंकार आदि काव्य के प्रचुर साधनों से तो वह नाता तोड़ ही चुका है, किसी विगत भाव-ऐश्वर्य या कल्पना-बिम्बों में भी वह रंजन नहीं करता है, वरन् इसके विपरीत जहाँ तहाँ अदृश्य कड़ियों से जुड़कर युगीन यान्त्रिकता व दांभिक समाधान में उसकी कविता ऐसी तलछट है जिससे लगता है— काव्य-साधना जैसे अजीब तमाशा या करतब हो, समाधानहीन समस्याओं में उलझी वह दम तोड़ रही हो तथा जीवन का श्रेयस्कर मरणोन्मुख पहलुओं की नोंक पर व्यर्थ, बेमानी हो। इस एटम के 'स्पीड' युग में भाग-भागकर, दम फुला-फुलाकर कवि अपनी प्रतिभा को बेजान कर रहा है, उसे फुर्सत नहीं है, कविता का सम्मोहन अमृत न बनकर उसके लिए विष बन गया है, अतः वह अपने तजुर्बों को सच्ची आंतरिक प्रेरणा पर तरजीह देने लगा है, क्योंकि यह सच्ची प्रेरणा एक ऐसा उद्वेग और जज़-बाती जन्नत है जो इत्तफाक़ से क्षण भर किसी विचार पर टिकी तो एक बिम्ब छोड़-कर चली गई, पर दूसरे ही क्षण कहीं और फिसल कर रपट गई। दरअसल, परस्पर विरोधी बिन्दुओं को जोड़ने में भी कोई मौलिक साम्य नहीं, जैसे विचारों की इकाई सर्वथा खंडित हो गई हो। हवा की इस बेरुख़ी को या तो यह अपने से बहुत सशक्त पाता है अन्यथा वह अपनी हीनता या लघुत्व से परास्त हो जाता है। इस दुराशा में उसकी कविता इतनी बाज़ारू और छिछली है कि वह उसे किसी भी तरह गढ़ सकता है, अपनी हर बेढंगी अभिव्यक्ति को कविता का जामा पहना सकता है और टूटे दिल के नग़मों को कविता की हद में बाँध सकता है।

"यह ठीक नहीं कि इच्छा के खिलाफ़
अंधियारियों द्वारा बरते जायें
ठीक नहीं कि आकाश के नक्षत्रों के ज़ुल्मों को
सर झुकाकर सहते जायें,
यह भी कि जिस फिज़ां में रहना नहीं चाहते
वहाँ मजबूरन रहते जायें !
ठीक यह कि अंधियारियों, नक्षत्रों और
फिज़ाओं की प्रतिकूलताएँ हमें न छलें
ठीक यह कि इस शाम को हम
रोशनी की नई पोशाकों,
हवाओं की ज़ुल्फ़ों
और खिलखिलाहट के नग़मों में बदलें।"

(श्रीकान्त जोशी)

यों प्राचीन दर्शन की श्लाघा न बरतते हुए कोरा तर्क-वितर्क और ऊहापोह, बल्कि कहें—कि कोई भी स्थिति और गति सापेक्ष तारतम्य पर आश्रित नहीं, द्विविधा और द्वन्द्व मानों चतुर्दिक् परिस्थितियाँ उसे घेर लेती हैं, अपने जाल में जकड़े हैं और अपनी निर्दिष्ट सीमारेखाओं में इस प्रकार बाँध लेती हैं कि वह यन्त्रमात्र रह जाता

है। लगता है—उसके अंतर की घुटन समूचे सेन्सरों का क़त्लेआम कर बाहर फूट पड़ना चाहती है। यही कारण है कि आज का कवि दंभी है, हिपोक्रैट, मन से रुग्ण और संत्रस्त, वह दूसरों को भी हिप्नोटाइज़ करना चाहता है अर्थात् उसका दिमाग़ी कैमरा जो अक़्स ग्रहण करता है वह अनुभूत या यथार्थ नहीं, वरन प्रत्याभास मात्र है अर्थात दुर्दान्त परिस्थितियाँ–विकृति और घुटन बनकर ही–आती हैं और उसके बौद्धिक दिवालियेपन को प्रतीकों की बोझिलता में समोना चाहती है। ऊपर-नीचे, पहले-पीछे बेतरतीव, क्रमभग्न, नितान्त विचित्र और अजीबोग़रीब जिनमें कहीं न कुछ तथ्य है, न रूप, न वैशिष्ट्य, न नियामकता, केवल थोथे विचार मात्र हैं, उसकी कुंठाओं और रुग्ण विचारधारा के घात-प्रत्याघात से उपजे शब्द और अक्षर हैं जिन्हें कविता में 'फिट' करना भी मुश्किल है, जो काव्य की चिरन्तनता को क्षणिकता में समेटने का प्रयास करते हैं। प्रयोगों से टकराकर कविता के विधायक तत्त्व तो नष्ट हो ही गये हैं उनके आपेक्षिक भेद-प्रभेद और पृथक् सत्ता को भी ठेस पहुँची है मानों उसका सब कुछ खील-खील होकर विखर गया है। दिशाहारा कवि सर्वथा नई लीक पकड़कर तो चलना चाहता है, कुछ करिश्मा, कुछ चुस्ती, कुछ अपनी करामात दिखाने की गरज़ से, पर ऐसी डाँवाडोल मनःस्थिति में–कि यह भी नहीं, वह भी नहीं, कुछ भी तो ठीक नहीं, फिर है तो क्या है, किसी पर भी तो उसका मन, उसकी आस्था टिक नहीं पाती।

> **"क्या यही हूँ मैं**
> **अंधेरे में किसी संकेत को पहचानता सा ?**
> **चेतना के पूर्व सम्बन्धित किसी उद्देश्य को**
> **आगत किसी सम्भावना से बाँधता सा ?"**

(सत्येन्द्र श्रीवास्तव)

एक दूसरे कवि के शब्दों में—

> **'हम सरोवर हैं**
> **नहीं हैं धार**
> **अब नहीं हममें तरंगित गान**
> **और बन्धन की व्यथा में खोगया अभिमान।"**

(भारतभूषण अग्रवाल)

इस संशय और अनास्था की नकारात्मक स्थिति में कैसे वे मूल्य पुनः स्थापित किये जायँ जबकि उसका भीतरी विक्षोभ मात्र कुंठाओं में डूब जाता है। लगता है—कविता निरी खिलवाड़ या कलाबाजी अथवा इसके विपरीत झूँठे समझौतों व हमारी रीती बुद्धि की अवसादपूर्ण थकान है जिसकी सचाई तो कभी की मर चुकी, केवल उसकी गूँज-अनुगूँज ऊबड़खाबड़ घाटियों से टकराकर बार-बार अपने को दोहरा रही है और थककर, चूर-चूर, जर्जर, नष्टप्राय, अट्टहास करती, कलपती-सिसकती चीड़ के

जंगलों में जा भटकी है—

> **"फूल, पत्तों, अन्धड़ों में**
> **ये तुम्हे भटकायेंगे, दौड़ायेंगे**
> **छिप जायेंगे—**
> **इनका ठिकाना क्या ?**
> **यहाँ बैठे वहाँ गाया—**
> **उधर जाकर छा गये ।"—**

(केदारनाथ सिंह)

फलतः इस धकापेल में कविता का सही दिशा-निर्देश असंभव सा हो गया है। उक्त प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में हमें कुछ अच्छी चीज़ें भी मिली हैं, पर वैयक्तिक कुण्ठाओं से सृष्ट भौंडी, कुरूप, कर्कश विचाराधारा और रूपशिल्प के कृत्रिम विधान ने नैसर्गिक व मुखरित भावनाओं को कुचल डाला है। टूटे, खंडित स्वप्नों ने साहित्य में एक ऐसी ध्वंसात्मक अराजकता उत्पन्न कर दी है जो अजगर की-सी उग्रता लिये उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को आन्दोलित कर अपने आप में लील लेना चाहती है।

स्पष्ट है कि उक्त विडम्बना किसी भी विकसित साहित्य के जागरूक, अपराजेय मनोबल की विरोधी है। अनपेक्षित मानसिक उद्वेगों, अवान्तर स्थितियों, विकेन्द्रित प्रतीतियों और असंगत अंतर्विरोधों ने हमारी संकल्पशील सृजन की गरिमा को छीन लिया है। सर्वांगीण अन्तर्बोध के सर्वोन्मुखी बहुविध तत्त्वों को अतिशय जड़ता और अनिश्चय की कारा में बन्दी बना लिया गया है। या कहें कि कविता इस वक्त एक ऐसी डगमग दिशाहारी नौका बन गई है जिसमें पाल नहीं, चप्पू नही, अगल-बगल घाट या ठहराव की जगह नहीं, वरन् निरुद्देश्य भटकते उसके सम्मुख एक ऐसा अकल्पित प्रसार है जिसका ओर-छोर दिखाई नहीं पड़ता, ऊपर अनगिन छायाएँ कालरात्रि सी उस पर मँडरा रही हैं, पर जैसा कि रूसी नेता स्तालिन ने कहा है 'साहित्यकार आत्मा का इंजीनियर है।' वह कभी भी डूबते को सहारा देकर उसे सुरक्षित बना सकता है, धारा-प्रवाह के वेग से अथवा उच्छल तरंगों से भागकर नहीं, बल्कि उसमें बहते हुए उन्हें चीरकर, उनकी प्रबलता को मुट्ठी में बाँधकर, अपनी पदचाप से उसके विशाल वक्ष को नापकर रास्ता बना सकता है।

समय की सीमाहीनता यदि कहती है कि वह बँधी नहीं है, वह गति की ओर अनुधावित है तो लेखक भी बँधा नहीं है, वह अलक्ष्य की ओर बढ़ना जानता है। अपनी उद्दाम कल्पनाओं के आँवे में प्राचीन को गला घुलाकर वह नित-नई योजनाओं के रूपाकारों को ढाला करता है। उसकी जीवन की जटिलता में अतीत की परिणति है तो भविष्य के सूत्र भी गुँथे हैं। इन सूत्रों के आधार पर ही उसकी अंतर्हित सृजन-शक्ति को पहचाना जा सकता है।

अतएव, जो सच्चे साधनानिष्ठ हैं—वे साधारण परिस्थितियों से सदा ऊपर उठे रहते हैं। उनका उद्देश्य क्षुद्र घृणा-द्वेष और छिछली भावनाओं का प्रचार-प्रसार नहीं है।

इसके विपरीत उनकी दृष्टि भीतरी स्तर को भेदती है, साथ ही वैयक्तिक अनुभूतियों को सामूहिक मान्यताओं में आत्मसात् करके अपनी विशिष्ट चिन्तना एवं चैतन्य जागरूकता द्वारा वे सहज परिस्थितियों में हड़कम्प-सा तो मचा देते हैं, पर मर्यादित पृथक् पथ खोजते हैं।

स्रष्टा की वाणी में युगानुरूप विश्वासों के प्रतिरूप और अंतर्दृष्टि की दुर्जेय शक्ति निवास करती है। उसे मिथ्या द्वेष-दम्भ और परस्पर तिरस्कृत-बहिष्कृत करने की भावना का परित्याग करके दिमाग़ के दरवाज़े खुले रखने चाहिए। जगत् और जीवन को साहित्य में रूपान्तरित करने के लिए सृजन के उन स्थायी और सार्वजनीन तत्त्वों को अपनाना चाहिए जो मानवीय उदात्त कल्पना को वाणी की अखण्ड पूर्णता में परिणत कर सकें।

आज की उलझन और क़शमक़श में एक प्रकार की चुनौती है। हमें अपने परिचित पथ को, गति को बदलकर चलना है। साहित्य के पोषक तत्त्वों को लेकर एक ऐसे तीसरे साहित्य की सृष्टि करनी है जो प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति, प्रत्येक युग की धरोहर हो और एक अखण्ड इकाई के रूप मे हमारी चेतना को उद्बुद्ध और कल्पना-शक्ति को परिपुष्ट कर हमें अबाध रूप से आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करे।

३
नई कहानी

कहानी जीवन के श्रेय और हेय सभी तत्त्वों को भीतर समेटे हुए मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों को उद्भावित करती है। कहानी का सत्य जीवन के सत्य से भिन्न नहीं है, वरन् एक के बिना दूसरे का अस्तित्व वांछनीय नहीं। अतएव मानव के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप एवं उसकी अशेष चित्तवृत्तियों के भीतर मचनेवाला गूढ़तम अन्तर्भावों का आलोड़न ही कहानी का प्राण है।

कहानी कैसी हो ?—इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार कहानी जीवन की प्रतिरूप होनी चाहिए, अर्थात् विभिन्न जीवन-प्रसंगों को प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत करना ही कहानी-शिल्प अथवा उसकी टेकनीक की विशेषता है, किन्तु इसके विपरीत कुछ लोग कहानी में रोचक, आकर्षक तत्त्वों को अधिक महत्त्व देते हैं। वस्तुतः मनोरंजक कहानियों की माँग हमेशा से बहुत अधिक रही है और इससे सैकड़ों, हज़ारों व्यक्तियों के मन की परितृप्ति होती है, किन्तु कहानी में मनोरंजन की स्वाभाविक प्रक्रिया के साथ-साथ कथानक, चरित्र-चित्रण, वार्त्तालाप, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, प्रसंगानुकूल वाक्यों और शब्दों का प्रयोग, भाषा और शैली, घटनाओं की सुव्यवस्थित संयोजना और रचना-संगठन पर भी ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। कहानी सदैव जीवन के व्यापक अर्थ को व्यंजित करने वाली हो, साथ ही उसकी प्रमुख घटनाओं, कथानक और चरित्र की व्याख्या को इस प्रकार जीवन से संश्लिष्ट कर देना चाहिए कि कहानी की नाटकीयता का पाठक पर ईप्सित प्रभाव पड़े।

कुछ नये उत्साही लेखक कहानी लिखने की तीव्र इच्छा रखते हुए भी इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि कहानी कैसे शुरू की जाय। प्रचारात्मक दृष्टिकोण प्रारम्भ में ही अपना लेने के कारण उनकी दृष्टि संकुचित हो जाती है जो जीवन के मर्म में पैठ नहीं पाती। यद्यपि प्रचारात्मक दृष्टिकोण भी उपेक्षणीय नहीं, इससे व्यावहारिक ज्ञान बढ़ता है, तथापि तथ्य-समर्थन और वाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी मानवीय मनोवेगों की पूर्ण संगति के साथ रूपायित कर देनी चाहिए। एक सफल कलाकार जीवन की गहराइयों में पैठकर तत्सम्बन्धी वास्तविकताओं, परि-

स्थितिजन्य वैविध्य एवं निगूढ़ मनोगतियों का उद्घाटन करता हुआ कहानी के उन नैसर्गिक गुणों की ओर आकृष्ट होता है जो उसकी आंतरिक शक्ति को उद्बुद्ध करते हैं। सर वाल्टर बेसेंट ने कहानी की व्याख्या करते हुए उसकी उपयोगी मान्यताओं का सफल आकलन किया है।

"कहानी कला में वर्णन-पटुता, सचाई, विश्वास, सूक्ष्म पर्यवेक्षण-क्षमता, तटस्थ दृष्टिकोण, वस्तु-चयन, सुलझे विचारों की प्रस्तुति, चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन, रचना-प्रणाली की चारुता और कहानीकार का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिये जो पाठक के हृदय में जीवन्त विश्वास और अन्तर्जिज्ञासा जगा सके तथा उसकी रागात्मक वृत्ति एवं भावुक अन्त प्रकृति को एक व्यापक संवेदना से भर दे।"

उपन्यास और कहानी में अन्तर

कुछ लोग कहानी और उपन्यास में बहुत थोड़ा भेद मानते हैं, प्रत्युत् यों कहें कि कहानी को उपन्यास का ही छोटा रूप समझते हैं। कहानी और उपन्यास इसलिए भी एक दूसरे के साथ गुँथ गये है, क्योंकि बहुत से उपन्यासकार उतनी ही खूबी से कहानी-साहित्य का भी सृजन करते है (यद्यपि कई बार खूबी से नहीं)। प्रायः कहानी लेखक—अनुभव और परिपक्वता पाकर—कहानीकार से उपन्यासकार में परिणत हो गये हैं, किन्तु इसका प्रमुख कारण है कहानी के विधायक तत्त्वों से उनका गहरा लगाव—जो आत्मविश्वास जगाता है और उपन्यास के विस्तृत 'कैन्वस' पर चित्रण करने की सूक्ष्म प्रतिभा प्रदान करता है।

कुशल लेखक भले ही उपन्यास और कहानी की विभेदक सीमा को पाटने की क्षमता रखता हो, किन्तु नए कहानीकार को दोनों की पृथक्-पृथक् टेकनीक को हृदयंगम कर लेना चाहिए।

(१) उपन्यास और कहानी का मुख्य भेद विस्तार और सीमा का है। उपन्यास का विस्तृत चित्रपट मानव-जीवन की विविध परिस्थितियों एवं समस्याओं का लेखा लिये होता है, किन्तु कहानी की संकीर्ण परिधि में मानव-जीवन के किसी एक अंश या पहलू पर ही प्रकाश डाला जा सकता है। एक खास घटना, जीवन की कोई स्थिति-विशेष अथवा किसी केन्द्रीय भावना को लेकर कहानी लिखी जाती है। उसमें अनावश्यक प्रसंग, विरोधी वृत्तियाँ, मुख्य ध्येय के विपरीत एक जीवन से टक्कर लेने वाले दूसरे प्रतिरोधी जीवन के तथ्य नहीं रखे जा सकते। कथा, परिस्थिति और घटनाओं का तारतम्य एक ही केन्द्रबिन्दु की ओर अनुधावित होता है। उदाहरणार्थ —प्रेमचन्द की 'प्रेरणा' कहानी को लिया जा सकता है।

सूर्यप्रकाश नामक विद्यार्थी अत्यन्त शैतान और शरारती है। उसकी विचित्र कपट-क्रीड़ा, ऊधम और षड़यन्त्रों से समस्त विद्यार्थी और शिक्षक संत्रस्त रहते हैं। उसका अपनी क्लास का प्रोफेसर सबसे अधिक परेशान है, किन्तु दैवयोग से उसकी बदली हो जाती है। विदा के क्षणों में शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों में ही सुप्त स्नेह

उमड़ पड़ता है। शैतान सूर्यप्रकाश के हृदय में पश्चात्ताप का अंकुर जमता है और उसकी आँखों में अश्रु-बिन्दु छलक आते हैं। लेखक पश्चात्ताप को केन्द्रबिन्दु बना कर ही कहानी का क्रमिक विकास दर्शाता है। प्रोफेसर का त्यागपत्र, गाँव में एकान्तवास, अकस्मात् डिप्टी कमिश्नर के रूप में सूर्यप्रकाश से भेंट, उसकी बदली हुई जीवन-परिस्थितियों के विश्लेषण से कि कैसे ममेरे भाई की संगति से उसकी सर्वथा कायापलट हो गई आदि बातों से मुख्य ध्येय पर प्रकाश पड़ता है। सूर्यप्रकाश के स्वभाव में परिवर्त्तन और उसकी आदतों में सुधार—इस प्रकार एक व्यक्ति-विशेष के जीवन में लगे कितने ही प्रश्नचिह्न सहसा उद्घाटित होते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कोई एक केन्द्रीय घटना अथवा परिस्थितिजन्य द्वन्द्वों की कचोट से ही छोटी कहानी को सफल बनाया जा सकता है। कचोट और तीव्रता नष्ट होते ही कहानी समाप्त हो जाती है। ऐसी कहानियों में घटनाओं का संयोजन इस प्रकार होता है कि चरम स्थिति पर पहुँच कर ही अन्त में उसका प्रभाव पड़ता है।

एक दूसरी छोटी अंग्रेजी कहानी में जिसमें प्लॉट की अपेक्षा चरित्र-चित्रण की विशेषता है, एक ऐसे व्यक्ति का बड़ा ही अनूठा शब्द-चित्र अंकित किया गया है जो युद्ध में अन्धा होकर निराश और दुखी अपने पैदायशी ग्राम में लौटता है। वहाँ मार्ग में भटकते हुए उसकी वृद्ध कर्नल से भेंट होती है जो हाथ पकड़ कर उसका पथ-प्रदर्शन करता है। जिन वस्तुओं को देखने में वह अक्षम है उनका रोचक वर्णन करके कर्नल उसके निराश और विपन्न हृदय में प्रेरणा और प्रोत्साहन भरता है। साथी के मधुर शब्द शक्तिबर्द्धक टॉनिक की भाँति उसमें आश्चर्यजनक स्फूर्ति भर देते हैं। उसकी प्रसन्न मुद्रा और चहकती बातों को सुन कर उस अन्धे सैनिक के विचार और दृष्टिकोणों में परिवर्त्तन हो जाता है। वृद्ध कर्नल के विदा होते ही वह आत्मतोष और शान्ति का अनुभव करता हुआ चुपचाप बैठ जाता है। तभी उसकी उस लड़की से भेंट होती है जो इस दुरवस्था में भी उसकी सहायिका रही है। वह उसे बताती है कि वृद्ध कर्नल भी उसी की भाँति बिल्कुल अन्धा ओर असहाय है। जैसा कि स्पष्ट है इस कहानी का निष्कर्ष चरम स्थिति पर पहुँच कर ही प्रकट होना चाहिए था। बीच में ही उसको उद्घाटित करना समयोचित और प्रभावोत्पादक न होता। 'क्लाइमेक्स' पर पहुँच कर तीव्रतम स्थिति के साथ-ही-साथ कहानी का अन्त भी वांछनीय होना चाहिए।

२. कहानी में दूसरी विचारणीय बात उसके आकार की है। कहानी कितनी बड़ी हो—इस पर अन्तिम रूप से निर्णय देना कठिन ही नहीं असम्भव है। कुछ कहानियाँ इतनी बड़ी लिखी गई हैं जिन्हें हम आसानी से छोटा उपन्यास ही कह सकते हैं। प्रायः सभी विज्ञ सम्पादकों के मतानुसार कहानी की सीमा ३००० से ४००० शब्दों तक की अधिक सुविधाजनक है, यों बहुत सी कहानियाँ ढाई सौ से आठ हजार शब्द तक की भी मिलती हैं। वस्तुतः कहानी और उपन्यास में अन्तर

केवल आकार का ही नहीं, वरन् रचना-प्रणाली और उद्देश्य का भी है।

३. कहानी के मूलतः निर्माणक तत्त्व उपन्यास की अपेक्षा साधारण हैं। आधारभूत केन्द्रीय भावना के अतिरिक्त अनावश्यक प्रसंग, एक से अधिक तथ्यों की चर्चा तथा ऐसे पात्रों का चित्रण जो कहानी की एकसूत्रता और प्रमुख उद्देश्य पर व्याघात पहुँचाते हैं—छोटी कहानी में बहुत कम गुंजाइश रखते हैं। एडगर एलन पो ने कहानी में एक भी फालतू शब्द और वाक्य का घोर निषेध किया था। बाद में हडसन ने भी संक्षिप्तता पर ज़ोर देते हुए यही बात दोहरायी। मौजूदा आलोचकों के मत से प्रभाव-ऐक्य और स्वतःपूर्ण रचना होने के कारण कहानी का छोटा होना अनिवार्य है। ज्ञात एवं अज्ञात रूप से लेखक द्वारा प्रत्येक वाक्य का परीक्षण होना चाहिए, बड़ी बारीकी और बुद्धिमानी से यह जानने के लिए—कि वह कहानी के विकास में कहाँ तक सहायक है। नए कहानी लेखकों में ऐसी कुछ अजीब आदतें होती हैं कि वे जो कुछ एक बार लिख लेते हैं उसे फिर निकालना नहीं चाहते, विशेषकर जब उन्हें कोई शब्द अथवा मुहावरा रुच जाए। यह बुरी आदत है और इसका दृढ़ता से बहिष्कार होना चाहिए। कहानी लिखते हुए प्रत्येक वाक्य की समाप्ति पर गम्भीरतापूर्वक मनन करके यह निर्णय कर लेना चाहिए—कि क्या वह कहानी के लिए आवश्यक है? कथावस्तु अथवा ईप्सित प्रसंग की वह मदद तो कर रहा है? यदि कोई वाक्य व्यर्थ हो और प्रस्तुत विषय से उसका सीधा सम्बन्ध न हो तो उसका हटा देना ही श्रेयस्कर है।

४. इसके अतिरिक्त कहानी का एक और विशिष्ट एवं अत्यावश्यक गुण है जिसको अनुभवी लेखक तो जाने-अनजाने भाँप ही लेते हैं, किन्तु नये लेखकों को समझने में कठिनाई होती है।

यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक नहीं कि कहानी के सभी परिपोषक अंतरंग तत्त्वों में जीवन का खुला निर्वाध चित्रण होता है। कहानीकार भौतिक तत्त्वों से पराङ्मुख होकर कभी भीतर की ओर अपनी शक्ति केन्द्रित करता है और कभी कल्पना से प्रसूत सामान्य राग वाले क्रियाकलापों और विस्तृत संदर्भो का मार्मिक अंकन करता हुआ जीवन की संश्लेषणात्मक प्रक्रियाओं की व्याख्या में प्रवृत्त होता है। जब हम कोई कहानी पढ़ते हैं तो हमें लगता है कि विश्वजनीन तत्त्वों से परे कहानी का सम्बन्ध सर्वसाधारणे की चित्तवृत्ति और वातावरण से अधिक है, जिससे प्रभावित होकर लेखक ने उसका निर्माण किया है। हम बिल्कुल दूसरी दुनिया में पहुँच जाते हैं। कथा-सम्राट् प्रेमचन्द ने कहानी का विवेचन करते हुए लिखा है, "साहित्य में कहानी का स्थान इसीलिये ऊँचा है कि वह एक क्षण में ही, बिना किसी घुमाव-फिराव के, आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रकट कर देती है, आत्मज्योति की आंशिक झलक दिखा देती है और चाहे थोड़ी मात्रा में ही क्यों न हो, वह हमारे परिचय का, दूसरों में अपने को देखने का, दूसरे के हर्ष या शोक को अपना बना लेने का [illegible] देती है।"

जीवन के अनन्त प्रवाह एवं अंतर्संघर्षों में झाँककर देखने की आकांक्षा मानव-स्वभाव है। गहरे और प्रखर मनोभाव, ज़िन्दगी की ऊँच-नीच और गहराइयों में पैठ कर मानवीय दुर्बलताओं और उसकी सशक्त चेष्टाओं को अवगत करना, सत् और असत् के संघर्ष, मनोरंजक अथवा हृदय को हिला देने वाले सूक्ष्म रहस्यों के गूढ़ आशय को समझने का प्रयत्न करना तथा ऐसे अनगिन दृश्यों, दशाओं और मार्मिक पहलुओं को हृदय में उतार लेना मानव की सहजात वृत्ति है--जो विषय विस्तार में झाँकने की नित्य प्रेरणा प्रदान करती है। जब कोई अनुभूति किसी स्मृति से जुड़ जाती है अथवा भीतर संचित संस्कारों के समानान्तर हमारे राग-विराग से जा टकराती है तो आलोड़न उत्पन्न होता है और वे ही राग-विराग कला की सृष्टि करते हैं। कभी-कभी कहानियों को पढ़ कर लगता है कि जैसे हम किन्हीं सच्ची घटनाओं में से गुजर रहे हे। जीवन के अगणित दृश्य-चित्र, अतीत की भूली-बिसरी बातें, कब की, कहाँ की सुनी-देखी घटनाएँ कहानियों को पढ़ते हुए अनायास ही मानस-पटल पर कौंध जाती हैं। कभी-कभी तो यथार्थ जीवन की घटनाओं से भी अधिक कहानियाँ हमारे हृदय पर प्रभाव डालती हैं। इसका कारण है कि कुछ कहानीकार जीवन के यथार्थ और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को इस स्वाभाविकता से कहानी में चित्रित करते हैं कि पाठक के सूक्ष्म मनोभाव उसमें केन्द्रित होकर सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। प्रेमचन्द के शब्दों में—"कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है, मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते हैं उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते—जब तक कि वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियों में पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है, इतना ही नहीं बल्कि कहानी पढ़कर वे लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं जिन पर साधारणतः सुख-दुःख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें श्मशान या क़ब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं, वे लोग भी उपन्यास-कहानी के मर्मस्पर्शी स्थलों पर पहुँच कर रोने लगते हैं।

शायद इसका यह कारण भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और मन के बीच में जड़ता का वह पर्दा नहीं होता जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है। और अगर हम यथार्थ को हू-ब-हू खींचकर रख दें तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है।"

जहाँ तक कथाशिल्प और जीवन की विकसित चेतना का प्रश्न है, वहाँ भौंडी अनुकृति नहीं वरन् स्पष्ट दृष्टिकोण और सूझबूझ चाहिए। शिल्प और भौतिक प्रतिमानों में रूपगत समानता की अपेक्षा प्रकृतिगत समानता का विशेष महत्त्व है।

'सादृश्य' या 'प्रतिरूपता' किसी भी कहानी की ज़िन्दा शहादत तो है ही, जीवन और कथाकार के सम्बन्ध-सूत्र को परिपक्व करने का ठोस आधार भी है। कथाकार अपने शिल्प की प्राणात्मा का संस्कर्ता तभी बन सकता है जबकि उसकी अंतःप्रकृति में पैठे और सामान्य जीवन के अनुरूप दृढ़ निष्ठा के साथ उसे मानवीय संवेदना से आपूरित कर दे। कारण——कहानी अंतरात्मा की वह मुखरता है जिसमें कथाकार के अर्जित संस्कार प्रतिफलित होते हैं। वह उन्हीं रूप-व्यापारों और जीवन-व्यापारों की प्रभावात्मकता में पैठता है जो उसकी कल्पना को प्रेरित करते या उससे तादात्म्य स्थापित करते हैं। उसकी रुचि और कार्यान्वय में भेद हो सकता है, पर प्रभाव या संवेदना की इकाई बरतने के लिए उसमें तादृश सजीवता और चमत्कार तो अपेक्षित है ही। महान् कथाकार का जीवन महान् घटनाओं से ही नहीं, बल्कि अदना से अदना व्यक्तियों और जीवन-प्रसंगों से जुड़ा होता है। मनोवैज्ञानिक रूप में वह प्रत्यक्ष उसकी कल्पना में मूर्तिमान् हो जाता है अर्थात् उससे तद्रूप हो वह निजी अनुभूतियों को तो प्रकट करता ही है, अपनी मौलिक प्रतिभा के योग से नये चरित्रों को भी जन्म देता है। कहानी तो सभी कह सकते हैं——चाहे कोई अनपढ़ हो या विद्वान्। मगर कल्पना से सिरजे इन रूपाकारों में वह कितनी सूक्ष्म और गहरी रेखाएँ आँक सका है जो उसकी निश्छल तन्मयता या दूसरों की आत्मा को छू सकी हैं——यह देखना है। रसग्राही चेतना के तंतुओं को जाग्रत करनेवाली ईमानदार साधना ही किसी भी कृति को महत्त्वपूर्ण बनाने की सच्ची कसौटी है और उससे जो एकात्म्य स्थापित होता है वही वस्तुतः कला की चरम अनुभूति है।

कुशल कहानीकार की खूबी है कि वह अपनी कहानी में यथार्थ की तादृश भ्रांति उत्पन्न करदे जो यथार्थ न होती हुई भी यथार्थ सी ही ज्ञात हो। इस कला में जो जितना ही पारंगत होगा उतना ही वह सफल कलाकार हो सकता है।

प्लॉट

यों तो कहानी में क्रमबद्धता अथवा घटनाओं के संयोजन का कोई नियम नहीं है, तथापि कथा-तत्त्वों के उत्कर्ष के लिए सुन्दर प्लॉट होना आवश्यक है। प्लॉट में परिवर्तन की स्थितियाँ इतनी सुसंगठित होनी चाहिए कि घटनाओं का एक निश्चित क्रम हो जाए और वे अभ्यंतर के गहन, सूक्ष्म सत्यों को उद्घाटित करती हुई अपना सामूहिक प्रभाव छोड़ जायँ।

जीवन के जिस क्षेत्र से कहानीकार अपनी कहानी का प्लॉट ले उससे उसे पूर्ण अवगत होना चाहिए। अपनी प्रखर कल्पना-शक्ति से वह ऐसे भी कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों को प्लॉट के साथ ग्रथित कर सकता है जिसका उसने प्रत्यक्ष अनुभव न करके कल्पना द्वारा अनुमान लगाया हो। यह सत्य है कि संसार की विभिन्न वस्तुओं, प्रकृति का उन्मुक्त प्रसार और उसमें छिपे अगणित रहस्य तथा मानव-जीवन के कतिपय मर्मस्पर्शी पहलू कहानी के प्लॉट और विषय बन सकते हैं,

तथापि उसमें मानवीय आत्मा की वह उदात्त चेष्टा होनी चाहिए जो कहानी को प्रभावशाली और प्रेरक शक्ति से भर दे। कुछ कहानियाँ पुराने विषयों को लेकर ही चलती रहती हैं, यथा—कौतूहल और वैचित्र्य से भरी छोटी-छोटी प्रणय कथाएँ जो दुःखान्त अथवा सुखान्त होती है, सामान्य जीवन-स्थिति के लोगों की घरेलू व्यवस्थाएँ, कल्पित और रहस्यपूर्ण किस्से, त्याग और बलिदान को दर्शाने वाले विषय, ऐसे प्लॉट जिसमें किसी दुष्ट व्यक्ति की प्रधानता रहती है अथवा किसी निष्कर्ष को लेकर चलने वाली कहानियाँ जिसमें सज्जन का उत्कर्ष और दुर्जन का अपकर्ष दिखाया जाता है आदि इस प्रकार के अहर्निश उपयोग में आने वाले साधारण और परिचित विषय भी कुशल कहानीकार की लेखनी से असाधारण और जीवन-सिद्धांतों से ओतप्रोत होते हैं। नये दृष्टिकोण से लिखे हुए पुराने प्लॉट कलात्मक स्पर्श पाकर मनोज्ञ और आकर्षक तत्त्वों से युक्त, आचार की विचित्रताओं से चर्चित, व्यापक संवेदना और मानवीयता से आप्लावित, इस लोक के होते हुए भी कहीं और के, किन्हीं अन्य ही प्रकार के व्यक्तियों से भरे दीख पड़ते हैं जो पाठकों के हृदय पर अमिट प्रभाव छोड़ जाते हैं।

प्लॉट क्या है ? यह कहना अथवा इसकी ठीक-ठीक व्याख्या करना कठिन है, किन्तु हम इसे कहानी का ढाँचा कह सकते है। चरित्र-चित्रण, वार्त्तालाप और वर्णन की संकुलता से मुक्त वह कहानी का शरीर मात्र है। कभी-कभी प्लॉट और थीम (मन्तव्य) में भी भ्रम हो जाता है। निःसन्देह, प्लॉट शरीर है तो थीम केन्द्रस्थ आत्मा। थीम कहानी को सबल और सशक्त बनाता है।

एक मशहूर छोटी अंग्रेजी कहानी में कश्चित् दम्पति, जो अनेक आर्थिक कठिनाइयों में से गुज़र रहे हैं, अपने विवाह के प्रथम वार्षिकोत्सव पर एक दूसरे को अच्छे-से-अच्छा उपहार देने को उत्सुक हैं। वे चुपचाप बिना बताए अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु गँवाकर भी भेंट देना चाहते हैं। वह शुभ तिथि आती है और पति अपनी पत्नी के सुन्दर बालों के लिए कीमती पिन, कंघे आदि अपनी अत्यंत प्रिय घडी बेच कर ले आता है, किन्तु सहसा उसे यह जानकर बहुत दुःख होता है कि पत्नी ने उसकी घड़ी के खातिर सोने की चेन भेंट करने के उद्देश्य से अपने लम्बे, लहराते काले बाल कटवा डाले हैं।

उपर्युक्त कहानी के प्लॉट में केन्द्रस्थ विषय भेंट की करुण परिणति है जो कहानी को सशक्त बनाती है।

प्लॉट और थीम में पर्याप्त अन्तर है। थीम में साधारणतः एक ही विषय की प्रमुखता रहती है, प्लॉट परोक्ष-अपरोक्ष रूप से अनेक छोटी-मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। थीम एकदम लेखक के मस्तिष्क में कौंध जाता है, जब कि प्लॉट की रूपरेखा शनैः-शनैः तैयार की जाती है। जैसी कि कुछ लोगों की धारणा है सामान्य घटनाओं का वर्णन मात्र ही प्लॉट नहीं है। प्लॉट का सर्वांग गठन इस प्रकार होना चाहिए कि उसका यदि कोई अंश निकाल लिया जाय तो वह अपंग न हो। ऐसा

निर्माण-कौशल कहानी को असाधारण बना देगा, यद्यपि ऐसी श्रेष्ठ कहानियाँ विश्व-साहित्य में बहुत कम मिलती हैं।

प्लॉट ढूँढ़ने के लिए कहानीकार के सम्मुख समग्र मानव-जीवन बिखरा रहना चाहिए, यों ऐसा सम्भव नहीं है कि उसके सभी विभिन्न पहलू समान रूप से मूल्यवान् समझे जायें। नए लेखकों को कुछ उत्कृष्ट कहानियों के प्लॉट हृदयंगम कर लेने चाहिए। जो कोई अच्छी कहानी उसकी नज़रों से गुज़रे उसके प्रतिपाद्य विषय का मूल्य आँकने के लिये उससे उद्भूत रागात्मक तत्त्वों की शक्तिमत्ता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए उसे उसके गुण-दोषों का संक्षिप्त विवेचन किसी कापी में नोट कर लेना चाहिए। इस प्रकार तीस-चालीस अच्छे प्लॉट लिख लेने पर कहानी लिखने की कला उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है।

सर वाल्टर बेसेंट के अनुसार अच्छे प्लॉट ढूँढ़ने के लिए 'कहानीकार को अपनी सामग्री आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ़ मिलते रहते हैं।' ऐसा कौन है जिनके पास कुछ कहने-सुनने को न हो। किसी के भीतर रंज-ग़म है तो किसी के पास खुशी भरी अनुभूतियाँ हैं। कोई निराश प्रेम में तड़पा है तो किसी ने प्यार की रंगरेलियाँ मनाई हे। ज़रा छेड़िये तो किसी के दिल के तार, फिर वह अपनी कितनी-कितनी दास्ताँ सुनाने को बेताब हो जाता है। जीवन में घटित होने वाली छोटी-छोटी घटनाएँ, समाचार-पत्रों में पढ़ी हुई खबरें, स्टेशनों, गलियों, व्यस्त सड़कों, अदालतों और इतस्ततः बिखरे अगणित दृश्यों को देखकर कहानी लिखने की प्रेरणा मिलती है। मान लीजिए हम किसी अखबार में हड़ताल की खबर पढ़ते हैं, अचानक मनन करते-करते हमारी आँखों के सामने एक चित्र खिच जाता है। मेहनतक़श मज़दूर वर्ग की दर्दनाक जीवन-स्थितियाँ, स्त्री-पुरुषों और बच्चों की दुरवस्था, पग-पग पर उच्च वर्ग द्वारा उनकी भर्त्सना, तिरस्कार और अवहेलना आदि दृश्य एक के बाद एक दृष्टि-पथ के समक्ष बिछ जाते हैं। तत्क्षण हमारा ध्यान खिच कर किसी प्लॉट पर केन्द्रित हो जाता है और हम उससे भिन्न किसी और ही असाधारण कहानी का ढाँचा तैयार कर सकते हैं। यथा—

एक बिजली-कम्पनी में काम करने वाले व्यक्ति का बच्चा सख़्त बीमार है। चिन्तित, परेशान माता-पिता को डाक्टर बताता है कि अभी तीन दिन तक कोई ख़तरा नहीं है। पिता निश्चित होकर लेबर यूनियन की मीटिंग में सम्मिलित होने के लिये चला जाता है, किन्तु उसी रात्रि को अचानक बच्चे की स्थिति बिगड़ जाती है। वही डाक्टर बुलाया जाता है। वह माँ को आश्वस्त करता है कि कोई भय नहीं, केवल एक छोटा-सा आपरेशन बच्चे की स्थिति में परिवर्त्तन ला देगा। तत्पश्चात् डाक्टर बिजली के बल्ब के प्रकाश में बच्चे के ऊपर झुकता है और औज़ार से घाव का चिह्न बनाता है। समीप ही बच्चे की माँ चितातुर खड़ी है। किन्तु पलक झाँपते ही भीषण अन्धकार! मकान की सारी बिजलियाँ एकदम बुझ जाती हैं। 'ओह! आप

यह क्या कर रही हैं ?' डाक्टर चीखता है। अंधेरे को चीरता हुआ करुण स्वर सुन पड़ता है 'बिजली मैंने नहीं बुझाई।' सब पागल से स्विच खटखटाते हैं, किन्तु व्यर्थ ! चारों ओर अंधकार-ही-अंधकार, कुछ सूझ नहीं पड़ता। बड़ी कठिनाई से एक मोम-बत्ती मिलती है, लेकिन इतनी देर बाद कोई लाभ नहीं, बच्चे की मृत्यु हो जाती है। तभी द्वार पर धम-धम होती है और किसी के भारी जूतों की आवाज़ नज़दीक आती हुई सुन पड़ती है। किवाड़ खुलता है। मृत बालक का पिता विजयोल्लास से मुस्कराता हुआ सामने आता है। 'हमारी जीत हुई,' वह ज़ोर से चिल्लाता है, 'आज रात नगर में एक भी बत्ती नहीं जल रही है।'

इस प्रकार छोटी-छोटी घटनाओं से उत्कृष्ट प्लॉट गढ़ने की प्रेरणा मिलती है। एक किस्सा दूसरे किस्से को जन्म देता है, शनैः-शनैः प्लॉट ढूँढ़ना एक मनोरंजक मस्तिष्कीय व्यायाम बन जाता है और अभ्यास हो जाने पर हमारी दृष्टि अपने मतलब की बात टटोल लेती है। कल्पना के योग से मानसिक शक्ति का वर्द्धन होता है और हमारी बुद्धि उत्तरोत्तर तीव्र और संवेदनशील होती जाती है।

हेनरी जेम्स ने लिखा है, 'यदि किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावों के योग से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पंदन को भी जीवन प्रदान कर सकती है।' परिश्रम और साधना सफलता का द्योतक है। प्लॉट उल्का-पात के सदृश आकाश से हमारे मस्तिष्क में नहीं उतरते और न ही वे लेखक—जो कलम से ज़मीन खोंचते हुए सिर पर हाथ रखे बैठे रहते हैं—उसे पाने के अधिकारी होते हैं, वरन् दृश्य-जगत् में चारों ओर इधर-उधर घटनाएँ बिखरी हुई हैं। जो चाहें उनमें से महत्त्वपूर्ण चीज़ें बटोर सकते हैं।

चरित्र-चित्रण

प्लॉट के बाद कहानियों में पात्रों का मनोवैज्ञानिक, सूक्ष्म विश्लेषण अपेक्षित है। कहीं-कहीं तो वह प्लॉट से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। मानवीय संवेदना की सर्वांगीण व्याख्या के लिये पात्रों के भाव, विचार और प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन, साथ ही उनकी विचार-प्रक्रिया और मनोरागों की निरपेक्ष अभिव्यक्ति उन्हें अंशतः अथवा सम्यक् रूपेण जीवन के निकट ले आती है। पाठक की दृष्टि कभी-कभी स्थूल घटनाओं की अपेक्षा पात्रों की अन्तर्वर्ती सत्ता पर आ टिकती है। वह व्यक्ति की ऐका-न्तिक अन्तश्चेतना को वाह्य व्यापारों और जीवन के प्रेरक, विधायक तत्त्वों में आरो-पित करके बहुत कुछ देखने-समझने की चेष्टा करता है। अतएव कुशल कहानीकार को चाहिये कि वह अपने पात्रों में जीवन-तत्त्वों का ऐसा चेतन संघटन प्रस्तुत करे कि उसके पात्र [illegible] तस्वीर बन जायें। उनके अणु-परमाणुओं में सादे पर गहरे रंगों को समाविष्ट करके वह उनमें खण्ड-चित्रों की भाँति चलचित्रात्मक प्रभाव उत्पन्न करदे, किन्तु इसके लिये उसे परिश्रमपूर्वक वैयक्तिक निरीक्षण की कला को विकसित करना होगा। जीवन की संकुलता में झाँक कर मनुष्य के विभिन्न रूपों, उनके स्वभाव, प्रवृत्ति

और विशेष गुण-दोषों को हृदयंगम करना होगा। जिन कहानी-लेखकों की चरित्र-चित्रण की ओर विशेष अभिरुचि है उन्हें बिना किसी हिचकिचाहट के जन-समूह में घुसकर विभिन्न व्यक्तियों की चारित्रिक विशेषताओं का मननपूर्वक गंभीर अध्ययन करना चाहिये और उनकी वाह्य आकृति, वेष-भूषा आदि का भीतरी वृत्तियों से साम्य स्थापित करके उनकी छोटी-छोटी बातों पर गौर करना चाहिये। फिर ऐसा न हो वे अपने अनुभवों को यों ही भूल जायँ या उनकी उपेक्षा कर दें। उन्हें अपनी मस्तिष्कीय प्रतिक्रिया को तत्क्षण कागज पर उतार लेना चाहिये। एकान्त में बैठकर वे मन ही मन अपने अनुभवों को एकत्र करलें और लिखते जायें। पहले वे चुपचाप अपने मित्रों और परिचितों के रेखाचित्र खीचें, फिर उन्हें बराबर पढ़ें और संशोधित करते जावें। लिखते हुए उनकी भाषा स्वस्थ, स्वाभाविक और पात्रानुरूप होनी चाहिये।

कहानी मे चरित्र-चित्रण उपन्यास की अपेक्षा अधिक सुकोमल और संकेतात्मक होता है। जैसा कि सेमूर हेडन ने लिखा है—'कलम का किंचित् सा स्पर्श गहरी रेखाएँ खींच देता है। यदि वे सुसंयत अथवा सुविचारित होती हैं तो वह कुशल कलाकार माना जाता है अन्यथा उसकी कला एक कलंक बन जाती है।' कला के किसी भी क्षेत्र में स्पर्श का इतना बड़ा महत्त्व नहीं है। एक रेखा यदि संगत बैठी तो दस असंगत हो जाती है। इसके अतिरिक्त लेखक की अनुभव-समष्टि कहानी की परिमित परिधि में इतनी संकुल और घनीभूत होकर प्रकट होती है कि वह अपने पात्रों को जितना ही संवेद्य और विश्वसनीय बना सके उतना ही अच्छा है। सूक्ष्म रेखाकार अपनी शलाका से जो चमत्कार उत्पन्न करता है वही कथा-लेखक अपनी लेखनी से कर दिखाता है। रेखांकन कला रंगों की सूक्ष्मता में रमती है तो कहानीकार को बुद्धि और मस्तिष्क कुरेद कर जीवन-तत्त्वों के भीतर गहरा पैठना पड़ता है।

हमारी अन्तरंग वृत्तियाँ स्वभावतः चैतन्य होने के कारण मानव-चेतना में ही अपने अस्तित्व की जाग्रत अनुभूति पाती हैं। सर्वमान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया, भिन्न-भिन्न उद्वेग, प्रच्छन्न अभिलाषाएँ और मनोवृत्तियां प्रायः बहुत कुछ एकसी हुआ करती हैं। कहानियों को पढ़ते हुए पात्रों की वृत्तियों के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित हो जाता है और हमें लगता है जैसे वे हमारे ही अंगी और परिचित हों। हम उनके सुख-दुःखों में समान रूप से भाग लेते हैं और उनके जीवन में अपने ही जीवन का प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं। प्रेमचन्द लिखते हैं—'साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है,—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है—यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिये ताल ठोंक कर तैयार हो जाता है, उसकी

समस्त दुर्बलताएँ भाग जाती हैं, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।……जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उन से पैदा होने वाला द्वंद्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धान्तों की हत्या कर डाले ? कितना भीषण द्वंद्व है। पश्चात्ताप ऐसे द्वंद्वों का अखंड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है। उसे भिक्षा माँगते देख कर क्या छली भाई को जरा भी पश्चात्ताप न होगा ? अगर ऐसा न हो तो वह मनुष्य नहीं।'

निःसंदेह, ऐसे मनोगत भाव और द्वंद्व हमारे हृदय को छूते हैं। कहानीकार को उस द्वंद्व का गम्भीर ज्ञान अपेक्षित है। वह वार्त्तालाप, क्रिया और विभिन्न चेष्टाओं द्वारा अपने पात्रों का यथार्थ और आकर्षक चित्रण प्रस्तुत कर सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ स्वभावगत विशेषताओं को आरोपित करके वह अपने पात्रों की मनोवृत्तियों को भी प्रयोग में ला सकता है। हम प्रायः प्रतिदिन ऐसे व्यक्तियों से मिलते हैं जिन्हें सिर खुजाने या पैर हिलाने की आदत होती है। किसी को उंगली चटकाना या सीटी बजाना बहुत भाता है। कुछ लोगों को कोई-कोई शब्द, मुहावरे और वाक्य इतने मुँह चढ़े रहते हैं कि वे बात-बात में उसका प्रयोग करते हैं। इस प्रकार कहानीकार अपने पात्रों में कुछ विशिष्ट मनोवृत्तियों को आरोपित करके उन्हें और भी सजीव एवं विश्वसनीय बना सकता है।

वार्त्तालाप

मनुष्य में अपने विचारों को दूसरों के समक्ष व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है। वह वार्त्तालाप द्वारा अपनी और दूसरे की बात कहने-सुनने को लालायित रहता है। कहानियों के पात्र बहुधा अपनी सजग, स्पष्ट और गम्भीर बातचीत से हमारे मन में घर कर लेते हैं। उनका अपना व्यक्तित्व हमारे सम्मुख फड़क जाता है और भीतरी वृत्तियाँ सजीव होकर उभर पड़ती हैं। इससे वर्ण्य विषय तो गतिमान होता ही है, पात्रों के मनोवेगों, अभिरुचियों और उनके अन्तरंग मार्मिक स्तरों को छूने का भी सुअवसर मिल जाता है।

जिस प्रकार प्लॉट और चरित्र-चित्रण प्रतिपाद्य विषय को आगे बढ़ाते हैं, उसी प्रकार वार्त्तालाप भी घटनाओं को गतिशील, वातावरण को रोचक, चरित्र-चित्रण को प्रखर और कहानी के व्याख्यात्मक तत्त्वों का निर्माण करता है। वार्त्तालाप में भी वे ही प्रसंग, वे ही बातें और वे ही विचार व्यक्त करने चाहिए जो प्लॉट के विकास में सहायक हों और चरित्रों के गुप्त मनोभावों का निदर्शन करें। एक सुप्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक ने एक बार लिखा था—'किसी भी कहानी में यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि अमुक स्त्री या अमुक आदमी झगड़ालू और कर्कश है।

उसे सामने लाकर खड़ा कर दो और बकने-झकने दो।' इस प्रकार अनेक विशिष्ट पात्रों के वार्त्तालाप से ही उनकी मनोवृत्तियों का अध्ययन हो जाता है। क्रोध, घृणा, द्वेष, हर्ष-शोक, प्रेम-अनुराग, हँसी-चुहल आदि मानव-मन के प्रच्छन्न पहलू उनकी वाणी द्वारा व्यक्त हो जाते हैं और हम उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं को हृदयंगम करने में सफल होते हैं। निम्न वार्त्तालाप में प्रेम, कर्त्तव्य और व्यथा की छटपटाहट का कैसा सुन्दर मर्मस्पर्शी चित्रण है—

"उषा के आलोक में सभा-मंडप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुंकार करते हुए कहा—'बध करो !'

राजा ने सबसे सहमत होकर आज्ञा दी—'प्राणदण्ड'। मधूलिका बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा—'मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग।' वह चुप रही।

राजा ने कहा—'मेरी निज की जितनी खेती है मैं सब तुझे देता हूँ।' मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा— 'मुझे कुछ न चाहिए।' अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—'नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा, माँग ले। 'तो मुझे भी प्राणदंड मिले'—कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।'

('पुरस्कार'—प्रसाद)

वार्त्तालाप सरल, सजीव और आकर्षक होना चाहिए, साथ ही वह ऐसा न हो जो जीवन से दूर जा पड़े। श्रेष्ठ कलाकार वही है जो प्रसंगानुकूल, चलित परिस्थितियों एवं पात्रों के अनुरूप वार्त्तालाप प्रस्तुत करता है—हाँ, उसे यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि उसका वार्त्तालाप यथार्थ और स्वाभाविक होता हुआ भी इतना साधारण और निम्न कोटि का न हो जो गँवारू और सर्वथा कलाहीन हो जाए।

भाषा और शैली

कहानी लिखने के लिए यह आवश्यक नहीं कि अपनी समस्त शक्ति भाषा और शैली पर ही केन्द्रित कर दी जाय। यदि विचार-गाम्भीर्य न होगा तो भाषा और शैली की वाह्य चारुता निरर्थक है, वरन् शब्द, अलंकार, उपमाओं से लदी भाषा अस्वाभाविक और दुरूह हो जायगी। कहानी-लेखक अपनी मनोवृत्तियों के अनुरूप आत्माभिव्यंजन की इच्छा से प्रेरित होकर भाषा का निर्माण करता है। यदि उसकी कल्पना और कला में जीवन की व्याख्या निहित है तो उसका महत्त्व भाषा की शक्ति में केन्द्रित होकर उसके प्रभाव को द्विगुणित कर देता है। वह उसके भावों और विचारों की वाहक होकर उसके प्रतिपादन की पद्धति पर आश्रित रहती है। न केवल भाषा में उसके भाव प्रतिफलित होते हैं, प्रत्युत् भावों के अनुरूप उसकी भाषा भी इस बिन्दु से सुदूर बिन्दुओं की ओर अग्रसर होती रहती है और विषय को उपयोगी बनाती चलती है।

कोई भी दक्ष लेखक भाषा का क्रीतदास नहीं, वरन् भाषा ही उसकी वश-

वर्तिनी होती है। उसकी सूझ, उसकी गम्भीरता, विचार-अनुक्रम और मस्तिष्कीय उद्भावनाओं की अमिट छाप उसकी भाषा और शैली पर स्पष्ट अंकित हो जाती है। अनजाने ही वह लिखता जाता है और भाषा चुपके-चुपके उसकी सृजन-शक्ति और प्रतिभा के अनुकूल ढलती चलती है। बेकन ने लिखा है :

"अच्छे लेखक अधिक नहीं पढ़ते, अपितु जो पढ़ते हैं उसे पचाते अधिक हैं। व्यापक अध्ययन–हृदय और मस्तिष्क में ओतप्रोत होकर–भावी साहित्य-साधना में सहायक होता है, किन्तु जिन्हें हम पढ़ते हैं उनका अन्ध अनुवर्ती होना हमारी बौद्धिक हीनता का द्योतक है।"

लेखक इतस्ततः पढ़कर और अध्ययन करके ही तत्कालीन विचारधारा को अपने कृतित्व में उतारता है, केवल उसका लिखने का ढंग मौलिक होना चाहिए। अपनी सौंदर्य की अभिव्यक्ति को वह भाषा के औचित्य और सृजन की अदम्य शक्ति से परिपूरित कर सकता है।

कहानी के उदात्त तत्त्व

प्लॉट, चरित्र-चित्रण, वार्त्तालाप और शैली के प्रमुख अंगों के अतिरिक्त कहानी में कुछ ऐसे उदात्त तत्त्व भी निहित होने चाहिए जो पाठक में सद्भाव और उदात्त विचार उत्पन्न कर दें। कहानी समाप्त करते ही वास्तविक परिस्थितियों की गहराइयों में डूबी हुई जीवन के सत्य की ऐसी जाज्वल्यमान रेखाएँ उसके समक्ष विकीर्ण हो जायँ, जिसमें वह अन्तःप्रेरणा की शाश्वत शक्ति को उद्बुद्ध कर सके।

कहानी मनुष्य के जीवन की व्याख्या है। उसका मूल आधार मनोविज्ञान है। वह जीवन के द्वन्द्वात्मक सत्य, मनुष्य के मन की ग्रंथियों, उसके प्रच्छन्न भाव, मानसिक ऊहापोह, उलझन, अन्तर्संघर्ष एवं विकारग्रस्त कल्पनाओं को मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर उघाड़-उघाड़ कर दर्शाती है। जीवन-रहस्य के सहस्रों परमाणु उसकी परिधि में सिमटे रहते हैं, कथा-लेखक को तो उन्हें ठीक से सँवारने-सजाने की आवश्यकता है। कहानी में निहित उदात्त विचारों से आत्मतुष्टि तो होती ही है, साथ ही जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है।

कहना न होगा—कहानी को उदात्त बनाने के लिये उसका सर्वांग गठन अनिवार्य है। जैसा उसका आरम्भ प्रभावात्मक हो वैसा ही उसका अन्त भी स्वस्थ और सुन्दर होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कहानी में घटना-क्रम, परिस्थितियों का विश्लेषण, भाव-व्यंजना, उद्देश्य आदि भी ऐसा होना चाहिए जो कहानी के प्रसार-क्रम को शिथिल न होने दे।

कहानी साहित्य की आधारशिला है। उसमें सदैव से ही अतीत जीवन की झाँकी मिलती रही है, यही कारण है कि प्रत्येक देश की प्रत्येक जाति में, चाहे वह सभ्य हो या असभ्य, कहानियों का प्रचलन रहा है।

विश्वकथा-साहित्य में भारतीय-साहित्य के ऋग्वेद, उपनिषद्, बौद्ध आदि

के दृष्टान्त, उपाख्यान तथा चीन में प्रस्तर खण्डों पर खुदी प्राचीन गाथाओं को छोड़ कर ग्रीक और लैटिन कहानियाँ ही सबसे प्राचीन मानी जाती हैं, जिन्होंने सारे यूरोप में कहानी-साहित्य का सूत्रपात किया है। ईसा से चार शताब्दी पूर्व हिरोडोटस की पुस्तक में ईसप की दिलचस्प कहानियों का उल्लेख मिलता है, जो बहुत कुछ भारतीय कहानियों का किंचित् परिवर्त्तित रूप ही कही जा सकती हैं।

चौदहवी शताब्दी मे इटली में बोकेशियो की कहानियाँ पढ़कर इस ओर लोगों की अत्यधिक अभिरुचि हुई। उसकी अनेक कहानियाँ फ्रेंच भाषा में अनूदित हुईं और उनका इतस्ततः प्रचार किया गया। शनै-शनैः इन्हीं अनुवादों से मौलिक कहानियाँ लिखने की भी प्रेरणा प्राप्त हुई।

हमारे साहित्य में आधुनिक लघु कथाएँ लिखने की प्रथा पश्चिम से आई है, यों यह बात नहीं कि हमारे यहाँ अपना कथा-साहित्य था ही नहीं। संस्कृत में हमारे प्राचीन धर्मग्रंथों के रोचक आख्यानों के अतिरिक्त 'हितोपदेश', 'पंचतन्त्र', कथा, सरित्सागर', 'वृहत्कथा मंजरी', 'दशकुमार चरितम्', 'कादम्बरी' आदि स्वतन्त्र कथा-ग्रंथों की भी रचना हुई, जिनका प्रभाव न केवल भारतीय भाषाओं पर ही पड़ा वरन् मध्य एशिया के अन्य देशों की भाषाओं पर भी देखा जाता है।

हिन्दी में वर्त्तमान छोटी कहानी अंग्रेजी से बंगला और बंगला से हिन्दी में आई है, वैसे यहाँ 'रानी केतकी की कहानी', 'नासिकेतोपाख्यान' आदि कुछ पुराने ढर्रे की कहानियाँ पहले से ही लिखी जाती रही हैं, पर उन कहानियों में और आज की कहानियों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

चमत्कारपूर्ण, विस्मयोद्बोधक प्रणाली से किसी उपदेश विशेष की योजना अथवा किसी-न-किसी रूप में मज़ेदार किस्से-कहानी गढ़ कर पाठकों का मनोरंजन करना उन पुरानी कहानियों की विशेषता थी। उनमें अद्भुत तत्त्व का अंश अधिक और मानवीय भावनाओं का विलोड़न कम था। जीवन अपनी स्थूलता में जिन तथ्यों को उभार कर रखता है उनसे परे आन्तरिक परिस्थितियों और पहलुओं की व्याख्या न की गई थी। किन्तु आज की कहानी जीवन और जीवन-मर्म की विश्लेषक है। वह महत्त्वपूर्ण समस्याओं को हल करने का एक महान् साधन बन गई है।

उन्नीसवी शताब्दी से विश्व-साहित्य में कहानियों का विशेष प्रचलन हुआ है। रूस, फ्रांस, इंग्लैंड आदि के सुप्रसिद्ध कहानी-लेखक दॉस्तॉइवस्की, टालस्टाय, तुर्गनेव, चेखव, मैक्सिम गोर्की, बालज़क, मोपाँसा, गाई-डी० पियेरलोटी, डिकेंस, हार्डी, वेल्स, किप्लिग, शार्लेट यंट. ब्रांटी आदि ने युगान्तर उपस्थित कर दिया और इन्हीं के अनुकरण पर ,छोटी कहानियाँ अर्थात् 'शॉर्ट स्टोरी' लिखी जाने लगी।

सन् १९०० में 'सरस्वती' में किशोरीलाल गोस्वामी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'इन्दुमती' प्रकाशित हुई। किन्तु वह भी शेक्सपीयर के नाटक 'टेम्पेस्ट' के कथानक के आधार पर लिखी गई थी। इसके बाद अनेक रूपांतरित और अनूदित कहानियों के अलावा बंग-महिला की 'दुलाई वाली' मौलिक कहानी छपी, जिसे

आधुनिक कहानी का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। सन् १९११ में जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' कहानी 'इन्दु' में प्रकाशित हुई और इसके बाद काफ़ी संख्या में कहानियाँ छपने लगीं।

उन दिनों सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में जो कहानियाँ प्रकाशित होती थीं उनमें मौलिकता के चिह्न होते हुए भी प्रतिभा का विशेष चमत्कार और जीवन की मूल शाश्वत परिस्थितियों का द्वंद्व न था। अधिकांश कहानियाँ दैवी घटनाओं, प्रेमाख्यानक कथानकों और उपदेशात्मक चित्रण से भरी होती थीं। कहानी की टेकनीक भी विचित्र थी। वर्णनात्मक शैली में अस्वाभाविक रूप-कल्पना, जिसमें विचित्र मनोरंजक घटनाओं का संकोच-विस्तार और अजीब पेंचीदा गुत्थियाँ सुलझती चलती थी, पाठकों को चकाचौंध कर देती थी। उनसे वाह्य विश्व का संघात कोसों दूर था।

हिन्दी कथा-साहित्य में जब इस प्रकार की विशृंखलता और अराजकता-सी फैली थी तथा तत्कालीन उपन्यासकार और कहानी-लेखक वाह्य एवं अस्वाभाविक प्रसाधनों का प्रश्रय लेकर कल्पित, कृत्रिम और कौतूहलपूर्ण ऊटपटाँग किस्से-कहानियाँ गढ़ रहे थे उस समय प्रेमचन्द ही सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने कहानी और उपन्यास क्षेत्र में युग-प्रवर्त्तक का कार्य किया। मानव-जीवन के सार्वजनीन चित्र प्रस्तुत करते हुए उन्ही की नित्यप्रति की अनुभूतियाँ, उन्ही के चरित्र के विविध आकर्षक पहलू, साथ ही आदर्श-अनादर्श, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य के अन्तर्द्वन्द्व के बीच सद्वृत्तियों की विजय दिखाकर यथार्थ जीवन के तथ्यों का सत्यान्वेषण उनके कृतित्व में मिलता है। प्रेमचन्द की विशेषता है कथानक सामान्य होते हुए भी अपनी वर्णन-पटुता और रोचक शैली से उसे सजीव बना देना। वे उर्दू से हिन्दी में आए थे, अतएव उनकी भाषा में बेतकल्लुफ़ी, लोच और स्वाभाविकता है। व्यावहारिक और मुहावरेदार शैली ने उनकी भाषा में जान फूँक दी है। ग्रामीण जीवन के चित्रण में उनकी वृत्ति असाधारण रूप से रमी है। लगता है लेखक ने देहाती जीवन के विविध दृश्यांकन प्राणों के रस से सींचे हैं। 'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'निर्मला', 'गबन', 'कायाकल्प', 'गोदान', 'मंगलसूत्र' आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास और 'प्रेमद्वादशी', 'प्रेमपचीसी', 'प्रेमप्रसून', 'पंचफूल' 'कफ़न', 'सप्तसरोज', 'नवनिधि', 'प्रेरणा', 'मानसरोवर' आदि उनके कई कहानी-संग्रह हैं।

हिंदी में प्रेमचन्द जब से कहानी-साहित्य में अवतीर्ण हुए तभी से कहानी की धारा बदली। पाश्चात्य कहानियों के सदृश ही उन्होंने जीवन की यथार्थ, परोक्ष अभिव्यक्ति को कला में रूपायित किया और चेतना को व्यापक बना उसकी स्थायी भीतरी शक्तियों को पहचाना।

प्रेमचन्द की कहानियाँ महत्त्वपूर्ण जीवन-विश्लेषक चित्र हैं, जिनमें समाज के

बूर्जुआ ढाँचे के नीचे मध्यमवर्ग, निम्नवर्ग की द्वन्द्वात्मक जीवन-परिस्थितियों के छोटे-छोटे करुण दृश्य अंकित किये गए हे। बहुत ही मार्मिक, व्यंजक और हृदय को हिला देने वाले गरीबों, बेकसों, किसान और निर्धन जनता की आशा-आकांक्षाओं के डूबते-उतराते ये सजीव, सुन्दर दृश्यचित्र हैं जो पाठकों को मुग्ध कर लेते हैं।

प्रेमचन्द के कृतित्व में जो जीवन-सम्पर्क और सहानुभूति है, कल्पना की मनोरमता के साथ-साथ मानव-स्वभाव का सूक्ष्म विश्लेषण और वैचित्र्य है उसी के कारण वे उपन्यास-सम्राट् और आधुनिक हिन्दी कहानी के जन्मदाता कहे जाते हैं।

प्रेमचन्द के पश्चात् जयशंकर प्रसाद ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिंदी कथा-साहित्य को एक नवीन ओज और चेतना प्रदान की है। उनकी कहानियाँ सांस्कृतिक भावनाओं से युक्त मानवीय मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। कभी उनकी प्रतिभा इतिहास की गौरव-गरिमा में रम जाती है, कभी अतीत की रंगीनियाँ उन्हें आकृष्ट करती हैं और कभी जीवन का गम्भीरतम तथ्य कण-कण हो उनके सामने बिखर जाता है।

कथानक, टेकनीक, कला-शिल्प तीनों ही दृष्टियों से उनकी कहानियाँ उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। उनमें रंजनकारी कल्पना और अन्तस्साधना है, जो पाठकों को विस्मित कर देती है। प्रसाद बौद्ध-संस्कृति से प्रभावित हैं, साथ ही उनमें रहस्य-भावना और संश्लेषणात्मक बुद्धि भी है। कहानियों में एक संवेदनशील स्रष्टा और गम्भीर चिंतक के रूप में वे हमारे सामने आये हैं।

प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद के साथ विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और चन्द्रधर गुलेरी के नाम भी ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। गुलेरी जी ने केवल तीन कहानियाँ 'सुखमय जीवन', 'उसने कहा था' और 'बुद्ध का काँटा' लिखीं और अमर हो गये। 'उसने कहा था' कहानी इतनी प्रसिद्ध हुई कि सभी उत्कृष्ट कहानी-संग्रहों में उद्धृत की गई। उनकी भाषा सरल, स्पष्ट और मुहावरेदार है। बीच-बीच में पंजाबी और उर्दू शब्दों के सुन्दर सम्मिश्रण और सामंजस्य से वह सहज व्यंग्यात्मक हो गई हैं। उनकी निर्देशक शक्ति कलापूर्ण और कहानी कहने की प्रणाली निराली है। उनकी कहानियों में सामान्य जीवन के संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण और क्रम-विकास से अद्भुत सौंदर्य की सृष्टि होती है जो हिन्दी की कहानियों में बहुत कम मिलती है।

इनकी सुप्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' में एक छोटी सी सामान्य घटना को लेकर जो अन्तर्द्वन्द्व चलता है, कहानी के अन्त में उसका सम्पूर्ण चित्र सामने आ जाता है। उसके भाव-गुम्फों में संवेदना की गहरी कचोट, मानसिक संवेद्य तथ्यों से उभरी स्मृति-विस्मृति की अंतर्दशाओं का सूक्ष्म विश्लेषण, साथ ही कल्पना की परिष्कृति एवं अभिरुचि की पूर्ण समन्विति दृष्टिगत होती है। कहानी मर्म को छूती हुई अमिट रूप से मस्तिष्क पर छा जाती है।

कौशिक जी की कहानियाँ चरित्र प्रधान हैं। उनकी सर्वोत्तम कहानी 'ताई' में ताई के मन का अचानक परिवर्त्तन दिखाया गया है। इन्हीं के समकालीन कहानी-लेखकों में विश्वम्भरनाथ जिज्जा, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, चतुरसेन शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', श्री सुदर्शन, गोविन्दबल्लभ पन्त, राय कृष्ण-दास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी वातारणप्रधान व्याख्यात्मक कहानियाँ लिखी हैं।

श्री जिज्जा ने अनेक सुन्दर कहानियाँ लिखीं, पर विषम परिस्थितियों की चोट से उनकी प्रतिभा बीच में ही मुरझा कर रह गई। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की कहानियों पर बंगला गद्य-शैली का स्पष्ट प्रभाव है। कहानियाँ वर्णनात्मक होते हुए भी स्वानुभव और जीवन के सत्य से अनुप्राणित हैं। कुछ हास्यव्यंग मिश्रित, प्राणों की पुलक, आकर्षक सरलता और खास नाज़-अंदाज़ लिये हैं। चतुरसेन शास्त्री ने कहानियाँ अधिक परिमाण में लिखी हैं। विभिन्न मानव-मनोवृत्तियों, दृश्यों और समस्याओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उन्होंने बौद्धकालीन, मुग़लकालीन और राजस्थानी जीवन-चित्रों को साकार किया है। शाही हरम और रजवाड़ों के प्रच्छन्न दृश्य उनके कलम के जादू से जीते जागते पेश हुए। 'दुखवा मैं कासो कहूँ मोरी सजनी' आदि उनकी अनेक कहानियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हुईं। ज्वालादत्त शर्मा ने अपनी कहानियों में जीवन के सरल, मर्मस्पर्शी चित्र आँके हैं। श्री 'हृदयेश' और सुदर्शन की कहा-नियाँ स्फूर्तिप्रद और लाक्षणिक सौंदर्य से पूर्ण हैं। गोविन्द बल्लभ पंत, रायकृष्णदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने इस प्रकार की कथानक-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं जिनमें वातावरण का चित्रण और प्रसंगों की अवतारणा स्वाभाविक ढंग से होती है।

जासूसी और रहस्यपूर्ण कहानियों में गोपालराय गहमरी और दुर्गाप्रसाद खत्री द्वारा रचित कहानियाँ और हास्यरस-प्रधान में जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने अधिकांश प्रकृतवादी कहानियाँ लिखीं, जिनमें वेश्याओं, गुण्डों, विधवाओं आदि के चित्रण के कारण सुरुचि की रक्षा नहीं हो पाई। इनकी लिखने की शैली भी विशेष व्यंजक और उग्र है।

दूसरे खेवे के कहानीकारों में वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्रकुमार, आचार्य शिव-पूजन सहाय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, विनोदशंकर व्यास, राजेश्वर प्रसाद सिंह, जना-र्दनप्रसाद झा 'द्विज', मोहनलाल महतो 'वियोगी', वाचस्पति पाठक, दुर्गादास भास्कर, इलाचन्द्र जोशी, ऋषभचरण जैन और पृथ्वीनाथ शर्मा आदि विशेष प्रसिद्ध हुए।

जैनेन्द्रकुमार ने कथा-क्षेत्र में एक नूतन विश्लेषणात्मक पद्धति को लेकर प्रवेश किया, जिसमें विषय की गहराई में पैठकर उसके अन्तर्वाह्य को टटोलने की क्षमता थी। उनके सहयोग से कहानी अपेक्षाकृत चिंतन की प्रौढ़ता और सजग भीतरी चेतना की ओर उन्मुख हुई। इस ओर प्रेमचन्द को छोड़ कर समसामयिक कहानीकारों का ध्यान बहुत कम आकृष्ट हुआ था।

जैनेन्द्र में प्रखर बौद्धिकता के साथ-साथ मौलिक दृष्टिकोण और निष्पक्ष

दृष्टि-निक्षेप की कला है। एक साहसी निर्भीक कहानीकार के रूप में मिथ्या औपचारिक शिष्टाचार से हटकर उन्होंने मानव-जीवन को यथातथ्य परिस्थितियों में ढाल कर देखा है और कहानी में व्याख्यात्मक तत्वों को समाविष्ट कर उसका मार्ग प्रशस्त किया है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता है तथ्यान्वेषण और गम्भीर विवेचनात्मक चिन्तन। जीवन की जटिल गुत्थियों को बहुत सहज ढंग से उन्होंने कहानी में गूँथा और मानव-मन की अज्ञात एषणाएँ, उसके अभ्यन्तर में प्रतिपल उठते हुए विचारों, उद्वेगों और असामान्य चिन्तनाओं को नवीन मानवीय संदर्भों से परख कर बौद्धिक रूप दे दिया।

इसके विपरीत वृन्दावनलाल वर्मा की कथा-शैली में एक ऐसी सर्वग्राहिणी मनोरंजकता है जो पाठकों का ध्यान बरबस आकृष्ट करती हुई उनके भीतर संवेदना और सहानुभूति जगाती है। तार्किक असंभावनाओं को अपनाकर वाह्य परिवेशों के आलोड़न-विलोड़न से ऊपरी सतह को इतना फेनिल बना देना जिससे नीचे की गहराई ढक जाये अथवा अच्छे-बुरे, सत्-असत् जीवन-उपकरणों को मनोविज्ञान की कसौटी पर कस कर कथा-साहित्य में पर्यवसित करना इनका स्वभाव नही है, वरन् इन्होंने जीवन को सर्वांगीण रूप में अपनाया है, उसके सरल, सच्चे रूप की व्याख्या की है और बनावटी गम्भीरता से हटकर जीवन के वैविध्य में झाँका है।

इनकी भाषा और भाव सरल हैं। कारण—केवल शहरी कुंठाओं के दाँवपेंच तक ही वे सीमित न रहे, अपितु बुन्देलखंड और मध्यप्रदेश के पर्वत-पठार, नदी-नाले, झील-तालाब, मन्दिर-मठ, पेड़-पौधे, हरे-भरे जंगल, चरागाह और मैदान यहाँ तक कि मेले-उत्सव, नाच-गान और पर्व-त्योहार तक ने उन्हें लिखने की प्रेरणा दी। समय के साथ ज्यों-ज्यों उनका दृष्टिकोण विकसित होता गया, भारत की सामाजिक संस्कृति को समझने के लिए उन्हें इतिहास की गहराई में उतरना पड़ा। उनका प्रत्येक वर्णन, प्रत्येक दृश्यांकन हृदय का सहज उद्वेग है। पारिवारिक जीवन का विशद चित्रण, ग्रामीण स्त्री-पुरुषों, बच्चों-बूढ़ों का स्वभाव, रहन-सहन, बातचीत सभी कुछ स्वाभाविक ढंग से इनके उपन्यास और कहानियों में मिलते हैं। इतिहास के गौरवमय अतीत में झाँक कर देखने के कारण इन्होंने अपने अदम्य आत्म-विश्वास और प्रवाहमयी कल्पना से अनेक ऐतिहासिक घटनाओं को कथा-सूत्र में बाँध दिया है।

आचार्य शिवपूजन सहाय बिहार के प्रमुख कहानीकारों में हैं जिनमें मौलिक प्रतिभा और असाधारण सूझबूझ है। इन्होंने अपनी कहानियों में जीवन के सरल और परिष्कृत चित्र खींचे हैं। भाषा गम्भीर और संयत होती है। लिखने की शैली सुगठित, सुष्ठु और कलापूर्ण है। इन्होंने न केवल कथा-साहित्य की सर्जना की, वरन् अनेक लेखकों को प्रेरणा और प्रोत्साहन भी दिया।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियों में मार्मिक व्यंजना के साथ-साथ गम्भीर चिन्तन और भाव-प्रवणता है। जीवन की साधारण घटनाओं को अपनी सहज आत्मानुभूति से इन्होंने अधिकाधिक व्यावहारिक और रोचक बनाया है। भाषा सरल और

विषय के अनुरूप बदलती चलती है। विनोदशंकर व्यास ने अपनी छोटी-छोटी कहानियों में जीवन के विविध दृश्यों को कौशल से अंकित किया है। कथाएँ और कहानियों के वर्ण्य-विषय अनेक स्रोतों से संकलित किये गए हैं।

राजराजेश्वर प्रसाद सिंह की कहानियों में अनावश्यक विस्तार होता है, जिससे कहानी नीरस और असंतुलित हो जाती है। जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' की छोटी-छोटी कहानियाँ भावपूर्ण और सरस हैं। कविताओं में जो तल्लीनता और रस है वही कहानियों में फूट पड़ा है। अनेक कहानियों में इनका आलोचक का दृष्टिकोण है। जीवन के उषःकाल से बाद तक जो संस्कार इन्होंने अर्जित किये वे कहानियों में रम कर समय-समय पर प्रकट हुए। सामाजिक आचारों-अनाचारों की भर्त्सना भी यत्र-तत्र मिलती है। कवि होने के कारण मोहनलाल महतो 'वियोगी' की कहानियों में भी शील-वैचित्र्य और रस-विधान का अद्भुत सामंजस्य है। भाषा सरल, रोचक और प्रौढ़ है। कहानियों के वर्ण्य-विषय, दृश्य और चरित्रों में मानव-जीवन का सरल विवेचन मिलता है। सरलता, सहृदयता और मानवीयता के साथ-साथ इनकी कहानियों में हल्का आक्रोश, उद्वेग और स्वाभिमान भी है जो विचित्र अनूठापन लिये है। वाचस्पति पाठक और दुर्गादास भास्कर साधारणतः अच्छी कहानियाँ लिखते हैं। इनमें इलाचन्द्र जोशी कहानी-क्षेत्र में अपना एक निराला व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुए। मानव-मनोभावों में पैठकर वातावरण और परिपार्श्विक परिस्थितियों के सजीव चित्रण से कहानी को अनुप्राणित करने की कला में ये सिद्धहस्त हैं। ऋषभचरण जैन और पृथ्वीनाथ शर्मा ने सरल, व्यावहारिक भाषा में अनेक सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं।

सन् १९२८ से हिन्दी में कहानियों का कुछ ऐसा जोर बढ़ा कि अनेक कवियों का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सियारामशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पन्त, भगवतीचरण वर्मा आदि लब्धप्रतिष्ठ कवियों ने अनेक भावपूर्ण सरस कहानियाँ लिखीं। कुछ कहानीकार विभिन्न पाश्चात्य 'वादों' से प्रभावित हो नवीन दृष्टिकोणों को लेकर प्रकट हुए और उन्होंने कथा-साहित्य को स्फूर्ति और नवीन क्रांतिकारी चेतना प्रदान की। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, रांगेय राघव, विष्णु प्रभाकर, आनन्दप्रकाश जैन, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, मोहनसिंह सेंगर, नलिन विलोचन शर्मा, अनंत गोपाल शेवड़े, रावी, 'भिक्खु', 'निर्गुण', 'रेणु', आदि की कहानियों में एक गरिमामय द्वन्द्व है, जो मानसिक प्रक्रियाओं के मूक आदान-प्रदान द्वारा एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण उपस्थित करता है। कहीं-कहीं इनकी अभिव्यक्तियों में गहरी खीझ और कटुता है। सामाजिक संघर्षों की चोट ने उन्हें तीखा बना दिया है, जिससे परम्परागत संस्कारों एवं सामाजिक कुरीतियों पर उनके वर्णनों में कहीं-कहीं भीषण विद्रूप बज उठता है। ऐतिहासिक कहानियों की दिशा में आनन्दप्रकाश जैन ने विशेष सफलता प्राप्त की है।

स्त्री कहानी-लेखिकाओं में शिवरानी प्रेमचन्द, सुभद्राकुमारी चौहान, तेजरानी पाठक, उषादेवी मित्रा, होमवती, कमला चौधरी, कमला त्रिवेणी शंकर, चन्द्रावती

ऋषभसेन जैन, कंचनलता सब्बरवाल, कुँवरानी तारादेवी, रामेश्वरी 'चकोरी', हीरा-देवी चतुर्वेदी, कृष्णा सोवती, तारा पोतदार, विमला देवी, सत्यवती मलिक, तारा पांडेय, सुशीला आग़ा और चन्द्रकिरण सौनरिक्सा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभी कहानी-लेखिकाओं ने प्रायः पारिवारिक जीवन और हिन्दू-समाज में नारी की दारुण स्थिति का दिग्दर्शन कराया है। पुरुष की क्रूरता और स्वेच्छा भावना ने नारी को कुचला और रौंदा है। सुभद्राकुमारी चौहान की भाषा में ओज, स्फूर्ति और भावावेग है। उन्होंने जिन-जिन दृश्यों, घटनाओं का चित्रण किया उसकी पूरी झाँकी आँखों के समक्ष प्रस्तुत कर दी। 'सीधे साधे चित्र', 'बिखरे मोती' और 'उन्मादिनी' उनके महत्त्वपूर्ण कहानी संग्रह हैं। उषादेवी मित्रा, कमला चौधरी और तारा पांडेय ने अनेक व्यंजक, मर्म-स्पर्शी कहानियाँ लिखीं। नारी-सुलभ करुणा और वात्सल्य इनकी कहानियों में सर्वत्र मिलता है। होमवती जी ने अधिकतर सरल, व्यावहारिक प्रणाली अपनाई और सम्पर्क में आये चिर-परिचित व्यक्तियों की करुण कहानी, साधारण रोज़मर्रा के कार्यक्रम में घटने वाली घटनाएँ और सामान्य प्रसंग ही लिये हैं। नारियों में सदियों बाद सृजनाकांक्षा तो जागी, पर पुरुषो के प्रति घोर प्रतिक्रिया और आक्रोश के भाव ने उन्हें सर्वथा एकांगी बना दिया। फलतः उनके साहित्य में अन्तर्वाह्य का आलोड़न कम, गहरी खीझ और कटुता का भाव अधिक है। पुरुषों की उद्दाम स्वेच्छा भावना ने जो उन्हें सदा कुचला और रौंदा है, उससे वे उनके प्रति सन्तुलन, न्याय और निष्पक्षता नही बरत सकी हैं। अपनी अधिकांश कहानियों में उन्होंने नारी की विव-शता और समाज में उसकी दारुण स्थिति का तो दिग्दर्शन कराया, पर वे जीवन के उस गरिमामय द्वन्द्व को उस व्यापक दृष्टि से नहीं आँक सकीं जैसा कि विश्व साहित्य की नारियों के कृतित्व में देखा जाता है।

पर आज के संघर्षों ने कुछ नई लेखिकाओं--लीला अवस्थी, रजनी पन्निकर रत्नमयी दीक्षित, बसन्तप्रभा, रानी चूड़ावत, सोमा वीरा, मन्नू भंडारी, ऊषा प्रियंवदा, रत्नकुमारी, इन्दुमती, प्रेमलता दीप, शीला शर्मा, शकुन्तला शर्मा, शकुंतला सरन, रामे-श्वरी शर्मा आदि को इस ढंग से उकसाया है कि वे नई टेकनीक को लेकर अग्रसर हो रही हैं। पुरुष से बराबरी का दावा करने वाली बनकर निश्चय ही वे उस रफ्तारे बेढंगी में विश्वास नहीं कर सकतीं जो सच्चे अर्थों में उनकी स्वत्व-शालीनता पर कुठाराघात करे। अतएव कितनी ही सामयिक समस्याओं और ऊहापोहों ने उनके मूल तन्तुओं को हिला दिया और वे पारिवारिक परिधि से सामाजिक चेतना की ओर उन्मुख हुईं। घरू मोहजाल को विच्छिन्न करके उन्होंने मर्मस्पर्शी, व्यंजक चित्रों की अन्विति की। इन सभी लेखिकाओं में चन्द्रकिरण सौनरिक्सा में गहरी कचोट और ओजस्वी व्यंजना है। गृहस्थ की आस्तिकता को सूक्ष्म, कोमल भावजगत् तक सीमित न रख कर इन्होंने पार्थिव अस्तित्व की परिधि में बाँध दिया है। आज की कशमकश, विषम परिस्थितियाँ, जटिल समस्याएँ, भेदभाव, अनैक्य और दुःख-क्लेशों के कारण अशांत, उद्वेलित और असंतुष्ट मानव-जीवन का यथार्थ चित्रण इनकी कहानियों की विशेषता है। इन्होंने जीवन के

तल को स्पर्श किया है। कल्पित 'कैन्वस' पर असहाय जीवन और ह्रासोन्मुख समाज के आचार-अनाचार और दयनीय अवस्था के सजीव दृश्य कुशलता से आँके हैं।

ज्यों-ज्यों कथाकार की आंतरिक संवेदना उसके वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की शर्त बनती गई, उक्त परिवर्त्तन के प्रवाह में बहकर उसके कथ्य की निष्ठा नये ढंग से विकसित होती गई। कितने ही जटिल प्रश्नों की गहराई में घुसकर वह उनका समाधान ढूँढ़ने लगा। यहाँ तक कि निजी प्रवृत्तियों एवं परिवेश से परिचालित उसने नये-नये निष्कर्ष निकाले। परिस्थितियों की तिक्तता एवं तनावों ने न सिर्फ़ उसे बुद्धिजीवी एवं विद्रोही बनाया, बल्कि हिमाकत और हठधर्मी भी उसमें हद दर्जे की बढ़ती गई। कोई फ्रायडीय तो कोई अन्तश्चेतनावादी, कोई प्रगतिशील या यथार्थोन्मुख अतिशयता का क़ायल तो कोई प्रयोगों की वहक में निरपेक्ष स्वतन्त्रता बरतनेवाला —चाहे जैसे भी हो—नई पीढ़ी के नये कहानीकारों ने मानवीय विकासबोध की नई उपलब्धियों को नई अर्थवत्ता में ग्रहण किया—यों इस द्वन्द्वमयी क़शमक़श में 'इनडिविडुएल सेन्स' अर्थात अहम्मन्यता ही उसमें अधिक जगी। राजेन्द्र यादव, कर्तार सिंह दुग्गल, परदेशी, पहाड़ी, मार्कण्डेय, जनार्दन मुक्तिदूत, कमलेश्वर, हर्षनाथ, सर्वेश्वर दयाल, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, निर्मल वर्मा, सत्येन्द्र शरत्, अमरकान्त, शेखर जोशी, रघुवीर सहाय, मलयज, रामस्वरूप शर्मा, उदित साहु, रणधीर सिनहा, नरेश आदि अभिनव प्रवृत्ति के कतिपय कहानी-लेखक सर्वथा नये निर्माण का आग्रह लिये हे, जबकि प्रगतिवादी कथाधारा के अन्तर्गत अमृतराय, अमृतलाल नागर, कृष्णचन्द्र, नागर्जुन, प्रभाकर माचवे, नरोत्तम नागर, हसराज 'रहवर', भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त, केशवप्रसाद मिश्र, मेहन्दी रजा आदि ने जनजीवन के व्यापक द्वन्द्व-संघर्ष को चित्रित करने के प्रयत्न किये, पर उनके मूल्यांकन व सामाजिक आदर्शों के विधान से बहुत लोग सहमत न हो सके। फिर भी पाश्चात्य कथा-साहित्य की विविध शैलियाँ जैसे पत्र कथा, लघु कथा, डायरी, रिपोर्ताज, स्केच, हास्य-व्यंग्यात्मक कहानीकिस्सों ने उसका पथ प्रशस्त किया।

शनैः-शनैः कहानी काफ़ी विकसित स्थिति में पहुँच गई है। उसकी टेकनीक में भी अपेक्षाकृत आकाश-पाताल का अन्तर हुआ है। कहानी की कथन-पद्धति में पहले का-सा ऊबभरा शैथिल्य नहीं है, वरन् विषय-चयन में नूतनता और वैविध्य पाया जाता है। कहानियों में अनेक नूतन प्रयोग किये गए हैं। नई-नई समस्याएँ और नये-नये आदर्श उनमें साकार हो उठे हैं और उनका उद्देश्य एकांगी एवं एकदेशीय न होकर बहुमुखी हो गया है। यथार्थ जीवन के चित्रण के साथ-साथ मन के गूढ़तम प्रच्छन्न स्तरों, मानव-चरित्र के विभिन्न पहलुओं, उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसे द्वैत, उलझाव, विसंगतियाँ जो उनसे कराती कुछ और कहलाती कुछ हैं, असामान्य चिंतनाओं, आन्तरिक ऊहापोहों और अज्ञात अन्तर्व्यापारों में भी झाँकने का प्रयास किया गया है।

आज की कहानी सस्ते रोमांस से हट कर मनोवैज्ञानिक बारीकियों पर आ टिकी है। प्रतिदिन की बेतरतीब उलझनें, हमारी जीवन-यापन की अविरत अस्थिरता,

परेशानी, व्यस्तता और हाहाकार तथा मानवीय भावनाओं की मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या कथा-साहित्य की जीवन्त शक्तियों को अधिकाधिक उद्बुद्ध कर रही है जिससे अब तक की त्रस्त मनःस्थिति और परम्परागत संस्कार, मानसिक और बौद्धिक मंथन, कसक और बेचैनी, उलझन और ग़लतफ़हमियाँ सच्ची जागृति के मूल में—एक व्यापक स्तर पर—जागरूकता और दृष्टि की पैठ उकसा रहे हैं और संकुचित प्रवृत्तियाँ दबाकर जीवन के हर कोण और पहलू पर गौर करके उसकी निर्माण-प्रक्रिया का दायरा विस्तृत कर विश्व-साहित्य से होड़ ले सकने वाली लोकोत्तर सृजन की शक्ति जगा रहे हैं।

४

नई औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ

हिन्दी उपन्यास इधर पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति के साथ कई मंजिलों से गुज़रा है, किन्तु कतिपय ह्रासोन्मुखी धाराएँ जो नवीनतम या अत्याधुनिक कला-टकनीक का रूप धर कर हमारे बीच जोर पकड़ती जा रही हे उससे कितने ही नये बेबुनियादी पहलू—एक नई अनोखी ताज़गी और ताक़त के साथ—अजीबोग़रीब ढंग से पेश किये जा रहे हैं। इनका मूल्य और सर्वप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है, क्योंकि आज के रचना-शिल्प और भाववस्तु के काल्पनिक उपादान जिन मानसिक प्रक्रियाओं के दुर्विलास की ओर आकर्षित हैं उनके उत्स्फूर्त प्रसंगों के वैविध्य में 'ग़ैरवाजिब' नाम की कोई चीज़ नही। छायावादोत्तर काल के दशकों की गहराई की थाह लेते हुए जो सम्पर्क या विचार हमारे सामने आए, वे किसी निश्चित जीवन-दर्शन के दायरे में बन्दी नहीं, यों शैलीगत वैशिष्ट्य के अंतर्गत एकदम निजी और वैयक्तिक प्रयोग ही प्रायः मौजूदा उपन्यासों की कसौटी बन गए हे।

ज्यों-ज्यों परम्परानुमोदित मान्यताएँ एक झटके के साथ अस्वीकारी जा रही हैं, एक नये वस्तुतत्त्व, एक नवीन जीवन-दर्शन और एक बीरानी सी अनपेक्षित सामाजिकता उपन्यास के रूप और शिल्प, भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों पर हावी होती जा रही है। ऐसी स्थिति में वे पुरानी कसौटियाँ, जिन पर हमें नाज़ है, कही की कहीं पिछड़ कर दूर जा पड़ी हैं।

तो कहें कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, काल्पनिक वर्ग-संघर्ष की गुत्थियाँ अथवा वाद-विवादों के बवंडर ने उपन्यास को आधुनिकता की ऐसी जकड़बन्दी में कसा है कि जिससे उपन्यासकार के कल्पना-जगत् में एक से एक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हे और इस कारण उसकी कोई एक ख़ास दिशा निर्दिष्ट नही हो पाती।

चूँकि समूचा उपन्यास लेखक की कल्पना से ही सिरजा जाता है, अतएव भिन्न-भिन्न प्रसंगों, घटनाओं और पात्रों की सृष्टि इतनी यथार्थ और नैसर्गिक होनी चाहिए कि वह पढ़ने वाले को बिल्कुल सच्ची और विश्वसनीय लगने लगे। दिल पर वे ऐसे अक्स हो जायें कि जीते-जागते व्यक्तियों की भाँति ही हम उनसे सलूक करें। जैसा चरित्र हो वैसा ही उससे तादात्म्य स्थापित हो जाएं, उनकी जीवन समस्याएँ हमारी हों और उनकी यथार्थता हमारे जीवन की यथार्थता बन जाए अथवा

नितान्त विश्वसनीय बनकर हमारे दिलोदिमाग़ पर अपनी अमिट रेखाएँ आँक जाएँ। संघटनात्मक तत्त्वों के योग से परिस्थितिगत और परिवेशगत उत्थान-पतनों के निदर्शन के साथ-साथ उपन्यास में यदि निम्न बातों का ध्यान रखा जाए, यथा—

१. किसी पक्ष में अतिरेक की गुंजाइश न हो।

२. नूतन इकाई पर टिक कर अराजकता और अंतर्विरोध की भ्रान्ति में न पड़ें।

३. जीवन कितना बड़ा है, पर देखना है कि उसमें केन्द्रित संवेदनात्मक उपलब्धियाँ या संश्लेषण के तत्त्व कहाँ तक विकसित हुए ?

४. भले ही सीधे, समतल पथ के बदले विसंगतियों से गुज़रकर विरोधी तत्त्वों के समन्वय के लिए विकास का विषम पथ अपनाना पड़े, किन्तु विशाल नूतन क्षितिज के अंतर्गत इस प्रतिक्रिया का एक अटूट और सम्पुष्ट क्रम तो चलता रहना ही चाहिए।

५. पूर्वागत के पाश से मुक्ति का अर्थ है नई अनखोजी दिशाओं में किसी विशिष्ट विचारणा या खोज का अभियान, अन्यथा मौलिक प्रदेय से रहित के क्या मानी हो सकते हैं ?

६. उत्साह की उद्वेलित तरंग से या जीवन्त बौद्धिक सहानुभूति से प्रेरित होकर भव्य एकान्वय की ओर गति हो तो व्यापक मूल्य-चेतना के अंतर्गत वैयक्तिक मूल्यों की संस्थिति क्या है, कौन से उपादान या साधन-सूत्र हैं और कहाँ से वे उभरते हैं तथा किस माध्यम से उन्हें ग्रहण किया जाता है। लेखक चूँकि एक स्वयम्भू सत्ता है, अतएव उसकी कृति अर्थात् उसके द्वारा रचित उपन्यास कहाँ तक पूर्ण इकाई बन सका है और उसकी विभिन्न व्यष्टियाँ सापेक्षिक और क्योंकर एक दूसरे की पूरक बन पड़ी हैं ? लेखक की सबसे बड़ी लाक्षणिक विशेषता यह है कि जीवन और जगत् के सत्य को अपने मोहमुक्त स्वानुभूत मौलिक चिंतन द्वारा उपलब्ध करे, क्योंकि गतिमान जीवन में कितने ही उतार-चढ़ाव आते रहते हैं, क्षण-क्षण, पल-पल उसका कुछ बदलता रहता है, लेकिन वह एक तरह से नित्य-सनातन की ही मनोवैज्ञानिक पुनरावृत्ति है।

तो इस अनुभूत साक्षात्कार को सीखने-समझने की भी एक प्रक्रिया है अर्थात् समझकर हृदयंगम करने की एक ऐसी अपराजेय जिज्ञासा जो हर नुक़्ते पर नज़र रख कर उसकी तह तक पहुँच जाय, और उसके तीव्रतम कशाघातों को महसूस करे। अंत में इस अबाध प्रक्रिया को बरतते-बरतते जब अचानक अंधकार फट जाता है तो आर-पार मुक्त प्रकाश में बहुत कुछ नज़र आता है। जीवन-समग्र के भीतर-भले ही खण्ड रूप में उसे लिया जाय—कोई भी दुःख-दर्द, समस्या, आशंकाएँ या संघर्ष हो तो वह उसका उचित आकलन करे और सम्पूर्ण सत्य के प्रकाश में देखे। मेरी सम्मति में लेखक का ऐसा सूक्ष्म निरीक्षण और असाधारण मनोवैज्ञानिक अंकन ही कारगर हो सकता है।

कहने का अभिप्राय है कि उपन्यास में जो चीज़ जिस ढंग से सामने रखी जाए उसे वैसा ही ग्रहण कर लिया जाय– तब बात है, क्योंकि किसी उपन्यास की कल्पना आख्यान मात्र नहीं, वरन् एक ऐसा यथार्थ है जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। यह एक ऐसा सच्चा अनुभव है जो विश्लेषणात्मक युक्तियों से और भी गहराई से समझा जा सकता है। उपन्यास भले ही कल्पना हो या किसी व्यक्ति-विशेष की सहज प्रवृत्तियों की प्रेरणा से लिखा गया कथाख्यान, कुछ की नज़रों में वह मानसिक ऐय्याशी अथवा विश्राम के क्षणों की काल्पनिक सृष्टि भी हो सकती है, मगर उसकी अपनी एक निराली दुनिया है जो अपने ही कार्य-कारण के पारस्परिक संदर्भों और नियम-उपनियमों से परिचालित होती है। उसके कर्मप्रसार में अनेक वृत्तियों का निदर्शन और तत्सम्बन्धी वस्तुओं का आभ्यंतर और वाह्य प्रत्यक्ष साकार हो उठता है जिसमें केवल यही अन्तर है कि वास्तविक जीवन में मनुष्य के संकल्प और विकल्प का हाथ रहता है, परन्तु औपन्यासिक संस्कृति की निजी मौलिकता में सृष्ट पात्र ही नाना विधियों से, वाणी-कर्म द्वारा, संघर्ष रूप जीवन के अधिष्ठाता हैं। उनका जीवन परिवृत्त ही नहीं, बल्कि पूर्वनिश्चित् और नियंत्रित भी है और उनकी अपनी विवशतापूर्ण सीमाएँ भी होती हैं।

अनुभूतियों और वृत्तियों की अनुरूपता के कारण उक्त अनुभूतियों से प्राप्त सत्यों और निष्कर्षों का वाहक भी हम उसे कह सकते हैं। साहित्य की लिखित विधाओं के अनुसार उसके अनेक भेद हैं, कितने ही रूप और प्रकार है जिनमें जीवन चित्रों और भाव-क्षितिजों की गतिमयता में बँधा उपन्यासकार अपनी निष्ठा और आत्मविश्वास को उद्भासित करता है।

पर उपन्यास का दृष्टिकोण आज कितना बदल गया है। वह पहले की तरह एकदम कुतूहल की कुंजी अथवा रहस्यमय तिलस्मी अजूबा नहीं है और न ही नूतन संस्कार एवं प्रभावान्विति की दृष्टि से रंग-रेखाओं के हल्के-फुल्के 'स्ट्रोक्स' या इधर-उधर तुक भिड़ा देने से ही काम चलता है। इसके विपरीत हर घटना, क्रिया, भाव, प्रसंग, वर्ण्य विषय और विभिन्न व्यौरों की गतिमयता के शाश्वत क्रम में, सामाजिक जागरूकता के धरातल पर, प्रगति के नये चरण-चिन्हों का अनुसरण करते हुए कुछ ऐसे बदले हुए अनुबन्ध और माध्यम खोजने पड़ते हैं जो उसके मौलिक आदर्शों और सिद्धान्तों के वाहक बन सकें।

आजकल भिन्न-भिन्न वर्ग के जीवन-दृश्य नये वातावरण और नई परिस्थितियों के साथ संश्लिष्ट करके आँके जा रहे हैं। मुख्यत: फ्रायडीय और कम्युनिस्ट–इन दोनों का दांभिक कर्मवाद अभिनव प्रतीकों और शब्दचित्रों में उभर कर सामने आ रहा है। पहले में अपने को स्वयं की परिधि में पूर्ण समझनेवाला, एकान्त और वैयक्तिक विचारों का मर्ज़ है अर्थात् दूसरे शब्दों में कामुकता का अवरोध, घुटन और कुंठाओं का दारुण परिणाम भी कहा जा सकता है, जबकि दूसरे में घृणित शोषक वर्ग के ऊपरी मुलम्मे और भीतरी खोखलेपन की झाँकी मिलती है, साथ ही शोषितों की मजबूरी के

रोमांचक नज़ारे भी पेश कियें जाते हैं। पहला 'सुपीरियरिटी काम्प्लेक्स' से पीड़ित है और दूसरा 'इनफीरियरिटी काम्प्लेक्स' से। दोनों का नैतिक पतन धड़ल्ले से दर्शाया जाता है—शोषक वर्ग का इसलिए कि उनकी उत्कट विलासिता और भोगवृत्ति का पर्दाफ़ाश किया जा सके, शोषित-प्रताड़ितों का इसलिए कि निर्धनता और बेबसी की उन्हें कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है।

फ़ायडीय चित्रण मे एक बिखरे हुए आकर्षण का वैशिष्ट्य है, पर संयत सुखोपभोग के उस बिन्दु तक नहीं जहाँ सुषुप्ति और चेतना, वाह्य और अन्तर्मन, उल्लास और आहें, हास और अश्रु घुलमिल कर एक हो जाते हैं। इसके विपरीत कामजन्य आवेग के शोले से भड़क कर अपने उद्दाम प्रसार और उत्तेजना से जो उभारते हैं वह हैं तेज दहकते साँस, सीने का दर्द और एक उमड़ता, अमर्यादित व्याकुल ज्वार। जीवन का एक-एक प्रसंग, एक-एक पल, एक-एक अनुभूति स्वच्छन्द और अनुशासनहीन काम-आवेगों का स्फुरण मात्र है जो दमित कुंठाओं से उपजी आत्मभर्त्सना की अतिरंजित संवेदनाएँ जगाता है।

'दमित कुंठा' के अर्थ में आज बहुमुखी विस्तार है जो अधिकाधिक नैतिक यान्त्रिकता में विकसित होती जा रही है। स्वप्न-जगत् के भावनात्मक पक्ष को उसके स्थूल भौतिक पक्ष से अधिक तूल देकर आज के मानव ने अपनी क्षुधाओं से नियंत्रण हटा दिया है, क्योंकि उसकी दृष्टि में आचार-बंधन की सीमाएँ कोई मानी नहीं रखतीं। वे कृत्रिम हैं और मौजूदा सभ्यता में उनके व्यावहारिक पहलू नगण्य हैं। 'प्रणय' तो परम्परागत है, परन्तु उसका नव्यतम रूप बौद्धिक मूल्यों की अधिकाधिक प्रतिष्ठा के साथ मनोग्रस्त होता जा रहा है और उसको प्रमाणित करने के लिए फ़ायडीय दर्शन में उनसे यथेष्ट आधार भी मिल गया है।

फलतः लेखकों का मनोविश्लेषणवादी कुण्ठाग्रस्त वर्ग मन के सपनों में डूबी एक अजीब सी क़शिश और रहस्यमयता का पर्दाफ़ाश करने या ऐकन्तिक ऊहापोह के समाधान में लगा है तो सर्वहारा वर्ग इसका सारा दोष समाज के मत्थे मढ़कर मध्यवर्गीय संस्कारों से सिरजी अनपेक्षित आकांक्षाओं और नग्न कामुकता के दहकते अंगारों की एक बेहद तीखी और गहरी दहशत पर किसी ख़ामोश बेबस प्यार के शबनम की बूँदे छिटकाने में मजा ले रहा है। पहला वर्ग नैतिकता को नया मनोवैज्ञानिक आधार देना चाहता है तो दूसरा वर्ग इस नये मनोविज्ञान पर स्वनिर्मित नैतिकता को आरोपित करने में लगा है। इसका परिणाम है कि प्रेम के तौर-तरीक़े और ढंग बहुत कुछ बदल गए हैं। उसकी गहन गम्भीरता बाहर के उथलेपन को नहीं ढकती, वरन् अपनी निषिद्ध जड़ता में भटके हुए उच्छृंखल मन को समो सी लेती है। अंतर्गत सत्ता का आत्मार्पण जो प्रेम में इतना सुस्थिर, लीन और एकीभूत होता है और अपनी निस्सीमता में आविष्ट कर लेता है, वह निम्नतर तत्त्वों से उपजी आसक्तियाँ, उद्वेग अथवा वर्जित इच्छाओं के निदर्शन और आज की नियंत्रणहीनता में अधिकाधिक प्रश्रय पाकर उस उद्धत आचरण या लेखक के निजी 'अहं' अथवा एक

ऐसी बँधी-बँधाई रूढ़ विचारधारा पर आ टिका है जिसे न मन जानता है और न जिसकी चेष्टाओं एवं भंगिमाओं के आधार ही समझ पड़ते हे।

मौजूदा उपन्यासों में बहुमुखी चरित्र-सृष्टि तो है, पर भारतीय आचार के अनुरूप शील एवं संस्कार नही, दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि चारित्र्य-शुद्धि नहीं। सभ्य बर्बरता की इस नई बेला में कथाकार का सचेत मन किनारे की मिट्टी में अतीन्द्रिय अनुभूति के गढ़े तो खोदता है, पर उसमें भीतरी आलोक-रश्मियाँ नही बिखेरता। दरअसल, सद्-असद् एवं असम्पूर्ण इच्छाओं की विचारात्मक प्रतिक्रिया ऐसे अतीन्द्रिय अनुभवों का समवाय ही तो है—यथा मन में विचित्र प्रश्नों का उद्वेग, विभिन्न जीवन-समस्याओं की उत्पत्ति तथा कितने ही प्रकार के मनोद्वन्द्व। ये ही वे दुःस्वप्न हैं जो बहुत गहरी, प्रच्छन्न पर्त्तों के नीचे छुपे पड़े रहते हैं और अवसर पाकर विकृत रूप मे उभर आते हैं। फलस्वरूप उनके द्वारा सृष्ट चरित्र एक ऐसे धरातल पर उतर आते हैं कि जिनका शिल्प-विधान अन्तर्मथन, विभीषिका और भावात्मक संघर्षों पर टिका है और यों उनमें मुख्यतः घुटन और असुखद तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। चरित्रों के माध्यम से उनके स्वयं के वैयक्तिक जीवन के खंडों का तो उद्घाटन होता ही है, घोरतर प्रतिक्रियास्वरूप उनकी उलझी और जटिल संवेदनाएँ ऐसे-ऐसे 'पैटर्न' उभारते हैं जिससे लगता है कि जैसे चरित्रों का ढाँचा सर्वथा बिखर गया है।

किसी भी चरित्र का मूल्य नीति-अनीति की कसौटी पर निश्चित करना शक्य नही, किन्तु नित-नई कुंठाओं, वर्जनाओं, व्यंग-विद्रूपों ने बढ़ती हुई [illegible] और यन्त्रीकरण से उद्बुद्ध निर्बन्ध कल्पना को इतना अधिक उकसाया है कि वह मानसिक असंतुलन और उलझनों के साथ सामंजस्य स्थापित नही कर पा रही है। नितान्त बौद्धिक तत्त्वों से कथाकार का लगाव उसे ऐसे-ऐसे असंतुलित तत्त्वों की ओर ठेल रहा है जहाँ कोरे अर्थ की सत्ता अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके विपरीत प्राचीन आचार-मर्यादाएँ एवं रूढ़ियाँ मात्र 'फार्म' के रूप में उभर कर चरित्र के मूल तत्त्वों को बरबस ग्रस रही हे। भोग विषयक आसक्ति जब अनायास अतृप्तिमूलक होकर उभरती है तो असंगत वैपरीत्य की सृष्टि होती है—मसलन आज के उपन्यासों में कुछ ऐसे नकारात्मक चरित्र उभारे जा रहे हे जिससे हमारी भौंडी सौन्दर्य-रुचियों की निष्प्राण, निर्मम जड़ता का प्रशमन होता है। मोहब्बत से जख़्मी चेहरे को कोई अपने आँखों के ग़म में पाल रहा है तो किसी के जज़बाती सपनों में कोई चूनरी उड़ती, कजलायी पलकों में बेबसी झाँकती, क्षीण कटि लचकती, दूध सी सफ़ेद कलाइयों में चूड़ियाँ खनकती, ओठों की मिठास, गुलाबी कपोलों की लालिमा, मदमस्त मुस्कान और नारी की समस्त लज्जा समेटे जब कोई सुन्दरी बम्बई जैसे महानगर में—विशेषकर बिजली की बत्तियों की कृत्रिम रोशनी में झलमल-झलमल, इठलाने-मचलते वातावरण में सारी-सारी रात जागती रहती है, जब उसके पेट की भूख उसकी आँखों में भर

और उसके रंगीन सपनों में बुझी हुई राख मल दी जाती है, जबकि उसके कुँवारेपन के सदियों पुराने नक़्श नई शक्लें अख़्तियार करते हैं। जीवन का सौदा पटाती उसकी अस्मत—रात की घनता में और भी शून्य एवं भयावह—सिसकियाँ,भर-भर कर रोती है और पाठकों के दिल दहला देती है। यों आज के कुछ रूमानी मनचले उपन्यासों मे स्त्रीत्व को इतना गर्हित, इतना वर्ज्य दर्शाया जाता है—जैसे ये पात्र नारी की सहज गरिमा या शील-संस्कृति के लिए नहीं, बल्कि फूलों जैसी हल्की-फुल्की महकभरी हवा मे रंगीन तितली के पंखों पर बैठकर उड़ने के लिए सिरजे गये हों। आज की 'आधुनिका' के अंग-प्रत्यंग किस तरह तराशे जाते हैं, उसकी आँखों में कितनी लम्बी लकीरें आँकी जाती है और कौनसा लिबास उसे उढ़ाया जाता है। ऐसा लिबास जहाँ किसी का झीना दुपट्टा उड़ रहा होता है और यह झीना दुपट्टा हवा में उड़ती उसकी जुल्फ़ों के साथ नाजुक खूबसूरत उँगलियों से थामने के बावजूद भी उसके कन्धों से बार-बार खिसक जाता है। कपोलों की लालिमा, नयनों की खुमारी का मादक नशा, काली भौंहें और उन पर आँजा गया सुरमा, स्निग्ध सुन्दर स्मित फैलाते ओष्ठद्वय और तिस पर उनके उच्छृंखल हाव-भाव, कार्य-कलाप और विलास-मयी प्रवृत्तियों का खुला चित्रण, साथ ही इन सबको शह देती मदमस्त जवानी की परिमल जैसी सुर्खी न केवल उनकी सौन्दर्य-दीप्ति को नग्न रूप में उभाड़ती है, वरन् नौजवानों से लेकर प्रौढ़ों एवं वृद्धों तक की आँखों मे कौंध पैदा करती है। इसके विपरीत अधिकांश पुरुष पात्र भी पार्टियों, क्लबों, रेस्त्राँओं या सडक के चौराहों पर घूमनेवाले वे 'चैप' हैं जो बावजूद कालेज की दोस्ती और थोड़ी-सी हेलमेल बढ़ जाने पर फुटपाथ या रेशमी पर्दो से सजे ड्राइंग रूम में किसी लड़की से मिल जाते हैं जो बातों ही बातों में इस क़दर तन्मय और सुधबुध खोकर अपलक मौन एक दूसरे को एक दूसरे की नज़रों में तौलते रहते है और जब वह नटखट आँखों से कुहनी मेज पर टिकाये अनमनी और अलसायी भ्रम, कौतूहल, शोखी, शरारत, जिद् और आक्रोश के उतरते-चढ़ते भावों को लिए उसकी कभी न खत्म होने वाली बातों को सुनती रहती है, सुनती रहती है। ऐसे लोग न सिर्फ चाय और नाश्ते की गपशप व कह-कहों के बीच हर बौद्धिक हलचल के प्रति दिलचस्पी रखते है वरन् नीति-कूटनीति और प्रत्यक्ष-परोक्ष की सापेक्षता आदि गहन विषयों से लेकर क्रिकेट-फुटबाल, रेडियो सीलोन व सिनेमा जगत्, एटीकेट, कल्चर व मैनर्स पर कोई 'रिमार्क' अथवा किसी बुक-रिव्यू एवं विज्ञापनो की कतरनों के आधार पर चाँद-सूरज और सितारों के बृहदाकार पिंडों तक पहुँचने की हिमाक़त रखते है। कोई फिल्मी गीत या किसी रोमांटिक कवि की कविता गुनगुनाते ये जीवन के सुनहरे सपने देखते है और 'जीनियस' बनने के नुस्खे इनके पास इतने सस्ते हैं जो परस्पर के शंका-समाधान या अदृश्य व्यवधान को एक झटके में तोड़ते है और जिनका हर लहमा सीने में दर्द जगाता व दिल को बेचैन बनाये रखता है। वे निहायत ही इकतरफ़ा व्यक्तित्व लिये अनेकानेक मनोवृत्तियों और कुत्साओं को समेटे, हवाई और छिछले, प्रतिक्रियावादी

और अजीबोग़रीब राय रखनेवाले, कितनी ही पसन्दगी-नापसन्दगी, चि-कुरुचि, पक्ष-विपक्ष और कृत्रिम शालीनता व सभ्यता की खोल ओढ़े हुए जीवन से बेखबर आज की कुंठाओं के शिकार हैं। फ्रायड, एडलर और युंग के मतवादों पर कोई न कोई 'काम्प्लैक्स' आरोपित कर इन्हें निम्न से निम्न स्तर पर उतरने का अवसर रहता है।

मौजूदा कथाकारों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—पहले तो वे जो प्राचीन परम्पराओं का निर्वाह करते हुए केवल सद् को ही स्वीकारते हैं अर्थात् जीवन का उज्ज्वल, स्वस्थ और जीवन्त पक्ष ही जिन्हें ग्राह्य है। दूसरे वे जो जीवन के अच्छे-बुरे, श्लील-अश्लील सभी में सामंजस्य तो खोजते हैं, पर अन्ततः सद् को ही महत्त्व देते हैं। तीसरी श्रेणी में वे आते हैं जिनकी दृष्टि केवल असद् पर ही टिकती है अर्थात् इस कोटि के कथाकार मानव की पाशविक वृत्तियों का नग्न और भयावह प्रदर्शन, साथ ही अनैतिक दुर्गुणों, घृणोत्पादक वर्जनाओं और ऐसे गर्हित मनोविज्ञान का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं जो हर प्रकार से एकांगी, अतिवादी और गुमराह करने वाला होता है। उनमें आचार-नियमों का कोई नियन्त्रण नहीं होता, फलतः आज का अधिकांश पाठक वर्ग भी ऐसा तैयार हो रहा है जिन्हे अश्लीलता और कुत्साओं मे ही महान् कला के दर्शन होतें हैं।

प्रेम की मूल भावना या प्रेम के स्रोत व उत्स भी पहले से बहुत कुछ भिन्न हैं। स्त्री-पुरुष की एकात्म्य-स्थापना का जो सहज [illegible] सम्बन्ध है वह मौजूदा मनोविज्ञान में संवेगों की परिभाषानुसार उनके परस्पर प्रणय के स्वरूप का निर्धारण सर्वथा नये ढंग से पेश करता है। असम्भाव्य कल्पना के आधार पर वह एक ऐसी अनहोनी इकाई बन गया है, अचेतन की अबूझ प्रक्रियाओं का एक ऐसा तनाव अथवा मानसिक द्वन्द्वों का एक ऐसा विघटन जिसके ओर-छोर का कोई मापदण्ड नही और न ही जिसके सर्वांग का कोई चित्र आँका जा सकता हैं। कारण—लेखक के मन की शतखण्ड अहंता ही इस तरह के छिछले प्रेम को पैदा करती है, अतएव भ्रामक धारणाओं और भौंडी कल्पनाओं के सहारे यह अहंजात दम्भ की दहक ही उनकी विकासमान शिल्प-साधना को भस्म कर रही है। इसके विपरीत यथार्थवादियों में दैनन्दिन जीवन की निर्विशेष संघर्षमूलकता से टकराकर इसी अहं ने चीत्कार उत्पन्न किया है। इस त्रस्त युग में पैशाचिक नंगे नाच की कोई सीमा नहीं है, ग़रीब बेक़स की जैसे हर उमंग पिस रही है। हर अरमान लाचारी बन कर वाष्प उगलती है और आँधियों, तूफ़ानों और जलजलों का ऐसा समुन्दर सा उमड़ रहा है कि लगता है—मानव-चेतना का तो विस्तार हुआ है, परन्तु उसके जड़ तत्त्व अर्थात् 'पशुता' अभी ज्यों की त्यों विद्यमान है। कहना न होगा कि नई औपन्यासिक भावभूमि पर अंतश्चेतनात्मक के अर्थ में मनोवैज्ञानिक सत्य बहुत कुछ रूढ़ हो गया है। परम्परावादियों ने उसे जैसा ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप में लिया, यथार्थवादियों की रूमानी प्रतिक्रिया की धकापेल उससे भी अधिक एक ऐसे अनुदार नियत्रण की पराकाष्ठा तक पहुँच गई कि जहाँ कुछ भी वर्जित या अवर्ण्य नहीं। स्पष्ट है कि वर्ग

विशेष के जीवन की यह अवसादपूर्ण भ्रांति या झूठे समझौतों की अनुगूँज एक अवास्तविक प्रत्याभास मात्र है। उसमें सार्वजनीन आशय, स्वस्थ रोमांस और युगीन दायित्व नहीं है बल्कि पेचीदा या उलझी संवेदनाओं को उकसाने वाली ऐसी सतही मनोवृत्ति है जो देहगत स्वभाव और सामाजिक व्यवस्थाओं में भारी विषमता के आयाम पर टिकी लैंगिक अपरिपक्वावस्था में ही किसी क्रमिक प्रक्रिया द्वारा नहीं बल्कि अकस्मात्—रूमानी क्षण में—घृणित कामजन्य उद्वेगों का अनधिकार प्रवेश कराती है जिसकी झूमती मुर्दा छायाओं में गहरे अर्थ तो खोये हुए लगते हैं, पर अर्थहीन, छिछले, बेजान चित्र अधिकाधिक उभरते हैं।

तो क्या आज के साहित्य का 'व्यापक सत्य' हमारी वे परिस्थितियाँ और नित-नई समस्याएँ नहीं बनती जा रही हैं, जिसने हमारे विचार और भावनाओं को अपने पाश मे जकड़ लिया है और जिसकी वजह से सृजन-कल्पना आसानी से उस ऊँचाई को नहीं पहुँच पाती जहाँ श्रेष्ठता के प्रतिमानों को कोई मेधावी कलाकार ही यदा-कदा छू पाता है ?

इधर कुछ आंचलिक उपन्यास भी लिखने के प्रयत्न हुए है, परन्तु वे भी एक संकुचित वातावरण की यथार्थता से आगे उभर कर नहीं आ पाए। ज़मीन कहीं की भी हो, किसी भी प्रदेश या अंचल की, उसकी मिट्टी भी चाहे किसी रंग की हो, मगर लेखक में स्थानीय विशेषताओं को पहचानने और उन्हें ज्यों का त्यों वास्तविक बना देने की क्षमता तो होनी ही चाहिए। वहाँ की स्वभावगत चेष्टाएँ, चारित्रिक अन्विति, कथ्य और समूची परिकल्पना के पूर्वापर सम्बन्धों को आँकने, उनके आचरण, परिस्थितिगत द्वन्द्व, क्रम-संयोजन और परिवेश को सुनियोजित करने, उनमें रंग-रूप भरने, उनकी जिन्दगी के सही कोण, सही पहलू, सही नाक-नक़्श, भावमुद्राएँ, व्यवहार, चेष्टाएँ—यहाँ तक कि उनके पसीने की गन्ध पहचानने की भी बुद्धि होनी चाहिए, लेकिन बावजूद स्थानीय रंगों, पात्रों, घटनाओं और विविध प्रसंगों के प्रभाव-ऐक्य की अभीष्ट सिद्धि के लिए उनकी ज़िन्दगी का रूप उनका इतना अपना हो जिससे हर कहीं—हर मोड़ पर—सहज तादात्म्य स्थापित हो सके।

दरअसल, आज की प्रायोगिक प्रवृत्ति उपन्यास पर भी हावी होती जा रही है। नये प्रतीक, नये साम्य और नई टेकनीक बरती गई है, लेकिन फिर भी कोई खास शिल्पगत मौलिकता और मनोवैज्ञानिक निरूपण दृष्टिगत नहीं होता। उपन्यास के 'नये पैटर्न' के रूप में रहस्यमय, चमत्कारिक या जादुई वातावरण का निर्माण किया जा सकता है, पर मध्यवर्गीय अतृप्तियों के बहाने 'सेक्स' की भूख अथवा आत्म-प्रतारणा की द्योतक एक स्वप्निल पस्ती और वैवाहिक विपर्यय या सर्वहारा क्रान्ति के बहाने सिने-शिल्प के से नये 'क्लाइमेक्स', विषम परिस्थितियाँ और सबसे बढ़कर दैहिक बुभुक्षा के उत्तेजक संश्लिष्ट चित्र अर्थात् निचले वर्ग की अभिशप्त जिन्दग़ी के दिग्दर्शक वे ही घिसे-पिटे सिद्धान्त, पूर्व धारणाएँ या थोपी गई 'आईडोलोजी' ही

हमारी मुख्य समस्याओं का मूलाधार बनी हुई है।

कभी सोचती हूँ कि क्या हिन्दी के उपन्यासकार इस सब इंसानी सड़ांध अर्थात् रोमांचक, सेक्सी और प्रचारात्मक दृष्टिकोणों से ऊपर उठकर सर्वथा भिन्न स्तर की नई चीज़ नहीं दे सकते जहाँ गहरी अनुभूतिमयी बारीकियाँ सांगोपांग सौन्दर्य, मर्यादा, अनुपात के साथ मानवीय संवेदना का ऐसा अंतःप्रवाह जगा दें जो अपनी असीमता में आप्लावित कर लेने वाला हो, तिस पर भी अहंभाव, पक्षपात या पूर्वाग्रहों से मुक्त न हो सकने के कारण वे अपने सापेक्ष ज्ञान और व्यक्तिगत धारणाओं को ही औपन्यासिक चित्रण का माध्यम बनाना चाहते हैं तो वे मात्र चल्नी-फिरनी परछाइयाँ न हो बरन् सनकी, छिछोरे, बेढंगे, गलीज, घृणित से घृणित और अदना से अदना —जिस तरह की भी रुचि, 'मूड' या टाइप के व्यक्ति हों—हाड़-मांस के सच्चे, सप्राण मानव होने चाहिए। विश्व कलाकारों में—हार्डी, डिकेन्स, थैकरे, स्काट, बाल्ज़ाक, पुश्किन, ह्यूगों, ड्यूमा, गोगोल, तुर्गनेव, मोपासाँ, चेखव, टालस्टाय, गोर्की आदि कितने ही ऐसे हैं जिनकी कल्पना की निष्ठा इतनी प्रबल और सूक्ष्म है कि उनकी सृजन-सृष्टि का मिथ्यात्त्व भी यथार्थ बन कर चेतना पर छा जाता है। उनके पात्रों और कथा-चरित्रों की भावनाएँ, बातचीत, कार्य-कलाप सभी कुछ इतने मनोयोग से आँका गया है जो स्वयं पूर्ण है और जिनके व्यक्तित्व का सम्मोहन यथार्थ के जादू से भी बढ़कर है। कथा-साहित्य के सभी सम्भव संदर्भों को इन्होंने अपनी जादुई कलम से छूआ था। तो क्या भला निरवधि काल की सीमा इन महान् कलाकारों के प्रभाव को कम करेगी और क्या कभी भी—किसी भी परिस्थिति में—इनका देय अग्राह्य होगा ?

जैसे ईश्वर अपनी सृष्टि में ऐसे प्राणियों को सिरजता है जिनकी अपरिमित रहस्यमयी शक्ति नियति की डोर के सहारे नाचती है, उसी प्रकार उपन्यासकार द्वारा सृष्ट पात्रों के भी व्यावहारिक साँचे हैं जिन्हें सामाजिक उत्तरदायित्व की जवाबदेही बरतनी पड़ती है और जिनकी नियति एक दूसरे से जुड़ी हुई महत्तर पूर्णत्व की चुनौती स्वीकार करती है। जिस प्रकार ईश्वर प्रत्यक्षतः मानव के प्रति विराट् अभियान-नाट्य में निजी सत्ता को एक नित-नवीन और असीम आकार प्रदान करता है उसी प्रकार लेखक का कथात्मक जगत् भी (भले ही कुछ लोग उसे मिथ्या कहें) वास्तविक जगत् है जिसका नियामक या सृष्टिकर्त्ता वह स्वयं है, जिसकी आस्था एवं अनास्था उसके चरित्रों के भाग्य से बँधी है और जो विभिन्न प्राणियों के मूल्यगत भेद को कथा-चरित्रों के रहस्यमय आयामों में संश्लिष्ट कर देता है। परन्तु किसके पास है यह निश्चित् कसौटी ? कौन है जिसकी सृजनशील कल्पना अन्दरूनी शक्ति संचय कर समूचे कृतित्व पर ऊष्म ज्योति बनकर छा जाती हैं और जहाँ समाधानहीन अनन्त आश्चर्य, नवोन्मेषशालिनी उत्सुकता वाह्य गतियों पर नहीं आंतरिक चेतना की परतों और सूक्ष्म संवेदना पर थिरकती है। उपन्यास-कार को उसके अपने सृजन को सार्थकता देने का एक संभव उपाय यहीं प्रतीत होता

है कि वह जिन्दगी की धड़कन को महसूस करे, केवल अपने खातिर या अपने तई ही न जिये अपितु चतुर्दिक् फैले जीवन में जो भी उसके सम्पर्क में आवे उसके अनुभवों को महत्तर चेतना से संश्लिष्ट करके आँके। जैसा कि हमने ऊपर कहा उपन्यास कार हर परिस्थिति और दृश्यबन्ध की परिकल्पना करने वाला शिल्पी भी है, अतएव वैसा ही दृश्यगत प्रभाव और वातावरण अंगीकृत करके उसे अंतरंग और बहिरंग की अखण्डता में पूर्ण सामंजस्य खोजना चाहिए, साथ ही उसे उन मूल निष्कर्षों का संरक्षण भी करना पड़ता है जो समूचे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की प्रवृत्तियों से एकरूप हो औपन्यासिक शक्ति का अक्षुण्ण स्रोत है।

विभिन्न प्रयोगों की एक लम्बी शृंखला के पश्चात् उपन्यास का पाट आज बहुत चौड़ा हो गया है, किन्तु यांत्रिक सभ्यता की [illegible] के आग्रह ने निष्ठापूर्ण आस्था की विकासमान शक्तियों को डगमगा दिया है। उपन्यास के लिए जिस अंतर्दृष्टि, सूक्ष्म कल्पनात्मकता, सहजानुभूति और मूर्त चित्रात्मकता की अपेक्षा है—कौन है हिन्दी में जो ताल ठोंक कर वाह्य और आंतरिक पक्ष के विशेष प्रौढ़तर कलात्मक संयम पर सर्जनात्मक क्षमता में सबको एक साथ समेटने का दावा कर सके। किसकी संवेदनाओं की सान्द्रता और सचाई—सांगोपांग रूप में—जीवन के वैविध्य और उसके समस्त आयामों से एकतान हो सकी है।

प्रेमचन्द को जाने दीजिए। गुज़री दास्ताँ है। मगर जैनेन्द्र, अज्ञेय व इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, कृष्णचन्द्र व अश्क, राहुल सांकृत्यायन, वृन्दावनलाल वर्मा व चतुरसेन शास्त्री, भगवती चरण वर्मा व भगवतीप्रसाद बाजपेयी, डॉ० धर्मवीर भारती व डॉ० देवराज, मन्मथनाथ गुप्त व डॉ० रागेय राघव, अमृतराय व अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ 'रेणु' व नागार्जुन, साथ ही नये-नये प्रयोगो से चौंकाने की चेष्टारत कितनी ही नवोदित प्रतिभाएँ कब अपने लघु अहं के वृत्त से उभर कर आगे आने पाई। लेखक के टूटे बिखरे, विशृंखल स्वप्नों की परिणति आज कुछ प्रतीकों, खण्डचित्रों और छिन्न अनुषंगों तक ही सिमट कर क्यों रह गई? कहाँ है समष्टि को उसका सहज देय जो समय की दारुण चोट खाकर अदेय बन गया है और जिसकी अमिट खरोंचे ही औपन्यासिक दाँवपेंच या प्रायोगिक नव्यता की नई मौलिक उद्भावना की कसौटी मात्र है।

वस्तुतः आज के हिन्दी उपन्यासकार की दृष्टि तलस्पर्शी नहीं, आत्मप्रवंचक है। उसके आयासहीन कोरे समाधान छूँछे हे, ऊपरी हैं—जो समस्याओं की जड़ों को नहीं छू पाते।

५

नये काव्यग्रन्थ

किसी भी काव्यकृति के सौष्ठव को हम इस कसौटी पर नहीं परखते कि उसने हमारी भावनाओं को कहाँ तक उद्बुद्ध किया है, प्रत्युत् उसकी आत्मा में झाँक कर जीवन के मूलभूत सिद्धान्त एवं शाश्वत सत्य को हृद्‌गत करके ही हम उसके महत्त्व को आँक पाते हैं। सत्काव्य का आदर्श सामान्य भावभूमि से सदैव ऊँचा उठा रहना चाहिए। न केवल साहित्य एवं कला के उदात्त तत्त्व कवि की सूक्ष्म राग-चेतना से अनुप्राणित होकर उसके अनुभूत यथार्थ को व्यक्त करते हैं, वरन् जीवन और जगत् के सूक्ष्म प्रभाव--जिन्हें कि वह आत्मसात् करके वाणी द्वारा दूसरों तक पहुँचाता है--मानवीय मनोवेगों को आलोड़ित करते हुए हमारी कल्पना को भी चमत्कृत और अनुरंजित करते हैं।

कला अमर है और मानवीय मनोवेगों को तरंगित करने वाली यह रहस्यमयी शक्ति भी अमर है। सृष्टि के जिस दृश्यमान मूर्त्त की ओर साधारण लोगों की दृष्टि जाकर लौट आती है, वही कवि के कल्पना-जगत् को आत्मप्रकाशोन्मुख करती हुई अखण्ड, चिन्मय आनन्दानुभूति से भर देती है। चूँकि कवि की चेतना रागबोधात्मक है, उसकी अनुभूतियों की परिधि भी इतनी व्यापक हो जाती है कि वह दृश्य-जगत् की अर्थवती छवियों में अपनी राग-विराग की वृत्तियों को तद्‌रूप करके मद-विह्वल-सा जीवनमय उन्मद राग में डूबता-उतराता रहता है। अन्तरिक्ष पथ पर बिखरे अगणित तारे जो सामान्य दृष्टि को केवल चिनगारियों से प्रतीत होते हैं, रंग-बिरंगे पुष्प जो असमय में ही झड़कर मुरझा जाते हैं और वातायन पथ से उठने वाली सौरभश्लथ समीर की हल्की-हल्की थपकियाँ जो शून्य में टकराकर विलय हो जाती हैं, कवि के अन्तर्देश में न जाने कितनी मदभरी कोमलकान्त भावनाओं को जगाया करती हैं। कवि की यह उन्मादपूर्ण मानसिक स्थिति ही वास्तविक प्राप्तव्य अवस्था है, क्योंकि इसी के द्वारा वह वस्तुगत सत्य तक पैठ पाता है। वाह्य परिवेश को अपने अनुभव का विषय बनाकर वह सौदर्यासौदर्य की विवृति करता है और आत्मा की मनन शक्ति द्वारा क्षुद्र संकुचित सम्बन्धों से ऊपर उठकर श्रेय की प्रेयरूपा शक्ति को उद्‌बुद्ध करता है। शेक्सपीयर ने एक स्थल पर लिखा है :

"जिस प्रकार कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं का रूप निर्धारित करती है,

उसी प्रकार उसकी लेखनी वायवी, तुच्छ पदार्थों को मूर्त करती हुई उनको संस्कार और स्थायिता प्रदान करती है।"

(As imagination bodies forth,
The form of things unknown, ɔoets' pen,
Turns them to shapes, and giᵛ ɔ airy nothings.,
A local habitation and a nam

कवि की दृष्टि इतनी संवेदनशील और व्यापक ɦ कि जीवन के सूक्ष्मतम भावों से उद्बुद्ध होकर अभिमत आदर्शों की उपलब्धि करती है और पुनः अपने इन्हीं मूर्त्त आदर्शों को, जो उसकी कल्पना से सजीव हो उठे हैं, वह उन्हें अणु-अणु में स्पन्दित होते देखता है। विश्व में जो कुछ अन्तर्हित सत्य है उसे वह अपने ज्ञान-स्फुल्लिगों से उद्भासित करता हुआ अपनी निस्सीम भाव-परिधि में प्रतिष्ठित देखना चाहता है। विशिष्ट वस्तुओं का निरीक्षण करते हुए जो स्मृतियाँ उसके अन्तर में संचित हो जाती हैं, वे ही रससिक्त होकर उसकी लेखनी की नोंक पर थिरकने लगती हे और तब, आत्म-विस्मृति के क्षणों में, उसे यह समझ नहीं पड़ता कि यह सब कैसे हो जाता है। टैगोर ने लिखा है :

"क्या कोई मनुष्य किसी बात को समझाने के लिये कविता लिखा करता है? बात यह है कि मनुष्य के हृदय को जो अनुभव होता है वही काव्य-रूप में बाहर आने का प्रयत्न करता है। यदि किसी कविता को सुनकर कभी कोई यह कहता है कि मैं तो इसमें कुछ नहीं समझता तो उस समय मेरी मति कुंठित हो जाती है। पुष्प को सूँघकर यदि कोई कहने लगे कि मेरी कुछ समझ में नहीं आता तो उसका यही उत्तर हो सकता है कि इसमें समझने जैसा है भी क्या? यह तो केवल प्रतीति या आभास मात्र है।"

कवि के लिए सौदर्य विश्व का अन्तरतम संगीत है। उसमें उसकी सूक्ष्म चेतना अन्तर्निहित होती है। विश्व की विराट् रंगस्थली में जब पार्थिव वस्तुएँ नित्य बनती और बिगड़ती हैं तो कवि को शाश्वत सौंदर्य और सत्यता की प्रकाशधारा दिग्दिगन्त में लहलहाती दीख पड़ती है। उसकी सौदर्य की बोध-चेतना इतनी सूक्ष्म है कि वह अपने अभीप्सित को तीव्रता से स्पर्श करती हुई सत्य की समग्रता में खो जाना चाहती है। एक ओर उसकी महती आकांक्षा अन्तर्निष्ठ सौंदर्य की प्रेरणा का उत्स है तो दूसरी ओर विश्वात्मा की असीम व्याप्ति उसकी आँखों में आलोक के स्निग्ध कण बन कर ढुलकती रहती है।

यह सौदर्य ही काव्य की वह शाश्वत शक्ति है जो 'सत्यं, शिवं' की चरम परिणति है। कवि की सौदर्य-भावना सत्य [illegible] बनकर जब भीतर के अरूप सौंदर्य को यत्र-तत्र छलकाती है तो काव्य की धारा फूट पड़ती है और काव्य का यह शिवत्व ही 'सत्य' और 'सुन्दर' बन जाता है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यह सौंदर्य दो प्रकार

का होता है। (१) भाव सौंदर्य (२) अभिव्यक्ति सौंदर्य। इन्हें ही अपने यहाँ अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष अथवा भाव पक्ष और कला पक्ष कहा गया है। प्रमुख रूप से कविता में कवि की अनुभूति की अभिव्यक्ति रहती है। वह जो कुछ देखता या गुनता है उसे ही आत्मसात् करके कविता द्वारा व्यक्त करता है। किन्तु जैसे शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व सम्भव नहीं है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति के सौदर्य के बिना केवल भाव का प्रकाशन ही कविता नहीं है। जब तक कवि अपने मनोभावों को व्यक्त करने वाली विविध कलाओं से अवगत नहीं होता तब तक कविता की परिपूर्ण और परिपक्व सत्ता सम्पन्न हुई दृष्टिगत नहीं होती। भारतीय आचार्यों ने भावों के स्वरूप-निरूपण और उनकी अनेक विधाओं की मार्मिक विवेचना की है, किन्तु भावों के अंतस् मे प्रवाहित होने वाले रस की निष्पत्ति तब तक सम्भव नही है जब तक कि उन्हें अनूठे ढंग से व्यक्त न किया जाय।

पाश्चात्य रीति से प्रतिपादित काव्य के चार तत्त्व (१) भावतत्त्व (रागात्मक तत्त्व), (२) कल्पनातत्त्व, (३) बुद्धितत्त्व और (४) शैलीतत्त्व—अनुभूति और अभिव्यक्ति—इन दोनों पक्षों के अन्तर्गत आ जाते हैं। काव्य का प्रमुख गुण रागात्मक तत्त्व भावनाओं को स्फुरित करता है, कल्पनातत्त्व सजीव तूलिका से अमूर्त्त को मूर्त्त करता हुआ नानाविध चित्र हमारे नेत्रों के सम्मुख लाकर खड़ा कर देता है, बुद्धितत्त्व हमारे तरंगित मनोवेगों, कल्पना-प्राचुर्य और विषय-प्रतिपादन पद्धति में सामंजस्य स्थापित करता है अर्थात् भावपक्ष और कलापक्ष दोनों को औचित्य की सीमा से आगे बढ़ने नही देता। शैली तत्त्व हमारे आत्म-प्रकाशन का साधन है। वह हमारे आत्मभूत तत्त्व को बहिर्मुख करता हुआ उसे सुन्दर और सुचारु बना देता है। कुशल कवि अपनी अन्तर्नुभूत सूक्ष्म भावनाओं को सुन्दर भाषा में प्रस्तुत करता है। वह इस कला में जितना ही पारंगत होता है उतना ही सफल समझा जाता है।

प्राय: प्रत्येक काव्यकृति में दो तत्त्व दीख पड़ते हैं—एक 'अर्थ' और दूसरा 'शब्द'। शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है और रस उसकी आत्मा। हमारे आचार्यों ने भिन्न-भिन्न पद्धति से शब्द, अर्थ और रस की व्याख्या की है। उत्कृष्ट काव्य में सभी तत्त्वों का समावेश अनिवार्य है। जिस प्रकार अनन्त काल से मनुष्य में अपने विचारों को व्यक्त करने की प्रबल आकांक्षा है, उसी प्रकार उसमें सौदर्य-भावना निहित होने के कारण अभिव्यक्ति का साधन अपनी भाषा को सजाने-सँवारने की सहज वृत्ति भी होती है। अलंकार (शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार), शब्दों के गुण (माधुर्य, ओज, प्रसाद), ध्वनि (अभिधा, लक्षणा, व्यंजना), नाद और स्वर आदि भाषा-शास्त्रियों ने अनेक प्रकार से भाषा के गुण-दोषों का वर्गीकरण किया है। आत्मा की केन्द्रानुगामिनी शक्ति—सृजन की भावना से अनुप्राणित होकर—जब सुन्दर और सुचारू रूप में वाणी द्वारा प्रस्फुटित होती है, तो उत्कृष्ट काव्यकृति बन जाती है।

काव्य के भेद

प्रमुख रूप से काव्य के दो भेद किये गये हैं (१) भाव प्रधान और (२) विषय

प्रधान। भाव प्रधान कविता में कवि का आत्माभिव्यंजक रूप अर्थात् उसकी अपनी बात की प्रधानता होती है। इसके अन्तर्गत गीतिकाव्य और स्फुट कविताएँ आदि आती हैं। विषय प्रधान कविता में अपने से परे देश और समाज की बातें, विश्व भर के अशेष मानवों के हृदयावेगों का विशदतम रूप तथा जीवन की व्यापक संचालक शक्तियों एवं आशा-आकांक्षाओं की सफल अभिव्यक्ति होती है। "उसकी रचना उस बड़े वृक्ष की भाँति होती है जो देश के भूतल रूपी जठर से उत्पन्न होकर उस देश को आश्रयरूपी छाया देता हुआ खड़ा रहता है।" विषय प्रधान काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खंडकाव्य, जीवन-वृत्त, पौराणिक गाथा और ऐतिहासिक आख्यान आदि आते हैं। इसमे कवि केवल अपने तक ही सीमित न रहकर दूर तक अपनी दृष्टि फैलाता है। वह किसी समय-विशेष या देश-विशेष की भावनाओं में न बँध कर विपुल मानव-जीवन को अतीत, वर्त्तमान और भविष्यत् के सन्दर्भ में अपने भीतर समेटे रहता है। जितने भी विश्व के बड़े-बड़े महाकाव्य अब तक लिखे गये हैं उनमें कवि का व्यक्तित्व तिरोहित होकर समग्र मानवता का रूप मुखर हो उठा है।

महाकाव्य की व्याख्या

यह तो निर्विवाद है कि महाकाव्य की परिधि अत्यन्त विस्तृत है। उसकी कथा किसी व्यक्ति विशेष की नहीं, वरन् मानवता का इतिहास, मानव जीवन की व्याख्या और मानवीय मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह उसमें मिलता है। वह अपने रचयिता की लोकोत्तर शक्तिमयी कल्पना-शक्ति का दिग्दर्शन कराता, विश्व-भावनाओं को तरंगित करता ओर उसे दिव्य रस के प्रवाह में प्रवाहित करता है। महाकाव्य का उद्देश्य है—जीवन की घनीभूत, विशदतम, निगूढ़ अनुभूतियों को अपने महा-कलेवर में समेटे रहना और मानवीय उच्चादर्शों को उद्भावित करना।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जो सर्गों में बँधा हुआ हो वह महाकाव्य है। उसमें एक नायक होता है, जो देवता या उत्तम कुल का धीरोद्दात गुणों से युक्त क्षत्रिय होता है। एक वंश के कई राजा भी नायक हो सकते हैं। शृंगार, वीर और शांत रस में कोई एक रस अंगी होता है, अन्य रस गौण होते हे। नाटक की सभी संधियाँ रहती हे। उसकी कथा ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध महापुरुष की होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से उसका एक फल दिखाया जाता है। आरम्भ में मंगलाचरण या वर्ण्य विषय का निर्देश होता है। कहीं-कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा होती है। उसमें कम से कम आठ सर्ग रहने आवश्यक हैं। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होता है, किन्तु सर्ग का अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है, यद्यपि कहीं-कहीं अपवाद भी दीख पड़ता है। सर्ग के अन्त में अग्रिम कथा की सूचना भी होनी चाहिए। उसमें संध्या, सूर्य, चंद्रमा रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिवस, प्रातःकाल, मध्यान्ह, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, स्वर्ग, नर्क, यात्रा, संग्राम, अभ्युदय, पतन आदि विषयों का यथासम्भव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। उसका नामकरण कवि अथवा चरित्र नायक के

आधार पर होना चाहिए। प्रायः स्वतन्त्र नाम भी देखे जाते हैं।

पश्चिमी काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य में कोई सच्ची ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध वृहद् कथा वर्णित होनी चाहिए। वह कवि की कोरी मनगढ़ंत कल्पना न हो, हाँ—अपने विचारों और आदर्शों के अनुसार वह उसे कुछ परिवर्त्तित अवश्य कर सकता है। महाकाव्य का विषय महत्त्वव्यंजक, उसके पात्र असाधारण और शौर्यगुण-सम्पन्न तथा नायक कोई महापुरुष होना चाहिए। कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह कथा के मर्म में पैठ कर उसकी इस प्रकार कलात्मक अभिव्यंजना करे कि उसमें एकसूत्रता और महती गरिमा हो। वर्णन-शैली और भाषागत सौंदर्य भी अपूर्व होना चाहिए। उसमें एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए। कथाओं, उपकथाओं और रोचक प्रसंगों के अतिरिक्त उसमें देवी-देवताओं और नियति की भी प्रमुखता होती है। महाकाव्य की कथा किसी व्यक्ति विशेष की न होकर जातीय भावना को प्रतिबिम्बित करने वाली होनी चाहिए।

पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों के लक्षणों में—जहाँ तक महाकाव्य की उदात्तता और गरिमा का प्रश्न है—कोई विशेष अन्तर नही है। दोनों में ही आधारभूत समानता यह मिलती है कि महाकाव्य में वर्णित विषय का उचित परिपाक, व्यंजना की प्रगल्भता और छलकता रसप्रवाह होना चाहिए। जिसमें उत्कृष्ट व्यंजना, वैलक्षण्य और महाकवित्व नहीं—वह आकार में बड़ा होने पर भी महाकाव्य कहलाने का अधिकारी नही है। महाकाव्य मे जीवन-समष्टि की अभूतपूर्व झाँकी, पार्थिव कर्त्तव्यों एवं चेष्टाओं का अवसान, सत्य, सौंदर्य तथा उदात्त एवं मौलिक कल्पना-स्वातन्त्र्य का अनूठा सम्मिश्रण और वाह्य एवं अन्तर्जगत् को परिप्लावित करने वाली मंगलमयी निर्मल मन्दाकिनी निर्झरित होती है, जिसमें अद्भुत सौंदर्य-श्री के चरम अस्तित्व की विलक्षणताएँ और जीवन की सम्पूर्ण समग्रता व्याप्त रहती है।

महाकाव्य तत्त्वतः सार्वदेशिक है। भले ही वाह्याचारों से उसकी सृष्टि हुई हो अथवा अन्तर्वृत्तियों से उसकी एक विशिष्ट संस्कृति का विकास हुआ हो, फिर भी इस सृष्ट संस्कृति के मूलबंध में जो लोक जीवन के अगणित तन्तु सिमटे हैं वे ही वस्तुतः उसके प्राणपोषक तत्त्व है। न केवल परिस्थितियाँ, घटनाएँ, दृश्यांकन, जीवन के अनगिन चित्र, सुख-दुःख, हास्य-रुदन, राग-द्वेष, प्रेम-घृणा, ईर्ष्या-क्रोध, तृप्ति-अतृप्ति, अभाव-वैभव, हठ-अविवेक, अज्ञान-व्यामोह, बेबसी-असमर्थता, वरन् जवानी के जोश का बलबला और प्यार-मुहब्बत की रंगीन शोख़ मस्ती के भी कितने ही रोचक कथानक जुड़े होते हैं। पात्र, कथोपकथन, वाक्-पटुता, स्वरभेद और वैविध्य, साथ ही पात्रानुकूल चरित्र-चित्रण, मनःस्थितियाँ, आचार-विचार, तथ्यान्वेषण और उसके अंतरंग भेद-प्रभेद—यों उसका विराट् रूप और व्यापकता उस अथाह समुद्र की नाईं है जो अपने अतल में न जाने कितना कुछ समेटे रहता है। व्यक्ति से कुटुम्ब, कुटुम्ब से समाज और समाज से राष्ट्र तक की रागात्मक अनुभूतियों को

सँजोए महाकाव्य की विशेषता है कि वह अपने पात्रों और चरित्रों की एक नई दुनिया बसाता है, उन्हें अमर कर देता है, एक इकाई के रूप में—समग्र और मुक्त—मानव मात्र की सामूहिक एकता का वाहक और युग-युगांत तक उसके महान् अस्तित्व का गवाह है। यही कारण है कि काव्य रूढ़ियों, कथानक रूढ़ियों एवं उपलब्धियों की दृष्टि से पाश्चात्य-पौरस्त्य का भेद कृत्रिम माना गया है।

महाकाव्य के मूल तत्त्व

महाकाव्य के प्रमुख पाँच तत्त्व हैं—(१) सानुबंध कथा (२) वस्तु-वर्णन (३) भाव-व्यंजना (४) देशकाल और (५) शैली। महाकाव्य में कथा-प्रवाह पर विशेष ध्यान दिया जाता है। महाकाव्यकार किसी सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक गाथा को लेकर अपनी संघटित, सामूहिक शक्ति द्वारा मानव-आदर्श और विशिष्ट विश्वरुचि की स्थापना करता है। उसकी काव्य-सृष्टि के साधन किसी देश-विशेष अथवा काल-विशेष से सीमित हो सकते हैं, किन्तु उसके साधनों के भीतर वह प्रकाश छिपा रहता है जिससे प्रेरित होकर वह अपने अन्तर्वाह्य को उदात्त भावनाओं से रंजित करता हुआ विशद चिन्तन और विचार-बहुलता अपनाता है। वह प्रमुख इतिवृत्त के साथ गौण कथानकों, सर्वथा नवीन काल्पनिक घटनाओं, रसात्मक प्रसंगों और महत्त्वपूर्ण जीवन दशाओं को भी समाविष्ट कर सकता है।

महाकाव्य में मनोज्ञ वर्णनों पर भी कवि का ध्यान केन्द्रित होना चाहिए, किन्तु कहीं-कहीं वर्णन-योजना पर उसकी दृष्टि इतनी सुस्थिर हो जाती है कि वह समुचित प्रतिपादन पद्धति की पर्वाह न करके विस्मयोद्बोधक, एवं चमत्कारपूर्ण प्रसंगों के वर्णन में ही अपनी सारी शक्ति व्यय कर देता है। विश्व-जीवन इतना जटिल और विविधता से पूर्ण है कि काव्यकार को उसके विराट् स्वरूप को हृदयंगम करने के लिये चारों ओर अपनी दृष्टि फैलानी पड़ती है। भाव-व्यंजना के अन्तर्गत समूचे कार्य-व्यापार, कथोपकथन और चरित्र-चित्रण आदि बातें आ जाती हैं। उसके चरित्र का अध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही परिस्थितिजन्य और वैविध्य को स्पर्श करने वाला होगा उतना ही सफलता से वह चरित्र-चित्रण कर सकेगा।

जीवन के चित्रण के रूप में महाकाव्य का महत्त्व मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के संघर्ष में है। महाकाव्य के पात्र किसी देश-विशेष और समय-विशेष के होते हैं, किन्तु उनमें इस प्रकार जीवन-तत्त्वों का संघटन होना चाहिए कि वे किसी एक युग, एक समाज और एक देश के न होकर सार्वदेशिक और मनुष्य की सनातन एवं बहुविध प्रेरणाओं के प्रतीक बन जायें। युगों के संघर्षो के बीच टकराती अविच्छिन्न जीवन-धारा अनुभूत उपकरणों, रागात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया और अनुगत सिद्धांतों के अशेष पटल सामने खोलकर रख दे तथा जीवन की निर्वैयक्तिक विराट् व्याख्या के अन्तर्गत तद्विषयक तथ्यों के रहस्य का हल भी सरलता से खोजा जा सके। मोटे रूप में उसके द्वारा जो भी प्रतिपादित किया जाय वह लोकोत्तर आनन्द की उद्भावना

और युगानुरूप रागबोध और निर्व्याज्य विश्वासों की व्यंजना करने वाला होना चाहिए।

महाकाव्य में आदर्श और उत्कृष्ट चरित्रों का चित्रण किया जाना ही अनिवार्य नही है। महान् से महान् व्यक्तियों में भी कुछ न कुछ त्रुटियाँ अवश्य होती हैं। चरित्र को सजीव और सहज गुणों से विभूषित करने के लिए उनमें अच्छाइयों, बुराइयों और जीवन के उन अंशों पर प्रकाश डाला जाना चाहिए जिससे कि स्थायी रूप से वे हमारी भावना का विषय बन जायें। कथोपकथन पात्रों के अनुरूप और काव्य की उच्चाशयता को प्रकट करने वाला होना चाहिए।

महाकवि अपने महाकाव्य में जिस कथा-खंड और जीवन के उदात्त लक्ष्य को लेकर चलता है उसे तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक वातावरण की सापेक्षता में रख कर ही देखता-जाँचता और अपने विषय का प्रतिपादन करता है। रामायणकालीन अथवा किसी भी युग विशेष की कथाओं, उप-कथाओं को चित्रित करते हुए लेखक को उस समय की परिस्थितियों और वातावरण का ठीक-ठीक परिज्ञान अपेक्षित है। यदि वह इसका ध्यान नहीं रखेगा तो अपने ध्येय की पूर्ति न कर सकेगा। महाकाव्य को लिखने की शैली प्रभविष्णु और उदात्त होनी चाहिए ताकि स्वानुभूति और लोकानुभूति के सर्वसामान्य तत्त्वों को समन्वित किया जा सके। काव्यकार की महती कृति आत्मरुचि की भावना से अनुप्राणित होकर ही मंगलमयी, वैभवसम्पन्न और चिरपोष्य बन सकती है।

महाकाव्यों की परम्परा

हमारे देश में वर्त्तमान काल में ही नहीं वरन् वैदिक और पौराणिक युग के मध्यवर्ती समय अर्थात् ईसा से कई हज़ार वर्ष पूर्व से श्रीमद्वाल्मीकीय 'रामायण' और श्री वेदव्यास द्वारा रचित 'महाभारत' इन दो वृहद् महाकाव्यों का प्रचार है। ये महाकाव्य जितने प्राचीन हे उतने ही समृद्ध भी हे। साथ ही इनमें महाकाव्यों के से विलक्षण और ईश्वरप्रदत्त उपकरणों का चमत्कार भी दीख पड़ता है।

श्रीबाल्मीकि कृत रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की कथा विशद रूप से वर्णित है। इसमें इतिहास और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रण है। क्या लोक-पक्ष, क्या आध्यात्म पक्ष---दोनों ओर इसकी गूढ़ता, गम्भीरता और सरसता महान् है। राम की सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखकर उन्होंने अपनी कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में उनका आदर्श मानव-रूप प्रतिष्ठित किया। काव्य की उदात्त गम्भीरता एवं दार्शनिक पुष्टता लोकोत्तर और मनुष्य की कल्पना से परे है। कथाओं, उपकथाओं और जीवन-वृत्तों द्वारा मानव की विराट् शक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है।

महाभारत में श्रीवेदव्यास ने कौरवों, पांडवों के महायुद्ध की वृहद् कथा बड़ी

दक्षता और दृढ़ता से चूल बिठाकर एक महागाथा के रूप में प्रस्तुत की। आरम्भ की कितनी ही घटनाओं का अन्त में जाकर समाहार होता है और स्फुट कथाओं के अत्यन्त विस्तृत और अनूठे वर्णन इस सागर के भीतर लहरें मार रहे हैं। महाभारत में पार्थिव शक्ति की पराकाष्ठा के साथ-साथ अलौकिक तत्त्वों का समावेश भी है। कथा-सृष्टि जटिल, परम्परा-प्राप्त और मंथर गति से आगे बढ़ती है। इसमे कर्त्तव्या-कर्त्तव्य और धर्माधर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है और ईश्वर, जीव, सृष्टि, ईश्वर-प्रेम, जगत् की निस्सारता आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

इन दोनों महाकाव्यों मे सदियों का इतिहास समाया हुआ है। न केवल इनका प्रभाव अपने देश तक ही सीमित है, वरन् इतर देशों, जातियों एवं संस्कृतियों पर भी इनका प्रच्छन्न प्रभाव द्रष्टव्य है। दार्शनिक गूढ़ता, व्यापक अनुभूति और सृजन-सामर्थ्य में तो ये महाकाव्य ग्रीस के सुप्रसिद्ध होमर कृत 'इलियड' (Iliad) और 'ओडेसी', (Odyssey) इटली के महाकवि वर्जिल और दाते के महाकाव्य 'इनियड' (Aeneid) और 'दि डिवाइन कामेडी' (The Divine Comedy) और मिल्टन का अंग्रेजी महाकाव्य 'पैराडाइज़ लास्ट (Paradise Lost) आदि से भी बाजी मार ले जाते हैं। इनमें हमारे महर्षियों की साधना और सकल्प साकार हो उठे हैं, जो मानव जीवन के विभिन्न आदर्शों, भावनाओं, अभावों, पूर्तियो एवं संख्यातीत [illegible] का चित्रांकन प्रस्तुत करते हैं। इन महाकाव्यों का विषय है मानव-जीवन सम्बन्धी शाश्वत एवं चिरन्तन मनोभाव, किन्तु ज्यों-ज्यों लोगों ने नवीन विचारधारा को प्रश्रय दिया और साहित्य आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर झुका, त्यों-त्यों मानव परिवेश के व्यापक तत्त्व घटते गये। प्राचीन आदर्श पिछले युगों की विरासत के रूप में चलते रहे, किन्तु उनमें अत्युत्कृष्ट कला का संबल शिथिल और जीवन की समग्रता के पक्ष इनेगिने रह गये। संस्कृत में कुछ काल तक व्यक्ति प्रधान यथा—'किरातार्जुनीय', 'शिशुपालबध', 'कुमारसंभव' आदि महाकाव्यों की परिपाटी चलती रही, लेकिन उनमें 'रामायण', 'महाभारत' की भाँति विश्व-चेतना का विराट् मर्मस्पर्शी स्पन्दन न सुन पड़ा।

किसी भी राष्ट्र अथवा जाति के इतिहास में महाकाव्यों का उद्भव एक विशिष्ट युग में ही हुआ करता है। अपनी आदिम अवस्था में कवि जीवन को समष्टि रूप में अपनाकर उसमें अपनी भावनाओं का उन्मेष करता है। ऐसे युग में लोकोत्तर शक्ति में विश्वास, देवी-देवताओं में आस्था और नियति से बँधे रहने मे ही उसे अपना कल्याण दीख पड़ता है। रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों में साहसिक कृत्य, संग्राम और दैवी दुर्घटनाओं का बाहुल्य है। मनुष्य देवताओं और नियति के हाथ का खिलौना है, उनकी दुर्दम्य शक्ति उससे खिलवाड़ करती है। जिसकी तह में वह नहीं घुस पाता उसे ही प्रारब्ध मानकर जीवन की विवश परिस्थितियों को वह सिर झुकाकर स्वीकार करता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका ज्ञान विकसित होता जाता है और समाज एवं राष्ट्र द्वारा निर्धारित नियमों में उसकी बुद्धि बँधती है, त्यों-त्यों अनेक समस्याएँ

व्यापक भावना भी इन्हें तुलसी की भाँति प्राप्त नहीं है। न 'मानस' का-सा हृदय-द्रावक राग है, न तल्लीनता, न भक्ति-रस की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है और न कहीं उद्देश्य और कला समान स्तर पर ही दिखाई देती है। आरम्भ से अन्त तक इतिवृत्तात्मक वर्णन शैली अपनाई गई है। चरित्र-सृष्टि अमनोवैज्ञानिक और अत्यन्त साधारण है और न काव्य का उदात्त, सुष्ठु रूप ही कहीं प्रकट हुआ है।

'वैदेही वनवास'

हिन्दी साहित्य में काव्य-परम्परा को जीवित रखते हुए श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास' के पश्चात् 'वैदेही वनवास' की रचना की और प्रबन्ध-काव्य के आदर्श पर चलते हुए राम कथा में सीता-परित्याग की खण्डकथा को लेकर करुणा और वियोग की अन्तर्दशाओं का विधान किया। 'बाल्मीकि-रामायण' 'रघु-वंश' और भवभूति कृत 'उत्तररामचरित' में करुणा और दुःखवाद को लय करके कथा को मधुमय बनाया गया। 'वैदेही वनवास' में सुख-दुःख के समन्वित रूप में एक सुन्दर जीवन-मीमांसा प्रस्तुत की गई और उपाध्याय जी ने 'प्रियप्रवास' की भाँति ही इसके कथानक में भी पर्याप्त हेरफेर किया। 'बाल्मीकि-रामायण,' 'रघुवंश' और 'उत्तर-रामचरित' में सीता-निर्वासन की घटना कुछ ऐसी दारुण बन गई है जो सज्जनों के हृदय को सदैव कचोटती रही है। लोक-अपवाद के फलस्वरूप जग-ज्जननी सीता का परित्याग और वह भी उनसे बिना कुछ कहे-सुने तपोवन और तपस्वियों के दर्शन के मिस लक्ष्मण द्वारा अकेले जंगल में छुड़वा देना कुछ ऐसी निर्मम क्रिया है जो मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के उदात्त, गम्भीर चरित्र के अनु-रूप नहीं। लोगों ने इस कृत्य को अमान्य ही नहीं, निंद्य भी ठहराया है। तुलसीदास जी को तो 'रामचरितमानस' में इस प्रसंग का उल्लेख तक न रुचा। किन्तु 'वैदेही-बनवास' में यह घटना बहुत ही स्वाभाविक हो गई है। अयोध्या के राजमन्दिर में प्रातःकाल घूमते हुए राम दुर्मुख नामक सेवक द्वारा सीता के सम्बन्ध में फैली लोक-निंदा की बात सुनते हैं। इस अप्रत्याशित चर्चा से एकबारगी धर्मधुरन्धर राम भी विचलित हो जाते हैं। उनके अन्तर्मानस में भीषण द्वंद्व मचता है। वे भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि अपने भाइयों से सलाह लेते हैं और गुरु वशिष्ठ की आज्ञा प्राप्त करके सीता जी को बालमीकि-आश्रम में छोड़ने का निश्चय करते हैं। वशिष्ठ राम से कहते हैं :

> **'किन्तु आप से यह विशेष अनुरोध है।**
> **सब बातें कान्ता को बतला दीजिए॥**
> **स्वयं कहेंगी वह पतिप्राणा आप से।**
> **लोकाराधन में विलम्ब मत कीजिए॥'**

'वैदेही-वनवास' में राम ने सीता को पहले ही सब कुछ बतलाकर उनके मान और गौरव को बढ़ाया है, उन्हें मिथ्या आश्वासन नहीं दिया और न उन्हें बिलखती

और प्रसव-पीड़ा में तड़पती हुई अकेले जंगल में ही छोड़ा है, अपितु, राजकुल की मर्यादा के अनुरूप वशिष्ठ द्वारा एक ऐसी प्रथा का उल्लेख कराया है जिससे सीता का वनगमन बहुत ही स्वाभाविक और वांछनीय-सा प्रतीत होता है।

'आर्य जाति की है चिरकालिक यह प्रथा।
गर्भवती प्रिय पत्नी को प्रायः नृपति ।।
कुलपति पावन आश्रम में हैं भेजते ।
हो जिससे सब मंगल, शिशु हो शुद्ध मति ।।'

इसके अतिरिक्त 'वैदेही वनवास' में न केवल रजक और पुरवासियों की निंदा के आधार पर ही सीता का परित्याग किया गया है, प्रत्युत् लवणासुर के द्वेष और गंधर्वों के प्रसंग को लेकर कुछ राजनीतिक कारणों की भी उद्भावना की गई है। राम बहुत सहज ढंग से सीता को सब बातें समझाकर उन्हें कुछ समय के लिए स्थानान्तरित करने का प्रस्ताव सामने रखते हैं।

'इच्छा है कुछ काल के लिए तुमको स्थानान्तरित करूँ।
इस प्रकार उपजा प्रतीति में प्रजा पुंज की भ्रान्ति हरूँ।।
क्यों दूसर पिसें, संकट में पड़, बहु दुःख भोगते रहें।
क्यों न लोकहित के निमित्त जो सह पाएँ हम स्वयं सहें।।'

अयोध्या से वन के लिए मंगलयात्रा का दृश्य भी बड़ा ही शानदार और कारुणिक है। नगर की शोभा और सीता-राम की मधुर छवि मानो सदैव के लिए अन्तर्पट पर अंकित हो जाती है, किन्तु आज के बौद्धिक युग के प्रभाव के कारण सीता-राम की विरह-वेदना और विवश भाव बहुत हल्का चित्रित किया गया है। उसमें हृदय को द्रवित कर देने वाली कोमलता और करुणा नहीं है। राम तो कर्त्तव्याभिमुख और सुस्थिरचित्त हैं ही, सीता भी आज की संघर्षप्रिय नारी की भाँति सजग और क्रियाशील है। पति, देवर, सास और भगिनियों से विदा लेते हुए वे स्वयं सबको ढाढ़स देती हैं।

'मत रोना भूल न जाना।
कुल-मंगल सदा मनाना।।
कर पूत साधना अनुदिन।
वसुधा पर सुधा बहाना।।'

वन में सीता से बिदा होते हुए जब लक्ष्मण अत्यन्त विह्वल हो उठते हैं तो वे अविचलित रह कर उन्हें कर्त्तव्य-पथ की ओर उत्प्रेरित करती हैं :

'सर्वोत्तम साधन है उर में ।
भव हित पूत भाव का भरना।।
स्वाभाविक सुख लिप्साओं को।
विश्व-प्रेम में परिणत करना ।।'

प्रकृति-चित्रण द्वारा भी यत्र-तत्र विरह्-वेदना की व्यंजना हुई है। किन्तु वह हृदय को छूनेवाला न होकर जीवन की अनेकरूपता में अधिक खो गया है।

श्याम-घटा को देखकर राम के शरीर की कान्ति स्मृति रूप में विषाद बन जाती है और सभी सुखप्रद वस्तुएँ विरूप होकर उनकी आँखों में खटकती हैं।

'दिवि-दिव्यता अदिव्य बनी अब नहीं दिग्वधू हँसती थी।
निशा-सुन्दरी की सुन्दरता अब न दृगों में बसती थी ॥
कभी घन पटल के घेरे में झलक कलाधर जाता था।
कभी चन्द्रिका बदन दिखाती कभी तिमिर घिर आता था ॥'

शान्तिनिकेतन के पुष्पों की छटा उनमें रागात्मक भावना जगाती है।

'शान्तिनिकेतन के सुन्दर उद्यान में।
जनकनन्दिनी सुतों सहित थी घूमती ॥
उन्हें दिखाती थी कुसुमावलि की छटा।
बार-बार उनके मुख को थी चूमती ॥'

'वैदेही-बनवास' में गांधीवाद का भी स्पष्ट प्रभाव है। भगवान् राम शान्ति और अहिंसा के जबर्दस्त समर्थक हैं। उन्हें दमन-नीति अभीष्ट नहीं है :

'दमन है मुझे कदापि न इष्ट।
क्योंकि वह है भयमूलक नीति ॥
चाह है लाभ करूँ, कर त्याग।
प्रजा की सच्ची प्रीति प्रतीति ॥'

रावण को एक ही सिर का बताया गया है 'एक बदन होते हुए भी जो दश बदन था।' वर्त्तमान सभ्यता की जटिलताओं ने मनुष्य की जिज्ञासा-वृत्ति को तीव्र कर दिया है। प्रस्तुत काव्यग्रन्थ में राम-सीता विषयक लोकोत्तर कथानक होते हुए भी जिज्ञासा वृत्ति की तृप्ति का व्यापक क्षेत्र मिल जाता है। अंत दुःखमय है, तो भी आनन्द में बाधक नही होता। सुख-दुःख से परे आत्मभाव की परिधि इतनी व्यापक हो गई है तथा 'मै' और 'तुम' से अतीत प्रणय का भाव इतना गहरा और उच्च भावभूमि पर स्थित है कि दुःखवाद का भौतिक आधार नष्ट हो जाता है।

'ज्यों ही पतिप्राणा ने पति-पद्म का।
स्पर्श किया निर्जीव मूर्ति सी बन गई।
और हुए अतिरेक चित्त-उल्लास का।
दिव्य-ज्योति में परिणत वे पल में हुई ॥'

स्वार्थ-त्याग मन की वह मुक्त क्रिया है जो आत्मा का विस्तार करती है। सीता के उदात्त, पावन चरित्र का आलोक आज भी दिग्दिगन्त में उद्भासित है—यही इस काव्य का निष्कर्ष है।

प्रस्तुत काव्य की भाषा सरल और स्वाभाविक होते हुए भी अनेक स्थलों पर संस्कृतमयी है। करुण-रस और विरह-वेदना का प्राधान्य है, किन्तु दाम्पत्य-प्रेम का उल्लसित भाव है। प्रेम की अनन्यता, परोपकार और कर्त्तव्य की दृढ़ता सर्वत्र विद्यमान है। खण्डकाव्य होते हुए भी यह ग्रन्थ महाकाव्य की-सी गरिमा और उदात्तता लिये है।

'सिद्धार्थ'

श्री अनूप शर्मा कृत महाकाव्य 'सिद्धार्थ' में भगवान् बुद्ध का लोकपावन चरित्र विशद रूप में वर्णित है। जन्म से लेकर निर्वाण तक का सारा आख्यान आ गया है, साथ ही तत्कालीन परिस्थितियों, प्रसंगों और वातावरण का भी सम्यक्रूपेण चित्रण हुआ है। कथा इस प्रकार चलती है :

प्रथम सर्ग में कपिलवस्तु नगरी, वहाँ की श्री-समृद्धि और राजा शुद्धोधन का गुणवर्णन है। समस्त सुख-शान्ति और अक्षय वैभव होते हुए भी राजपरिवार में कोई सन्तति नहीं जिससे राजा-प्रजा दोनों चिन्तित हैं। एक दिन रात्रि में राजा-रानी को स्वप्न होता है और गिरि-कन्दराओं से बुद्धावतार की उद्घोषणा होती है।

दूसरे और तीसरे सर्ग में महारानी माया के गर्भस्थ शिशु का प्रताप, भगवान् बुद्ध का जन्म, ज्योतिषियों द्वारा नवजात बालक की प्रशंसा, बाल-लीलाओं का वर्णन, यज्ञोपवीत-उत्सव, शिक्षा-दीक्षा और मृगया आदि का वर्णन है। चतुर्थ सर्ग से ही राजकुमार सिद्धार्थ में उस वैराग्य-भावना के अंकुर प्रस्फुटित होते दीख पड़ते हैं जो उन्हें सुख-दुःखात्मक अनुभूति से परे क्रमशः कल्याण-मार्ग और निर्विशेष आनन्द-धाम तक पहुँचाकर समरस बना देते हैं। एक दिन प्रभातबेला में सिद्धार्थ अपने साथियों सहित मृगया के लिए वन में प्रस्थान करते हैं, किन्तु अपने साथी के बाण से आहत हंस की दुर्दशा देखकर उन्हें मर्मान्तक पीड़ा होती है। सुख-वैभव में पले राजकुमार ने कभी दुःख की छाया भी न देखी थी। बाहर निकलकर उन्हें चहुँ ओर विषाद-ही-विषाद बिखरा दीख पड़ा। कही वृद्ध कृषक बैल को पीटता हुआ ले जा रहा था, कहीं पक्षी अन्य छोटे जीवों का भक्षण कर रहे थे, कहीं रुदन था और कहीं उत्पीड़न। इस प्रकार समस्त विश्व उन्हें त्रि-ताप से पीड़ित दीख पड़ा। तत्क्षण अंतर्ज्ञान जाग्रत हुआ, सुप्त-चेतना सजग हो उठी, मानस-निमिर मे ज्योति-स्फुलिंग विकीर्ण हो गए और उनकी समाधि लग गई।

> **'दोनों लोचन मध्य दृष्टि अचला, पद्मासनस्था दशा,**
> **नासा के स्वर-साम्य से सहज ही आधार दे प्राण को,**
> **अंतर्भूत प्रभूत ज्योति विभु की साकार हो आ गई,**
> **शून्याम्भोधि-निमग्न बुद्ध जग को सद्धर्म संबोध दे !'**

पंचम सर्ग में कुमार सिद्धार्थ के विराग को जानकर राजा शुद्धोदन को चिंता होती है। वे बसंतोत्सव की तैयारी करते हैं और समस्त सुन्दरी नागरिक कन्याओं को आमंत्रित करके राजकुमार के आमोद-प्रमोद की व्यवस्था करते हैं। यशोधरा के

सौन्दर्य पर कुमार आसक्त हो जाते हैं ।

छठे सर्ग में यशोधरा के पिता सुप्रबुद्ध स्वयम्बर में शस्त्र-स्पर्द्धा का आयोजन करते हैं, जिसमें सिद्धार्थ विजयी होते हैं। सिद्धार्थ और यशोधरा का पाणि-ग्रहण-संस्कार धूमधाम से सम्पन्न हो जाता है । सातवें और आठवें सर्ग में नव-दम्पति की विविध केलि-क्रीड़ा, आमोद-प्रमोद, नृत्य-संगीत, वाद्य और वन-उपवन-वाटिका जैसे मनोरम स्थलों में विहार-विचरण आदि वर्णित हैं । श्रावण, वर्षा आदि ऋतुओं का वैभव और प्रकृति-सौन्दर्य दम्पति के चित्त को कुछ दिन लुब्ध किये रहता है । किन्तु एक दिन मध्यान्ह मं अलस भाव से लेटे हुए कुमार सहसा चौक कर उठ बैठते हैं। उनके मुख पर वही दिव्य आभा और अंतर्ज्ञान की रेखाएँ विकीर्ण हुई दीखती हे जो कुछ समय पूर्व मृगया के अवसर पर फूटी थीं । गवाक्ष में रखी हुई बीणा के मूक तार सहसा झंकृत हो उठते हैं । कुमार को ध्वनित तारों मे से दिव्यवाणी सुन पड़ती है, जो उनके अंतर्बाह्य को विचित्र झंकृति से भर देती है।

नवम सर्ग में उपरामता और वैराग्य-भाव उत्तरोत्तर पुष्ट होता जाता है । महलों का अनन्त वैभव और भोग-विलास कुमार सिद्धार्थ के मन को बाँधने में असमर्थ है । वे उद्विग्न हो उठते हैं और राजाज्ञा प्राप्त करके छन्दक के साथ ग्राम-दर्शन के लिए चल पड़ते हे । कुमार के स्वागत में समस्त गृह-द्वार, गली-सड़कें बाजार-चौराहे आदि सजाए जाते हैं । स्त्री-पुरुष, युवक-युवतियाँ सभी सुसज्जित वेष में आनन्दोत्सव मना रहे हें, किन्तु तभी न जाने कहाँ से एक नितांत जर्जर वृद्ध मनुष्य झोंपड़ी से निकल कर राजकुमार के चरणों में गिर पड़ता है और अन्न की याचना करता है । उसे देखते ही कुमार का चित्त द्रवित हो उठता है और वे जीवन और जगत् के मिथ्यात्व की चिन्ता में विभोर हो जाते हें । जिस प्रकार प्रकाश में पहुँचने से पूर्व अंधकार को पार करना पड़ता है उसी प्रकार किसी वस्तु की सत्ता को सिद्ध करने के पहले न जाने कितने ऊहापोहों, विषम परिस्थितियों आदि का सामना करना पड़ता है । सद्-विचार, विवेक, सद्बुद्धि, कर्त्तव्य-पालन, सत्य की जिज्ञासा, पीड़ितों और दुखियों की सहायता करने की हृदयान्तर्गत अनुभूतियों का जाग्रत करना अत्यन्त कठिन है । सुख-दुःख का चक्र रथ के पहिए के समान निरन्तर घूमता रहता है, अतएव संसार के क्षणभंगुर वैभव पर कभी गर्व न करना चाहिए ।

दशम सर्ग में राजा शुद्धोदन को अनेक रहस्यमय स्वप्नों द्वारा सिद्धार्थ के भावी जीवन का पूर्वाभास हो जाता है। कोई अपरिचित साधु स्वप्न-फल बताता है, जिसे जानकर राजा और भी सतर्क हो जाते हैं और सिद्धार्थ को मायापाश में अविरत बाँधने की अधिकाधिक चेष्टा करते हैं ।

ग्यारहवें सर्ग में पुनः सिद्धार्थ छद्म वेष में छन्दक के साथ नगर-भ्रमण के लिए निकल पड़ते हैं । वहाँ उन्हें एक और अत्यन्त कृशकाय वृद्ध मनुष्य मिलता है, जो बहुविध व्याधियों से ग्रस्त मृत्यु को प्राप्त हुआ ही चाहता है । सिद्धार्थ कुतूहल

और क्षोभवश छन्दक से इसका कारण पूछते हैं और जीवन की अस्थिरता से विचलित हो उठते हैं। कुछ दूर चलकर उन्हें जलता हुआ शव और रुदन करते नर-नारी दीख पड़ते हैं। उनमे घोर विरक्ति जगती है और बारहवें सर्ग में माता-पिता, प्रिय पत्नी, गर्भस्थ बालक, राजपाट और ससस्त सांसारिक बन्धन विच्छिन्न करके वे महा-पथ की ओर अग्रसर होते हैं।

'दिगंत कांपे, हिल वायु भी उठा
खगोल डोला, बहली बसुन्धरा,
उठा जभी पाँव शकाधिनाथ का
प्रगाढ़ निद्रा सब में समा गई।'

तेरहवें सर्ग में सिद्धार्थ के वियोग में राजा, प्रजा और यशोधरा की दीन दशा वर्णित है। चौदहवें सर्ग में कुमार का भिक्षु-वेष में अनेक स्थलों में भ्रमण, सेनाग्राम के निकट कठोर तपश्चर्या, कठिन उपवास, सुजाता से भेंट और अन्त में बोधिवृक्ष की ओर प्रयाण, जहाँ उन्हें दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति होती है। पन्द्रहवें सर्ग में भगवान् बुद्ध को आत्मप्रेरणा होती है और वे काशी, ऋषिपत्तन, मृगदाव और विभिन्न आश्रमों में घूम-घूम कर अपने धर्म का प्रचार करते हैं। एक दीन, निराश्रिता विधवा का मृत पुत्र भी भगवान् के चरणों पर गिरते ही पुनर्जीवित हो जाता है। राजा बिम्बसार के नगर में पहुँच कर तथागत ने यज्ञ में पशुबलि आदि का निषेध करके अहिंसा का भी प्रचार किया। सोलहवें सर्ग में यशोधरा का करुण विलाप और हंस द्वारा पति को संदेश भेजने का वर्णन है। अन्तिम दो सर्गों में भगवान् का कपिलवस्तु में आगमन, पिता, पत्नी एवं नगर-वासियों से मिलन और उनके दिव्य अन्तर्ज्ञान से प्रभावित होकर उन्ही का अनुयायी हो जाना, भगवान् का अन्तिम उपदेश देकर कपिलवस्तु से प्रस्थान, पेंतीस वर्ष तक इतस्ततः पर्यटन, पुनः कुशिग्राम में प्रवेश और अन्त में महासम्बोधि की दीप्ति बिखेरते हुए महानिर्वाण आदि प्रमुख प्रसंगों के बाद इस महाकाव्य का उपसंहार हो जाता है।

'कर स्वप्राण निमज्जित जीव में,
निलय जीव किया निज रूप में,
उदधि-वाष्प-समान खगोल में
प्रभु सदेह तिरोहित हो चले।'

उक्त महाकाव्य इतिवृत्तात्मक होते हुए भी बड़ी ही रंजनकारी कल्पना और गूढ़ व्यंजना से युक्त है। भगवान् बुद्ध के रूप में मनुष्य की आत्मा का चरम विकास दिखलाया गया है, जहाँ वाह्य और अन्तरंग चेतना एकाकार हो जाती है और जीवन की ज्वलन्त जाग्रत परिधि से परे किसी अरूप रूप की सत्ता स्थापित हो जाती है। राजा शुद्धोदन, यशोधरा, छन्दक आदि के चरित्र बहुत ही उत्कृष्ट बन पड़े हैं, कहीं-कहीं हृदयोद्गारों की व्यंजना इतनी मर्मस्पर्शी और करुणा का उद्रेक करने वाली है कि पाठक भावों के प्रवाह में बहने लगता है। नवीनता का समावेश होने पर भा

प्राचीन परम्परा, संस्कृति और वातावरण की उपेक्षा नहीं की गई।

संस्कृत वर्णवृत्तों में 'प्रियप्रवास' की पद्धति पर प्रस्तुत महाकाव्य की रचना हुई है, किन्तु भाषा में वह सरसता नहीं है जो 'प्रियप्रवास' की विशेषता है। भाषा कई स्थलों पर दुर्बोध और दार्शनिक गम्भीर्य से समाच्छन्न है।

'आर्यावर्त्त'

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने विश्वासघाती जयचन्द द्वारा उसकी अपनी जघन्य प्रतिहिंसा की पूर्ति के लिए मोहम्मद गोरी का साथ देकर पराक्रमी पृथ्वीराज को पराजित करना और इस प्रकार चिरकाल के लिए आर्यभूमि को परतन्त्रता की शृंखला में आबद्ध कर देने आदि की प्रसिद्ध ऐतिहासिक दुर्घटना को 'पृथ्वीराज-रासो' के कथानक के आधार पर उक्त महाकाव्य में उल्लिखित किया है। गोरी का आक्रमण और पृथ्वीराज की हार न केवल दो राजाओं की जय-पराजय का प्रश्न है, प्रत्युत् दो देशों, दो प्रमुख जातियों और दो विभिन्न संस्कृतियों के ध्वंस-निर्माण की करुण गाथा है। आर्यावर्त्त और आर्यवीरों के देशप्रेम एवं राष्ट्रीय भावनाओं की ध्वस्त नीव पर उस समय विधर्मियों के राज्य-वैभव का प्रासाद खड़ा किया गया था, जिसके फलस्वरूप न जाने कितने लज्जाजनक दृश्यों को आवृत्त और अनावृत्त किया गया था। तत्कालीन लोगों की रागद्वेष पूर्ण भावनाओं का यह दुर्द्धर्ष चित्र, जो हमारे सामने उपस्थित हो जाता है, एक ओर आर्यवीरों की हीनभावना का द्योतक है तो दूसरी ओर उनके शौर्य और उज्ज्वल चरित्र का परिचायक भी।

प्रथम सर्ग में ही हमें कवि चन्द और राणा समरसी जैसे दो योद्धाओं का दर्शन होता है, जो रण से हताश और खिन्न महाकाली के जीर्ण मन्दिर में लौटकर विजय का वरदान चाहते हैं। वह रात बड़ी भयावह और कष्टप्रद है। इसी निःस्तब्ध निर्मम रात्रि में पृथ्वीराज और गोरी के भाग्य का निपटारा हुआ था। पृथ्वीराज पराजित होकर बन्दी बना लिए गए थे और आर्यभूमि का सौभाग्य-सिन्दूर सदैव के लिए पुँछ चुका था।

प्रथम सर्ग के पश्चात् अवशिष्ट बारह सर्गों में कथा क्रमशः विकसित होती चलती है। सिंह के समान लौह-शृंखलाओं में बद्ध वीर पृथ्वीराज की आँखें फोड़ दी जाती हैं। उधर पृथ्वीराज के समकालीन सखा और सामन्त महाकवि चन्द, जो इस प्रबन्धकाव्य के नायक हैं, पृथ्वीराज को ढूँढ़ने के लिए युद्धभूमि का चक्कर काटते हैं, किन्तु वहाँ के वीभत्स और हृदयद्रावक दृश्यों को देखकर उनके श्रांत-क्लांत मन में ज्वाला-सी धधक उठती है। वे अपने पुत्र जल्ह को महाकाव्य का शेषांश पूर्ण करने का आदेश लेकर स्वयं महानाश का खेल खुलकर खेलने के लिए तत्पर हो जाते हैं। महारानी संयोगिता पति की पराजय के समाचार से विचलित नहीं होती, वरन् क्रुद्ध सिंहनी-सी सजग होकर सभी को युद्ध के लिए ललकारती है। तत्क्षण वह अपने पिता जयचन्द को भी पत्र लिखती है और उसके दुष्कृत्य के लिए उसे धिक्कारती है:

'देशद्रोहियों को अधिकार है न जीने का,
इनसे घिनाता है मरण भी इसीलिए
अब तक घृणित शरीर यह आपका,
जीवित है, जीवित पिशाचवत् खेद है ।'

कवि चन्द महारानी का पत्र लेकर जयचन्द के पास जाते हैं, वहीं उन्हें पृथ्वीराज के जीवित रहने और उनकी आँखें फोड़ दी जाने का समाचार प्राप्त होता है। हर्ष-शोक का भाव लिए वे दिल्ली लौट आते हैं और युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं।

भयंकर युद्ध होता है। आर्यवीर शत्रुओं की सेना से डटकर लोहा लेते हैं और उन्हें परास्त कर देते है। पश्चात्ताप में गलता हुआ जयचन्द समर भूमि में बाण खाकर धराशायी हो जाता है और छटपटाता हुआ प्राण छोड़ देता है। कवि चन्द मौन, निःस्तब्ध से घूमते हुए घटना-चक्र को देखते हैं, किन्तु पृथ्वीराज के न मिलने से उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उनका अणु-अणु पीड़ा से कराहता रहता है। अर्द्ध-रात्रि में दीपक के धुँधले प्रकाश में जब कवि चन्द व्याकुल, विवश और हतचेत से बैठे थे तो अकस्मात् उन्हें देवी अम्बिका की प्रेरणा से एक मार्ग सूझ पड़ता है।

कवि चन्द शाह फकीर के वेष में गोरी को अपने वश में कर लेते हैं और इस प्रकार बन्दी पृथ्वीराज से भीषण कुम्भीपाक कारागार में मिलते हैं। पृथ्वीराज को सभी भावी व्यवस्था से अवगत कराके शाह फकीर गोरी को पृथ्वीराज से मन मन-भर के सात लोहे के तवे एक शब्दवेधी तीर से तोड़ने की विद्या सीखने का आदेश देते हैं। गोरी बड़ा खुश होता है और बड़े समारोह के साथ पृथ्वीराज को दरबार में आमन्त्रित करता है। तवों पर हल्की चोट की गूँज के शब्द से पृथ्वीराज एक बाण से सातों तवे तड़ातड़ तोड़ देते हैं और जैसे ही सुलतान गोरी के मुँह से 'वाह-वाह' के शब्द निकलते है वे ध्वनि का अनुसरण करते हुए दूसरे बाण से उसका प्राणान्त कर देते हैं। सारे दरबार में खलबली मच जाती है। लोग भयभीत होकर इधर उधर भागते हैं और सेना छिन्नभिन्न हो जाती है। कवि चन्द दो तलवार निकालते हैं और एक तलवार पृथ्वीराज को दे देते हैं। दोनों परस्पर कट कर आर्य-भूमि की रक्षा और आर्यवीरों के धर्म के पालन में अपने प्राण विसर्जित कर देते हैं। जल्ह द्वारा उसी समय अन्तिम पंक्ति लिखी जाती है।

उक्त महाकाव्य में सर्वत्र वीर-रस की प्रधानता है, यों अन्य रस भी न्यूना-धिक रूप में समाविष्ट हुए है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महाकाव्य का महाकाव्यत्व और भी वृद्धि पर है। वीरोचित क्रियाकलाप और उदात्त चरित्र-चित्रण कवि की प्रतिभा के परिचायक हैं, साथ ही सजीव वार्त्तालाप नाटकीय तत्त्वों को विकसित करता चलता है। नारी-चरित्र भी इतने उत्कृष्ट बन पड़े हैं जो भारतीय ललनाओं

के अनुरूप और उन्हें कर्त्तव्य-पथ निश्चित करने में एक नवीन प्रेरणा प्रदान करते हैं। युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय और उनकी अनिश्चित मृत्यु का संवाद पाकर महारानी संयोगिता अपने अनुपम साहस और धैर्य का परिचय देती हुई निम्न उद्‌गार व्यक्त करती हैं जो आर्य रक्त की महानता के द्योतक हैं।

'आज पतिहीना हुई शोक नहीं इसका
अक्षय सुहाग हुआ, मेरे आर्य पुत्र तो
अजर अमर है, सुयश के शरीर में ।
कायरों की मृत्यु साँस-साँस पर होती है
काँपता है मरण पराक्रमी की छाया से ।'

कवि चन्द, राणा समरसी, महाराज पृथ्वीराज, पराक्रमी और योद्धा कन्हदेव आदि सभी वीरता के प्रतीक और चिर समर-विजयी हैं, यहाँ तक कि देशद्रोही जयचन्द का दूषित चरित्र भी पश्चात्ताप की आँच में तप कर निखर गया है। अनेक स्थलों पर उसके हृदयमंथन का बहुत ही मर्मस्पर्शी विश्लेषण हुआ है।

'जानता हूँ कल इतिहास लिखा जायगा
जब आर्य-भूमि का, तो मेरे इस कृत्य का
वर्णन रहेगा वहाँ और उसे पढ़ के
युग-युग पाठक घृणा से धिक्कारेंगे ।'

'हल्दीघाटी'

सत्रह सर्गों का उक्त महाकाव्य महाराणा प्रताप के शौर्य, पराक्रम, स्वातन्त्र्य-प्रेम और साथ ही राजपूत वीरों के दर्प और गौरव-भावना से भरा है। हल्दीघाटी की रक्त-रंजित मेदिनी, जहाँ अगणित भारतीय वीरों के शोणित-कण धूलिसात हैं, आज भी दर्शकों के हृदयान्तराल में नूतन उन्माद जगाती है। हल्दीघाटी का समरांगण भारतीय स्वतन्त्रता की तीर्थभूमि है और उसकी करुण गाथा वीरों के हृदय में उल्लास और अतीत स्मृति-चिन्हों को जाग्रत करती रही है।

भारत के इतिहास में यह वह समय था जबकि अकबर की धर्म सम्बन्धी कूटनीति का चक्र सारे राजपूत वीरों के सिरों पर घूम चुका था और उसकी चपेट में बड़े-बड़े वीर नतमस्तक हो मुगल सम्राट् के चरणों में बिछ चुके थे। केवल महाराणा प्रताप ही एक ऐसा सुदृढ़ सेनानी था जो सबके विरुद्ध मस्तक ऊँचा किए खड़ा था और जिसका हृदय गर्व और देश-प्रेम से उफना पड़ रहा था। अकबर उसके इस दम्भ को चूर चूर कर देना चाहता था। वह उसे धूल में मिलाकर उसके गर्वोन्नत भाल पर पदाघात करना चाहता था। महाराणा के अन्य प्रतिद्वंदी राजा भी उसे पराजित देखना चाहते थे। महाराणा का भाई शक्तसिंह क्षुब्ध होकर शत्रुओं से जा मिला था। राजा मानसिंह, जिसके साथ महाराणा ने खाने से इन्कार कर दिया था, अपनी अवज्ञा से तिलमिला कर उस पर गहरी चोट करना चाहता था। फलस्वरूप

दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। विशाल मुग़ल सेना को लेकर मानसिंह ने खमनौर से थोड़ी दूर रक्त तलैया के समीप शाहीबाग़ में पड़ाव डाल दिया। इधर महाराणा प्रताप भी हल्दीघाटी के निकट ही उपत्यका में बाईस सहस्र राजपूत वीरों के साथ छिपे हुए युद्ध का सुअवसर ढूँढ़ रहे थे। एक दिन पर्वतों और जंगलों के मनोरम दृश्यों को देखते हुए मानसिंह भीलों द्वारा घेर लिया गया और वे उसे मारने को उद्यत हो गए। किन्तु राणा न जाने कहाँ से आ पहुँचे और उन्होंने उसके बन्धन खोलकर भीलों को धिक्कारा :

'मेवाड़ देश के भीलो,
यह मानव धर्म नहीं है।
जननी-सपूत, रण-कोविद,
योधा का कर्म नहीं है।
अरि को भी धोखा देना,
शूरों की रीति नहीं है।
छल से उनको वश करना,
यह मेरी नीति नहीं है।'

श्रावण मास में हल्दीघाटी का घमासान युद्ध प्रारम्भ हुआ। राजा मानसिंह हाथी पर और महाराणा अपने प्रिय घोड़े चेतक पर चढ़ कर युद्ध का संचालन कर रहे थे। तलवारों की चकाचौंध और वीरों की लाशो से सारी भूमि पटी थी। खून की नदियाँ बह रही थीं। शत्रु-सेना आग बरसाने वाली तोपों से अग्नि वर्षा कर रही थी, किन्तु राजपूत वीरों ने धधकती प्रचंड अग्नि के मुँह में घुसकर तोपों के मुखों को विपरीत दिशा में मोड़ दिया। महाराणा ने मानसिंह पर आक्रमण किया, किन्तु वह कौशल से बचकर भाग निकला। शत्रु-सेना ने राणा को चारों ओर से घेर लिया। वे अपने घोड़े पर सवार अपनी सेना के व्यूह से बहुत दूर थे। काटते-काटते राणा के हाथ थक गए थे, चेतक शिथिल हो गया था और मेवाड़ का सूर्य अस्त हुआ ही चाहता था। किन्तु वीर झालामान्ना घोड़ा दौड़ाते हुए वहाँ पहुँच गए और उन्होंने झटपट महाराणा का मुकुट अपने सिर पर रख लिया, विजय पताका बरबस हाथों से छीन ली, शत्रुओं ने उन्हें महाराणा समझकर मार डाला। महाराणा को चेतक ले दौड़ा और तब तक दौड़ता रहा, जब तक कि उसके शरीर में चेतना का एक भी स्फुलिंग अवशेष था। फिर शरीर शिथिल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और चेतक ने दम तोड़ दिया। महा-राणा का देशद्रोही भाई शक्तसिंह वीरता के इस रोमांचकारी दृश्य को दूर से देख रहा था। वह विचलित होकर भाई के चरणों पर आ गिरा और दोनों भाइयों ने गले मिल कर अपने अन्तर में घुमड़ती व्यथा को शान्त किया। चौदहवें सर्ग तक हल्दीघाटी की लड़ाई का यही करुण दृश्य अंकित है। पन्द्रहवें सर्ग में महाराणा प्रताप का दर-दर भटकना, राज्यपरिवार की दुर्दशा और अनेक आपत्ति-विपत्तियों का वर्णन है।

कई दिन तक भूखे रह कर महाराणा को सपरिवार जंगलों की खाक छाननी पड़ती है। राजमहिषी और महाराणा की अबोध कन्या, जिन पर कभी स्वप्न में भी दुःख की छाया न पड़ी थी, भूख से तड़पते हैं। कष्टों की पराकाष्ठा हो जाती है, यहाँ तक कि एक दिन बालिका के हाथ से एक जंगली बिलाव घास की रोटी छीन ले जाता है। अपनी प्रिय पुत्री के रुदन और अश्रुओं से महाराणा का धैर्य विचलित हो जाता है। वे संधि-पत्र लिखने बैठ जाते हैं, किन्तु महारानी आकर हाथ रोक देती है। क्या इतनी तपस्याओं और कष्टों का यही उपसंहार, यही परिणाम वांछनीय होता ? नहीं, ऐसा विधाता को मन्जूर न था।

सोलहवें और सत्रहवें सर्ग में भामाशाह की सहायता और धन-दान से महाराणा पुनः अपनी सेना संगठित करते हैं और पहले देवीर, फिर कुंभलगढ़ पर आक्रमण करके विजय प्राप्त करते हैं। मेवाड़ स्वाधीन हो जाता है।

'मेवाड़ हँसा, फिर राणा ने
जय-ध्वजा किले पर फहराई।
माँ धूल पोंछ कर राणा की
सामोद फूल-सी मुसकाई॥'

इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य बड़ी ही ओजस्वी और स्फूर्त भाषा में लिखा हुआ है। राजपूत सैनिकों की बहादुरी और महाराणा का मूर्तिमान शौर्य आर्य-रक्त की महानता का द्योतक है। जहाँ राष्ट्र की सुरक्षा और कर्त्तव्य-पालन का प्रश्न है वहाँ वैयक्तिक सुख-सुविधाओं की चाह गौण हो जाती है। महाराणा का ओजस्वी रूप आज भी शिथिल प्राणों में नवीन चेतना और उत्साह भर देता है।

काव्य के प्रारम्भ में कवि ने महाराणा का ऐसा जीता-जागता चित्र खींचा है, जो न केवल अतीत की महानता का द्योतक है, अपितु भविष्य के लिए भी उसमें जीवनमय ज्वलन्त सन्देश छिपा है। 'हल्दीघाटी' के लेखक श्यामनारायण पांडेय ने महाराणा प्रताप की टीस, वेदना और निर्भीक आत्मा की पुकार को अनुभव किया है और अनुपम शक्ति से प्रस्तुत महाकाव्य में उभार कर दर्शाया है। यहाँ वर्णित ऐतिहासिक कथानक, चरित्र-चित्रण, संलाप और छोटे-छोटे दृश्य कवि की जागरूक चेतना और कभी न बुझ सकने वाली अग्नि से धधक रहे है, जो आज भी मानवीय प्रच्छन्न शक्तियों को उद्बुद्ध करते हैं।

'नूरजहाँ'

'नूरजहाँ' महाकाव्य का मुख्य आधार जहाँगीर-नूरजहाँ की प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रेमकथा है। एक अत्यन्त छोटी सी प्रणय-घटना ने उनके जीवन में जो उथल-पुथल और क्रांति सी मचा दी थी, वही उनके जीवन की विकास-दिशा और आकर्षण का प्रमुख केन्द्र बन गई थी। प्रेम का न ओर-छोर कहीं है, न उसकी जिज्ञासा की कहीं तृप्ति! एक दिन दूर देश से आई उस भोली बालिका मेहरुन्निसा ने शाहजादा

सलीम के अन्तर को झकझोर दिया था। शाही उद्यान में वे दोनों खेल रहे थे। उसके निरीह सौंदर्य और अल्हड़पन में कुछ ऐसी मादकता थी जो मन को मुग्ध किये बिना नहीं रहती थी। खेलते-खेलते शाहजादा सलीम को पुष्प-कलियाँ तोड़ने की प्रेरणा हुई। तभी दो नये कबूतर उसके हाथ लगे थे, उन्हें मेहर के कोमल करों में सौंपते हुए उसने कहा, 'देखो, जरा सँभालो, कहीं उड़ न जायँ।' जैसे ही सलीम उधर मुड़ा कि एक कबूतर संभ्रम में उसके हाथ से छूटकर उड़ गया। इतने में सलीम ने लौटकर :

'एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है?
उसने कहा अपर कैसा? वह उड़ गया स-पर है।
उत्तेजित हो पूछा उसने, उड़ा! अरे यह कैसे?
'फड़' से उड़ा दूसरा बोली, उड़ा देखिए ऐसे।'

बस, उस समय की उसकी यही भोली भावभंगी सलीम के अन्तर्पट पर सदैव के लिए अंकित हो गई और वह मन, प्राण उस पर न्यौछावर कर बैठा। किन्तु जमीला की कुटिल और द्वेषमयी प्रवृत्ति ने इस सुखान्त नाटक पर पर्दा डाल दिया। द्वेष और प्रतिकार भावना से प्रेरित होकर उसने मेहर और सलीम को पृथक् करने का षड्यन्त्र रचा।

जमीला के भड़काने से अकबर ने मेहर का विवाह शेर अफग़न से कर दिया और दोनों को दूर भेज दिया। सलीम को यह वियोग किसी प्रकार भी सह्य न हुआ। सूनी, निःस्तब्ध रात्रि में वह छद्म वेष में मेहरुन्निसा के शयनागार में घुस गया और शेर अफग़न को मार कर कहीं अन्यत्र भाग जाने का प्रस्ताव अपनी प्रेमिका के सम्मुख रखा। मेहर की तो इसी बीच जैसे कायपलट हो गई थी। कर्त्तव्य-वेदी पर उसने अपने प्रेम को ही नहीं वरन् अपनी समस्त आकांक्षाओं, उल्लास और आनन्द को भी न्यौछावर कर दिया था। वह किंचित् भी विचलित नहीं हुई और उसने शाहजादा सलीम के प्रेम को ही नहीं ठुकराया बल्कि उसकी कड़ी भर्त्सना भी की।

किन्तु सलीम के दिल का घाव कभी न भरा। उसमें छटपटाहट, तड़पन, प्रणय पिपासा बनी ही रही। सम्राट् होते ही उसने शेर अफ़ग़ान का वध करा दिया और मेहर को दिल्ली बुला भेजा। चार वर्षों तक मेहर के मन में द्वन्द्व मचता रहा। प्रेम और कर्त्तव्य में कशमकश सी रही, किन्तु अन्त में वही हुआ जो होना था, जो विधि का विधान बन चुका था। जहाँगीर और नूरजहाँ की प्रणय-कथा आज भी इतिहास के पृष्ठों में रंगीन पेन्सिल से अंकित है। इतिहास का विद्यार्थी भले ही नूरजहाँ को मुगल-सम्राट् जहाँगीर की अधीश्वरी और सुशासिका के रूप में जानता हो, किन्तु उसके मानसिक संघात और द्वन्द्वात्मक जीवन का परिचय बहुत कम लोगों को विदित है। बालिका रूप में जो आकर्षण उसने अनुभव किया होगा वह सम्भव है दाम्पत्य जीवन में सघन होकर दुर्ज्ञेय हो गया हो। यह भी संभव है कि वह

अपने वैवाहिक जीवन में उन भग्न सपनों को पुनः साकार देखना चाहती हो जो नियति के क्रूर थपेड़ों से असमय में ही छिन्नभिन्न हो गये थे । शेर अफगन जैसे क्रूर और रूखे पति से प्यार की प्रत्याशा करना जीवन के उन एकाकी, द्वन्द्वात्मक अनुभवों को संजीवन और गति देना रहा होगा जो दुर्भाग्य के अंधड़ में इतस्ततः छितरा कर बिखर गये थे । रागात्मक भाव—सामंजस्य के अभाव में—जब विशृंखल हो जाते हैं तो व्यष्टि को समष्टि में और स्वात्म को अखिलता में परिणत कर देने की आकांक्षा जगाते हैं ।

विवाह के पश्चात् सुन्दरी मेहर के भीतर भी कुछ ऐसी ही आन्तरिक समग्रता व सुस्थिर संतोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । अपने पति के प्रति उसमें वही अपनत्व और एकात्म्य भाव है जो किसी प्रकार भी अविश्वस्त नहीं कहा जा सकता और न मिथ्या आश्वासन ही ।

'दूर नगर से नदी-कूल पर पर्णकुटी हम छायेंगे ।
चिड़ियों के स्वतन्त्र कलरव में गला फाड़कर गायेंगे ।।
जो मलयानिल मुश्किल से जाने पाता महलों भीतर ।
उसी पवन संग वन-उपवन में मैं अब बिहरूँगी सानन्द ।
दूषित वातावरण बीच यों मैं अब नहीं रहूँगी बन्द ।।'

विवाह होते ही मनोद्वन्द्व आरम्भ हो जाता है और दाम्पत्य जीवन की अवधि में तथा उसके समाप्त होने के पश्चात् भी चार वर्षों तक मेहर के प्राणों में उथल-पुथल और हलचल सी होती रहती है । प्रेमी का दुराग्रह पुनः उन प्रसुप्त मधुर भावों को जगाता है जो क्षारवत् से हो गए थे । उसके समग्र जीवन में प्रेम एक ओर है और कर्त्तव्य दूसरी ओर । नूरजहाँ का मन कभी इधर झुकता है और कभी उधर। एक बार उसके मन में पति से सम्बन्ध-विच्छेद करने की बात भी उठती है, किन्तु वह क्षणिक दुर्बलता है । वह पतिव्रता नारी सी कठोर कर्त्तव्य को अन्त तक निबाहती है । पति की मृत्यु के पश्चात् भी उसका संकल्प शिथिल नहीं होता । वह उसी की स्मृति को लेकर जीवित रहना चाहती है, वरन् इस मोड़ पर आकर तो उसका अन्तर्द्वन्द्व और भी तीव्र हो जाता है । जिसे वह प्रेम करती है उसी से उदासीन । जहाँ उसका मन खिंचता है वही से नाता तोड़ कर उपेक्षित रहना । कैसी घोर विडम्बना है ? अन्त में अकस्मात् उसकी धारणा बदलती है, वह भी प्रेमी के आग्रह से और तब जबकि उसका हठीला मन विद्रोह करते-करते श्रांत हो जाता है ।

नूरजहाँ के सजीव जीवन-नाटक को उतारने में लेखक गुरुभक्तसिंह को मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण और विचार-प्रक्रिया के ऊहापोह भरे स्पष्ट चित्र अंकित करने पड़े हैं । जहाँगीर प्रेमी है, किन्तु ऐसा प्रेमी नहीं जो प्रेम के नाम पर तड़प-तड़प कर मर मिटे । उसे स्थूल आधार चाहिए । प्रेम उसे उद्यम-शक्ति और उद्‌बुद्ध कर्म-चेतना भी प्रदान करता है । अनारकली के प्रेम-प्रसंग में भी वही बात

देखने को मिलती है। वह अपने प्रयत्न में हताश न होकर उसे किसी न किसी प्रकार ढूँढ़ लेता है और मरते दम तक साथ नहीं छोड़ता। मेहर के प्रति जब उसका आकर्षण और मन खिंचता है तो भी वह किसी की पर्वाह नहीं करता। शेर अफगन से विवाह होने के पश्चात् वह बिना भय और आशंका के मेहर के महलों में घुस जाता है और सम्राट् होने पर तो अपनी प्रेमिका तक की अप्रसन्नता पर ध्यान न देकर उसके पति को कत्ल करा देता है। मेहर की उदासीनता और उपेक्षा से भी वह हताश नहीं होता। आखिर उसके विद्रोही मन को परास्त करने में वह सफल हो ही जाता है।

जमीला इस काव्य में अत्यन्त कुटिल और नीच नारी है। वह विषमता का विष बोने में सदैव सतर्क है और मिथ्या प्रेम की भित्ति पर दूसरे के जीवन को बर्बाद कर देने में अत्यन्त निर्भीक। प्रारम्भ में वह अनारकली के प्रेम को रौंदकर विजयी बनती है और बाद में मेहर के प्रणय-स्वप्नों को क्रूरता से कुचल देती है। उसका समस्त जीवन छल और प्रपंचों से भरा है। अनारकली का प्रेम-प्रसंग हृदयस्पर्शी है, किन्तु [illegible] हो गया है। प्रमुख चरित्रों के अतिरिक्त दूर तक चलने वाले सामान्य चरित्र भी सुन्दर बन पड़े हैं।

पुस्तक में प्रकृति मनुष्यों की कहानी के लिए सुरम्य वातावरण बन गई है। प्रकृति और मानव जीवन में गहरा तादात्म्य है। मनुष्य दुखी है तो प्रकृति भी उदास और विषादमयी दीख पड़ती है। उनके मनोभाव परोक्ष-अपरोक्ष रूप में प्रकृति के स्पन्दनों में यत्र-तत्र मुखरित हो उठे हैं। कहीं पुष्प हँस रहे हैं, कहीं भौंरे उन पर मधुर गुंजन कर रहे हैं, कहीं पक्षी वृक्षों पर अठखेलियाँ करते हुए चहक रहे हैं और कहीं सुगंधित भीनी हवा मदमत्त बनाती हुई मन को झकझोर जाती है।

गुरुभक्तसिंह ने भाषा को सुघड़ता से ढाला है, पर कहीं-कहीं फ़ारसी-अरबी शब्दों के प्रयोग खटकते हैं।

'कुरुक्षेत्र'

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र' महाभारत के युधिष्ठिर-भीष्म संवाद को लेकर लिखा हुआ ऐतिहासिक काव्यग्रन्थ है, जिसमें मानवता के रक्त रंजित इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए युद्ध की समस्या का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लेखक के शब्दों में—"युद्ध एक निन्दित और क्रूर कर्म है; किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमन्त्रण देता है? या उस पर, जो इस जाल को छिन्नभिन्न कर देने के लिए आतुर है?" ये ही दो महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न हैं जो प्रत्येक राष्ट्र और मानवता के सम्मुख मूर्त्त हो उठते हैं। प्रायः प्रत्येक युद्ध में शुरू होने के पूर्व परस्पर विरोधी वृत्तियों में संघर्ष हुआ करता है, कशमकश-सी होती है:

> **'हर युद्ध के पहले द्विधा लड़ती उबलते क्रोध से,**
> **हर युद्ध के पहले मनुज है सोचता, क्या शस्त्र ही—**

मनुष्य लड़ना नहीं
इच्छुक है, किन्तु उसमें मनोद्वंद्व और ..
त्तियाँ, विद्रोहाग्नि और प्रतिशोध की भावना जागत।

'विश्व-मानव के हृदय निर्द्वेष म,
मूल हो सकता नहीं द्वेषाग्नि का,
चाहता लड़ना नहीं समुदाय है,
फैलती लपटें विषैली, व्यक्तियों की साँस से।'

आखिर विध्वंस से लाभ क्या है ? मनुष्य-मनुष्य को भक्ष्य बनाकर उसका उष्ण रक्त पीकर किस चिर-पिपासा को शान्त करना चाहता है ? किस आनन्द के शीतल रस से आप्लावित होकर जी की जलन मिटाना चाहता है ?

कुरुक्षेत्र के भीषण रक्तपात और हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर युधिष्ठिर के मन में भी यही एक प्रश्न बार-बार गूँजता है :

'किन्तु, इस विध्वंस के उपरान्त भी,
शेष क्या है ? व्यंग ही तो भाग्य का ?'

ऊहापोह और शंकाकुल मन:स्थिति में युधिष्ठिर भीष्म के पास जाते हैं और अहिंसा का प्रतिनिधित्व करते हुए युद्ध के विरुद्ध मनोबल और आत्मिक शक्तियों का पक्ष लेते हैं।

'जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का
तनबल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता,
तप से, सहिष्णुता से, त्याग से, सुयोधन को
जीत नई नींव इतिहास की मैं धरता
और कहीं बज्र जलता न मेरी आह से जो
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता,
तो भी हाय, यह रक्तपात नहीं करता मैं
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता।'

'कुरुक्षेत्र' को पढ़ते हुए हमें यह न विस्मृत कर देना चाहिए कि वह आज के युग की सृष्टि होते हुए भी महाभारतकालीन युद्ध की धारणाओं को लेकर लिखा गया है। भीष्म के युद्ध-सम्बन्धी निकट निष्कर्ष आज के युद्ध की समस्याओं का समाधान नहीं, वरन् उस युग के हिंसात्मक साधनों के अनुभवसिद्ध तथ्य हैं। उन दिनों सामाजिक समता, सद्भावना और अन्याय के विरुद्ध न्यायोचित व्यवस्था के लिए युद्ध हुआ करते थे, यों स्वार्थ-लोलुपता, कुटिल द्रोहाग्नि, प्रतिशोध-भावना और भीतर ही भीतर घुमड़ता ज़हर भी इसका कारण होता होगा। उन दिनों युद्ध की अनिवार्यता

...तशोध

...ा परिधि से परे था।

... उपर्युक्त मतवादों की पुष्टि की है।

...ान से की है जो प्रकृति के विस्फोटक तत्त्वों को समेटे

...स आ धमकता है और प्रकृति की विकृतियों एवं जराजीर्ण वस्तुओं

...साथ उड़ा ले जाता है। ऐसे तूफ़ान से उन वृक्षों को किंचित् भी हानि नहीं होती जो सशक्त और सुस्थिर हैं। जैसे तूफ़ान अनिवार्य और प्राकृतिक है, उसी प्रकार युद्ध का उत्तरदायित्व भी किसी एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र पर नहीं, बरन् वह सामूहिक विस्फोट है। यह किसी के रोके नहीं रुक सकता।

भीष्म के मत से तप, त्याग, विनम्रता, अनुराग, दया, क्षमा मानवीय गुण होते हुए भी सामाजिक जीवन के अनुपयुक्त हैं। जब तक असत् पक्ष का प्राधान्य होगा तब तक युद्ध अवश्यम्भावी है, वह होगा ही। लेखक ने आधुनिक साम्यवादी दृष्टि-कोण भी प्रस्तुत किया है :

**'जब तक मनुज-मनुज का यह,
सुख भाग नहीं सम होगा।
शमित न होगा कोलाहल,
संघर्ष नहीं कम होगा।'**

सातवें सर्ग में जीवन-दृष्टि को लेकर समता-विधायक ज्ञान और मानव-धर्म की व्याख्या की गई है। मनुष्य सदैव मनुष्य पर अविश्वास ही करता रहा है। आज तक वह कभी द्वेष-द्रोह से मुक्त न हो सका। करोड़ों मनुष्य आयु-पर्यन्त मानव का कल्याणकारी रूप खोजते रहे हैं, किन्तु किसी को मनुष्यता के लिए निराश होने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्यता का नव-विकास सदैव होता आया है। हमें निष्क्रिय नहीं सक्रिय होना चाहिए। युद्ध शमन का समाधान है—दुष्प्रवृत्तियों का दमन और सद्प्रवृत्तियों का उद्रेक।

**'रण रोकना है तो उखाड़ विषदन्त फेंको,
वृक व्याघ्र भीति से मही को मुक्त कर दो।'**

एक दूसरा समाधान भी कवि ने प्रस्तुत किया है :

**'अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र
दांतों में कराल कालकूट-विष भर दो।'**

कवि के मत से युद्ध, हिंसा और विनाश हेय है, वह मनुष्यता के ह्रास और पतन का सूचक है, किन्तु साथ ही वे आततायी और जन-शोषक भी अक्षम्य हैं जो दूसरों की सुख-शांति का अपहरण करते हैं। कवि ने इन्हीं दोनों पक्षों का जोरदार समर्थन किया है। यह आश्चर्य है कि समयुगीन होकर भी कवि ने महात्मा गांधी की

अहिंसा दृष्टि और असहयोग की नीति की उपेक्षा क्यों की है। न तो आधुनिक दृष्टि से युद्ध-सम्बन्धी समाधान प्रस्तुत किए गए हैं और न महाभारत के भीष्म-युधिष्ठिर संवाद को सुदृढ़ पौराणिक आधार-भूमि ही मिली है। दोनों की अधर में लटके हुए की-सी डाँवाडोल स्थिति है। इन सब असंगतियों के बावजूद भी यह काव्यग्रन्थ अपनी निजी विशेषताओं के कारण हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका आख्यान प्राचीन और ऐतिहासिक तत्त्वों से पूर्ण है। अपने युग की राजनीतिक परिस्थितियों और विचारधारा को प्रस्तुत करते हुए इसमें आज के मत-वादों की भी सुन्दर विवेचना हुई है। युद्ध का विषय नीरस है, किन्तु इसी शुष्क और नीरस विषय को रुचिकर और जीवन-तत्त्वों से समन्वित कर दिया गया है। काव्य की भाषा भी अत्यन्त ओजपूर्ण और प्रवाहमयी है। न तो कल्पना की कोरी उड़ानें भरी गई हैं और न कृत्रिमता का सहारा लेकर पाठकों को वास्तविक तथ्य से ही दूर रखने की चेष्टा की गई है। विषय की गहनता, निरीक्षण की सूक्ष्मता और वर्णन की स्पष्टता से भी अधिक स्वाभाविकता और सरसता सराहनीय है, जो मानवीय मनोवेगों को उद्वेलित करती हुई पाठकों पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाती है।

'मेधावी'

हिन्दी के प्रगतिशील लेखक डॉक्टर रांगेय राघव का 'मेधावी' कुछ नई परम्पराओं को लेकर चला है। लेखक के शब्दों में—'प्रस्तुत काव्य इतिहास की तरह बद्ध नहीं है। अनुभूति और विचार के कारण कहीं-कहीं इतिहास की तिथियों का ध्यान नहीं रखा गया, क्योंकि तिथियों का महत्त्व भी स्वयं अनुभूति में है, इस प्रकार का काव्य लिखते समय मात्र। एक नायिका—एक नायक के चरित्र में इतना रूप समाना असंभव है। इस काव्य के नायक और नायिका इतिहास और गति हैं, और मेधावी के द्वारा वे प्रकट हुए हैं।'

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि मेधावी ही प्रस्तुत काव्यग्रन्थ का एक मात्र नायक है, जिसका चैतन्य ज्ञान अणु-अणु में बिखरा है। युग-युगान्तर से मानव की तृष्णा समय के स्तर को भेदकर निर्मम अट्टहास-सा कर रही है। न जाने कितने अरमान, वासनाएँ, उन्माद, जन्म, मृत्यु और अपराजित जीवन-शक्तियाँ युग-युग की निर्बाध गति में समाहित हो गई हैं। इतिहास परिवर्त्तनशील है और मानव समय की गति के साथ सापेक्ष रूप में बद्ध है। उसके ध्येय का ओर-छोर अनन्त है। मेधावी उद्भ्रांत और चिंतित बैठा हुआ अनन्त प्रसार को आँखें फाड़े देख रहा है। सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र सभी महानृत्य में संलग्न हैं। निस्सीम नभ में ज्ञान-विहग कल्पना के पंखों पर उड़कर थाह पाने में असमर्थ है। रवि, शशि और तारे उसकी निस्सीमता में बिन्दुवत् हैं। ग्रह-उपग्रह सभी अविश्रांत गति से चल रहे हैं, किन्तु उसका आदि और अन्त अज्ञात ही है। मनुष्य का अहंकार शिरा-शिरा में निनादित हो रहा है, किन्तु तो भी मनुष्य को शांति और तृप्ति नहीं है।

द्वितीय सर्ग में मेधावी अगणित नक्षत्रों और सौर-चक्र के अविरत नर्तन को देखकर चकित हो जाता है :

'तारों का प्रिय सुन्दर नर्तन
गति का नर्तन
नूपुर छन-छन
कितना विराट है शून्य खिला
जिसमें हम अणु मकरन्द अमल
परिवर्त्तन के झोंकों से उड़
दिशि-दिशि में फैले हैं खिल-खिल।'

तीसरे और चौथे सर्ग में मेधावी को सम्पूर्ण सृष्टि महानृत्य में संलग्न दीख पड़ती है। पृथ्वी और आकाश का अगम्य विस्तार उसके दृष्टिपथ के सम्मुख आकर बिछ जाता है। पाँचवें सर्ग में मेधावी को नभमंडल में सौर-चक्र बनते दीख पड़ते हैं मानों महाशून्य में ग्रह-उपग्रहों का भीषण द्वन्द्व मचा हुआ है। उसे लगता है जैसे विराट् का अणु-अणु चैतन्य हो उठा है और पृथ्वी सूर्य को देखकर मुस्करा रही हो।

छठे सर्ग में मेधावी को पृथ्वी पर प्राणचिन्ह स्पंदित हुए दीखते हैं और अमित शक्ति शत-शत धाराओं में उच्छल हुई जान पड़ती है। यों मानव-शक्ति सदैव प्रकृति से संघर्ष करती रही है, तो भी मेधावी विस्मय-विमुग्ध हो देखता है कि मनुष्य का इतिहास कितना अल्प है, कितना नगण्य है। मानव कितना लघु है—अथाह समुद्र में केवल बिन्दुवत्, किन्तु तो भी मानव होने के नाते उसमें अपने प्रति प्यार जगता है। वह आदिम मानव से शनैः शनैः उन्नति की ओर अग्रसर होता है। उसका ज्ञान क्रमशः विकसित होता है। संघर्ष करता हुआ वह आगे बढ़ता जाता है। वह उस राह का पथिक है जहाँ कोई व्यवधान नही, जहाँ ईश्वर और अमरत्व नहीं। जो कल सत्य था वह आज भी सत्य है, व्यर्थ के झमेले में भूलकर प्रगति को अवरुद्ध करना है।

नवें सर्ग में मेधावी को आकाश में उषा फूटती नज़र आती है। सहसा उसकी आँखों में सिहरन-सी भर जाती है और वह आनन्द विभोर हो उठता है :

'व्याकुल नयनों की कारा में
यह हरित आभ क्यों जाग उठी ?'

पृथ्वी के रंगमंच पर उसे रोते और हँसते मानव दृष्टिगत होते हैं। कभी प्राणों की नीरवता प्रकृति में लय होकर आँसू बहाती है और कभी अविराम दृश्यरूपों की मादकता में विभोर हो चंचल हो उठती है। हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् सभी महाप्रकृति में समरूप हैं, किन्तु अकस्मात् मेधावी का यह स्वप्न भंग हो जाता है और वास्तविकता उसकी आँखों में नाच उठती है :

'ओ मूर्तिमान प्रश्नोत्तर तू
अपनी सत्ता का खेल देख,
चल उठा समय के बीच आज
इतिहास पृष्ठ में उलट चला
रे मेधा का रोही अबाध
में अपनेपन को खोज चला।'

इतिहास के पृष्ठ उलटते चलते हैं और युग-युग की ऐतिहासिक घटनाएँ एक-एक करके उसकी आँखों के समक्ष बिछ जाती हैं। आदिम जातियाँ द्रविड़, कोल, मंगोल तथा प्राचीन भाषा, संस्कृति और कला सभी कुछ कल्पना में सजग हो उठते हैं। सोचते-सोचते मेधावी श्रांत हो जाता है, तब समय में से प्रतिध्वनि उठती है:

'कौन हो तुम उन्मत्त विभोर,
दुखी होकर करते संघर्ष
युगांतर से पथ पर चल किंतु,
रुद्ध हो जाता विमल अमर्ष ?'
'अरे मैं हूँ मानव, अभिराम
चला था स्वप्नों का ले भार
किंतु अब देख रहा हूँ भ्रांत
नहीं मिलता मुझको सुखसार।'

अंतिम चौदहवें सर्ग में मेधावी न्याय और अन्याय के घोर संघर्ष को देख कर मुस्करा उठता है। मज़दूर, निम्न मध्यवर्ग, कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक—सभी अपनी-अपनी धुन में लीन हैं और फासिस्टवाद, साम्राज्यवाद, प्रगतिवाद तथा भिन्न-भिन्न मत-मतांतरों का बोलबाला है। काव्य के अंत में कवि उन्मुक्त और सुखमय जीवन की कामना करता है।

'एक घर सी होगी यह भूमि
और भौतिक के दुख का चूर
बनायेंगे मानव वह पंथ
जहाँ शोषण का रहे ना नाम
जहाँ का सत्य वास्तविक सत्य
जहाँ स्वातन्त्र्य साम्य सुख शांति
करेंगे निशि दिन नृत्य
और परिवर्तन-पथ पर सतत
ज्ञान का पकड़े हाथ
चलेंगे जगमग मुक्त...।'

प्रस्तुत काव्यग्रन्थ में अनूठी कल्पना और विषयों की अनेकरूपता के साथ-साथ उनके विधान का ढंग भो निराला है। कवि प्रगतिशील है और उसने पुरातन बन्धनों को विच्छिन्न करके नवीन काव्य-पद्धति अपनाई है। अभिव्यंजना की प्रगल्भता और भावनाओं की ऐसी सुकुमार योजना मिलती है कि पाठक विस्मय-विमुग्ध हो वर्णन-वैचित्र्य में खो जाता है। दर्शन, भूगोल, इतिहास, काव्य, समाजशास्त्र आदि सबका इसमें समाहार हो जाता है, अतएव विषय-प्रसार व्यापक है। लेखक ने लिखा है:

"मैंने किसी अन्त को ध्येय या लक्ष्य साबित नहीं किया—जीवन की गति ने अपने आपके निष्कर्ष प्रतिध्वनित किये हैं।"

'कुणाल'

प्रस्तुत खण्डकाव्य का उद्देश्य सुप्रसिद्ध अशोक के पुत्र कुणाल का महत् चरित्र अंकित करना है। साम्राज्ञी तिष्यरक्षिता की कलंक-कालिमा कुछ ऐसी सघन होकर इतिहास के पृष्ठों में समा गई है जिसका सर्वथा लुप्त हो जाना असम्भव ही है। प्रथम तीन सर्गों में मगध की राजधानी पाटलिपुत्र का वैभव, कुणाल का जन्म, बालक्रीड़ा और उसके तारुण्य की लावण्यमयी छवि वर्णित हैं। राजकुमार अत्यन्त सौम्य और सुन्दर है। उसका अंग-प्रत्यंग सुडौल और कान्तिमय है, किन्तु सबसे शोभन और विमुग्धकारी उसके विशाल नेत्र हैं जो बरबस सबका ध्यान आकर्षित कर लेते हैं।

> 'था सभी शोभन मनोरम
> किन्तु लोचन पद्म
> थे बड़े ही हृदयस्पर्शी
> स्वर्ग-सुख के सद्म।'

चौथे सर्ग में कलिंग देश को जीतने के उपलक्ष्य में एक बृहद् उत्सव मनाया जा रहा है। प्रशस्त ललाट, विशाल नेत्र, आजानु बाहु और हवा में थिरकते उत्तरीय एवं चकाचौंध करते आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित सम्राट् अशोक इस प्रकार सिंहासनारूढ़ हैं मानों मौर्य-वंश का सौभाग्य-सूर्य अपने समस्त वैभव और कान्ति को बिखेरता हुआ विराजमान हो। चहुँ ओर आनन्द और उल्लास कील हर-सी दौड़ी पड़ रही है। सभी आनन्दमग्न हैं और नृत्य, गायन आदि तरह-तरह के अभिनय दिखाए जा रहे हैं। मंत्री, सभासद, प्रजा और समस्त रनवास भी उपस्थित है। सहसा युवराज कुणाल नाट्य-मंच पर कामदेव का वेष बनाए और हाथों में पुष्पबाण लिये प्रविष्ट होता है। उस समय की उसकी मधुर भावभंगी पर रानी तिष्यरक्षिता मुग्ध हो जाती है। गवाक्ष में से झाँकते हुए उसके नेत्र मचल से उठते हैं। हृदय विचलित हो जाता है और प्राणों में सिहरन सी भर जाती है। महलों में लौटने पर कुछ देर रानी अर्द्ध-मूच्छित-सी पड़ी रहती है। पाँचवें सर्ग में रानी का अंतर्मंथन बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया गया है। प्रेम का ऊहापोह बड़ा ही स्वाभाविक है, किन्तु माता का पुत्र के प्रति गंदी वासना का उद्रेक कुछ ऐसा घृणित और जघन्य

अपराध है जिसका मार्जन नहीं किया जा सकता। लेखक ने जितनी ही सरलता और निर्विकार भाव से रानी के उफनते कुत्सित प्रणय का प्राबल्य दिखलाया है उतनी ही तीव्रता से पाठकों के हृदय में विद्रोह और घृणा का भाव जाग्रत होता है। छठे सर्ग में प्रणय-निवेदन का प्रसंग है। रानी जब इठलाती, मचलती और अपनी कंचन सी काया को नाना आभूषणों और सुन्दर वस्त्रों से आवृत्त करके युवराज कुणाल से प्रणय की भीख माँगती है तो स्वयं लज्जा भी लजा जाती है। राजकुमार का उत्तर कितना स्वाभाविक है, साथ ही कितना सामयिक और संक्षिप्त :

'मर्माहत से थे अब कुणाल
श्रद्धानत प्रणत बने अस्थिर।
'आर्ये'। तुम हो जननी मेरी।
सोचो तो क्या कहती हो फिर ?
कैसे यह साहस हुआ तुम्हें।
माता ! अब राजभवन जाओ।
कुछ पूजन-यजन करो जिससे
हलचल में परम शान्ति पाओ।'

मर्माहत और चोट खाई हुई सर्पिणी-सी रानी भीतर ही भीतर विष उगलती है। अपमान की आँच से उसका अन्तर धधकता है और वह प्रतिशोध के लिए सजग और सचेष्ट हो उठती है। सम्राट् अशोक से सप्ताह भर के लिए वह शासन-भार अपने हाथों में ले लेती है। राजा-रानी का मान-मनोवल का दृश्य कैकेयी-दशरथ प्रसंग से प्रेरित है, उसमें किंचित् नई उद्भावना कर दी जाती तो वह शायद अधिक स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी बन पड़ता।

वासनामिश्रित प्रतिशोध की लपटें क्रमशः अधिक उग्र हो उठती हैं :

'मैं इस छल का बदला लूँगी।
प्रतिहिंसा बनकर धधकूँगी।'

रानी छद्म रूप से एक पत्र लिखती है जिसमें तक्षशिला स्थित अमात्य को कुणाल की आँखें निकालकर पत्नी सहित निर्वासित करने का आदेश है। नवम सर्ग में चर के मन का द्वंद्व चित्रित किया गया है, किन्तु यह समझ में नहीं आता कि दन्तमुद्रा से मुद्रित और बंद पत्र को चर ने कैसे खोल कर पढ़ा होगा अथवा षड्यन्त्र की जानकारी प्राप्त करने के बाद भी वह अमात्य और राजकुमार के समक्ष मूक क्यों बना रहा। अच्छा होता यदि उसे ऐसे ही अनजान रहने दिया जाता।

दशम सर्ग में कुणाल और उनकी पत्नी कांचन का निर्वासन पढ़कर राम, सीता, लक्ष्मण का वनगमन याद आ जाता है। राजकुमार कुणाल चलते हुए अपनी बीन ले लेते हैं और वन-उपवन, पर्वत-प्रदेश और बीहड़ स्थानों में पथगीत गाते हुए आगे बढ़ते रहते हैं। छोटे-छोटे गीत जीव की निस्सारता और समय-परिवर्त्तन का

करुण संदेश दे जाते हैं। अन्तिम चार सर्गों में राजकुमार का प्रत्यागमन, सम्राट् अशोक से भेंट, पश्चात्ताप, रानी को दंडाज्ञा, किन्तु कुणाल के आग्रह से क्षमादान और फिर कुणाल के राज्याभिषेक के पश्चात् सम्राट् का काषाय वस्त्र धारण करके राजधानी से प्रस्थान आदि का प्रसंग है जिसके साथ ही साथ काव्य का उपसंहार हो जाता है।

कथानक की दृष्टि से घटनाओं का संयोजन सुन्दर हुआ है, किन्तु कहीं-कहीं केन्द्रस्थ विषयों की गति विशृंखल-सी लगती है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से रानी तिष्यरक्षिता और कुणाल के चरित्र सुन्दर उतरे हैं। रूपगर्विता, उच्छृंखल, प्रसाधन की पुजारिणी, अतृप्त वासनाओं की समष्टि और अपनी शत-शत कुत्सित मनोवृत्तियों से घिरी नारी कितनी खूँख्वार और भयावह हो जाती है इसका बारीकी से अंकन हुआ है। कुणाल का चरित्र असाधारण दृढ़ता, धैर्य और सहनशक्ति का परिचायक है जो गरिमामय और उदात्त होकर उसकी गम्भीर प्रकृति के अनुरूप ही है। किन्तु सम्राट् अशोक जैसे दुर्द्धर्ष नरेश को इतना अकर्मण्य, समस्त कार्य-व्यापारों से अनभिज्ञ और स्त्रैण चित्रित करना ठीक नहीं। दूसरे सर्ग के पश्चात् कुणाल की अपनी माता का भी कहीं उल्लेख नहीं है। राजकुमार आँखें निकालने, पत्नी सहित निर्वासित होने और राजा व प्रजा के बिना किसी विरोध-विग्रह के वन-वन भटकना आदि घटनाएँ कुछ ऐसी ऐकान्तिक हो गई हैं जो अस्वाभाविक सी लगती हैं।

श्री सोहनलाल द्विवेदी ने प्राचीन सामन्तकालीन रुचि, संस्कारों और वातावरण का यथातथ्य चित्रण किया है। काव्य की भाषा सरल और प्रवाहमयी है। शान्त और करुणरस का उचित पर्यवसान, साथ ही इतिहास-प्रसिद्ध घटना का काव्यगत निर्माण कुछ ऐसा अनूठा बन पड़ा है जो कवि की कलात्मक रुचि और गुणग्राही प्रतिभा का द्योतक है।

'कैकेयी'

सामाजिक धारणाओं में चाहे कोई कवि कितना ही अग्रगामी क्यों न हो, किन्तु किसी भी कृतित्व में ऐतिहासिक मर्यादा और क्रमागत कथानक की परम्परा को सर्वथा विच्छिन्न करके आगे नहीं बढ़ा जा सकता। नूतनता के फेर में कवि ने जिस आधार-भूमि पर कैकेयी के चरित्र-चित्रण का यह साहस किया है, वह अमनोवैज्ञानिक और समस्त रूढ़ मर्यादाओं के क्रम को उलट देने वाला है। प्रथम सर्ग में ही कैकेयी न जाने कितनी-कितनी काल्पनिक यंत्रणाओं और ज्वलन्त वेदनात्मक भाव-समूहों से आक्रांत हो रही है। उसके अंग-प्रत्यंग में सिहरन है, प्राणों का अणु-अणु क्रंदन कर रहा है, हृदय के दग्ध मरुस्थल में विप्लवकारी मौन व्यथा व्याप्त है और वह निःस्तब्ध रात्रि में रो-रोकर अपनी हाहाकारमयी, घुमड़ती भावनाओं का मनुहार कर रही है।

"कैसे उन भावों को बाँधू
स्मित के सुरभित तारों में

कैसे तोलूँ रागिणियों को
विह्वल आर्त्त पुकारों में।
आज आँधियों के समूह में
इच्छाएँ कम्पित-गाता
टकराती हैं इच्छाओं से,
ज्यों ग्रह से ग्रह टकराता।
ज्वालाओं के कोलाहल में
कैसे लिए रहूँ मन को
बन्द करूँ कैसे पलकों को
आँसू विह्वल क्रंदन को।'

प्रथम तीन सर्गों तक रानी की इस अज्ञात छटपटाहट का कोई कारण उल्लिखित नहीं किया गया। यह भी स्पष्ट नहीं है कि रानी क्या चाहती है और उसमें किस दैवी प्रेरणा से ये मनोभाव जाग्रत हुए हैं। चतुर्थ सर्ग में राम के राज्याभिषेक की तैयारी है, अयोध्या में आनन्द उमड़ा पड़ा रहा है, नगर का कोना-कोना प्रकाश से जगमगा रहा है। सहसा कैकेयी के सूने, अन्धकारमय हृदय में भी आशा का दीपक टिमटिमा उठता है और वह जैसे भीतर ही भीतर अपने को टटोलती है। उसके मन में भीषण द्वंद्व होता है।

'कर्त्तव्य ! तुम्हारी वाणी
बजती है अब भी मन में,
पर एक करुणतम ममता
पथ रोक खड़ी जीवन में।'

रानी का वरदान माँगने का ढंग भी निराला है।

"राजतिलक रुक जाय राम का
हो आदेश अयोध्या छोड़ें,
राजतिलक की बेला में वे
सिंहासन का बन्धन तोड़ें।"

अन्तिम सर्गों में राम का वन-गमन, दशरथ की मृत्यु और भरत का अयोध्या लौटने आदि का प्रकरण बिलकुल एक नये रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो अत्यन्त अस्वाभाविक और विचित्र-सा लगता है। क्या ही अच्छा होता कवि ने इस काल्पनिक वृत्त के मोह में न पड़कर अपनी प्रतिभा का रामायण की कैकेयी को ही मनोवैज्ञानिक पद्धति से चित्रित करने में उपयोग किया होता। सौतिया डाह की तीव्र ज्वाला, घुमड़न, कुत्सित मोह, प्रेमान्ध नारी की धधकती लालसाएँ उसे अनचाहे ही कितने निम्न स्तर पर ले आती हैं—इसका मार्मिक विश्लेषण अधिक समीचीन हो

सकता था। मन्थरा की प्रेरणा से कैकेयी के मस्तिष्क की जो एक विशेष स्थिति बन गयी थी, उसकी विचारधाराएँ जिस दिशा और घृणित लक्ष्य पर आ टिकी थीं और अवश एवं दुर्दम्य मोह के फलस्वरूप वह जो अनुचित हठ पकड़ बैठी थी, उसकी यदि सच्ची तसवीर यहाँ प्रस्तुत की जाती तो वह पाठकों को अधिक रुचिकर हो सकती थी। कैकेयी के हठ में कितना मनोवैज्ञानिक तथ्य है, आशा और विश्वास के विरुद्ध पुत्र द्वारा तिरस्कृत होने पर उसमें कैसे-कैसे दारुण मनोभाव जाग्रत होते हैं, मोह और अज्ञान का आवरण हटते ही किस प्रकार वास्तविकता उसकी भीतरी चेतना में कौंध जाती है तथा इसके पश्चात् उसकी असह्य अन्तर्व्यथा, अनुताप, ग्लानि, आजीवन कलंक-कालिमा की कुत्सा आदि इस चिरस्मरणीय गाथा का हूबहू चित्र यदि हमारी कल्पना पर उतार दिया जाता और सभी क्रमिक घटनाओं का सूक्ष्म अंकन कवि की लेखनी से हुआ होता तो वह अधिक उपादेय और अभिनन्दनीय हो सकता था।

कारण—ऐसे कथानक, जिनका सम्बन्ध इतिहास से जुड़ा रहता है, लोक-प्रचलित धारणाओं को लेकर यदि वैसी ही परम्परागत रूढ़ियों में ढाले जाते हैं तो विशेष सफल होते हैं अर्थात् ऐसे तथाकथित ऐतिहासिक आख्यान न्यूनाधिक अंशों या काल्पनिक तथ्यों का सहारा तो ले सकते हैं, पर कहानी का मूल ढाँचा—जो रूढ़ि या परम्परा के रूप में जन-जीवन में धँस चुका है—निजी कल्पना के आधार पर सर्वथा नये ढंग से रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। कैकेयी की परम्परागत, लोक-प्रचलित धारणाओं की एक इकाई है जो अपनी सीमाओं में चलती आई है। सीमा निरन्तर बढ़ती है, पर किसी भी सीमा में उतना निरंकुश होना उचित नहीं जहाँ कि ऐतिहासिक तथ्यों को अस्वाभाविक रूप में तोड़ा-मरोड़ा जाता हो।

'स्पर्श कर गई कैकेयी के
प्राणों को कोमलता एक
ममता जिसका नाम, स्नेह से
होता है जिसका अभिषेक।
साँसों में बज पड़ा बीन सा
मंगल उत्सव का मधुमास
शत-शत धाराओं में उमड़ा
मन का वाष्पाकुल उल्लास।'

कैकेयी का यह सर्वथा नया परिवर्तित रूप बड़ा ही विचित्र और अकल्पनीय प्रतीत होता है। यों तो परिस्थितियों और भवितव्यता वश कैकेयी के हाथों जो कुछ गुज़रा उसका अन्ततः परिणाम अच्छा ही हुआ और अनजाने ही आसुरी शक्तियों के ध्वंस से लोकमंगल कार्य सम्पन्न हुआ, किन्तु इसके ये मानी नहीं कि युगीन परिवेश को अंगीकार न करके हम प्राचीन कथा की प्रचलित मर्यादाओं को भंग कर,

अथवा तत्कालीन परिवेश की प्रयोजनीयता को समझे बग़ैर ऐसे मतवादों की स्थापना करें जो यथार्थ से पूर्ण तादात्म्य स्थापित न कर सकती हों। किसी भी कथा को हम चाहे जिस परिदृश्य में देखें, जिस मर्यादा में बाँधें, पर नई विचारणाएँ, नये नैतिक मान या नए जीवन-मूल्यों की स्थापना निरी वैयक्तिक स्वतन्त्रता अथवा मौलिक विवेक की निरपेक्ष सत्ता पर ही निर्भर नही करती। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में, मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से, सामाजिक संघर्षो या विधि-विडम्बना से उपजी परिस्थितियाँ और उस समूचे वैविध्य में किसी भी लोक-प्रचलित परम्परागत कथानक का सर्वांग सावयव चित्र विकृत नही किया जा सकता।

कैकेयी में अनायास ही जिस द्वन्द्व की सृष्टि होती है उसका न केवल आध्यात्मिक और नैतिक स्तर है, वरन् व्यावहारिक पहलू भी है। प्रतिभाशाली कलाकार उन मूल भूमियों को सहज ही उपलब्ध कर लेता है जहाँ जीवन-दर्शन में मानव-अनुभूतियों के मौलिक तत्त्वों की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। किसी भी पात्र या व्यक्ति के व्यक्तित्व का आत्यन्तिक विघटन अथवा उसे बिल्कुल ही दूसरे रूप में प्रस्तुत करना, मेरी दृष्टि में, उपयुक्त नही है। कैकेयी का व्यक्तित्व आज चारित्र्य-विकास के लिए इष्ट नही, अपितु अपनी रूढ़ि-परम्पराओं के बल पर पनप रहा है। रागद्वेष से प्रेरित ओर समकालिक परिस्थितियों के संघर्ष और कचोट की उलझने सुलझने या संकल्प-विकल्प कैकेयी के व्यक्तित्व में समाहित है। रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से कल्पना-स्वातन्त्र्य का महत्त्व इस बात पर निर्भर करता है कि हम असल बात के सत्यासत्य को बिना कथा विकृत किये पहचानने व गुनने की चेष्टा करें। काव्य की भाषा प्रसाद गुण सम्पन्न और प्रवाहमयी होते हुए भी कथा-प्रसंग मन के संस्कारों मे न रम सकने के कारण किसी प्रकार भी ग्राह्य नही है, जो इस पुस्तक को अप्रामाणिक तो बना ही देता है, प्रचलित धारणा के विपरीत भी सिद्ध करता है।

'वर्द्धमान'

जैन-धर्म के उन्नायक भगवान महावीर ने सांसारिक प्रपंचों से परे समष्टिगत कल्याण की भावना से प्रेरित तथा जरा, मृत्यु, व्याधि आदि के भयानक नागपाशों से मुक्ति पाने के लिए श्रेय-प्रेय के समन्वय हेतु भगवान बुद्ध की भाँति ही निर्वाण, नैष्कर्म्य एवं अहिंसा की चिरंतन साधना की थी। यहाँ तक कि तथागत से भी अधिक नेतिवाद, कठिन वैराग्य, भोग का अतिक्रम करके त्याग के मार्ग का अवलम्बन तथा अनित्य, दुःखकर, मिथ्या व विपरीतगामी प्रवाहों के भँवर मे न पड़ नित्य क्रियाशील विशिष्ट दृष्टिभंगी को उजागर किया। भगवान महावीर के गुण-विशिष्ट, सच्चिदानन्दघन, लीलारसमय विग्रह रूप का आकर्षण कितना दिव्य, अलौकिक व वर्णनातीत है उसकी झाँकी जरा देखिए—

> **"अपूर्व था बालक गौर रंग का,**
> **कपोल दोनों ऋतुराज पुष्प से,**
> **लसे खिलौने कर में सुवर्ण के**

अजस्र संचालित पाद युग्म थे।
मनोरमा आनन की प्रसन्नता
अवर्णनीया छवि युक्त सोहती,
अनूप सद्यागत स्वर्ग की प्रभा
प्रतीत प्रत्यंग विराजती हुई।"

ऐसा लगता था मानो भगवान का प्राकट्य—

"हृदय की प्रतिमूर्ति वहिर्गता
भवन की सुषमा, छवि ईश की,
तनय हो अवतीर्ण हुई अहो।
शुभ विदेह धराधिप-धाम में।"

उक्त महाकाव्य के आठवें सर्ग में बालक महावीर ने जन्म लिया। जन्म पूर्व के कथानक और प्रसंग में राजा सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला (भगवान के माता-पिता) को मुख्य नायक-नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे पूर्वार्द्ध के समक्ष उत्तरार्द्ध का कथा-भाग गौण-सा लगता है। मुख्य प्रसंग के लिए जिस परिपाटी का निर्वाह आज तक महाकाव्यों में किया जाता है उसमें गौण विषय और आख्यानों को इस ढंग से संश्लिष्ट किया जाता है जो प्रतिपाद्य प्रकरण को अधिकाधिक उभार कर रखने में सहायक होता है। दूसरे शब्दों में समूची प्रबन्ध कल्पना का केन्द्रबिन्दु जहाँ कोई मुख्य चरित्र होता है उसी के संदर्भ मे अथवा उसी के संस्कारों, रुचि और जीवन-गति को दिशा देने के लिए अन्य चरित्रों की अवतारणा की जाती है। किन्तु प्रारम्भिक सर्गों मे महारानी त्रिशला के मातृ रूप की गरिमा को भंग कर उसे प्रणयिनी के रूप में चित्रित करना श्रृंगारिक रस की विडम्बना ही कहा जा सकता है।

"शरीर की यष्टि लता समान थी
उरोज थे श्रीफल से लसे जहाँ
प्रसून से अंग विलोक भूप भी
मिलिन्द से मुग्ध बने अहर्निशा।

नितम्ब से स्थूल, कृशा सुमध्य से,
उरोज से उन्नत भार संयुता,
समायता लोचन युग्म से
सुरांगना सी त्रिशला मनोरमा।"

जहाँ तक जैन धर्म के सर्वोच्च सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान और आचार-परम्परा का प्रश्न है उस दृष्टि से भी अनेक सर्गों तक इस प्रकार की केलि-क्रीड़ा और विलास विभ्रम सर्वथा अनुपयुक्त है। ऐसे रूमानी चित्र यथार्थ को एक नये सिरे से पकड़ने की चेष्टा करते हैं और शद्ध आधनिक धरातल पर आ टिकते हैं। महान तपस्वी, त्यागी

और संयमी महावीर की जननी के वर्णन में ऐसा उन्मुक्त भाव और खुलापन इसलिए भी निषिद्ध है चूँकि मातृकुक्षि में जहाँ ऐसी चिन्मय प्राणसत्ता का विकास होता है और जो नौ-दस मास तक अखण्ड भाव से दिव्य शरीर के संस्थान को प्रश्रय देती है उसकी एक सीमा और मर्यादा है। मन और पंचभूतों के एकीकरण से ही शरीर का निर्माण होता है। विश्व में शक्ति के जितने स्वरूप हैं उन सब में विशिष्ट और रहस्यमयी मातृशक्ति है जो बाहर से नया जीवन-रस ढालकर उसके अपने शरीर के भीतर जो चैतन्ययुक्त प्राण शक्ति है उसका नित-नया पोषण और संवर्द्धन करती है। अतएव उसमें मोहक और हृदय को आलोड़ित करने वाले अभिराम चित्रों के अल्बम के समान पाठकों को अभिभूत करने वाली त्वरा न होकर नारीत्व की महिमा को प्रतिष्ठित करने वाला सम्पूर्ण मातृत्व मुखर होना चाहिए।

यों भी भगवान महावीर के माता-पिता तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे। अहिंसा, त्याग, अपरिग्रह और सांसारिक प्रपंच की विडम्बनाओं से परे उन्होंने अनासक्ति और संयमशीलता का ऐसा वातावरण सृष्ट किया था जहाँ उनकी समूची आंतरिक शुचिता के ज्वलंत प्रमाण स्वरूप भगवान् महावीर का प्राकट्य हुआ।

बाल्यावस्था से ही उनके जीवन का ध्येय सुखोपभोग नहीं बल्कि ज्ञान की पिपासा, ज्ञान की खोज और ज्ञान की चरम साधना थी। अपने उद्दाम यौवन काल में भी वे कभी ऐहिक सुखों के व्यामोह में नहीं पड़े और उनकी जन्मजात सात्त्विक प्रवृत्ति उन्हें अधिकाधिक अलिप्तता और अनासक्ति की ओर ले गयी।

> **"चला गया शैशव सर्वकाल को**
> **प्रवृत्त कौमार्य्य हुआ जिनेन्द्र का,**
> **परन्तु आती लख यौवनाग्नि को**
> **विचार में था जठरत्व आ गया।**
>
> **प्रकाशिता यद्यपि ज्ञान-रश्मियाँ**
> **जिनेन्द्र शीर्षस्थ प्रभूत हो गईं,**
> **परन्तु कादम्बिनी भाव मेघ की**
> **क्षण-प्रभा ले हृदयाब्धि में उठी।"**

उस समय जबकि सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियाँ अन्धानुसरण के गर्त में क़ैद थीं, वैदिक कर्मकाण्डों ने हिंसा और अतिचार का रूप धारण कर लिया था, तब भगवान् महावीर ने ही आत्मचिंतन और जीवनमुक्ति द्वारा आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत सिद्ध किया। अर्थात् आत्मा क्या है, देह क्या है, परलोक क्या है, निर्वाण क्या है—इसी के समाधान में उन्होंने उस तार्किक चिंतन को प्रश्रय दिया जिससे आत्मा अमरत्व प्राप्त करती है। मनुष्य को बहुत-सी बातों की जानकारी तो है, पर उसका ज्ञान अज्ञान से आच्छादित है। उसका अहंकार फलासक्ति के कारण उसे कर्म की

ओर प्रेरित करता है और इसी चक्रव्यूह में फँसा वह निरन्तर कर्मजनित भोगों का शिकार बना रहता है। किन्तु जीवन की तृप्तातृप्त आकांक्षाओं से मुक्त जो शाश्वत और चिरंतन आत्मरस के छलकते प्याले का आकण्ठ पान कर लेता है वह काल-भँवर के परे उस कूल-किनारे पर जा लगता है जहाँ संसार-सागर की उत्ताल तरंगे टकराकर उसे विचलित नहीं करतीं। ज्वाज्ज्वल्यमान ज्योति-समुद्र की आलोकमयी अनंतता के मंथर मंद्र तालमेल के माधुर्य में डूबे उसके चित्तचक्र के रुकने पर कालचक्र भी अनायास थम जाता है अर्थात् अंतःकरण में जब सम्यक् दर्शन की उपलब्धि होती है तो अनादिकालीन अंधकार मिट जाता है और समग्र तत्त्व यथार्थ रूप में उद्‌भासित होने लगते हैं। ऐहिक सुख और ऐन्द्रिय भोग नीरस प्रतीत होने लगते हैं और निवृत्ति की अविचल आस्था का पथ प्रशस्त हो जाता है।

तेजस्वी तरुण राजकुमार अपने असाधारण तपश्चरण द्वारा अल्पकाल में ही तत्त्वज्ञान का निरूपण करते हैं और एक सच्चे साधक की भाँति बाहर-भीतर सर्वत्र एक ही बोधस्थिति में रमण करते हुए कभी भी तत्त्वच्युत नही होते। यहाँ तक कि कलकलनिनादिनी महानदी की पावन धारा उनके मन मे कोई भी विकार उत्पन्न नहीं करती, अपितु उसकी पारद जैसी धवल फेनराशि मन-बुद्धि-हृदय के अभेद ज्ञान और आत्यन्तिक आनन्द की चरम परिणति को उजागर करती है :

"कुमार प्रायः उसके समीप जा
विलोकते तुंग-तरंग-भंगिमा,
प्रतीत होती मुख नेत्र बिम्ब से
सरोज शोभा जल में प्रफुल्लिता।

मनुष्य-साधारण-वक्ष से कहीं
महाधिका थी सुषमा मुखाब्ज की,
तटस्थ-शाखी-खग देख देव को
अशंक्य साक्षी इस तत्त्व के हुये।

नितान्त एकान्त निवास संस्पृही
कुमार को थी सरि मोद-दायिनी,
कभी-कभी आ उसके समीप वे
विचारते जीवन का रहस्य थे।

कुमार निस्संग नदी समीप में
सदा महा चिंतनशील-भाव से
विरक्त निःश्वास समेत देखते
तटस्थ पुष्पावलि धर्म-मूच्छिता।"

समूचे दसवे सर्ग में राजकुमार की उत्तरोत्तर बढ़ती वय के समानान्तर उनके मनन, चिन्तन, निदिध्यासन और निष्काम भाव की संस्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है—जिसमें स्वतः प्रश्न उठते हैं और उनके समाधान का भी स्वतः प्रयत्न किया

गया है। जीव और ईश्वर का स्वरूप क्या है ? जीवात्मा किस तत्त्व से बना ? क्या ईश्वरत्व से भी उसका कुछ संयोग है ? देह और देही, जन्म-मृत्यु, काल-कर्म, नियति-स्वभाव, लोकवाद-आत्मवाद, कर्मवाद-क्रियावाद---इन सबमें मध्यस्थ भाव कौन है ? कैसे उसका कल्याण हो सकता है ? समता, वैराग्य, उपशम, निर्वाण, शौच, ऋजुता, निरभिमान, कषाय, अप्रमाद, निर्वैर, अपरिग्रह आदि गुणों के विकास के लिए उसे क्या करना चाहिए। ऐहिक सुखो के पीछे दौड़ना एक शाश्वत स्वभाव है और अनेक महत्त्वाकांक्षाओं, झूँठे सुखों और बड़ा बनने की ख्वाहिश लिये वह किन-किन मिथ्याचारों और कुप्रवृत्तियों की साधना करता है । त्याग और अहिंसा ही सर्वोपरि है। 'मा हणो'—किसी को न सताओ और आचार में अहिंसा, बुद्धि में समन्वय और व्यवहार मे अपरिग्रह का आदर्श साकार करते हुए अहंकार का दमन और व्यामोह का गला घोंटना ही श्रेयस्कर है। सोलह वर्ष की कोमल अल्पायु में ही—जबकि तारुण्य की उद्दाम तरंगे चित्त को डाँवाडोल करती रहती हैं—उन्होंने विश्व-प्रपंच से परे सम्यक् दर्शन प्राप्त कर लिया था :

> **"कुमार को षोडश वर्ष हो गये,**
> **विलोकते सर्व प्रपंच विश्व के,**
> **मनुष्य के जीवन की प्रतिक्रिया**
> **हुई तदा मानस-मध्य बिंबिता ।"**

ज्यों-ज्यों कुमार की उम्र बढ़ती है उनकी मनोमय अनुभूति और आंतरिक संघात का सम्मोहन भी बढ़ता जाता है। चूँकि आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञान चैतन्य-स्वरूप है, अतएव आत्मा और ज्ञान का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। आत्मा ज्ञाता तो है ही, अपने ज्ञान गुण से अभिन्न होने के कारण ज्ञान रूप भी है, साथ ही स्वप्रकाश्य होने से ज्ञेय भी है। कठिन संयम और इन्द्रिय-निग्रह द्वारा कर्म से आच्छादित मिथ्यावरण जब हट जाता है तो ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है और अन्ततः आत्मा का सर्वज्ञ रूप प्रकट होता है। भगवान् महावीर ने इन्द्रियजन्य और मनोजन्य सारी कमज़ोरियों को जीतकर आत्म-मन्थन द्वारा मुक्ति-साधना का पथ प्रशस्त किया था। जीवन की सीमाओं में क्षण-प्रतिक्षण उपस्थित होने वाले भावावेग जब मन को दोलायमान करते हैं तब आग्रह की जड़ता और भेदकारी वृत्ति का परित्याग करके जो आत्मोपलब्धि के प्रति सचेष्ट और मुखर बना रहता है वही दरअसल निर्मुक्त और सर्वदर्शी है।

> **"मनुष्य तू मर्त्य, अतः विचार ले**
> **अवश्य तेरी कल ही समाप्ति है,**
> **परन्तु धर्माचरणार्थ सोच तू**
> **अवश्य तेरी शत वर्ष आयु है ।**
> **धरित्री है बुद्बुद्, और जीव का**
> **अदीर्घ है जीवन, दीर्घ काल है.**

तरंग में लेखन तुल्य व्यर्थ है
अदूरदर्शी नर की क्रिया सभी ।
स्वकर्म ही किन्तु न मास वर्ष है,
विचार ही किन्तु न श्वास मात्र है,
विभावना ही न कि मूर्त्त देह है
मनुष्य का जीवन मापदण्ड है ।
विचार में जो सब भाँति लीन हो,
निगूढ़ हो संतत स्वानुभूति में,
सदैव जो उत्तम कार्य लग्न हो,
प्रशस्त जीना उसका यथार्थ है ।"

मनुष्य के क्षण-भंगुर जीवन की मीमांसा में कहा गया है--

"मनुष्य का जीवन एक पुष्प है
प्रफुल्ल होता यह है प्रभात में
परन्तु छाया लख सांध्यकाल की
विकीर्ण होके गिरता दिनान्त में ।
मनुष्य का जीवन रंगभूमि है,
जहाँ दिखाते सब पात्र खेल हैं,
जभी हिलाया कर सूत्रधार ने
हुआ पटाक्षेप तुरन्त मृत्यु का ।
निसर्ग ने दिव्य विभूति जीव को
प्रदान की जीवन की अदीर्घता,
परन्तु जो जीवन मृत्यु ने दिया
सुदीर्घ है, शाश्वत है, समस्त है ।"

ग्यारहवें सर्ग से तेरहवें सर्ग तक भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित दर्शन और तत्त्व-विवेचन उस सतह पर जा खड़ा हुआ है जहाँ सैद्धान्तिक चेतना और व्यावहारिक चेतना--दोनों के परे अंतर्जिज्ञासा की बहुत ही गहरी उद्भूति है। श्रमण संस्कृति की मूल प्रेरणा और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा तृष्णा-निवृत्ति, साथ ही अनेकान्तवाद का सिद्धान्त तथा पवित्र द्वादश भावनाओं का उदय--यों स्वयंकथित या स्वानुभव-वर्णन में उनकी आत्मा के तार जिस निष्ठा से बज उठते हैं उनमें मनुष्य-जीवन का सच्चा मूल्यांकन करने की सामग्री मिल जाती है।

बाद के सर्गों में वैवाहिक प्रसंग, किन्तु उसका आध्यात्मिक समाधान, श्रमण होकर ऐसे समारोह के साथ गृह त्याग मानों मोक्ष रूपी बधू के परिणय हेतु उन्होंने प्रयाण किया हो :

"सजे हुए भूषण और मालिका
पवित्र पाटाम्बर युक्त देह में

प्रतीत थे श्रीवर-से कुमार यों
चले जभी मोक्ष-बधू विवाहने ।"

फिर भगवान् की कठोर तपश्चर्या, प्रेम और अहिंसा का सन्देश देते हुए देश-देशान्तरों का भ्रमण, याज्ञिक हिंसा, जड़वाद, जातिवाद और उस समय फैली धार्मिक विडम्बनाओं से परित्राण पाने के लिए विश्व की संत्रस्त मानवता को आत्म-शासन का सम्बल प्रदान करना, ध्यान में लीन, मौनव्रती, मन-वचन-कर्म से सावद्य योगमय आचरण करते हुए, ध्यान की भूमिकाओं और सर्वोच्च स्थिति में पैठ, संघ-स्थापना और अगणित शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा धर्म का व्यापक प्रसार--इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य में भगवान् महावीर की समूची जीवन-कथा और साधना-कथा का बड़ा ही सुन्दर विशद वर्णन है। जैन धर्म में बौद्ध धर्म से भी अधिक देह-दमन और कठोर व्रतों का परिपालन है। भगवान् महावीर का दीक्षा लेकर प्रव्रज्या का महान् संकल्प, उनकी विलक्षण प्रज्ञा, उनकी उच्च मानसिक भूमिका, वासनाओं के तुमुल द्वन्द्व में से समाधानकारक निरूपण तथा समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त भीतर-बाहर की आध्यात्मिक शुद्धि का बड़ा ही रोमांचकारी और कलामय चित्र खीचा गया है।

प्राचीन काव्य-परम्परा का निर्वाह करते हुए 'वर्द्धमान' के कवि श्री अनूप शर्मा ने यद्यपि रूढ़ कल्पनाओं और बोझिल प्रतीकों का सहारा लिया है, तथापि काव्य की उदात्तता तथा उपलब्धियों का जहाँ तक सवाल है उसमें न सिर्फ़ गम्भीर बौद्धिक मंथन वरन् अनेक कोण और अनेक कोणों के संदर्भ में विविध रंगों को पकड़ने और उनकी सांकेतिक अन्विति का प्रयास किया गया है। जैन धर्म सम्बन्धी विभिन्न मत-मतान्तर और दिगम्बर-श्वेताम्बर विचारधारा में समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की भी भरसक चेष्टा की गई है।

काव्य का रसास्वादन करते हुए अनेक बार पाठक उदात्त भाव-धारा में मग्न होने का अवसर पाता है। विशेषकर बाद के सर्गों में आत्म-विस्मृति और महान् सत्ता का सा आभास होने लगता है। पाठक के मन को पवित्र धरातल पर जा टिकाना यही इसकी खूबी है जो निःसन्देह काव्य के यथार्थवाद से बहुत ऊपर की वस्तु है।

'अङ्गराज'

उक्त महाकाव्य महाभारत के महादानी कर्ण के जीवन-प्रसंग को लेकर लिखी गई २५ सर्गों की प्रौढ़ काव्यकृति है। अपनी चारित्रिक विशेषताओं के कारण कर्ण का व्यक्तित्व-निरूपण स्वयं महाभारत में भी आकर्षण का केन्द्रबिन्दु रहा है। पर उक्त काव्यग्रन्थ की कथा उसके अंतरंग जीवन को छूती, उसके अनेक प्रसंगों में नये अर्थ भरती और प्रतिपाद्य विषय एवं विचारों को अधिकाधिक प्राणवान बनाती चलती है।

कर्ण का जन्म-प्रसंग ही ऐसा है जो मन को पीड़ा पहुँचाता है और विवश नारी की करुण कथा के एक सर्वाधिक समस्यापूर्ण पहलू को सामने उभार कर रखता है। महाभारत के अनुसार कर्ण कुंती के गर्भ से उसकी अविवाहितावस्था में ही उत्पन्न

हुए थे। भयंकर अंधियारी रात्रि में जब सघन तमिस्रा ने समस्त शून्य को ढक लिया था तब कुंती ने तड़पते दिल से लोक लज्जावश अपने सद्य:जात शिशु को गंगा की उत्ताल तरंगों में फेंक दिया था। सारथि अधिरथ की पत्नी नि:संतान राधा ने बड़े ही लाड़-प्यार से बच्चे का लालन-पालन किया, पर वह उस कलंक को न धो सकी जिसने उच्च कुलोत्पन्न, राजवंशीय बालक की पद-प्रतिष्ठा पर सूत-पुत्र के रूप में—इन अदृश्य परिस्थितियों में —सहसा पदाघात किया था। इसका दुष्परिणाम बालक के भावी उत्थान और जीवन के विकास में रोड़े अटकाता रहा, किन्तु फिर भी हर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति ने हिमाचल की तरह अडिग कर्ण के हृदय को अमर वीरत्व का दर्प प्रदान किया था। अपनी जननी की भीरुता के विष को वीर पुत्र ने अपनी साहसिकता और ओजस्विता के अमृत से उज्ज्वल बनाया था। यही कारण है कि महाभारत के संग्राम के पूर्व जब कुती ने अपनी असहाय मातृत्व की कहानी कर्ण के सम्मुख रखी तो साम्राज्य की लिप्सा और जय-पराजय से परे छाती खोलकर और अन्त तक उसने वीरतापूर्ण मृत्यु को वरण करने की ही इच्छा व्यक्त की।

यों आर्य मर्यादा के प्रतीक कर्ण की कथा उक्त काव्यग्रन्थ मे विस्तार से वर्णित है, यद्यपि अनेक स्थलों पर घटनाओं के क्रम, विषय-चित्रण और संवाद एवं कथोपकथन में मौलिक आख्यानों से बेहद वैषम्य जौर विपर्यय है। अपने आर्योचित आचरण, पौरुष एवं पराक्रम तथा अपनी सत्यवादिता और ओजस्विता के कारण वीर व सत्यवादी कर्ण सूर्य-पुत्र कहलाए। अतएव 'अङ्गराज' की कथा का सूत्रपात सूर्यलोक की स्वर्णमंडित आलोकधारा की असीम तेजोमयी भव्य उज्ज्वलता के देदीप्यमान प्रकाश में होता है।

> **"निश्चय मानो बन्धु, सदन है यह सविता का।**
> **शुद्ध मूर्ति प्रत्यक्ष देवता जीव पिता का॥**
> **लोक बन्धु का आलोकित यह दिव्यलोक है।**
> **तिमिर अज्ञताहारी हरि का सत्यलोक है॥**
> **प्राचीपति का विभव-विभूषित राज्य यही है।**
> **महाकाल शासित अनन्त साम्राज्य यही है॥**
> **जगद्वन्द्य नारायण का यह क्रीड़ास्थल है।**
> **आदिदेव का कर्मक्षेत्र यह रविमंडल है।"**

कर्ण की जन्म-कथा से लेकर अर्थात् कुमारी कुन्ती द्वारा तुरन्त पैदा हुए बालक को पेटिका में रखकर गंगा में जल-प्रवाह, अधिरथ-राधा द्वारा कर्ण का पुत्रवत् पालन, द्रोणाचार्य के गुरुकुल में आगमन, कौरव-पांडव राजकुमारों से टक्कर, अङ्गराज्य की प्राप्ति और कर्ण-दुर्योधन-मित्रता, तत्पश्चात् कर्ण का विप्र वेष मे महेन्द्र पर्वत पर परशुराम से धनुर्विद्या सीखना, कर्ण के वाण से अकस्मात् तपस्वी की गाय का प्राणान्त, भेद खुलने पर कर्ण को परशुराम का शाप, कलिंग का स्वयंवर-वर्णन, कर्ण से शिशुपाल और जरा-

सन्ध आदि का घोर संग्राम, कर्ण-जरासन्ध का महायुद्ध, दुर्योधन का राज्याभिषेक, लाक्षागृह दाह, द्रौपदी स्वयंवर, युधिष्ठिर का इन्द्रप्रस्थ में राज्य-सिंहासनारूढ़ होना, जरासन्ध-वध, राजसूय यज्ञ, दुर्योधन का अपमान, जुए का दृश्य और पांडव-वनवास, गंगा-तट पर कर्ण का याचकों को मुक्तहस्त दान, विप्र-वेष में भगवान् कृष्ण द्वारा कठिन परीक्षा और बाद में सुरराज इन्द्र का कवच-कुंडल ले जाने का कुचक्र और बदले में एकघ्नी शक्ति देना, पाडवों के वनवास की अवधि समाप्त होते ही दोनों पक्षों में तनातनी, युद्ध का निश्चय, सन्धि हेतु कृष्ण का दूत-वेष में हस्तिनापुर-आगमन, वाद-विवाद, असफल होकर कृष्ण का लौटना, मार्ग में कृष्ण और कर्ण की भेंट, क्रीड़ांगन में कर्ण और पत्नी की विनोद-वार्त्ता, कुन्ती की पुत्र से भेंट और बदले में अर्जुन को छोड़कर चार पांडवों का जीवन-दान, भीष्म-कर्ण विवाद, कुरुक्षेत्र में भीष्म पितामह के नायकत्व में युद्ध, जयद्रथ-वध, घटोत्कच-वध, द्रोण-वध, कर्ण के नायकत्व में महाभारत का घोर संहार, कर्ण-पार्थ का द्वैरथ युद्ध, कर्ण का वीरगति प्राप्त करना, समरांगण मे कर्ण-पत्नी का विलाप, शल्य के नायकत्व में युद्ध, दुर्योधन-भीष्म का गदा-युद्ध, दुर्योधन की मृत्यु, अश्वत्थामा का पराभव, कर्ण के जन्म का रहस्य जानकर युधिष्ठिर का पश्चात्ताप और सिंहासनासीन होना, कृष्ण का द्वारिका-गमन, अन्त में कर्ण की नैतिक विजय, युद्ध के प्रसंग में कर्ण को सूर्य का उपदेश, महाभारत की संरचना, आत्मविजय का महत्त्व, पांडवों का देश-निर्वासन आदि—इन सभी प्रमुख आख्यानों और कथा-प्रसंगों को बड़े ही श्रम और कौशल से इस महाग्रन्थ के कलेवर मे समेटा गया है। अनेक स्थल बड़े ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं। अनव्याही माँ का करुण चित्र कितना सजीव है :

"अश्रु नेत्र में, कर में शिशु, अन्तर में ज्वाला।
लेकर निकली वह करवीरा वह नरपति बाला ।।
बाल कर्ण को अंक मे लिये चली द्रुतगामिनी।
क्षीण कलाधर युक्त ज्यों जाती प्रातः यामिनी ।।
शंकित लज्जित व्यथित कुमारी जननी।
अश्व नदी तट पर लाई अंचल निधि अपनी ।।
वहाँ कूलिनी के अंचल मे एक चेटिका।
खड़ी हुई थी लिये एक नव काष्ठ पेटिका ।।
बार-बार मुख देखती चुम्बित करती भाल को।
मंजूषा-शायित किया कुन्ती ने निज बाल को ।।"

पन्द्रहवें सर्ग में माँ का एक दूसरा ही चित्र देखने को मिलता है। महाभारत का युद्ध होने वाला है । प्रतिहिंसा की ज्वाला भाई-भाई को सर्वनाश की ओर ठेल रही है। विधुर, वृद्धा कुंती माँ का हृदय दहला उठता है। इस घोर संकट के समय वह अपने बिछुड़े खोये लाल को हृदय से लगा लेने को तड़प रही है।

"थी विधवा मति से वह प्रस्फुट नीरज-सी उसकी अभिलाषा।
भृंग-समान घिरी दल में वह थी उसकी हृदयस्थ दुराशा॥
गंजन था न, परन्तु नकारमयी वह थी, सुत की प्रतिभाषा।
इंगित थी सबसे अनुमानित निष्फलता भवितव्य निराशा॥
विह्वलतामय वेग भरी वह पुष्टिकरी तट ऊपर आई।
शम्बुक राशि जहाँ सिकता पर दर्शित थी सब ओर बिछाई॥
जीवन या क्षितिधेनुक सार समान पड़ी रसधार दिखाई।
और वही सुरसिन्धु अनूप सुदृश्य हुआ उसको सुखदायी॥"

मुझे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य और क्षोभ हुआ है कि 'अङ्गराज' का लेखक न सिर्फ़ भाषा और काव्य-रूढ़ियों में एक संकीर्ण आदर्श को लेकर चला है, अपितु महाभारत के उदात्त चरित्रों और कथा-प्रसंगों को भी उसने बड़ी ही बेरुखाई और दुस्साहसिकता से एकदम उलट-पलट दिया है। महाभारत की ऐतिहासिक कथा में कौरव-पाण्डवों का प्रारम्भ से ही द्वन्द्व-संघर्ष है। समूचा राजकुल एक है, सभी में एक रक्त, एक प्राणधारा प्रवहमान है, पर जैसा कि सृष्टि का नियम है सहोदर भ्राताओं तक की सन्तति तक में अनेक मतभेद और स्वभाव-वैपरीत्य होता है। दुर्योधन प्रारम्भ से ही कुटिल और षड़यन्त्रकारी मनोवृत्ति का है। उसकी हिंसा भावना, राज्याधिकार की अनधिकार चेष्टा, दुर्नीति और अदूरदर्शिता ने पाण्डवों को अनेक कष्ट और यातनाएँ दीं जिसका अन्तिम दुष्परिणाम महाभारत का भयंकर और विनाशक युद्ध था। ऐसे जाने-बूझे, इतिहास-प्रसिद्ध कुपात्र को सुपात्र दर्शाना और सभी पाण्डवों के कथा-चरित्रों में विपर्यय उपस्थित करना नितान्त हास्यास्पद और अशोभनीय है। लेखक का सबसे अधिक आक्रोश युधिष्ठिर पर है। धर्मराज के उज्ज्वल चरित्र पर कीचड़ उछालकर लेखक ने भयंकर अपराध किया है, यहाँ तक कि द्यूत-क्रीड़ा—जो उन दिनों राजाओं के आमोद-प्रमोद का एक सहज, निर्द्वन्द्व साधन था और धूर्त दुःशासन की कुटिल नीति ने जिसका आयोजन कर युधिष्ठिर को फँसाया था—उस सबके लिए पाण्डवों के नैतिक चरित्र पर भीषण कुठाराघात किया गया है। द्रौपदी के चीरहरण की कहानी को इतनी शर्मनाक और स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति से प्रस्तुत किया गया है कि देखकर अवाक् रह जाना पड़ता है। आर्यमर्यादा के प्रतीक, महावीर, महादानी कर्ण के मुख से क्या ये शब्द शोभा दे सकते हैं :

"सुनकर नृप भारती कर्ण ने कहा—सुनो हे मित्र।
नारी का आवरण वस्तुतः होता शुद्ध चरित्र॥
किया भोगिनी बनकर जिसने सदाचार को भग्न।
प्रगट महानग्ना होगी और अधिक क्या नग्न॥"

किसी भी दीन हीन, संकटापन्न नारी की आर्त्त पुकार सुनकर विवेकी, वीर पुरुष का बिना सोचे-विचारे उसकी रक्षा करना फर्ज़ हो जाता है। किन्तु द्रौपदी की

दीन याचना और असहायावस्था को ठुकराकर जो कर्ण के मुख से कठोर और अकथनीय वचन कहाये गये हैं वे किसी भी पाठक को लज्जा और संकोच के गर्त्त में डाल देते हैं—

"सप्रहास तब कहा कर्ण ने—री अनार्यता मूर्ति।
सूत पुत्र से कभी न होगी तेरी इच्छापूर्ति॥
होती यदि तू सत्य ही तो यह सूत कुमार।
तेरा प्रथम सहायक होता सुनकर आर्त्त पुकार॥

री पणांगना, सती नाम का व्यर्थ न कर उपहास
तव चरित्र में कहीं न मिलता है सतीत्व आभास
पंच भोगिनी तू वेश्या है, कुल मर्यादा-भ्रष्ट
और युधिष्ठिर, भीम, पार्थ सब मूढ़, पंड हैं स्पष्ट।"

ऐसा प्रतीत होता है लेखक अपने कथा-चरित नायक के विपक्षी दल को नीचा दिखाने के लिए इतना कटिबद्ध और तत्पर है कि उसने उत्साह में महाभारत के उदात्त चरित्रों का बेमतलब शीलभंग किया है। हीनत्व भावना से पीड़ित उसके भीतर की दुर्दम्य उद्दण्डता और भयंकर विष शुरू से अंत तक इस काव्य-ग्रन्थ में व्याप्त है जिसने इसके काव्य-रस को विषाक्त बना दिया है। क्या सचमुच किसी लेखक को इस प्रकार के ऐतिहासिक कथाख्यानों को विकृत दर्शाकर प्रस्तुत करने का अधिकार है? क्या इससे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति संभव हो सकती है? किन्हीं भी ऐतिहासिक प्रसंगों पर कलम उठाते हुए लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह युगधर्म के अनुकूल हो, साथ ही हमारी सभ्यता और संस्कृति में आस्था रखने वालों को उससे प्रोत्साहन मिले। आसुरी प्रवृत्तियों के दमन और अनाचार के समूलोच्छेद के लिए उदात्त चरित्र वाले महामानवों की अवतारणा हुआ करती है। 'अङ्गराज' के लेखक ने इन सभी चरित्रों के प्रति घोर अनास्था और विष-वमन करके जो कर्ण का चित्र उभारा है उससे हित नहीं, वरन् जबर्दस्त अहित हुआ है। यह काव्यग्रन्थ न सिर्फ़ युवक-पीढ़ियों को गुमराह करेगा बल्कि आस्थावान लोगों की कोमल भावनाओं पर भी कुठाराघात करता रहेगा।

'रश्मिरथी'

शिल्प-विधान और भाव-व्यंजना की दृष्टि से 'रश्मिरथी' कर्ण पर लिखे काव्य-ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है। आज जबकि इतिहास अपने भीतर ही सिमटता जा रहा है, विगत की कोई सार्थकता नहीं और आगत जैसे नियन्त्रण से दूर—बहुत दूर हटता जा रहा है तो ऐतिहासिक पात्र भी भ्रान्तियों के शिकार बने हुए हैं। जीवन की निरर्थक रस्साकशी की होड़ में उनके अस्तित्व की सार्थकता के तत्त्व भीतर ही भीतर खण्डित और निरुपाय से हैं। 'दिनकर' ने भ्रान्ति की इस लीक से हटकर महाभारत का एक ऐसा उद्दाम और ओजस्वी व्यक्तित्व उभार कर सामने रखा है जिसने विषम परि-

स्थितियों में भी एक महान् नैतिक क्रान्ति की अवतारणा की, एक ऐसी क्रान्ति जो जीवन में एक नये अर्थ की खोज में सदा निरत है।

जाति, वर्ण और कुल परम्परा की झूँठी प्रतिष्ठा का पर्दाफ़ाश करके कर्ण ने यथार्थ का—असली रूप में—सामना किया, उस कटु यथार्थ का जो उसके अपने जीवन की समस्या था और जिसे इस जानकारी के बावजूद अपने अकेलेपन में बड़ी आत्म-तुष्टि के साथ उसने जीना सीखा।

"तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं गोत्र बतलाके,
पाते हैं जग से प्रशस्ति अपना करतब दिखलाके।
हीन मूल की ओर देख जग ग़लत कहे या ठीक
वीर खींचकर ही रहते हैं इतिहासों में लीक।
मूल जानना बड़ा कठिन है नदियों का, वीरों का,
धनुष छोड़कर और गोत्र क्या होता रणधीरों का !
पाते हैं सम्मान तपोबल से भूतल पर शूर,
जाति-जाति का शोर मचाते, केवल कायर, क्रूर।"

मानव-जीवन की समस्याएँ कुछ ऐसी हैं जो सर्वकालव्यापी और चिरन्तन हैं। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, देश-काल की परिस्थितियाँ और कुल-मर्यादाएँ उसके लिए विशेष महत्त्व रखती हैं। कुंती के गर्भ से कर्ण का जन्म कुमारी अवस्था में हुआ और उसने अपनी लज्जा को ढकने के लिए उस सद्यःजात बालक को जल में प्रवाहित कर दिया। इस असंगत व्यवस्था से आहत अज्ञात कुलशील व्यक्ति की अनुभूति और प्रतिक्रिया कैसी होती है ? उसका मोनविज्ञान क्या है ? उसके उन सम्बन्धों का मूल्य कहाँ तक है जो उसके तात्कालिक अस्तित्व के सत्य को प्रकाश में लाता है ? राधेय को (जो वस्तुतः कौन्तेय है) इस अपमान की विभीषिका में——बाल्यावस्था से ही—तचना पड़ता है। रंगभूमि में एक दिन कौरव-पांडवों की परस्पर शस्त्रास्त्र प्रतियोगिता में जब अर्जुन अपना हस्त-कौशल दिखा रहा था और चतुर्दिक् अनोखा समाँ बँधा था तो उसी समय अपने पौरुष और वीरत्व के दर्प को समेटे कर्ण सामने आ खड़ा हुआ। उसने ललकार कर अर्जुन को ज़बर्दस्त चुनौती देते हुए कहा—

"तूने जो जो किया उसे मैं भी दिखला सकता हूँ
चाहे तो कुछ नई कलाएँ भी सिखला सकता हूँ।
आँख खोलकर देख, कर्ण के हाथों का व्यापार,
फले सस्ता सुयश प्राप्त कर, उस नर को धिक्कार।
इस प्रकार कह लगा दिखाने कर्ण कलाएँ रण की,
सभा स्तब्ध रह गई, गई रह आँख टँगी जन जन की।
मन्त्रमुग्ध सा मौन चतुर्दिक् जन का पारावार
गूँज रही थी सिर्फ़ कर्ण की धन्वा की टंकार।"

किन्तु इस शौर्य के प्रदर्शन और उपस्थित जनसमूह के अभिनन्दन के बीच जब कर्ण ने द्वन्द्व-युद्ध के लिए पार्थ का आह्वान किया तो किशोर बालक के समस्त उत्साह और कोमल भावनाओं को मसोसने वाला भीषण व्यंग-विद्रूप का निर्मम प्रहार भी उसे सहना पड़ा जिसने सहसा उसकी यथार्थ स्थिति को नग्न रूप में उघाड़ कर सामने रख दिया।

कृपाचार्य ने कहा—"सुनो हे वीर युवक अनजान !
भरत-वंश-अवतंस पांडु की अर्जुन है संतान ।
क्षत्रिय है, यह राजपुत्र है, यों ही नहीं लड़ेगा,
जिस-तिससे हाथापाई में कैसे कूद पड़ेगा !
अर्जुन से लड़ना हो तो मत गहो सभा में मौन,
नाम-धाम कुछ कहो, बताओ कि तुम जाति हो कौन !

दूसरे सर्ग में महत्त्वाकांक्षी और जिज्ञासु कर्ण को हम परशुराम के शिष्य के रूप में पाते हैं। हरे-भरे विशाल वन-प्रान्तर मध्य—जहाँ शुभ्र निर्झर, दूर तक लहलहाते खेत, पशु-पक्षियों का अपूर्व कोलाहल और यज्ञ-धूम की भीनी-भीनी गन्ध से समूचा वातावरण तरोताज़ा और प्राणों में मादकता उँड़ेल रहा है, परशुराम की कुटिया का दृश्य बड़ा ही मनोरम और चित्ताकर्षक है। एक ओर तो कमण्डल, स्रुवा और हवन-सामग्री रखी है, दूसरी ओर धनुष-बाण-तुणीर, भीषण तीर-बरछे और तलवारें लटक रही हैं।

"आई है वीरता तपोवन में क्या पुण्य कमाने को ?
या संन्यास साधना में है, दैहिक शक्ति जगाने को ?
मन ने तन का सिद्धि-यन्त्र अथवा शस्त्रों में पाया है ?
या कि वीर कोई योगी से युक्ति सीखने आया है ?"

वहीं कर्ण की जंघा पर मस्तक रखकर वृक्ष की छाया तले महामुनि परशुराम सोये पड़े हैं। कर्ण मुग्ध और तन्मय भाव से गुरु की सेवा में तत्पर है। विवश परिस्थितियों में अक्षय यश-कीर्त्ति कमाने और धनुर्विद्या सीखने की लालसा मे छद्म ब्राह्मण कुमार के रूप में वह अनवरत शौर्य-साधना में लगा है। मन में ज़बर्दस्त महत्त्वाकांक्षा, कितु उधर गुरु से छल करने की ग्लानि और पश्चात्ताप है। इसी बीच एक विषैला कीड़ा कर्ण की जंघा के मांस को कुतर-कुतर कर खाने लगता है और भीतर घाव बनाकर घुसता जाता है।

"किन्तु पाँव के हिलते ही गुरुवर की नींद उचट जाती,
सहम गई यह सोच कर्ण की भक्तिपूर्ण विह्वल छाती।
सोचा उसने अतः, कीट यह पिये रक्त, पीने दूँगा,
गुरु की कच्ची नींद तोड़ने का पर पाप नहीं लूँगा।
बैठा रहा अचल आसन से कर्ण बहुत मन को मारे,
आह निकाले बिना, शिला-सी सहनशीलता को धारे।

किन्तु, लहू की गर्म धार जो सहसा आन लगी तन में,
परशुराम जग पड़े, रक्त को देख हुए विस्मित वन में।"

परशुराम को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि क्या कोई ब्राह्मणकुमार सचमुच ऐसी असह्य पीड़ा को सहता हुआ चुपचाप देर तक बैठा रह सकता है। उस महा-मनीषी के मन में फ़ौरन बात कौंध गई—हो न हो इसमें कोई रहस्य है? तभी भेद खुल गया। साधना अधूरी रह गई। कर्ण को शापग्रस्त भी होना पड़ा और ब्रह्मास्त्र के परम तेज से वंचित भी। जीवन में यह एक और दारुण चोट थी :

"परशुराम के चरण की धूलि लेकर, उन्हें अपने हृदय की भक्ति देकर,
निराशा से विकल, टूटा हुआ सा, किसी गिरि शृंग से छूटा हुआ सा,

चला खोया हुआ सा कर्ण मन में,
कि जैसे चाँद चलता हो गहन में।"

तीसरे सर्ग में भगवान् श्रीकृष्ण के साथ भेंट में कर्ण को अपने जन्म का रहस्य ज्ञात होता है। वह दरअसल राधेय नहीं कौन्तेय है, राजवंशी और पांडवों का ज्येष्ठ भ्राता। यह बात यदि युधिष्ठिर को विदित हो जाय तो इस साम्राज्य का अधिकारी कर्ण ही होगा और दुर्योधन की समूची युद्ध-योजना उलट-पलट जायगी। पर राज्य का यह प्रलोभन उसके अडिग मन को विचलित न कर सका और किन्हीं भी परिस्थितियों में उसने संकट के समय मित्र के साथ विश्वासघात करने से इंकार कर दिया। इतनी दूर—मँझदार में आकर—फिर वापिस लौटना समझदारों का काम नहीं है।

"यह बीच नदी की धारा है
सूझता न कूल किनारा है
ले लील भले यह धार मुझे,
लौटना नहीं स्वीकार मुझे।

मैत्री की बड़ी सुखद छाया,
शीतल हो जाती है काया,
धिक्कार-योग्य होगा वह नर
जो पाकर भी ऐसा तरुवर,

हो अलग खड़ा कटवाता है
खुद आप नहीं कट जाता है।"

चौथे सर्ग में और भी कठिन परीक्षा के क्षण आ उपस्थित होते हैं। कसौटी पर खरा उतरना ही असली मनुष्य की पहचान है। अमोघ व्रतधारी और पराक्रमी कर्ण का चिरकाल से यह प्रण था कि सूर्य-आराधना के समय कोई याचक उसके सम्मुख आकर यदि किसी वस्तु की याचना करता था तो वह तुरन्त मुँह माँगा वर-

दान पाता था। कर्ण की इस दानशीलता की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी। सुरराज इन्द्र ने इसका अनुचित लाभ उठाया और विप्र-याचक के छद्म वेष में उसका जन्मजात कुंडल और कवच माँग लिया। सुरपति को पहचान कर और उसकी समस्त कपट-लीला को समझ लेने के पश्चात् भी कर्ण किंचित् नहीं हिचका। बड़े ही उदात्त भाव और वीरोचित स्वाभिमान के साथ उसने जीवन-संरक्षक कवच और कुंडल का भी परित्याग कर दिया।

"मैं ही था अपवाद, आज यह भी विभेद हरता हूँ,
कवच छोड़ अपना शरीर सबके समान करता हूँ।
अच्छा किया कि आप मुझे समतल पर लाने आये,
हर तनुत्र दैवीय मनुज सामान्य बनाने आये।

अब न कहेगा जगत्, कर्ण को ईश्वरीय भी बल था,
जीता वह इसलिए कि उसके पास कवच-कुंडल था।
यह कह, उठा कृपाण कर्ण ने त्वचा छील क्षण भर में,
कवच और कुंडल उतार, धर दिया इन्द्र के कर में।"

कर्ण का यह अपूर्व दान सुरराज को भी विस्मित कर देता है। उसका सुरत्व मनुजत्व के सामने पराजय स्वीकार करता है। स्वर्ग से पृथ्वी श्रेष्ठ है; देवता से मानव कहीं बढ़कर है।

"तेरे महातेज के आगे मलिन हुआ जाता हूँ,
कर्ण! सत्य ही आज स्वयं को बड़ा क्षुद्र पाता हूँ,
आह! खली थी कभी नहीं मुझको यों लघुता मेरी,
दानी! कहीं दिव्य है मुझसे आज छाँह भी तेरी।

तू दानी, मैं कुटिल प्रवंचक, तू पवित्र मैं पापी,
तू देकर भी सुखी और मैं लेकर भी परितापी।
तू पहुँचा है जहाँ कर्ण, देवत्व न जा सकता है,
इस महान् पद को कोई मानव ही पा सकता है।"

पाँचवें सर्ग में उस विवश माँ की समूची करुणा और अंतर्व्यथा मुखर हो आई है जो किसी अंधियारी रात्रि की शून्यता में अपनी कलंक-कालिमा को ढकने के लिए अपने हृदय के टुकड़े और प्राणों के अंश नवजात बालक को काष्ठ मंजूषा में रख जल-प्रवाह में छोड़ देती है और पश्चात्ताप की अग्नि में जन्म भर जलती रहती है। निर्दोष, वाणीविहीन नन्हे शिशु की स्मृति मातृत्व के रोम-रोम में धँसकर—क्षण-प्रतिक्षण, उठते-बैठते—उसकी अंतरात्मा को कचोटती रहती है और किसी प्रकार भी चैन नहीं लेने देती। कितनी दारुण है ऐसी माँ की कहानी, उस असफल मातृत्व की तस्वीर जो उस शून्य अंधियारी रात्रि से भी अधिक भयानक काली परछाइयाँ उभारती है।

"क्या समाधान होगा दुष्कृति के क्रम का ?
उत्तर दूंगी क्या निज आचरण विषम का ?
किस तरह कहूँगी पुत्र ! गोद में आ तू,
इस पाषाणी जननी का हृदय जुड़ा तू ?"

माता का छलछलाता प्रेम बालक के लिए अमृत है, पर जब वह उसी के कुकृत्य से संहारक और जहर बन जाता है तो मर्माहत माता के हृदय की वेदना का क्या ठिकाना ? शक्ति और तैजस की प्रतीक नारी तब कितनी दीन-हीन हो जाती है ? उसके मन के विकल्प जब उसकी भीरुता का उपहास करते है, वात्सल्य भीषण चीत्कार कर उठता है और अन्तर की फूटती रसधारा लहू-झरती प्रचंड कुत्सा की विषधारा में परिणत हो जाती है तब नारी के हृदय की मर्मांतक टीस और प्राणों की कचोट को कौन समझ सकता है ?

"बेटा ! धरती पर बड़ी दीन है नारी,
अबला होती, सचमुच, योषिता कुमारी ।
है कठिन बन्द करना समाज के मुख को,
सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को ।"

किन्तु कर्ण अवसरवादी नहीं है । माँ की करुण, लाचार दीनता भी उसे कर्त्तव्य-पथ से विचलित नही करती । उसका दुर्दम्य पौरुष सजग और अपराजेय है, इतने दिन तक जिस रास्ते पर चला, जो रास्ता उसने स्वयं--अपने पुरुषार्थ से--तय किया वहाँ से मुँह मोड़ना असम्भव है । नारी अपने स्वार्थ के लिए, भावी जीवन को सुखमय बनाने के लिए, गार्हस्थ्य सुख और दूसरों की नज़रों में सती-साध्वी कुल-वधू बनने के लिए उस अबोध दुधमुँहे के साथ अनाचार करती है जो उसके समस्त पापों और दुष्कृत्यों से परे नितांत निर्दोष और पवित्र है । क्या कोई अनब्याही माँ इतना साहस बटोरकर कह सकती है ?

"सुन लो, समाज के प्रमुख धर्म-ध्वज-धारी,
सुतवती हो गई मै अनब्याही नारी ।
अब चाहो तो रहने दो मुझे भवन में,
या जातिच्युत कर मुझे भेज दो वन में ।

पर, मैं न प्राण की इस मणि को छोड़ूँगी,
मातृत्व धर्म से मुख न कभी मोड़ूँगी ।
यह बड़े दिव्य उन्मुक्त प्रेम का फल है,
जैसा भी हो, बेटा माँ का संबल है ।"

कर्ण जैसे वीर पुत्र की माँ भीरु क्यों हुई ? क्यों नहीं वीरमाता के रूप में आगे बढ़कर उसने अपने चरित्र को उजागर किया ? कर्ण के शब्दों में :

"पर, हाय, हुआ ऐसा क्यों वाम विधाता ?
मुझ वीर पुत्र को मिली भीरु क्यों माता ?
जो जमकर पत्थर हुई जाति के भय से,
सम्बन्ध तोड़ भागी दुधमुँहे तनय से ।"

छठे और सातवे सर्ग मे महाभारत के अनेक दृश्यचित्र सामने से गुजरते हैं। कवि ने बड़ी ही परिपक्व, सुष्ठु शैली मे जीवन के अनेक व्यावहारिक पहलुओं की मीमांसा प्रस्तुत की है। मानव-विकास की गति कितनी धीमी है ? लगता है जैसे सहस्रों वर्ष पूर्व [illegible]ों की सभ्यता थी, वही ज्यों का त्यों--उसी स्तर पर--आज भी मनुष्य खड़ा है। वह आगे बढ़ने को आकुल-व्याकुल तो है, पर वासनाएँ और दुष्प्रवृत्तियाँ पद-पद पर अवरोध उपस्थित करती हैं। द्वेष-दम्भ, हिंसा-प्रतिहिंसा, कलह-विग्रह और पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता व राग-द्वेष ने हर युग, हर काल में युद्ध को उकसाया है। युद्ध का विस्फोट कब होगा, विनाश की लपलपाती जिह्वाएँ कब मानवता को निगल जाएँगी, दुर्द्धर्ष पाशविकता उभरकर किस समय उसके मानसिक सतुलन और धर्म-भावना को डाँवाडोल कर देगी--कहा नही जा सकता। धर्म क्या है ? वह कौन से साधन में निहित है ? हिंसा, विग्रह या युद्ध—वह धर्म का साध्य नहीं हो सकता। युद्ध तो सत्पथ से विचलित कर तत्क्षण अधर्म-पथ पर ले जाता है।

"हो जिसे धर्म से प्रेम कभी
वह कुत्सित कर्म करेगा क्या ?
बर्बर, कराल, दंष्ट्री बन कर
मारेगा और मरेगा क्या ?"

हार और जीत, जय और पराजय--आखिर यह सब है क्या ? इसकी परिसीमा कहाँ तक है ? इससे हासिल ही क्या होता है ? कवि अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचता है :

"नहीं पुरुषार्थ केवल जीत में है,
विभा का सार शील पुनीत में है।
विजय क्या जानिए बसती कहाँ है ?
विभा उसकी अजय हँसती कहाँ है ?
भरी यह जीत के हुंकार में है,
छिपी अथवा लहू की धार में है ?"

'पार्वती'

साक्षात् सच्चिदानंदमयी शिव की आद्या शक्ति श्री पार्वती के चरित्र-योग की सात्विकता के सन्दर्भ में अनंत व्यापक रसतत्त्व का समन्वय और नारीतत्त्व की एकनिष्ठ चरम परिणति है। पार्थिव भूमिका पर उनकी सच्ची सर्वांगीण निष्ठा क्रियात्मक रूप में हमेशा एक नया अर्थ, एक नया महत्व प्राप्त करती गई है। नटेश्वर

नारी के बिना अर्धाङ्ग हैं अर्थात् प्राणदात्री और सृष्टि के सृजन-कार्य को सुचारु रूप से संचालित करने वाली वे ही जगज्जननी जगदम्बिका हैं। द्वैत में अद्वैत की भावना अथवा पुरुष एवं प्रकृति के अन्तराय को मिटाने के लिए या कहें कि आत्मलीन निस्संग अन्तर्भाव के कारण वैचित्र्य प्रसविनी महाशक्ति का मातृ-रूप इतना बंदनीय हुआ जो कालान्तर में सौदर्य, माधुर्य एवं ऐश्वर्य का सम्पुंजन बन कर महामानवी आद्याशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयंकरी—उसके विविध रूप हैं, अतएव उसके विराट् विग्रह में महादुर्गा, महालक्ष्मी, महासरस्वती—तीनों का लय, साथ ही जिसकी विभिन्न अन्तर्भूत सर्जना शक्तियाँ न केवल रूपान्तरित मन, प्राण, शरीर में सामंजस्य और ऐक्य का अनुष्ठान करने वाली सिद्ध हुईं, अपितु उसके इस त्रिधा रूप में पार्थिव लीला के सभी क्रीड़ा-कौतुक अंतर्हित हो नई शक्ति और प्रेरणा के उत्स बने। शनैः-शनैः उसकी चैतन्य स्पंदित ऊर्जस्वी प्राणधारा भगवती के अपरिमित, बहुविध और विगलित सौदर्य के समवाय का एकत्र और पुंजीभूत प्रतीक बनती गई जिसके परिणामस्वरूप आज के नवजाग्रत क्रान्तिकारी युग में भी उसका उदात्त रूप उसी प्रकार सर्वजन संवेद्य भाव लिये हुए है।

इसी अनन्यता और निष्ठा से प्रेरित 'पार्वती' महाकाव्य के लेखक श्री रामानन्द तिवारी ने अत्यन्त परिश्रम और प्रयत्न से पार्वती की शान्त और सतेज प्रतिमा गढ़ी है जो अनन्त और सर्वत्र व्याप्त पूर्णता की रूप-श्री के अर्थ में अपने अंतरंग पुंजीभूत शक्ति-स्रोत से पुनर्जीवन देने वाली, ध्वंस के साथ सृष्टि, नाश के साथ निर्माण, अपनी अशेष सम्पदा से संरक्षण और पालन करने वाली, प्रकृति के रूपान्तर और नव-निर्माण को वहन करने वाली, एकत्व के संस्पर्श से अखिल विश्व ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली, जीव-जगत् के गुण-दोष जिसके प्राण तन्तुओं में संग्रथित हैं और दोनों को एक साथ समेट लेने की जिसमें अद्भुत क्षमता और प्राणवत्ता है——इस रूप में भिन्न-भिन्न कर्म-प्रेरणाएँ, आदान-प्रदान, प्रवृत्ति-निवृत्ति, शक्ति-सामर्थ्य—सभी की आश्रय या अधिष्ठात्री बनी, क्योंकि वह निरन्तर दूसरों के लिए मंगल-साधना में लय होकर अपनी परिमितियों से संघर्ष करती रहती है। इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर उसके व्यष्टि और समष्टि रूप की अभ्यर्थना की गई है :

"दिव्य शक्ति का तेज अग्नि बन उतरा रवि मंडल से,
प्राण वायु संचरित हो उठी स्पन्दन के सम्बल से;
श्री की प्राण-विभूति विश्व में पंचभूत बन आई,
ज्ञान, काल, गति में जीवन ने अपनी संज्ञा पाई।

संसृति के सागर के तट पर आदि सर्ग की ऊषा,
विहँस खोलती पूर्व क्षितिज पर जीवन की मंजूषा;
खिले अपूर्व रहस्य राग से रंजित रत्न-निचय-से,
उत्कण्ठित हो उठी प्रकृति किस वसुधा के विस्मय से।

जीवन की जागृति के अविदित पावन उदय प्रहर में,
छवि के कमल अनन्त खिल उठे संसृति के सागर में;
जीवन की विभूति बन श्री के रूप राग, रस बिखरे,
उनकी आभा में संसृति के तत्त्व पूत हो निखरे।
श्री के तन का तेज रूप बन खिला विश्व की छवि में,
अंतर का स्वर अमृत छन्द बन जगा विश्व के कवि में;
आत्मा का रस वह उर-दृग से बना अमृत की धारा,
हुआ अंग के सुरभि राग से आमोदित जग सारा।"

मंगलाचरण और अर्चना के पश्चात् प्रथम सर्ग हिमालय की सौरभ-श्री और वहाँ की दृश्यावली की मनोरम छटा, दूसरे सर्ग में हिमाचल-कुमारी श्री पार्वती जी की जन्म-कथा, तीसरे सर्ग में योगीश्वर श्री शिव का अविकल्प और निर्विकार रूप, चौथे सर्ग में स्वर्ग की पुकार अर्थात् तारक असुर के दुर्दमनीय अत्याचारों से त्रस्त देवताओं, गंधर्वों, किन्नरों को ब्रह्मा का वरदान, पाँचवें सर्ग में काम-दहन अर्थात् कामदेव का शिवजी के तीसरे नेत्र से भस्म किये जाने का प्रसंग, छठे सर्ग में तपस्विनी उमा, सातवें सर्ग में शिव-दर्शन, आठवें सर्ग में शिव-पार्वती का परिणय-प्रसंग, नौवें सर्ग में परिणय समारोह, दसवें सर्ग में शिव-समाज प्रयाण अर्थात् शिव की विचित्र बारात का वर्णन, ग्यारहवें सर्ग में पार्वती-परिणय, बारहवें सर्ग में विवाह के बाद कैलास-प्रयाण, तेरहवें सर्ग में दोहद-विहार अर्थात् युगों बाद अनादि दम्पति का पुनर्मिलन और प्रणय-प्रसंग, चौदहवें सर्ग में षड्बदन कुमार कार्त्तिकेय का जन्म, पन्द्रहवें सर्ग में कुमार-दीक्षा, सोलहवे सर्ग मे देवोद्बोधन, सत्रहवें सर्ग में तारक-वध, अर्थात् कार्त्तिकेय द्वारा अत्याचारी और महाबलशाली अवध्य तारकासुर को मार कर देवताओं को निर्भय करने का प्रसंग, अठारहवें सर्ग में जयन्त-अभिषेक अर्थात् तारकासुर की मृत्यु के पश्चात् शोणितपुर में इन्द्र एवं शचीपुत्र जयन्त के राज्यसिंहासनासीन होने का वृत्तान्त, उन्नीसवें सर्ग में विजय-पर्व, बीसवें सर्ग में राजतपुर वर्णन, इक्कीसवें सर्ग में आयसपुर-वर्णन, बाईसवें सर्ग में कांचनपुर-वर्णन अर्थात् उक्त तीनों सर्गो में तारक असुर के तीन औरस पुत्रों का ऐश्वर्य-वर्णन और पिता-बध के प्रतिशोध के लिए तैयारी, तेईसवें सर्ग में त्रिपुर-उपचार अर्थात् असुरों की शक्ति और प्रचण्डता देख कर जयन्त का ब्रह्माजी के आदेश से कैलाश की ओर प्रयाण और राक्षसों की अनीति, अधर्म, दर्प, अतिचार और मद-विमोह को नष्ट करने की शिव-पार्वती से शक्ति एवं प्रेरणा ग्रहण करना, चौबीसवें सर्ग में त्रिपुर-उद्धार, पच्चीसवें सर्ग में शिव-धर्म वर्णन, छब्बीसवें सर्ग में शिव-नीति वर्णन, सत्ताइसवें सर्ग में शिव-संस्कृति वर्णन—इस प्रकार उक्त महाग्रन्थ में शिव-पार्वती का माहात्म्य, विशेषकर अपनी अंतरात्मा के निवेदन को लेखक ने कविता और कथा के संगम पर नवीन कथातन्त्र द्वारा व्यक्त किया है। काव्य की आत्मा के रूप में यथाप्राप्य रस, अलंकार, रीति और रस-व्यंजना और काव्यशास्त्रीय

निरूपण की बहुलता दृष्टिगत होती है।

छंदों में एक प्रकार की शिथिल स्वरमयता है, तथापि तथ्यकथन में विचार गत प्रौढ़ता और अलंकृति में सादगी व सचाई है। बालक कुमार के चपल क्रीड़ा-कौतुक की कुछ पँक्तियाँ :

"मुक्त क्रीड़ा से बिखरता भुवन में आनन्द,
रुचिर रोदन-हास-रव में गूँजते मधु छन्द;
सरल दृग की श्यामता में विश्व का विश्वास,
स्वप्न-स्मिति में स्वर्ग के आलोक का उल्लास।
लगा घुटनों से विचरने कुटी में स्वच्छन्द,
मोद भर माता-पिता के हृदय में प्रिय स्कन्द।
पास आते पुत्र की सुन हर्षमय किलकार,
उमड़ता उनके हृदय में प्रेम पारावार।
सहज लीला में जगाकर नया नित्य विनोद,
स्कन्द भरता हृदय में सबके अपूर्व प्रमोद;
विविध क्रीड़ाएँ कुतूहल पूर्ण औ' स्वच्छन्द,
भर रही मन में, भवन में, विपिन में आनन्द।"

पार्वती के समूचे विकसित व्यक्तित्व में खंडशः विभक्त भगवान् शिव की निर्विशेष सत्ता का सहज समाहार भी है। वस्तुतः दोनों के एकात्म्य, अविच्छिन्न संयोग से देवी के क्रियाकलापों का प्रवर्त्तन और उद्यापन होता है। अनन्त, अव्यय भाव की वह ऐसी अभिन्न इकाई है जिसमें निःश्रेयस की प्राप्ति का आनन्दोल्लास और भागवत समन्वय-निचय का अगम्य रहस्य छिपा है। गौरी का अरिमर्दन भयंकर रूप ही कालिका चण्डी के नाम से विख्यात् हुआ। उन्होंने धूम्रलोचन, चण्डमुण्ड, रक्तबीज, निशुम्भ-शुम्भ आदि बड़े-बड़े दैत्यों का संहार करके समूचे जगत् का कल्याण किया, इसलिए वे आदिशक्ति महामाया भी कहलाईं।

"बन शिव के तप-योग-प्रेम से विधिवत् वृता भवानी,
करती सूत स्वर्ग-अवनी के संरक्षक सेनानी;
प्रलय-शिखा-सी कभी तेज से होकर दीप्त कराली,
असुरों के विनाश हित बनती काल-निशा सी काली।
दर्पवती दुर्गा बन करती ध्वंस असुर का रण में,
मानवती लक्ष्मी बन गिरती बज्र सदृश पाहन में
जिन हाथों में रही सुशोभित जीवन की जयमाला,
हुई दीप्त करवाल उन्हीं में बन प्रलयंकर ज्वाला।
अखिल देवताओं के अर्जित दिव्य तेज की सारी,
एकीभूत समष्टि शक्ति ने छवि दुर्गा की धारी,

अखिल देवताओं के दीपित दिव्य तेज से ढाली,
एक मूर्ति वह बनी अखण्डित श्री-सरस्वती-काली।"

इस ग्रन्थ में कथात्मक उपलब्धि के अतिरिक्त नये भावबोध के उन्मेष के साथ-साथ काव्य-शिल्प की अनेक दिशाओं और संभावनाओं का भी संकेत मिलता है। हिन्दी में इस विषय पर इससे अधिक महत्त्वपूर्ण और उत्कृष्ट काव्यकृति नहीं है। आज के आस्थाहीन युग में जबकि वैज्ञानिक और यथार्थवादी जीवन-दर्शन अधिकाधिक विकसित हो रहा है भगवती पार्वती का आदर्श—अपने ऊर्ध्वगामी विकास के सृजनात्मक पक्ष से जुड़कर—आने वाली पीढ़ियों की आस्था और प्राणवत्ता को खंडित न होने देगा। समय की रगड़ खाकर यद्यपि धर्म की मर्यादाएँ शिथिल पड़ गई हैं और विश्वास के बाँध टूट गए हैं, पर कवि ने अपने श्रम और अध्यवसाय से इस विश्वास को पुनर्जीवित किया है जिससे इस महाशक्ति रूपिणी माँ भगवती का रूप सदैव अक्षुण्ण है और सनातन है।

'मीराँ'

परमेश्वर 'द्विरेफ' कृत 'मीराँ' महाकाव्य की कथा का प्रारम्भ बालिका मीरा के बाल्यकाल की कुछ ऐसी अविस्मरणीय घटनाओं से होता है जिन्होंने कृष्ण-भक्ति के अमिट संस्कार उसके कोमल मन और अन्तर्प्राणों में जागृत किये थे। धूल धूसरित आँगन में मीरा अपने छोटे-छोटे पैरों में नूपुर बाँधे और झीने रेशमी वस्त्रों को मलिन बनाती हुई तथा हाथों में बजते कंकणों की मधुर झंकार के साथ मिट्टी का घर बना रही थी :

"कितना सुन्दर था वह लघु घर
यह नहीं कहा जा सकता, पर
सब कुछ भूली उसको पाकर
वह बाला।

वह भाव भरा ले अन्तराल
करती थी प्रतिपल देख भाल
ऊपर रवि, भीतर तिमिर-जाल
संगुम्फित।

जानें क्यों फिर उसने पग धर
कर दिया खंडशः अपना घर!
खो गई नींद में फिर पीकर
ज्यों हाला।"

मीरा की माँ मीरा सहित पड़ोस के विवाह में सम्मिलित होने गई। भोली बालिका वहाँ की धूमधाम, क्रीडा-कौतुक, नाच-गान और समूची चहल-पहल को देखकर इतनी अभिभूत हो गई कि वह अकस्मात् अपनी बाल-सुलभ जिज्ञासा से माँ

से पूछ बैठी :

"है कौन, कहाँ, मा ! मेरा वर ?
मैं किसकी दुलहिन बनी अमर ?
यों सुन आया माँ का जी भर
रोमांचित ।"

इकलौती बच्ची के इस प्रश्न से माँ सहसा कुछ गम्भीर हो उठी। किन्तु उसे तो कुछ बताना ही था :

"जिस नारी के हो एक सुता
केवल, वह क्या रे, सके बता
वर कहाँ चिरन्तन, कौन पता ?
भावुकता ।
फिर सहसा हँसते हुए, मधुर
दे दिया स्वरों में यह उत्तर
तेरा पति · तो नटवर नागर
गौ-पालक ।"

इतना सुनते ही बालिका के मन-पटल पर नटवर-नागर की मूर्ति अमिट बनकर समा गई। यद्यपि मीरा के अंतरग हृदय में भगवान् कृष्ण का प्रेम और आकर्षण बहुत बचपन से ही—न केवल अपनी सीमा के अंतर्गत कोमल आवेगों और अति सुकुमार भावनाओं के विस्तृत धरातल को परिवद्ध करता है, अपितु इस अमृततत्त्व की उपलब्धि अर्थात् दैवी नित्य विधान की पूर्ति भी करता है। किन्तु प्रेम की एक खास स्थिति और उसकी सबसे सघन एवं विशिष्ट व्यक्ति-केन्द्रित भावना का भी कोई समय या परिसीमा होनी चाहिए। प्रेम के अनुभव की क्रमिक प्रक्रिया में—जिसमें कि अकस्मात् किसी कल्पना-चित्र से मुग्ध व मनोग्रस्त होने की अनिवार्यता आ घेरती है—लेखक ने बालिका के मानसिक संघर्षो में जिन नैतिक निर्णयों की स्थापना की है वह बड़ी ही बेतुकी और अस्वाभाविक बन पड़ी है। मीरा की कान्तासक्ति आन्तरिक द्वन्द्व-संघर्ष का प्रतिफलन तो हो सकता है, पर उसमें सच्ची निष्ठा, आत्मपूर्णत्व की भावना और तन-मन के एकीकरण की महती भावना ही निहित है। इसके विपरीत तारुण्य की अपरिपक्वावस्था मे ही प्रेम की नई अनुभूति के रूप मे उसका असमय ही अनधिकार प्रवेश अथवा व्यावहारिक व्यवस्था में संश्लिष्ट न होने वाली बुद्धि की सीमा और तर्क के दायरे के परे की चीज बड़ी ही छिछली और बचकानी होकर उभरी है। भोली अल्हड़ बच्ची की मस्त और चपल बाल्यावस्था में ही कुछ ऐसा चित्र उभारा गया है जो उसके अचेतन की अविकसित मनःस्थिति में अतिरंजित संवेदनाओं का स्फुरण मात्र है :

"पर वह बाला तल्लीन हुई
मिल गई उसे अनुभूति नई

वह नटनागर गोपाल - मयी
चिर चिंतित ।

दिन गया, निशा भी गई बीत
खोये नभ में भी प्रणय - गीत
पर उसकी निच्छल प्रणय - प्रीत
परिवर्द्धित ।

सोते चिन्तन, जगते चिन्तन
नटनागर में उलझा था मन
जग से उदास, घर से उन्मन
अन्तर्तम ।

अस्पष्ट रूपरेखा सुन्दर
नयनों के आगे रह रह कर
देती थी भावों से भर भर
अंतस्तल ।"

कवि को शायद इस बात का ज्ञान नहीं है कि विशुद्ध प्रेम की अनुभूति और कामावेगों से उमड़े दिमाग़ी फितूर में कितना अन्तर होता है, तिस पर भी इतनी छोटी अवस्था में अपरिहार्य रूप में अनर्गल इच्छाओं और प्यार का मादक रंगीनियाँ उभारना किसी भी प्रकार शोभनीय नही है ।

इसमें सन्देह नहीं कि मीरा के ऊहापोह भरे जीवन के साथ अनेक असंगतियाँ भी जुड़ी हैं तथापि कितने ही स्थलों पर कवि का नया भाव और नया अर्थभरा मन मीरा के संयत आचरण को उसकी एकरस भीतरी निष्ठा से एकाकार नही कर पाया है । इसके विपरीत जहाँ कही उच्छृंखल आचरण और अतिमानवीय क्रिया-व्यापार हैं वह कवि की अतिशय रूमानी कल्पना-प्रियता का परिणाम है । उदाहरणार्थ—मीरा के माता-पिता के प्रसंग में निष्प्रयोजन ही प्रेम की यह उद्दामता दर्शाना—

"भुज पाशों में बद्ध कर लिया
कहकर यों प्रियतमा वक्ष को ।"

मीरा का प्रेम कुछ ऐसा अनन्य और लोकोत्तर है कि उसने अपने प्रणय-देवता को रिझाने के लिए कुछ उठा न रखा, पर फिर भी वह पूरी तरह स्वयं उसके रहस्य को कभी समझ न पाई, मन की दिव्य भावना के शृंगार में वह निरन्तर मिलन-मुहुर्त्त की बाट जोहती रही, पर फिर भी उसकी आकांक्षाएँ अतृप्त बनी रही । समाज, धर्म और आचार-मर्यादाएँ प्रेम-पथ पर अग्रसर होने से उसे रोक न सकी, फिर भी न जाने कितनी ठोकरें उसे खानी पड़ीं । कैसी-कैसी उत्ताल तरंगे मीरा के मन में उठती हैं, जिसके जीवन का आधार ही वह छोटे-छोटे क्षण और अनुभूतियाँ हों उसकी हर घड़ी की उपासना से मन की वृत्ति उस शुद्ध तत्त्व से मिलकर तद्रूप हो जाती है ।

श्रीकृष्ण स्वरूप की आल्हाद-शक्ति के संयोग से शुद्ध सत्त्व का आविर्भाव होता है और यह तथाकथित अगम्य प्रेम ही गाढ़ होता हुआ, उत्कर्ष की ओर बढ़ता हुआ क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग के रूप में परिणत होता है। इस अनुराग की चरम परिणति ही मीरा की वाणी का परम पुरुषार्थ है। उसकी घनीभूत अनुभूति के सहज उद्वेलनों और एकमात्र श्रीकृष्ण-प्रेम की रसभींजी शत-सहस्र आनन्दधाराओं के उन्मेष को दर्शाने के लिए बड़ी ही दक्षता और रचना चातुरी की अपेक्षा है। प्रस्तुत पुस्तक को पढ़कर मुझे लगा कि कवि की भाषा में गत्यवेग और प्रवाह तो है, पर उस महाभाव की छाया तक को भी वह छू नहीं पाया है। शृंगार और रूमानी मादकता को सिरजने के शौक में कवि ने यत्रतत्र आचार-मर्यादाओं का उल्लंघन किया है।

"व्यथित सारस से निरंतर नवलतम घनश्याम
श्रान्त होकर भी गगन में लें न कुछ विश्राम
निकट आ चुपके स्थिरा के स्पर्श करते गात
दौड़ती विद्युत्, हँसे कुच तुंग टील दात।

हस्त-कुच-मर्दन सुलज्जित, क्रुद्ध सी गत धाम
भू लगे ज्यों स्मर प्रपीड़ित नवल प्रियतम वाम
देख प्रिय के पास भू को बोलते हँस मोर
व्यंग्य में अविरल चिढ़ाने प्रखर करते शोर।"

मीरा के पति को आवश्यकता से अधिक भोगलिप्सु और उन्मादी चेष्टाओं का व्यक्ति दिखलाया गया है। उसके शब्दों में :

"ऊषा की लाली सा जीवन
चुम्बन सा यौवन है
अलि के गुंजन सी तन्मयता
मृग तृष्णा सा मन है।

आओ आओ यों न गँवाओ
थोड़े से यौवन को
छोड़ चला जाएगा यों ही
एक दिवस इस तन को।"

प्रकृति-वर्णन खासकर मरुभूमि के दृश्यांकनों के चित्र सुन्दर उतरे हैं। कवि की भावमुग्ध, कल्पना-प्रवण और कोमल अनुभूति ने कहीं-कहीं जीवन की समस्याओं पर भी दृक्पात किया है। राजस्थानी रीति-रिवाज़, आचार-मर्यादाएँ और सामाजिक रीति-रूढ़ियों का भी चित्रण है, किन्तु उनमें आधुनिक पुट अधिक है। मीरा राजकुल की इकलौती बालिका थी। उसके माता-पिता के समक्ष पुत्री के जन्म और दान-दहेज की समस्या उतनी उग्र नहीं हो सकती जितनी कि सामान्य स्थिति वाले परिवारों में।

मनोवैज्ञानिक भूमिका पर लेखक को देशकाल और समयोचित विवरणों का सदैव ध्यान रखना चाहिए। फिर भी तेरह सर्गों के इस महाकाव्य में कवि ने अपनी विरोध-मुक्त यथार्थवादी धारणाओं को मीरा के कथातन्त्र के मंगलमय सामंजस्य में गूँथकर उसे अनूठी और आकर्षक पद्धति में काव्यगत सौन्दर्य से मंडित किया है।

'तारक-वध'

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का उक्त महाकाव्य भौतिक जीवनानुभूतियों का ऐसा सुगठित और सुव्यवस्थित एकीकरण है जिसमें कथा-प्रवाह की एकोन्मुखता मिलती है। वर्तमान समय में कितनी ही बड़ी-बड़ी समस्याएँ नित्य जन्म ले रही हैं। काव्य के माध्यम से इन स्थितियों का यथातथ्य चित्रण उपस्थित करते हुए उनमें एक नई संवेदना विकसित की गई है।

काव्य का कथानक षण्मुख कार्त्तिकेय के माहात्म्य और अत्याचारी तारकासुर के हनन को एक दूसरे ही रूप में सामने रखता है। वर्णित घटनाओं एवं पात्रों का रूपान्तर भी अकल्पित रूप में होता है—जैसे ब्रह्मा के आत्मसंहरण से उत्पन्न कार्त्तिकेय और शारदा चिर युगल हैं, पर भ्रम वश कार्त्तिकेय अपनी युग-युगान्तर की सहचरी प्रिया का स्वयं अपने हाथों ही सर्वनाश करते हैं। जब उन्हें इस बात का एहसास होता है तो उनमें गहरी अंतर्व्यथा जगती है और अमर लोक से मर्त्यलोक में आना पड़ता है।

कार्त्तिकेय और शारदा—दो पृथक् सत्ताएँ होने के बावजूद ऐसी अविभाज्य इकाई है जिसमें पूर्ण एकात्म्य और अंतरंग भावात्मकता है। उनका स्थायी संयोग और व्यक्तियों की चरम परिणति अंततः द्वन्द्वातीत मुक्तिभूमि में पहुँच जाती है जिनका मानव-संस्करण शृंगी ऋषि और शान्ता का पुनर्मिलन है। दोनों के मनःप्राणों का एकत्व और तादात्म्य भाव की निष्ठा समन्वय, समवाय और संप्रीति के मूलमंत्र का प्रतीक है। शारदा रुद्र की महाशक्ति की अंशीभूता वह शक्ति है जिसमें कारणभूत आद्याशक्ति के समस्त सत्त्वगुण विद्यमान हैं। स्थुल-सूक्ष्म, दृश्य-अदृश्य और व्यक्त-अव्यक्त, साथ ही शक्ति से संयुक्त जो मूल अद्वैत रहस्य-साधना है वह शृंगी ऋषि और शान्ता के विछोह और उनके मिलने की आकुलता की दैहिक चेतना से परे जो अगम्य प्रेम समाधि है उसका भी एक ऐसा आयाम व्यक्त हुआ है जिसने नानाविध भावचित्रों के पारस्परिक संघात को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है।

> **"यह कह दौड़ पड़े शृंगी ऋषि मिलन मोद में माते।**
> **अविरल वाहित अश्रुधार में सहित सनेह अन्हाते।**
> **रहे भुजाएँ फैलाये वे जिनमें प्रिया न आयी।**
> **ज्यों ज्यों वे धाये आगे को वह पीछे को धायी।**
> **बन सीमा से बढ़े मिला तब अरुण सुमनमय उपवन।**
> **'शांता-शांता' सम्बोधन कर शिथिल किया निज तन मन।**

प्रति पुकार में अधिकाधिक थी आर्ति, प्यास औ तड़पन ।
प्रतिध्वनि में होता था उत्तर 'शांता-शांता' झन झन ।"

समय, स्थान और घटना के ऐक्य को इस प्रकार संश्लिष्ट किया गया है कि अनेक युग एवं कल्पान्तों को सम्बन्ध-सूत्र में बाँधकर तरह-तरह की उद्भावनाएँ की गई है । समूची प्रकृति को मानवीय व्यापारों की पृष्ठाधार मानकर सानुकूल रहस्यावरणों में अधिकतर आलम्बन रूप मे ग्रहण किया गया है । विरहिणी वनदेवी प्रियतम की अभ्यर्थना मे प्राणिक संघर्षों में तपकर जीवन-सत्य का उद्घाटन करती हुई विभिन्न-धर्मा घटनाओं तथा परिस्थितियों का तारतम्य मिलाती चलती है और कितने ही ऊहापोह, संश्लेषण-विश्लेषण, घात-प्रतिघात, जड़-चेतन सम्बन्धी धारणाएँ और क्लिष्ट गुत्थियों को सजीव कथानक में गूँथकर यह कल्पना-पट बुना गया है ।

"महाशक्ति वैचित्र्यमयी वह नव-नव चित्र बनाती ।
किसी भाव के वश होकर फिर उन्हें तुरन्त मिटाती ।
क्यों उखाड़ देती वे पौधे जिन्हें प्रेम से पाले ।
जाने कौन रहस्यमयी के भेद अतीव निराले ।"

अनेक स्थलों पर विरह और आकुल भावावेगों की बड़ी ही अलौकिक रहस्यमयी व्यंजना है । दशरथ पुत्री और शृंगी ऋषि की भार्या शान्ता को तारकासुर अपहरण कर ले जाता है और कारागार में बन्दी बनाकर रखता है । वियोग की इस स्थिति में उदात प्रेम का पूर्ण परिपाक हुआ है। शान्ता की स्वयम्भू मनोवृत्तियाँ और आकुल प्राणों की अव्यक्त चेतना के महत्तत्त्व का उदय होता है। तब उसकी विरह-वेदना में डूबी कितनी ही रहस्यात्मक भावनाओं का उद्घाटन होता है ।

"प्रबल चित्त विक्षेप वृष्टि नव लाया ।
जड़ भी चेतन रूप सहज हो आया ।"

प्रियतम के अचिन्त्य एकान्त मिलन की चाह दिव्य प्रेम को जाग्रत करती है और उसके लीलामाधुर्य की प्रत्येक चेष्टा और भावभंगी में विस्तार पाती है। आकाश-पृथ्वी, सूर्य-चन्द्र, पुष्प-लताएँ, पशु-पक्षी यहाँ तक कि भ्रमर जैसे छोटे से जीव तक को सम्बोधित कर चहुँ ओर प्रणय-भावनाएँ निनादित हो रही हैं । शान्ता मन-ही-मन कलपती है :

"मै प्रियतम के पास कौन विधि जाऊँ ।
सन्देशा ही जाय धन्यता पाऊँ ।
मधुकर! विरह विषाद सहज अवसादित ।
प्रिय देखेंगे दृश्य बने उन्मादित ।
पायेंगे संदेश आप ही मेरा ।
जानेंगे सब क्लेश आप ही मेरा ।
कमल व्यथा से व्यथित सहज देखेंगे ।

मुझको भी यों विकल कान्त लेखेंगे।
घेरेंगे जब मेघ तुम्हें घिर घिर कर।
देखेंगे वे आप विकल हो प्रियवर।"

उधर भृंगी ऋषि के प्राण भी अपनी प्राणाधिक प्रिया के लिए छटपटा रहे हैं। प्रणय-सुधा से सिक्त हो भावसिन्धु में तरंगे उठने लगती हैं और भाव के आवर्त्त बन जाते हैं। दरअसल, अनुराग की चरम परिणति ही 'भाव' हैं और उसके 'आवर्त्त' प्रेम-विभावित उमड़न को मानों अपने आप में समेट नहीं पाते हैं। अतएव इस भाव-सिन्धु में अगणित हिलोरे-सी उठती है और जड़-चेतन व चराचर के अदृश्य प्रसार में उनकी व्यथा अंकित हो रही है। ऋषि की विरहाकुल वेदना और मानवेतर प्रकृति में पूर्ण साम्य दर्शाया गया है। घायल मन की यन्त्रणा की तड़प से दिव्य अनाहत निनाद फैल जाता है और वातावरण से मुक्त प्रेम-रहस्यों को अधिकाधिक उद्घाटित करता चलता है। वस्तुतः उनके प्रेम की परिधि इन सभी दृश्य वस्तुओं को अपनी सीमा में आ घेरती है।

"ऊब रही थी साँझ देख यह दृश्य करुण उर दारक।
दिखलाये उसने भी पीड़ित नयन वारिकण तारक।
अन्धकार ने काला परदा ऋषि शरीर पर डाला।
रहा अभागा पड़ा वहीं पर परम प्रेम मतवाला।"

भावाकुलता और स्वानुभूति के कारण यथार्थ की पकड़ इतनी दृढ़ है कि सर्वत्र चैतन्य की अव्याहत सत्ता प्रकट होकर प्राणभाव और मन का अधिष्ठान करती है। धर्म और सत्य की मूर्तिमान् संस्कृति के दिक् विस्तार की अनन्त सीमाएँ है। परम सत्य मे विलय के लिए उन्मुख होता हुआ शिवत्व जगता है तो उसका तेज दिग्-दिगन्त को आलोकित करता हुआ सर्वत्र छा जाता है। किन्तु विकृत हिंसा का परिणाम जो दानव की परम्परा को सदा अक्षुण्ण बनाये रखता है उसका संहार करने वाली रुद्र-शक्ति विलोम स्थिति में अत्यन्त सक्रिय और भयावह रूप धारण कर लेती है। दानव स्वयं बलशाली और शक्तिपुज है, पर रक्तपात, हिंसा, नारी-अपहरण और पर-पीड़ा के निमित्त उसकी शक्ति का दुरुपयोग होता है। दानवता का जड़ मूल से संहार करने के लिए रुद्र के सहारास्त्र भिन्न-भिन्न उपचारों की योजना करते हैं, पर उक्त ग्रन्थ मे तारकासुर का वध नही वरन् हृदय-परिवर्तन द्वारा उसे अद्वैत साधना की ओर उन्मुख किया गया है। दनुज अंत में पश्चाताप करता हुआ दर्शाया गया है।

"लाखों ही के प्राण सताये निशिदिन मैंने।
लाखों ही को हाय रुलाये निशिदिन मैंने।
दुर्जन ही को नित्य चढ़ाया सिर पर मैंने।
नित्य सुजन अपमान कराया हँसकर मैंने।
चिंतन यह अविकार हृदय मंथन करता था।
युग युग के सब कलुष सहज सत्वर हरता था।

चमत्कार लो देख आग पानी में सोती।
तारक नयन कराल आज बरसाता मोती।"

सच पूछा जाय तो देवत्व और दानवत्व का संघर्ष केवल आज की ही समस्या नहीं बल्कि चिरपुरातन है। भीतरी कुत्सा या अहंभाव सम्पूर्ण चेतना से अलग कटकर जब अपने तईं सीमाबद्ध अथवा दूसरे शब्दों में उसकी व्यक्तिगत चेतना बन जाता है तो इसी कुत्सा व अहं की पृथगात्मिका चेतना-चरम बिन्दु पर पहुँचकर—उन सीमाओं को भंग करती हुई—एकमेव अखंड चेतना के साथ पुनः एकत्व स्थापित करती है। ग्रन्थ में मूलतः सर्वत्र इसी एक चेतना को उस अखंड चेतना से एकाकार कर व्यष्टि का समष्टि में विलय दर्शाया गया है। भाषा सरस और प्रवाहपूर्ण है। पर कहीं-कहीं कष्ट कल्पना और विभिन्न प्रकार की मूर्त्तिमान विचित्र अभिव्यक्तियों के कारण दुरूहता आ गई है। रचना समयानुकूल आदर्शों को सम्मुख रखकर की गई हैं, पर रहस्यवादी व्यंजनाएँ उतनी स्वाभाविक नही, बल्कि आयासपूर्ण और अतिरंजित-सी लगती हैं।

'दमयन्ती'

ताराचन्द्र हारीत का 'दमयन्ती' महाकाव्य नल-दमयन्ती की रूढ़िसिद्ध भावाचार सम्पत्ति की लोकाभिव्यक्ति को प्रस्तुत करता है। चौदह सर्गों में अतीत की इस ऐतिहासिक महागाथा को वर्त्तमान में मूर्त्तिमान कर सर्वथा नये और मौलिक ढंग से प्राणवंत बनाया गया है। भाषा में सहज आकर्षण है और कवि की भावना से ओतप्रोत काव्यचित्र उतरते चलते हैं। विदर्भ देश के राजा भीष्मक की राजकन्या दमयन्ती के अप्रतिम रूप और सौन्दर्य, यौवन और तरुणावस्था के साथ-साथ निषध नरेश नल के प्रति उसका आकृष्ट होना, उधर दिव्य हंस द्वारा राजा नल के समक्ष दमयन्ती का बखान और प्रणय-संदेश, तत्पश्चात् दमयन्ती के पास उद्यान वापी में जाकर हंस का मानवी भाषा में नल का गुण-कथन, दोनों की परस्पर अनुरक्ति और गहरा आकर्षण, विवाह योग्य पुत्री को जानकर विदर्भ नरेश द्वारा दमयन्ती की स्वयंवर योजना, समाचार पाकर इन्द्र, वरुण, यम, अग्नि का बिना निमन्त्रण के ही स्वर्ग से पृथ्वी लोक पर अवतरण और दिव्य कान्ति व लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न नल को देखकर उन्हें प्रतिज्ञा में आबद्ध कर इस बात के लिए विवश करना कि वे देवदूत बनकर राजमहल में जायें और दमयन्ती को देवताओं में से ही पति चुनने को बाध्य करें, देवताओं से अन्तर्धान-विद्या सीखकर राजा नल का बेरोकटोक महल मे प्रवेश और दमयन्ती से साक्षात्कार, राजा का दमयन्ती से देवताओं को वरण करने का आग्रह, पर उसकी निष्ठा और गहरे प्रेम से प्रभावित होकर लौटना और देवताओं से सभी ठीक-ठीक बातें बताना, विवाह-मंच पर इन चारों देवताओं का नल के रूप में उपस्थित होकर संशय में डालना, किन्तु अंततः अपने अटूट अनुराग, दृढ़ निश्चय, सत्य-प्रेम और आत्मशुद्धि द्वारा असली नल को पहचान लेना और पति रूप में वरण करना आदि पूर्वार्द्ध के इन कथा-प्रसंगों को विस्तारपूर्वक सात सर्गों में वर्णित किया गया है।

उत्तरार्द्ध के सात सर्गों में उतने ही विस्तार और कौशल से राजा नल की कथा के उस सुप्रसिद्ध अंश की भी नियोजना है जिसमें नल का राजैश्वर्य, दम्पति का सुख-भोग, किन्तु बाद में कलियुग की प्रेरणा से जुए में राजपाट और सर्वस्व हारकर वन में दर-दर भटकना और एक दिन सोती दमयन्ती को छोड़कर राजा नल का चले जाना, विरह-कातर दमयन्ती की दुरवस्था, व्याध से मुठभेड़, तदनन्तर अनेक प्रकार के कष्ट भोगती और जंगलों को पार करती दैवयोग से पहले चेदिराज्य और पुनः अपने पितृगृह पहुँच जाना, राजा नल की खोज, बाहुक के रूप में साकेतपुरी के राजा ऋतुपर्ण के यहाँ राजा नल का छिपकर सेवा-कार्य, किन्तु अन्ततोगत्वा दमयन्ती को सब बातों का पता लग जाना और स्वयंवर के बहाने उन्हे बुला भेजने की योजना बनाना, फिर अन्त में दोनों के मिलन की बड़ी ही अपूर्व करुणा विगलित झाँकी प्रस्तुत की गई है।

"बैठे थे बाहुक तभी सामने देखा—
आती है कंपित खिची स्वर्ण की रेखा।
वे उठे कि जब तक नेत्र सुधा से सींचे--
तब तक छाया आ रुकी स्व-तरु के नीचे।

नत वदन, सती का उठा, दृष्टि खंजन सी--
वह तपोपूत निष्पाप, ताप-भंजन सी--
बाहुक मुख पर पड़ी, कुतूहल जागा,
सुख फूल उठे से, स्वयं भीत भय भागा।

बाहुक हो गये विलीन, प्रगट अब नल थे,
उस सती-दृष्टि से धुले महौषध छल थे।
नृप वदन पुष्पमय हुआ, पाद थे सुखमय,
करते थे ऊपर देव, सती की जय जय।'

विरहावस्था में प्रेम और भी अधिक पल्लवित होता है। प्रेम की एकान्त विमूर्च्छना में जो भाव अब तक मदहोश थे वे हृत्तंत्री के किंचित् से स्पर्श से जाग उठते हैं और उनकी अनुगूँज दिग्दिगन्त में व्याप्त होकर समा जाती है। आलिंगन पाश में बद्ध दो प्रेमी समस्त दुःख-द्वन्द्वों से परे अखण्ड ऊर्ध्वगामी स्थिति में पहुँच जाते हैं।

"करतीं विरहानल शान्त, अश्रु जल से ही,
वे स्नेह सिन्धु में मग्न, युगल थे स्नेही।
मिल गए परस्पर हृदय खण्डता भागी,
वह स्नेह धार बह चली, ज्योति सी जागी।"

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक रचना-शैली में एक स्थिरता है। यद्यपि कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से कथोपकथनों में अस्वाभाविकता आ गई है, किन्तु चरित्र का प्रतिपादन यथातथ्य हुआ है। ऐसे बहुत से पात्र हैं जो दमयन्ती और राजा नल के चरित्र को विकसित करने में सहायक होते हैं। प्रकृति मानव-सहचरी और हृद्गत भावों की प्रतिरूप होने के कारण उस क्रियाकलाप को प्रेरित करती है, जिसके

फलस्वरूप वर्णन-सादृश्य द्वारा प्रस्तुत विषय नेत्रों के समक्ष चित्रवत् खिच जाते हैं। दमयन्ती उद्यान मे हंस के क्रीड़ाकौतुक को देखकर पूछती है :

"हे सखी ! यह हंस देखो तो सही,
देखती अब तक कि मैं, जिसको रही,
हंसनी उस ओर जाती दौड़कर।
और, यह इस ओर लाता मोड़कर
दे रहा इस भाँति उसको कष्ट है,
क्या कहूँ कितना अरी! यह धृष्ट है।"

सखि के इस उत्तर से प्रेम की बड़ी ही सुन्दर, उन्मुक्त व्यंजना होती है :

"प्रेम का यह खेल, आलि ! न कष्ट है,
देखलो ! इस युगल का मुद स्पष्ट है।
है गुणज्ञे ! नियम यह अभिसार का,
मौन है संकेत स्वीकृत प्यार का।"

न केवल परम्परागत काव्यशास्त्रीय मूल्यों की सम्यक् स्थापना, अपितु मौलिक अन्तःस्पर्श और नवोन्मेष की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उपादेय है।

'उर्वशी'

'उर्वशी' न केवल दिनकर की तेजोद्दप्त अन्तर्निहित कल्पना-शक्ति एवं काव्य शिल्प की जीवन्त अभिव्यक्ति है, अपितु लगता है कि कोई ऐसी दुर्निवार और विदग्ध आकुलता कवि के प्राणों में जाग उठी है जिसके संसर्ग और रसानुभूति के अद्भुत योग से समस्त बिखरी लावण्यराशि को अन्तर के किसी शून्य प्रदेश में पुंजीभूत कर वह सार्वभौम मानव-आत्मा के एकत्व और मिलन की परम आनन्दमयी भूमिका का स्पर्श किया चाहता है। शाश्वत युगल का यह चरम मिलन ही कहीं शृंगार और कहीं प्रेमयोग की समाधि है। मनुष्य की जिज्ञासा और चेष्टारत दृष्टि ने इन प्रेम-रहस्यों में पैठते हुए जिन सूक्ष्म विपर्ययों और विचित्र गूढ़ सामंजस्यों के सूत्र पाये हैं उनकी सहज मीमांसा और विश्लेषण अन्तश्चेतना के गुह्यतम स्तरों में झाँककर ही उक्त काव्य-ग्रन्थ में हुआ है।

उर्वशी जैसी नारी का अपरूप रूप और विचित्र तरंग भंग देखकर कवि की कल्पना अनायास विस्मय-विमुग्ध उस आंतरसत्ता पर जा टिकती है जिससे प्रेरित एक अभिनव आत्मविह्वल समर्पण का भावोदय हुआ है। प्रेमांतिकता में मन के संशयों को छिन्न करने वाले बहिरंग प्रश्नों की व्याख्या और चिरन्तन समस्याओं का समाधान नहीं होता। प्रेम-प्रस्रविणी की रसधारा की उन्मद लहरियाँ न रुकने वाली होती हैं, उनके लय का विन्यास चाहे जितना भी कोमल क्यों न हो, पर अन्तर की गहराइयों से टकराती-लहराती वे नुकीली नोंक सी भीतर धँस कर भाव-पटलों को उकसाती हैं। प्रणय का ऐसा कसमसाता ऊफ़ान भी—यदि अपराध के बोध से परे है—तो वह

निष्पाप और निरापद है। प्रेम-धर्म की पराकाष्ठा अर्थात् मानव-चित्त की निर्द्वन्द्व स्थिति में जब समूचे रस एक कान्त मधुर रस के पारावार में निःशेष हो जाते है तब मानवात्मा चिदात्मा के साथ लय होकर देह, प्राण, इन्द्रिय, मन की भोग सीमा का अतिक्रमण करती हुई अपनी ही भीतरी उद्दामता से ऊर्जस्व हो आत्म-चेतना के स्तर पर अमर अनन्त मिलन की अभीप्सा से सम्पूर्त हो उठती है।

राजा पुरुरवा और उर्वशी के आकुल उन्मेष और तदाकार परिणति के रूप में नर-नारी की मिलन-उत्कण्ठा की अनायास अनुभूति और संवेदना का जो निरन्तर योग चल रहा है उसको किस कौशल से शब्दों मे बाँधा गया है, साथ ही यह काव्य शिल्प किस कोटि का है उस पर दो कोणों से यहाँ दृष्टिपात किया जा सकता है— दैहिक या पार्थिव, आध्यात्मिक या अलौकिक।

सामान्य भावभूमि पर ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, पुराण आदि प्राचीन धर्म-ग्रन्थों और तत्पश्चात् महाकवि कालिदास, श्री अरविन्द और टैगोर रचित कथाख्यान से प्रेरित जो मौलिक उद्भावना कवि को हुई उसी के आधार पर बड़ा ही सीधा-सादा संक्षिप्त विवरण उक्त ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के रूप में पाँच अंकों मे प्रस्तुत किया गया है। स्वर्गलोक में एक दिन कुबेर के घर से लौटते हुए एक भयंकर दैत्य उर्वशी पर झपटा और अप्सराओं के बीच से उठा ले गया। उसकी करुण चीत्कार सुनकर राजा पुरुरवा ने उर्वशी की रक्षा की, किन्तु इस प्रक्रिया में दोनों में परस्पर प्रेम और आकर्षण हो गया। स्वर्ग-सुखों को लात मार कर इस नये मोह से खिची उर्वशी पृथ्वी पर उतरी और एक वर्ष तक दोनों गन्धमादन पर्वत पर विचरण करते रहे। इस दौरान उर्वशी के एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, किन्तु महर्षि भरत के शापवश पति और पुत्र के एक साथ सुख से वंचित होने के कारण उर्वशी ने च्यवन ऋषि की पत्नी सुकन्या को पालन-पोषण के लिए उसे चुपके से सौंप दिया जहाँ सोलह वर्ष तक राजा से छिपाकर उसे रखा गया। इतने अर्से बाद अकस्मात् एक युवक के रूप में राजा पुत्र को पाकर जब हर्षमग्न और प्रणय-विह्वल हो रहा है तभी उर्वशी सहसा भूलोक छोड़कर अन्तरिक्ष में अन्तर्ध्यान हो जाती है। राजा पुरुरवा भी उसकी वियोग-व्यथा न सह सकने के कारण समूचा राजपाट पुत्र को सौंप नगर से वन्य-प्रदेश की ओर चल देता है। राज-महिषी औशीनरी के दर्द और परिताप की हूक और मधुर टीस भी प्रारंभ और अन्त के अंकों में द्रष्टव्य है।

इस नव्य रूप में कितनी ही अनखोजी, अनजानी अनुभूतियों के वातायन कवि ने खोल दिये है और कितने ही छिपे तथ्य प्रकाश में आए हैं। दैवी सौन्दर्य का अल्हड़ उल्लास लिये उर्वशी मानव-चित्त के लययुक्त, क्रान्तिकालीन पलों के अमूर्त रूप का साकार चित्र है। जीवन के संघर्ष से दूर प्रियतम के एकाकी सान्निध्य में उसकी आत्मा इस तरह छटपटा उठी है जहाँ जड़ता की सीमा को छू आकर ही प्रेम वास्तव में शुरू होता है और व्याकुल अतृप्त 'अहं' अपने विराट् रूप में लय होने के लिए टकराता और निरन्तर संघर्ष करता रहता है। इस आनन्द संस्पर्श के उन्मादकारी

मधु क्षणों मे प्रेम, सौंदर्य और अनन्यता की जो त्रिवेणी लहरा रही है उससे रसभीना उनका रोम-रोम अभिसिंचित हो उठा है । पुरुरवा के शब्दों में :

"आरती की ज्योति को भुज में समेटे
मैं तुम्हारी ओर अपलक देखता एकान्त मन से
रूप के उद्गम अगम का भेद गुनता हूँ ।
साँस में सौरभ, तुम्हारे वर्ण में गायन भरा है,
सींचता हूँ प्राण को इस गन्ध की भीनी लहर से,
और अंगों की विभा की वीचियों से एक होकर
मैं तुम्हारे रंग का संगीत सुनता हूँ ।"

अन्तर में दिलदार की रूप-श्री का अक्स उतर आया तो फिर रह क्या गया ? उसे फिर ख्वाहिश ही किस बात की है ?

"कौन कहता है,
तुम्हें मै छोड़कर आकाश में विचरण करूँगा ?"

यह प्रणयजन्य आत्मविस्मृति की दशा खण्ड, सीमा, परिवर्त्तन और भिन्नताओं से परे वास्तविक आत्मसत्ता का साक्षात्कार है । प्राणों के रेशे-रेशे में ओतप्रोत उसका निजी अस्तित्व भी उसी अपार आनन्दराशि में लय हो जाना चाहता है :

"यह अगाध सुषमा, अनन्तता की प्रशान्त धारा में,
लगता है, निश्चेत कहीं हम बहे चले जाते हैं ।"

गन्धमादन पर्वत की उपत्यकाओं और विशाल प्रान्तर के अंचल में प्रेमराग के ये मदहोश अभिसार लहराते रहते हैं । अद्वितीय रूपसी उर्वशी की छवि को आँकने वाली रंग-रेखाएँ बड़ी ही प्रखर व प्रौढ़ है । उसकी भावभंगिमा, मुद्राएँ, शरीर की सर्वांग सुकुमारता, छन्दमय और लयकारी चित्रण इतना सजीव और जादू का सा आकर्षण लिये है कि भौतिक स्तर से उठकर कल्पना आकाश में मँडराने लगती है ।

"लाल-लाल वे चरण कमल से, कुंकुम से, जावक से,
तन की रक्तिम कान्ति शुद्ध, ज्यों, धुली हुई पावक से ।
जग भर की माधुरी अरुण अधरों में धरी हुई सी ।
अंगों में वारुणी-रंग निन्द्रा कुछ भरी हुई सी ।
तन प्रकान्ति मुकुलित अनन्त ऊषाओं की लाली सी
नूतनता सम्पूर्ण जगत की संचित हरियाली सी ।
पग पड़ते ही फूट पड़ें विद्रुम प्रबाल धूलों से,
जहाँ खड़ी हो, वहीं व्योम भर जाय श्वेत फूलों से ।"

उर्वशी साधारण मानवी नहीं, अपितु अंग-अंग में लहरलास्य का राग जगाने वाली ऐसी मोहक छवि है जो समन्वित नारी-श्री का प्रतीक है ।

"दर्पण, जिसमें प्रकृति रूप अपना देखा करती है
वह सौन्दर्य कला जिसका सपना देखा करती है
नहीं, उर्वशी नारी नहीं, आभा है निखिल भुवन की,
रूप नहीं, निष्कलुष कल्पना है स्रष्टा के मन की।"

मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेम की बड़ी ही गूढ़ अभिव्यंजनाएँ इसमें मिलती हैं। मानवी प्रेम क्या है, उसमें कितना छिछलापन और उद्विग्नता है, पर साथ ही कितनी गहरी कचोट और छटपटाहट। उसकी तुलना में दैवी प्रेम निरुद्विग्न है, पर उस निरामय, एकरस स्थिति में तीव्र संघातों की उद्दामता कहाँ है। प्रेयसी नारी, पतिप्राणा नारी, साध्वी नारी और वात्सल्य व अपत्य स्नेह की साक्षात् प्रतीक जननी के रूप में नारी के विभिन्न चित्रों की व्यंजना बड़ी ही अपूर्व है। जिस किसी भी रूप में उससे अन्तर्साक्ष्य होते ही नई सम्भावनाओं का उद्घाटन हुआ है।

'उर्वशी' महाकाव्य कवि के 'स्व' की मौलिक और यथासाध्य परिणति है। कहीं-कहीं कथोपकथनों में अतिरंजना तो है, पर काव्यबोध की अर्थवत्ता अंतिम सीमा को स्पर्श कर रही है। भाषा के मार्दव, परिष्कार और शिल्प ने लेखक की संवेदनाओं को प्रतिफलित किया है, लगता है एक-एक शब्द जैसे खराद पर गढ़ा गया हो। ऐसी दृश्यानुभूतियाँ जो अतिशय मादक और उन्मत्त करने वाली हैं उसमें गरिमा और प्रभविष्णुता के साथ कवि का अनाहत 'अहं' विराट् का अवगाहन करता हुआ जैसे मचल रहा है।

खड़ी बोली के उपर्युक्त प्रमुख काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त मैथिलीशरण गुप्त का 'यशोधरा', 'द्वापर', 'नहुष' और 'सिद्धराज', गुरुभक्तसिंह के प्रसिद्ध 'नूरजहाँ' के अलावा 'विक्रमादित्य', प्रतापनारायण पुरोहित का 'नल नरेश', उदयशंकर भट्ट का 'तक्षशिला', सोहनलाल द्विवेदी का 'वासवदत्ता', राजेश्वर नारायणसिंह का 'अम्बपाली', पोद्दार रामावतार अरुण का 'विदेह', श्रीलालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' का 'छत्रसाल' और विद्याधर महाजन का 'श्रीगांधी चरित मानस' तथा आचार्य विनयमोहन शर्मा का अनूदित 'गीत गोविन्द' आदि खण्डकाव्य भी विशेष उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक और पौराणिक उपाख्यानों का प्रश्रय लेकर इनकी रचना की गई है। संत-चरित्र परम्परा में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का 'तुलसीदास' उच्चकोटि का काव्य-ग्रंथ है जिसमें इस महाप्राण कलाकार की विराट् चेतना मूर्त हो उठी है।

ब्रजभाषा के काव्य-ग्रंथों में बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का 'उद्धवशतक' और 'गंगावतरण' तथा रामचन्द्र शुक्ल का 'बुद्धचरित' उत्कृष्ट काव्य कृतियाँ हैं। जिन दिनों खड़ीबोली में अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रिय प्रवास' प्रसिद्ध हुआ उन्हीं दिनों रत्नाकर जी के 'उद्धव शतक' का भी दिल खोलकर स्वागत किया गया। गोपी-उद्धव संवाद की कथा भक्तिकालीन कवियों द्वारा पिष्टपेषित होते हुए भी अलौकिक बन पड़ी है। श्याम के बिछड़ने पर गोपियों की जो दशा है और उद्धव के ज्ञानोपदेश से

उनमें जो करुणा और विह्वलता फूट पड़ी है उसका दिग्दर्शन सुन्दर ढंग से हुआ है।

"सहिहैं तिहारे कहै साँसति सबै पै बस
एती कहिं देहु कै कन्हैया मिल जायगो।

टूक-टूक ह्वै है मन मुकुर हमारो हाय
चूकि हू कठोर बैन पाहन चलावौ ना।

एक मन मोहन तो बसिकैं उजार्यौ मोहिं,
हिय में अनेक मनमोहन बसावौ ना।"

निम्न पंक्तियों में गोपियों का दैन्य और पीड़ा कितनी गहरी हो उठी है :

"उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगीं।

हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं।"

'उद्धव शतक' में गोपियों के रागात्मक आलोड़न और भाव-विह्वल कोमलता, नानाविध भावावेगों की ऊर्जस्वी प्राणवंत धारा और भावोल्लास की उन्मद, उच्छल लहरियाँ तरंगित हो रही हैं। वह प्रसुप्त भावनाओं को मुखरित करती हुई माया-ब्रह्म, पुरुष-प्रकृति तथा जड़-चेतन के द्वैत का समाहार कर भक्ति की सुरसरि बहा जन मानस को शराबोर कर देती है।

रत्नाकर जी की व्यंजक शक्ति भी अपूर्व है। उन्होंने रूपात्मक कल्पना, लाक्षणिक प्रयोग, नए-नए अलंकार, चमत्कार-प्रदर्शन वाले छद, अनुरंजनकारी भाषा और हास्य-व्यंग्य का भी अनूठा पुट दिया है। दृश्यों की संश्लिष्ट योजना द्वारा व्यक्त मूलवर्ती व्यापारों की मनोमय सृष्टि हुई है। 'गगावतरण' की यह चित्रोपमता कितनी सजीव है ?

"जल सो जल टकराइ कहूँ उच्छरत उमंगत।
पुनि नीचे गिरि गाजि चलत उत्तंग तरंगत॥
मनु कागदी कपोत गोत के गोत उड़ाये।
लरि अति ऊँचै उलटी गोति गुथि चलत सुहाये॥
कबहुँ सुधार अपार वेग नीचे को धाव।
हरहराति लहराति सहस योजन चलि आवै॥
मनु विधि चतुर किसान पौन निज मन को पावत।
पुन्य खेत उत्पन्न हीर की रास उसावत।"

रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध चरित' प्रबन्धकाव्य की रचना 'दि लाइट ऑफ एशिया' (The Light of Asia) के आधार पर की और अपनी आंतरिक गरिमा को बुद्धावतार के निरपेक्ष सत्य में ढालकर शाश्वत बनाया।

'कृष्णायन'

कृष्ण भक्तिपरक काव्य-ग्रंथों में द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' आज के युग की एक वृहद् कृति है जिसमें काव्योत्कर्ष और प्रबन्धगत व्यापकता है। अब तक भगवान श्रीकृष्ण की किन्ही विशिष्ट जीवन-कथाओं, उप-कथाओं को लेकर ही खण्ड-काव्य लिखे गये थे, उनमें सम्पूर्ण जीवन-वृत्त न आ पाया था, किन्तु 'कृष्णायन' में पहली बार महाभारत के आधार पर विच्छिन्न कथा-सूत्रों को ग्रथित किया गया और इस प्रकार विषय और कलेवर की दृष्टि से भी यह वृहत्तर काव्य बन गया।

'कृष्णायन' की सब से बड़ी विशेषता जो ग्रंथ पर दृष्टि पड़ते ही मस्तिष्क में आ कौंधती है वह यह कि तुलसीदास की रामायण से प्रभावित उसी आकार, उसी पद्धति, अवधी भाषा, मिलता-जुलता वस्तुविन्यास एवं भाव-व्यंजना और उसी के अनुकरण पर दोहे-चौपाई-सोरठा आदि छंदों में लिखा यह महाकाव्य ऐसा जँचता है जिससे बरबस इसे देख, पढ़, सुनकर उक्त दोनों ग्रंथों का परस्पर तुलनात्मक भाव मन में जाग्रत हो जाता है। पाण्डित्य, अनुशीलन, बहुज्ञता, चरित्र-कल्पना और कथा-सृष्टि की दृष्टि से टोस होते हुए भी इसमें रामायण जैसा भक्ति-प्रवाह, सरलता और तल्लीनता नही है। रामायण की स्मृति जगते ही यह ग्रंथ फीका लगता है और मन के साथ कोई लगाव नहीं हो पाता। यह भी एक प्रमुख कारण है जिससे 'कृष्णायन' का विशेष प्रचार न हो सका। अन्य विषय, भाषा और पद्धति में लिखा यह महाकाव्य अधिक उपादेय और लोकप्रिय हो सकता था। अनेक प्रकीर्णक विषय, विशाल कलेवर, बहुसंख्यक घटनाओं, पिष्टपेषित व जाने-बूझे विषयों और ऊहापोह भरे चित्रणों से भी जो एक बौद्धिक काठिन्य इस काव्य में आ गया है उससे इसे पढ़ना अथवा आसानी से इसके कथा-प्रसंगों से गुज़रना बड़ा ही कष्टकर प्रतीत होता है।

प्रथम काण्ड में बाल-वर्णन और राधा-कृष्ण की बाल-लीला के विविध प्रसंग, द्वितीय मथुरा काण्ड में कंस-बध और जरासंघ का कथा-विस्तार, तृतीय द्वारिका काण्ड में श्रीकृष्ण के विवाह-प्रसंग और गीता का उपदेश, चतुर्थ पूजा-काण्ड में राजसूय-यज्ञ और श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य-वर्णन, पंचम जय काण्ड में महाभारत का युद्ध-प्रसार, समर-भूमि में अस्त्र-शस्त्र के विविध प्रयोग, छल-प्रपंच और युद्धकौशल, अन्तिम आरोहण काण्ड में भीष्म का शर-शैय्या-शयन और उनके द्वारा दिए गए उपदेश—इस प्रकार इस महाग्रन्थ में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और व्यावहारिक पहलुओं का सम्यक् विवेचन, भारतीय जीवन-दर्शन, रीति-नीति और विविध घटनाओं, परि-स्थितियों, प्रसंगों का उचित समाहार हुआ है। अलंकार, छंद, रस, शब्दों की ओज-शक्ति, विषय-विभाजन और विभिन्न काव्य-पक्षों का भी अपूर्व संघटन इसमें देखने को मिलता है, पर इस सब के बावजूद भी इसमें हृदय को रमानेवाला वह गुण नहीं है जो तुलसीदास की रामायण में है। अनेक स्थलों पर ऊब सी होती है और धैर्य छूट जाता है।

'कृष्णायन' की विशेषता है कि इसमें न सिर्फ़ श्री कृष्ण-चरित्रांकन और भक्ति का उन्मेष है, अपितु उनके ऐश्वर्य, तेज, यश, उनके पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन तथा अन्य सभी प्रकार की मनोमुग्धकारी प्रचुर लीलाओं का विशद बर्णन किया गया है। राधा और कृष्ण का प्रेम सनातन है, उनके मन और प्राण एक दूसरे में समाये हैं, जन्म-जन्मान्तर से वे एक दूसरे के साथी हैं, पर भटके हुए हैं। अचानक इन बिछुड़े बाल साथियों की जब रास्ते में मुठभेड़ होती है तो दोनों के प्रणय-तार झनझना उठते हैं। उनके प्रथम मिलन का एक दृश्य :

"एक दिवस खेलत ब्रज खोरी,
देखी श्याम राधिका भोरी।
जनु कछु क्षीर सिंधु सुधि आयी,
औचक मोहित भये कन्हाई।
पूछत श्याम—"काह तुव नामा ?
को तुव पिता ? कवन तुम ग्रामा ?
पहिले कबहुँ न परी लखायी,
आज कहाँ ब्रज खेलन आयी ?"
"पितु बृषभानु विदित ब्रज नामा
बरसाना कछु दूरि न ग्रामा
राधा मैं, तुम कहँ भल जाना,
चोर! चोर! कहि जग पहिचाना!"
मुदित श्याम कह मधु मुसकायी—
"लीन्हेउँ काह तुम्हार चोरायी ?"

समुझे बचन न राधिका, लखति हरिहि अनिमेष,
बूड़ति उबरति दृष्टि जनु, सुषमा सिंधु अशेष।"

बालक कृष्ण के अकृत्रिम सरल व्यवहार पर भोली राधा मुग्ध हो गई। जीवन के इस नये अनुभव ने उस में प्रणयाकांक्षा भर दी और मनमोहन चितचोर ने सचमुच ही उसका मन चुरा लिया :

"बरजति जननी कुँअरि नहिं मानी,
श्याम मूर्त्ति हिय माहिं समानी।
आतुर पहुँची खरिक किशोरी,
लखे न श्याम विकल मति भोरी।
कबहुँ इत कबहुँ उत डोलति,
लेति उसाँस, कृष्ण मुख बोलति।"

वस्तुतः राधा-कृष्ण में कोई अन्तर नहीं है, दोनों के प्रेम की परिणति दैहिक चेतना से परे अचिन्त्य और अगोचर है। राधा योगमाया हैं और हरि सच्चिदानन्द

घन परब्रह्म परमेश्वर। दोनों एक हैं :

"राधा माधव मिलन अनूपा
हरि राधा, राधा हरि रूपा।"

भगवान् श्रीकृष्ण की समस्त विभूतियों का बड़ा ही व्यापक और कलात्मक समावेश इस ग्रन्थ में मिलता है। वीर रस और श्रृंगार रस की प्रधानता के साथ-साथ सभी रसों का सुन्दर समन्वय और परिपाक इसमें दृष्टव्य है। श्रीकृष्ण की चारित्रिक विशेषताओं और उनकी बहुमुखी प्रवृत्तियों का इतना सम्यक् विवेचन इसमें मिलता है कि कवि के इस वृहद् प्रयास के अन्तर्गत कोई भी पहलू अछूता नहीं रह गया है। भगवान् नटनागर की बाल लीलाओं के बाद उनके विवाह, राजसी ठाठबाट और विलास-वैभव का वर्णन है। किन्तु श्रीकृष्ण केवल प्रेमिक और रसिक ही नहीं हैं, बल्कि एक महान् नीतिज्ञ, कर्मनिष्ठ योगी और गीता प्रवक्ता भी हैं। मिश्र जी की मर्मभेदी दृष्टि ने उन सभी मार्मिक स्थलों पर दृक्पात किया है जो उनकी अनोखी सूझों, भौतिक उद्भावनाओं, अपूर्व कथन और विदग्ध कल्पनाओं का परिणाम हैं। महाभारत कालीन राजनीति और समस्याओं का निदर्शन भी इस में हुआ है। एक स्थल पर मृत्यु के सम्बन्ध में कितनी सहज, पर कितनी ऊँची बात कह दी गई है :

"निश्चित मृत्यु मुहुर्त जो, सकत ताहि को टारि ?
जो नहि निश्चित, जानि को, कब केहि जइ है मारि ?

दुहु बिधि व्यर्थ मृत्यु हित शोचू,
धरत भीति उर मनुजहि पोचू
तेज, नीति, धृतियुत नररायी,
कालहु सकत सयुक्ति हरायी।"

आत्मतोष, संयम और इन्द्रिय-निग्रह यही मनुष्य को ऊँचा उठाता है और भगवान् की ओर ले जाता है। आध्यात्मिक आनन्द नित्य और शाश्वत है। चैतन्य के ऊर्ध्व गमन की वृत्ति ही विवेक उपजाती है। आत्मा को कर्माणुओं ने अच्छादित कर लिया है। इन कर्म-बन्धनों के मिथ्यावरण को पहचानो और तोड़ दो।

"नित्य तृप्त, आश्रय रहित, जो न कर्मफल लग्न,
करत कबहुँ कछु नाहि सो, कर्मन जदपि निमग्न।

चित्त संयमन जेहि निज कीन्हा,
आशा ग्रहण त्यागि सब दीन्हा।
देहहि तासु कर्म अनुरागी,
होत कबहुँ नहि सो अघ भागी।
द्वन्द्व विहीन, विमत्सर जोई,
लहत जो, तुष्ट ताहि मँह होई।

सिद्धि-असिद्धिहु दोउ सम जाही,
कृत-कर्महु बाँधत नहिं ताही।"

मनुष्य की इच्छा-आकांक्षाओं का उद्दाम वेग असीम और अनन्त है। वह उनकी पूर्ति की लालसा में उनके पीछे दौड़ता है और दौड़ता ही रहता है, उसका गत्यवेग कभी-कभी इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लेता है कि इस भाग-दौड़ में उसकी अंतःशक्ति चुक जाती है और वह आत्मस्वरूप को पहचानने से वंचित रह जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण पार्थ से कहते हैं :

"योगाभ्यास-विसुद्ध चित, लहत जहाँ विश्राम
आत्मा लखि आत्मा लहति आत्म तोष जेहि ठाम

बुद्धिगम्य, इन्द्रिय - अग्राही,
सुख अत्यंत मिलत जहँ ताही,
भय सो थिर, जहँ एकहु बारा,
टरत तत्त्व ते पुनि नहिं टारा।

संकल्पज वासना अनेका,
कीजै त्याग, रहहि नहिं एका।

मन बल निखिलेन्द्रिय समुदायी
सर्व दिशन ते निज मन लायी
बुद्धि धैर्य संयुक्त दृढ़ायी
क्रम क्रम शान्त होत नित जायी

सव्यसाचि! निज मानसहि, थापहि मानस माहि,
आवन देय विचार पुनि, अन्य कोउ मन नाहि।"

जो भगवान् में निर्व्याज्य तल्लीनता और विश्वास करता है उसकी आत्मा निर्मल, निष्कलुष और निर्विकार हो जाती है। भक्ति-तत्त्व की मीमांसा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण पार्थ से कहते हैं :

"पार्थ ! श्रेष्ठतम युक्त, योगि वृन्द हू माहि सो
जो श्रद्धा संयुक्त, भजत मोहि लवलीन ह्वै।

मन आसक्त माँहि यहँ कीन्हे,
साधत योग ममाश्रय लीन्हे।

संशय हीन पूर्ण मम ज्ञाना,
लहि ही जेहि विधि करहुँ बखाना।

कहहुँ ज्ञान विज्ञान अशेषा,
जानि जाहि कछु ज्ञेय न शेषा।

मनुज सहस्रन महँ इक कोई,
करत प्रयत्न सिद्धि हित जोई।

सिद्धहु करत यत्न जे मह हित,
जानत तत्त्व रूप मोंहि कश्चित।"

ज्ञान और भक्ति के इस विवेचन को पढ़कर तुलसीकृत 'श्रीरामचरित मानस' के उत्तर काण्ड की याद आ जाती है। आज के कवि की आस्था और विश्वास, भावना व शिल्प, प्रवृत्ति-निवृत्ति, राग-विराग, संस्कार और सौदर्य-संवेदना की गहरी अनुभूतियों से सिरजा गया यह महाकाव्य किसी से पीछे नहीं है।

निःसदेह, मिश्र जी ने विलक्षण प्रतिभा और समन्वित बुद्धि से जो यह काव्यात्मक अनुष्ठान प्रस्तुत किया है, यह परिश्रमसाध्य, मौलिक और उनकी अद्भुत सृजन-सामर्थ्य का द्योतक है जिससे पाठक को आश्चर्य हुए बग़ैर नहीं रहता। 'कृष्णायन' इस युग की बेजोड़ और विस्मयकारी कृति है, जिसका अभी तक उतना प्रचार नहीं होसका जितना अपेक्षित है।

'श्रीभागवत चरित'

भगवान् श्रीकृष्ण की अचिन्त्य लीलाओं की कोई थाह नहीं है। समस्त रूढ़ियों, वर्जनाओं, जड़ताओं, मिथ्यावरणों, गतिरोधों से परे मुक्त मानवात्मा के चिर चैतन्य और चिर प्रगतिमान प्रेरणा के स्रोत वंशीधर श्याम की लीलाओं से उद्वेलित होते रहे हैं। आज भी वे उसी प्रकार तन्मय और रस-विभोर कर देते हैं। भक्तों ने उन्हें अपने-अपने निराले ढंग से गाया है। श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी लिखित उक्त काव्य-ग्रन्थ में कोरा पांडित्य-प्रदर्शन नहीं, प्रत्युत् मनोगत भावनाओं की निर्व्याज्य और अकृत्रिम अभिव्यक्ति है। जिस गुण-कीर्तन से भक्त का हृदय पवित्र हो जाता है वही उपास्य व इष्टदेव की आदर्श भक्ति है। उसके गुणानुवाद से उसकी कभी तृप्ति नहीं होती। किन्हीं साहित्यगत विशेषताओं अथवा काव्यात्मक सौंदर्य को प्रकट करना ही उक्त ग्रन्थ का उद्देश्य नही है, वरन् इसके विपरीत सीधीसादी, आकर्षक और सरस गीति-पद्धति में स्वच्छन्द भक्ति-प्रवाह है जिसमें अलंकरण या साजसज्जा की सायास चेष्टा नहीं, बल्कि वे स्वतः ही उसमें सन्निविष्ट हैं। फलतः इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को काव्यकला के आडम्बर से मुक्त कहा जा सकता है।

शुद्ध ब्रजभाषा में आदि से अन्त तक भगवान् की कथा सरस पद्यों में चलती रहती है। अधिकतर दोहा और छप्पयों का प्रयोग किया गया है। साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण के दृष्टिकोण से इसे लिखा गया, यही कारण है कि इसमें क्लिष्ट शब्दों, भाषागत रूढ़ियों और सामासिक पदों की नीरसता नहीं है। इतने बड़े

ग्रन्थ में बड़े ही विस्तार के साथ प्रायः सभी वर्णित कथाओं-उपकथाओं में गत्यवेग और प्रवाह है। कहीं-कहीं रात-दिन बोलचाल की भाषा के प्रयोग से बड़ी ही स्वाभाविकता और सहज आकर्षण आ गया है। ध्रुव की माँ के ये शब्द :

"बोली इक दिन मातु--बहू अब बेटा आवै।
मेरे पूजै पैर तोइ भोजन करवावै।।
रुनुझुनु रुनुझुनु करति फिरै मन मोद बढ़ावै।
बहू संग लखि तोहि सफल जीवन ह्वै जावै।।
हँसे जननि ममता लखी, मुदित मातु मन अति भयो।
कन्या भ्रमि शिशुमार की, संग ब्याह ध्रुव करि लयो।।"

शारदीय रासोत्सव के अवसर पर शीतल स्निग्ध चन्द्र-ज्योत्स्ना स्नात मध्य रात्रि में नटनागर श्री कृष्ण जब सहसा राधा की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं तो उस समय नृत्य में थिरकती, मतवाली और प्रियतम के प्रेमासव में बेसुध उस भोली बाला के मन में गर्व का उदय होता है।

"उनके हू मन मान बढ्यो सोचें हौं सरबस।
अखिल भुवनपति श्याम करे अब मैंने निज वश।।
जहाँ मान तहँ वास करें कैसे गिरधारी।
परवश तब घनश्याम लखे तब बोली प्यारी।।
पैदर अब नहीं चलि सकौं, कितव कहाँ लै जात हैं ?
पग चाँपो घोड़ा बनो, प्यारे ! पाँइ पिरात है।।"

भगवान् तो बड़े खिलाड़ी हैं। तरह-तरह के क्रीड़ा-कौतुक और लीला-लास्य द्वारा प्रेम और भक्ति की अजस्र स्रोतस्विनी बहाते रहते हैं। अचानक अंतर्ध्यान होकर वे राधा को छकाते हैं। प्राणप्यारी को प्राणवल्लभ का एक क्षण के लिए भी ओझल होना असह्य है। प्रणय की रसभींजी मनुहारों के मध्य :

"तब हँसि बोले श्याम--चढ़ौ कन्धा पै प्यारी।
सुनि अति हरषित भई चढ़न की करी तय्यारी।।
त्यों ही अंतर्धान भये हरि वे पछतावें।
इत उत खोजहिं फिरहिं डरहिं रोवहिं बिललावें।।
नाथ ! रमन ! प्रियतम परम ! जीवन धन ! अशरन शरन !
देहु दरश अब दुख हरन, विश्वभरन ! भव भय हरन !
हाय कहाँ तजि गये रमन ! मुख कमल दिखाओ।
भयो दर्प मम दलन दयानिधि आओ आओ।।
भ्रमरी भूखी फिरहि कमल ! मधु अधर पिआओ।
मरत चातकी प्यास श्याम घन रस बरसाओ।।

यों प्यारी प्रिय विरह महँ, कुररी सम रोवति फिरति।
सम्मुख निरखति चर अचर, पूछति पति विलखति गिरति।।"

राधा के व्याकुल प्राण विरह से छटपटा रहे हैं। कृष्ण के मोहपाश ने उस महाप्राण राधा को शत-शत बन्धनों में जकड़ रखा है। उसका समूचा अपनापन, उसका निजस्व तो हरि में ही समाया है, अतएव उनके बिना सब कुछ सूना और बीरान है। उनकी अनुपस्थिति में प्रणयोन्माद सा उस पर सवार हो गया। तन डूबने लगा, मन डूबने लगा और देखते-देखते उसकी दशा बदल गई।

"करि करि सुमिरन संग श्याम को रोवति राधा।
वन वन विहरत विकल विरह की बाढ़ी व्याधा।।

दीखति दशमी दशा दुखी दरसन बिनु प्यारी।
व्याकुल विलखति विरह माँहि तनु दशा विसारी।।

इत प्यारी मूर्छित परी, उत आईं ढूँढ़त सखीं।
अति अचेत आकुल अधिक, राधा जी सबने लखीं।।"

युगल लीला की अधीश्वरी, उस महान् नृत्य-नर्तक से तदाकार और उसके प्राणों में समायी भुवन मोहिनी व्याकुल है। मदहोश चाँदनी से फेनिल और पुष्प गन्ध से सुवासित इस शुभ बेला में जबकि मिलन का महापर्व चल रहा है दैहिक-प्राणिक भूमिका से परे आत्मदान की लौ अनुराग के अनिवार वेग से ऊर्जस्व होकर आनन्द के प्रकाश से दीप्त हो उठी है, तभी सहसा यह वज्रपात कैसा ? इस दारुण चोट से राधा सँभल नहीं पा रही है और गोपियाँ अपनी विरह-वेदना को भूल राधा की सेवा-सुश्रूषा में लगी हुई हैं :

"गोपी बैठीं घेरि प्रिया कूँ सब समुझावें।
गोदी माँहि लिटाई कमल-दल व्यजन डुलावें।।

कछु चेतना भई रसिक की बात चलाई।
अपु बीती सब बात दुखित ह्वै प्रिया बताई।।

एक प्रान मन मिलि सकल, मान रहित अति दीन सब।
गावत गुन गोविन्द के, भईं ध्यान महँ लीन सब।।"

भगवान् श्री कृष्ण की कथा के साथ-साथ उक्त ग्रन्थ में नौ अध्यायों में श्री राम-चरित का भी विस्तार से वर्णन है। इसके अतिरिक्त अनेक पौराणिक कथाख्यान और धार्मिक प्रसंग—जैसे कपिल-चरित, सती कथा, ध्रुव-चरित, बेन-चरित, पृथु-राज्याभिषेक, पुरंजन-मोक्ष, प्रचेता चरित, भरत चरित, जड़ भरत चरित, अजामिल चरित, दधीचि-प्रसंग, वृत्र चरित, चित्रकेतु चरित, मरुत चरित, प्रह्लाद चरित, समुद्र मंथन, वामन

अवतार,उपेंद्रावतार,मत्स्यावतार,शिवक्रीड़ा,सुद्युम्न चरित,च्यवन सुकन्या चरित, त्रिशंकु कथा-प्रसंग, हरिश्चन्द्र-चरित, श्री गंगावतरण—आदि सभी विवरणों में उचित मर्यादा का निर्वाह किया गया है। कहीं भी लेखक की भावना व्यक्तिनिष्ठ या भक्तों के वर्ग तक ही सिमट कर नही रह गई है, अपितु साहित्यिक कसौटी पर भी यह ग्रन्थ उन सगुण भक्तिमार्गी परम्परा में समयोचित निरूपण और उदात्त व्यंजना प्रणाली द्वारा असाधारण गौरव प्रदान करने वाला है।

भगवान की लोकरंजनकारी लीलाओं की कथा उन्हीं की भावनारूपिणी सरस, प्रांजल भाषा में, जो कि इतने परिश्रम और मनोयोग से लिखी गई है, भक्तों के हृदय को तन्मय करने वाली और किसी भी क्षण, किसी भी स्थिति में उनकी चिरन्तन भावना को सतत प्रेरित करने वाली है।

'दैत्यवंश'

ब्रज भाषा में अठारह सर्गों में हरदयालुसिंह लिखित 'दैत्यवंश' दैत्यों के जीवन पर हिन्दी में एक नव्यतम प्रयोग है। दैवी और आसुरी शक्तियों का द्वन्द्व हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों की विशेषता रही है। जिस प्रकार जीवन के हर क्षेत्र में कर्म और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, श्रेय और हेय का समन्वय रहा है, उसी प्रकार युगानुरूप समस्त अन्तर्वाह्य विधान में सात्विक और तामसी तत्त्वों ने उभरकर आकर्षण और विकर्षणमय विरोधाभास उत्पन्न किया है। 'भिन्न रुचिर्हि लोकाः' की उक्ति चरितार्थ करते हुए लेखक ने तस्वीर के दूसरे पहलू को चुना। भयंकर और विकराल दानवों और राक्षसों को, जिनके बड़े ही दुर्द्धर्ष और वीभत्स चित्र रामायण आदि में मिलते हैं, उनमें शौर्य, साहस एवं अपराजेय पौरुष आदि लोकोत्तर गुणों का समावेश करके एक दूसरे ही रूप में उन्हें प्रस्तुत किया गया है।

मानव और दानव की परिभाषा से व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार का गहरा सम्बन्ध जुड़ा है। दुराग्रही, सहानुभूतिहीन और परपीड़क प्रवृत्ति, जिनमें भयंकर यौन विकृतियाँ दुर्वासनाओं के पैशाचिक अनुष्ठान की पूर्ति और अनैतिक क्रूरताओं को जन्म देती हैं, दानवो की श्रेणी के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। 'रामचरित मानस' में राक्षसों की बहुत सुन्दर संक्षिप्त व्याख्या की गई है:

> **"मानहिं मातु-पिता नहीं देवा, साधुन सन करवावहिं सेवा।**
> **जिनके यह आचरन भवानी, ते जानहुँ निसिचर सब प्रानी॥"**

दैत्यवंश के कथानक की समूची पृष्ठभूमि में असुर-सृष्टि का विकास और उत्कर्ष दिखाया गया है। कश्यप की दिति-अदिति दोनों पत्नियों से जो सन्तान हुई तो सतोगुण प्रधान होने से अदिति की सन्तान देव और तमोगुण प्रधान होने से दिति की सन्तान दैत्य कहलाई। प्रारम्भ से ही दोनों में घोर संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता हो गई। प्रमुख रूप से इसमें हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु, भक्त प्रह्लाद, राजा बली, महाबली बाणासुर, राजा स्कन्द, दैत्यवंश के गुरु शुक्राचार्य तथा नारी पात्रों में सिन्धुजा और

ऊषा आदि के चरित्र वर्णित हैं।

प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत उक्त महाकाव्य में कितने ही स्थलों पर प्राकृतिक उपादानों की मनोरम छटा के साथ-साथ छओं ऋतुएँ और बारहमासा भी गाया गया है। श्रृंगार, वीर, करुण, हास्य, रौद्र, वीभत्स आदि सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। समूचे वर्णनों में प्राचीन परिपाटी का निर्वाह किया गया है और किसी न किसी पुराने कवि की उक्ति या कथन-शैली का अवश्य प्रभाव पड़ा है। यथा निम्न पद तुलसीकृत रामायण में भूत-प्रेत, पिशाच-पिशाचिनियों के वर्णन का एकदम भाष्य-सा लगता है :

"जोगिन भूत पिशाच पिशाची, मारु काटु धुनि बोलहि नाची।
भच्छहि मांस रुधिर धुनि पीवहि आसिक देहि वीर दोऊ जीवहि॥
कोऊ हार आंतन के धारत
कोऊ करे जो फारि निकारत।
कोऊ मुण्डन की माल बनावत,
कोऊ सचोप चरबी तन लावत।"

जनक-सभा में स्वयंवर के समय लक्ष्मण-परशुराम के संवाद से प्रभावित कुछ पंक्तियाँ :

"तोरि धरो दिग दन्तिन दन्त,
कहो भुज ठोंकि सुमेरु हलाऊँ।
सारे सुरारि समूहनि को,
अब ही रन अंगन मैं विचलाऊँ।
जो न करो इतो कारज तो,
तुहि लौटि न आनन मातु दिखाऊँ।"

और रामायण के किष्किन्धा काण्ड की वर्णन-पद्धति पर :

"वर्षा विगत शरद् ऋतु आई।
पके धान चहुँ ओर सुहाई॥
चहुँ दिसि लसत धवल छवि कासा।
घन विहीन भो विमल अकासा।"

श्रृंगार और वियोग वर्णन में प्रायः रीतिकालीन कथन-पद्धति अपनाई गई है। प्रिय-वियोग में ऊषा छटपटा रही है और उसका हाल बेहाल है :

"परयंक पै लोटे विहाल उषा,
मुरझाय गई मानों फूल छरी।
घनसार उसीर को लेप कियो
सिल कुंकुम लौं सो परो बिखरी।

विजना करते रही, सीसहिं लाई,
गुलाब की नाइ दई सिगरी
बनि धूम उड्यो सोई, फूट्यो हरी,
विरहानल में इमि जात जरी।"

कुछ स्थलों पर नितान्त मौलिक अभिव्यंजना और शब्दों में सजीव चित्र उभर आए हैं। बालिका उषा की चंचल बालदशा और हठीली भंगिमा के दर्शन निम्न पद में होते हैं:

"एक नौ सात पनामा पढ़ै कबौ लेखनी कौ उल्टी मसि बोरै,
आँगुरी सों पटिया पै लिखै, खरिया तेहि माहि मिलाय के घोरै।
नेकु बुलाये न बोलै कबौ, कबौ खीझि केतो मचावतो सोरै,
मूरति लौ गड़ी रहै, पै पुकार सुने ही भगै वर जोरै॥"

'रावण'

ब्रजभाषा में इन्हीं कवि महानुभाव द्वारा दूसरे महाकाव्य 'रावण' की सत्रह सर्गों में रचना की गई। जैसा कि नाम से स्पष्ट है दैत्यकुल शिरोमणि रावण की कथा और जीवन-संदर्भ को इस काव्य का विषय बनाया गया। यों रावण का चरित्र एक बड़ी ही हिमाकत और हठधर्मी का प्रतीक कहा जा सकता है, पर आज की आस्थाहीन विरोधी परिस्थितियों में अपने निरपेक्ष संकल्प के अनुसार हर इंसान स्वतन्त्र है। वह अपना मार्ग, अपना गन्तव्य स्वयं निश्चित करता है। मानव-मन की असंगत प्रक्रियाओं, सूक्ष्मतम वृत्तियों और ऐसे आत्मघातक तत्त्वों का भी उद्घाटन करना चाहता है जो किसी भी मनचले बुद्धिजीवी की जिज्ञासा का विषय हो सकता है। ऐसे चरित्रों का जब समाज के संदर्भ में नियोजन किया जाता है तो लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति-चरित्रों का वह किस सीमा तक नया उत्कर्ष दिखा सका है। सामाजिक और वैचारिक समस्या के रूप में वे हमारे मन में जितनी जगह अव तक घेरे हुए थे वे अब निजी और वैयक्तिक रूप में कितनी प्राणान्वित शक्ति को लेकर ऊपर उठे हैं? उनमें उभारे गए चारित्रिक तत्त्व किसी द्विधा या आशंका का रूप तो धारण नही कर गए हैं? प्रायः ऐसी परिस्थिति में लेखक संतुलन खो बैठता है और अनेक अतिवादिताओं का शिकार बनकर औचित्य की परिसीमा का उल्लंघन कर जाता है।

प्रस्तुत महाकाव्य में लेखक द्वारा अपने कथा चरित नायक रावण का उत्कर्ष दिखाने के चाव में भक्त प्रवर विभीषण और सुग्रीव के चरित्रों का अपकर्ष दिखाया गया है। यहाँ तक कि रावण के अनाचार और दुर्नीति में सहायक न बनकर राम के शरण में जाने तक की घटना को विश्वासघात, कुचक्र और बन्धु-विद्रोह बताया गया है। आत्मीय, जन-परिजन, बंधु-बांधव और नाते-रिश्तेदार इन सभी का निर्वाह

करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उनके साथ ही अनीति और कुपथ्य का मार्ग अपना लिया जाय अथवा आतंकमयी विचारधारा के भय से उचित-अनुचित विधि-निषेधों का उल्लंघन किया जाय। यदि कोई भाई चोर-डाकू है अथवा प्रतिकूल परिस्थिति में फँसकर कुराह पर चल पड़ा है तो अच्छे या विचारवान भाई का यह कदापि फर्ज़ नहीं है कि वह उसके चरण-चिन्हों पर चलने को वाध्य हो। समझाने-बुझाने या उसकी कुप्रवृत्तियों को बदल देने के भरसक प्रयत्नों में असफल होने पर तो अन्ततोगत्वा उसका परित्याग करना ही श्रेयस्कर और मर्यादा विहित है।

"जाके प्रिय न राम वैदेही—
तजिए ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही।"

विभीषण के चित्रण में अपने मतवाद की एकांगिता पर स्थिर रहने के लिए ग़लत रुख अपनाया गया है। महाबली पवनकुमार सीता की खोज के दौरान लंका का भारी अहित करके जब भगवान श्रीराम के पास लौट जाते हैं तो दूसरे दिन प्रातः अचानक विभीषण रावण की सभा में समझाने के लिए पहुँच जाता है। आठ पदों में बड़ी ही नीरस और अमनोवैज्ञानिक पद्धति अपनाकर—इस कथा-प्रसंग को विरूप करके पेश किया गया है।

"उतै रावण सभा मे प्रातहिं विभीषन जाय।
कहन लागे बैन इमि दसकंध को समुझाय॥
राम की वर वाम तुमने हरी है उठ ठाय।
बहुत का हम कहै वाको देहु अब लौटाय॥
अपर मन्त्री जदपि कीन्ह्यौ तासु प्रबल विरोध।
करत तौहूँ रहे बारम्बार वे अनुरोध॥

लंक के आतंक की है किती यामै हानि।
जान तौहूँ निज हिये नहिं करत रेचक कानि॥
जुपै हो तुम कहत ऐसो राम सौ भय खाय।
रहो तौ चुप कै, सभा मत जनि विगारहु आय॥
कह्यौ तब दसकन्ध ने निज बन्धु सौं यह बात।
करत प्रबल विरोध पै नहि नेकु हिये सकात॥"

मदांध और प्रपंचरत प्राणी जब मर्यादा-च्युत हो जाते हैं तो सज्जन लोग दुर्जनों का साथ छोड़ देते हैं। दुष्ट प्रवृत्ति और महा अभिमानी रावण से पादताड़ित विभीषण जब लंकापुरी छोड़कर भगवान राम की शरण में जाता है तो उसका चरित्र न्यायोचित और समयानुरूप मर्यादा के ज्वलन्त प्रतीक के रूप में ऊपर उठ जाता है। उस समय संसारासक्ति से परे त्याग, प्रेम, धर्म, नीति, ज्ञान-वैराग्य—सब उसमें पूर्ण है। किन्तु गुप्तचर की मनगढ़ंत कल्पना द्वारा उसके भागने के प्रसंग को बड़े

ही अपमानजनक और बेढंगे तरीके से इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है :

"गुप्तचर हनुमत विभीषन मे भई जो बात।
आय रावन सों चलाई कुटिल वाकौ घात ।।
सुनत प्रबल प्रसंग दशमुख तब रह्यौ गहि मौन।
जानि कै मध्यान आयौ लौटि सों निज भौन ।।
कह्यौ वानै लौटि के तब लंकपति सौं आय।
भगि गयौ निसि मै विभीषन लंक-सौध विहाय ।।
रहे सरमा और तरनीसेन अति घबराय।
अबहि आयौ हौं इतै प्रभु तिनहि धीर बँधाय ।।"

राम और विभीषण की भेट और शरणागति-प्रसंग को भी अत्यंत विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है :

"उत विभीषन राति ही मैं कियो सागर पार।
वह, लजात डरात आयौ राम-सेन मँझार ।।
मिलि गये हनुमान याते बनि गयौ सब रंग।
लै गए रघुवीर के ढिग ताहि अपने संग ।।
जानि रावन बन्धु प्रभु ने दियौ तेहि बहु मान।
तिलक दै तेहि आपु लंकापति कियौ भगवान ।।
अरु बँधायौ सिन्धु पै इक सेतु राम उदार।
कियौ सेना सहित या विधि अम्बुनिधि कौ पार ।।"

इसी प्रकार रावण की कुलटा और षड्यंत्रकारी बहिन शूर्पणखा के चरित्र को भी बड़ा ही तूल देकर एक सर्वथा दूसरा रूप दे दिया गया है। समस्त बनवासी ऋषि-मुनियों और राम-लक्ष्मण पर यह आरोप लगाया गया है कि वे शूर्पणखा और राक्षसों से प्रतिशोध लेने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हर उचित-अनुचित तौर तरीके को अपनाने के लिए तत्पर रहते थे। शूर्पणखा में कोई कुत्सित भावना-पूर्ति या चारित्र्य-दोष नहीं था, बल्कि लक्ष्मण ने जानबूझकर उसके विरूपीकरण की योजना बनाई थी।

"टहरन चली सुपनखा निसि मे अंग-रक्षकन विहाई।
मारग भूलि राम कुटिया लौं मंद-मंद चलि आई ।।
दूरहि तै घूमत लखि वाको लखन लियौ पहचानो।
और सुधारि कटारि आपनी कह्यौ कड़क इमि बानी ।।
"अधमा ! सँभरू बुलाउ सहायक काल आयगो तेरौ।
भूलिहि गयौ तोहि कुलटारी ! कियौ भयो भ्रम मेरौ ।।"

यौं कहि बढ़ि मृगपति लौं सहसा दीन्ह्या ताहि पछारी ।
जाहि निपातन हेतु हाँथ मैं लीन्ह्यौ कोपि कटारी ।।"

किसी भी मौलिक लेखक को विचार-स्वातन्त्र्य और अपने दृष्टिकोण से प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करने का तो अधिकार है, पर बिना कारण परम्परा विहित और लोक प्रचलित दुष्ट पात्रों-(जैसे कि शुर्पणखा का चरित्र) को अतिरंजित दर्शाना उचित नहीं है। इससे लेखक के किसी मंतव्य की पूर्ति भी संभव नहीं है।

जहाँ तक भाव और भाषा का प्रश्न है लेखक ने अनेक स्थलों पर निस्संकोच दूसरे कवियों के भावों और रचना-शैली को अपहृत किया है, यह अवश्य है कि उनमें मौलिक व्यंजना का सा आनन्द आता है। छंद, अलंकार और रस-नियोजन की दृष्टि से रीतिकालीन पद्धति अपनाई गई है। चन्द्रोदय, संध्या, प्रभात आदि के भी इसी प्राचीन परिपाटी पर कुछ सुन्दर चित्रण हुए हे। प्रभात पर लिखी पंक्तियों में सरसता के साथ-साथ नूतनता और अनूठापन है:

"चन्द्रिका सौं ससि रीतौ भयौ,
छनदा छन में अब चाहत चाली।
लागे विहंगम-वृन्द उड़ान,
चहूँ दिसि कूजि उठि चटकाली ।।
मन्द बहै लागी सीरी समीर,
औ' व्योम मैं छाय रही कछू लाली।
भाल पै प्राची दिसा के मनौ
धरि सिन्दुर बिन्दु दियौ उषा-आली ।।"

कवि ने प्रकृति को जिस दृष्टिकोण से देखा है उसमें रचना-चातुर्य और भाषा-लालित्य तो है, पर अनोखी सूझें और विभिन्न कल्पनात्मक कथन उतने हृदयस्पर्शी और स्वाभाविक नही बन पड़े हैं। पलाश-पुष्प का वर्णन जरा देखिए:

"ताहि ढिग सोहत पलास को प्रसून लाल,
दीसत वियोगिनी यकृत सम कारो है।
अर्द्ध चन्द्र विसिख समान ही लखात जोई,
कामिनी करेजरि किरच करि डारो है ।।
खायो भरि पेट माँस केतै कृस पंछिन कौ,
याही ते पलास निज नाम इन धारो है ।।
होत है कठोर अति जानि मन माँहि याते,
यह पल खण्ड नाँहि खाइबो विचारो है ।।"

सेमल के वृक्ष की परछाइँ जल में पड़ रही है। उसके हिलने-डुलने की क्रिया

और लहरों के मध्य अठखेलियाँ करती डालियाँ और पत्ते कवि के मन में एक दूसरे ही प्रकार की कल्पना जगाते हैं :

"उदधि समान वाही सर के निकट लाग्यौं
सेमर विटप एक परत लखाई है।।
वाके वारि - धारन के प्रखर प्रवाहनि में,
तरु प्रतिविम्ब यौं परत जल आई है।।
मानो मयनाक - महीधर - सरनागत कौ,
सागर नें लीन्ह्यौ निज हीतल छिपाई है।
अजहूँ सुराधिप के कुलिस - प्रहारनि सौं
मानो भय मानि रह्यौ पंखनि हिलाई है।"

उपर्युक्त काव्य और काव्य-ग्रंथों के विवेचन से स्पष्ट है कि जो कवि जितना ही सौंदर्य के शाश्वत स्वरूप को हृदयगम कर पाता है, वह उतनी ही खूबी से अपनी प्रतिभा और अन्तःशक्ति का उपयोग करता है। चूँकि भावनाओं का संचरण सर्वदेशीय है, अतएव काव्य के विषय भी सर्वदेशीय और समान महत्ता वाले होते हैं। कवि अपनी मौलिक प्रतिभा एवं अन्तःशक्ति से निर्जीव को भी सजीव, और साधारण को भी लोकोत्तर बना सकता है। आज महाकाव्य का स्तर अपेक्षाकृत घट गया है। उक्त सभी महाकाव्य, जिनका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं, सही मानों में महाकाव्य कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। रामायण-महाभारत जैसे संस्कृत महाकाव्यों की सी उदात्तता उनमें नही आ पाई है, तो भी इस वैज्ञानिक युग के शुष्क मरुस्थल में जो सरल भावधारा की स्रोतस्विनी बहा सके हैं, हिंदी संसार उनका चिर-ऋणी रहेगा।

१

जैनेन्द्र का मनोवैज्ञानिक अतिवाद

आधुनिक फ्रायडीय मनोविज्ञान ने अचेतन को ही जब मानव की समस्त मूल प्रवृत्तियों का कोष माना है तो विकासवाद के कतिपय तर्कों का आधार लेकर नैतिक मूल्यों के निर्धारण के परम्परागत प्रतिमानों में भी आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। अन्तर्विरोधों से परिचालित सेक्स-चेतना सहसा मुक्त होकर नई-नई भूमियों को छूती हुई अन्त में उन असंख्य विरोधाभासों के मूल में निहित विविध और विराट् सामंजस्य के सूत्र खोज लेने में सतत चेष्टाशील है जहाँ एक अजीब-सी घुटन और जड़ मूर्च्छना के शिकार अन्तर्मुखी स्वप्नदर्शियों के अनपेक्षित मानसिक उद्वेगों का उफान कसमसा रहा है, साथ ही शुष्क बौद्धिकता के ऊबड़-खाबड़ मैदान में विविध-मुखी कल्पना की 'लेफ्टराइट' चल रही है।

कहना न होगा कि गुणात्मक दृष्टि से जैनेन्द्र की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ प्रायः वे ही हैं जिनके बीज मौजूदा बुद्धिवादी युग में बोये गए हैं, भेद मुख्यतः अनुभूत विशेषताओं और आनुपातिक महत्त्व की भावना में है। जहाँ तक सैद्धान्तिक तथ्य-कथन का प्रश्न है एक कुशल तार्किक की हैसियत से उनकी दृष्टि में वस्तुस्थिति को भाँपने की क्षमता है, वर्त्तमान परिस्थितियाँ किस गति से आगे बढ़ रही हैं, उनका रूप क्या है और वह किन रूपों में ढलती जा रही हैं—इसकी समझदारी भी मौजूद है, बल्कि कहें कि ये परिस्थितियाँ और समस्याएँ उन्हें उद्बुद्ध करती रही हैं, किन्तु वे ज़िन्दगी के तुच्छ से तुच्छ पहलू की खण्ड अनुभूति पर अपने मतवादों एवं विश्वासों की छाप लगाना चाहते हैं, परिणामस्वरूप उनके उपन्यास जीवन-प्रवाह के इन्द्रिय संवेद्य-वात्याचक्र बनकर रह गए हैं। एक विशिष्ट कल्पनात्मक बौद्धिक साँचे में नई फिलासफी किंवा मनगढ़ंत आदर्श, त्रिकोण प्रेम का द्वन्द्व और कृत्रिम खींचतान, आकांक्षा और अनुभूति, आवेग-संवेग, आत्मपरक और अतिवादी चिन्तनाओं के कारण न तो उनमें स्वाभाविकता निभ पाती है और न उतनी तल्लीनता के भाव ही उत्पन्न होते हैं कि जिनकी ध्वनि और प्रतिध्वनि जीवन-पर्यन्त गूँजती रहे।

इसके विपरीत जिन आदर्शों एवं भावतत्त्वों को लेकर उनके उपन्यासों की रचना हुई है उनके मेरूदण्ड हैं—

(क) टेकनीक की मूल प्रवृत्ति रूमानी, मूल कथा राग, अहं और वासना के

द्वन्द्व की—जिसमें विशाल 'कैन्वास' पर विविध परिस्थितियों से जूझने वाले व्यक्तियों उनके परिवेश और सामाजिक सम्बन्धों की कहानी न हो कर कुण्ठाग्रस्त और किसी एक वृत्ति या 'मूड' के वशीभूत आत्मकेन्द्रित लोगों के खण्डचित्र उभारे गए हैं, जहाँ परिस्थितियाँ वहीं से स्वयं उपजती है और कथा-सूत्रों को थामे रहती हैं, बौद्धिक तर्कों और विचार-वितर्कों से कथा का मंथर विकास, स्वीकृत मतवादिता थोपने के कारण कथाकार उपभोक्ता से अपने को पृथक् नहीं कर पाता, बल्कि उसमें प्रच्छन्न दुराग्रह है कि उसके अनुभवों, विचारकोणों और मूल्यों को लोग उतना ही आँके जितना कि मूल्य उसकी अपनी दृष्टि में उनका है ।

(ख) उक्त उपन्यासों की विडम्बना है कि वे इस क़दर मतवादी रूढ़िवादिता और विचारों के आवर्त्त में आबद्ध हैं कि कहीं भी उनसे मुक्ति नहीं । प्रायः सभी में स्त्रैण पति हैं जिनके लिए पत्नी का 'सेकिण्डहेन्ड' प्रेम ज़रा भी तिरस्करणीय नहीं, मानों ऐसे अपौरुषेय नर-कंकाल मात्र हैं वे सब, जिनमें खौलता खून और प्राणों के स्पन्दन का सर्वथा अभाव है । लेकिन इसके विपरीत पत्नियों में उद्दाम वासना का प्रवहमान वेग है जो महज़ पति से तृप्त नहीं होता, दूसरे पुरुष की ओर बरबस अनुधावित होता है । वे ऐसी नहीं हैं जिनमें झंझा के झकोरों का उन्माद जगा और शान्त हो गया । हिलोरें उठीं, बुलबुले कसमसाये और विलीन हो गए । इच्छा-वासना के आवेग उफने और बुद्धि एवं विवेक द्वारा उनका उपशमन कर दिया गया। नहीं, उनमें ऐसी कोई वाध्यता या मजबूरी नहीं है । वे जीवन में अलस जड़ता को प्रश्रय नहीं देतीं, उन्हें भीतर ही भीतर मधुर राग का आभास होता है, वे चाहती हैं—उन्हें कोई समझे, उनके रूप को परखे, उनके सौंदर्य की कोई प्रशंसा करे और उसके प्रेमपाश में आबद्ध हो जाए, क्योंकि जैनेन्द्र के मत से 'पानी कहीं बहते-बहते रुक गया है तो उसे खुलना चाहिए, वहिर्गमन मिलना चाहिए,' उन्हें भय है कि 'हृदय सम्पूर्ण वृत्त की भाँति हो तो शून्य हो जाय । उस हृदय को उपेक्षा रहती है कि कोई भिन्न पात्र मिले जिसमें वह अपने को उँड़ेल सके । इस प्रकार वह रिक्त नही होता और भरता ही है ।' पत्नियों के प्रेमी पात्र भी किसी व्यावहारिक आचरण के नियन्त्रण में नहीं हैं । यों तो वे सभी इतने महान् दर्शाये गए हैं कि उनके चरित्र, क्रिया-प्रक्रिया और अन्तश्चेतना की गहराइयों को सहज मापा नही जा सकता, किंतु समझ से परे मानवेतर अवस्था में,ऐसी अनुभूतिजन्य भावना और निरीह संस्कारों द्वारा अनुप्राणित हैं वे सब—कि जैसे अशरीरी हो, अनुपमेय अथवा अपर प्रत्यक्ष भूमिका में स्थित, जिन्हें कुछ छू न पाता हो और जिनका मन कहीं ठहर न पाता हो, फिर भी आश्चर्य कि सामाजिक संबंधों की यान्त्रिक पाबन्दी के विरुद्ध किसी भी सीमारेखा को अपने आन्तरिक प्रवेग से मटियामेट कर देने वाली प्राणवत्ता के धनी, नैतिक नियमों और आचरण की उपेक्षा करने वाले, भग्न, आकुल और अतृप्त तत्त्वों से निर्मित, साथ ही अवसादजन्य ऐकान्तिकता का निराकरण करने के लिए सदा तत्पर और सन्नद्ध, गहरे और चिन्तनशील होकर भी कामावेगों की विद्युत्तरंग अथवा प्रणयोन्माद के प्रकम्पन से सहसा झनझना उठने

वाले और तब जिन्हें किसी भी निषेध अथवा व्यवस्था में न बाँधा जा सकता हो। एक निश्छल भोलेपन के साथ-साथ उनमें अबूझ उन्माद भी है, विराग या उपरामता के साथ-साथ किसी की रूपशिखा में पतिंगे की तरह जल मरने की अमिट आकांक्षा भी है और नैतिक सदाचरण के साथ-साथ उच्छृंखलता और स्वेच्छाचरण के ऐसे क़ायल कि जिनकी कुंठित स्वातन्त्र्य-भावना को एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक अतिवाद अथवा ऐन्द्रिय चेतना का आत्यन्तिक विघटन कहा जा सकता है।

(ग) प्रेम, वासना और आसक्ति का ज्वार उन्हें कभी-कभी इतनी दूर ठेल ले जाता है कि कामजन्य चेष्टाओं की अनुवर्त्तिता ही प्रमुख और उपन्यास के सहज रसबोध की मुखर चेष्टा गौण पड़ गई है। प्रेम की त्रिधा धारा—एक नये रूमानी एवं दार्शनिक आतंक में—तीव्र भावावेगों से प्रेरित समझौते के सूत्र खोजती हुई औपन्यासिक विकास की नई संभावनाओं को सामने लाती है सही, लेकिन समस्त जटिलताओं, विषमताओं और उलझनों के बावजूद एक कृत्रिम रंगीनी नेत्रों के समक्ष स्वप्न सा बुनती है और अस्पष्ट आंतरिक चिन्तना में आधार तो ग्रहण करती है, पर बौद्धिक अवसाद के धुन्धलके में भटक जाती है।

इस प्रकार पति, पत्नी और पत्नी के प्रेमी की द्वन्द्वात्मक रोमांचक कहानी अन्त में पूर्णता तक तो पहुँच जाती है, किन्तु उसमें उठाई गई सामाजिक समस्याओं का समाधान नही हो पाता। यह सही है कि मनुष्य की गहन रहस्यमयी दमित अंतर्प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर जैनेन्द्र ने फ्रायड से प्रभावित पश्चिमी औपन्यासिक परम्परा से नाता जोड़ा है, मगर उनके कथानकों की प्रमुख कमज़ोरी यह रही है कि जीवन के किसी चरम लक्ष्य या अर्थ की निष्पत्ति उनसे नहीं होती, अपितु महत्त्वाकांक्षी, पराजित और प्रेम में हताश व्यक्तियों की विकृत बुर्जुआ नैतिकता से ध्वस्त स्त्री-पुरुष के नये यौन-सम्बन्धों की आस्थाहीन धरती पर वे मँडराते रहते हैं। विषय और दृष्टिकोण सीमित हैं, मुख्यतः उन्हें तीन पात्र चाहिए—ऐसी नारी, जिसमें दुर्निवार आकांक्षा और 'सेक्स' सम्बन्धी विस्फोटक विकृतियाँ हों, कुछ ऐसे अजीबोग़रीब तत्त्व जो हर कदम पर ज़िन्दगी की नई मंज़िल खोजते हों, उसके आगे फिर एक नई राह और तब मानो आगे का मार्ग सहसा खुल पड़ता हो, ऐसा वेग जो व्यवस्था या अवरोध नही चाहता, वरन् एक जबर्दस्त निषेधात्मक स्वीकृति में रक्त-मांस, शिरा-उपशिरा में जड़ित हो जाना चाहता हो और जिसके कारण जीवन थकता नहीं, थमता नही और कभी हार न मानता हो। बाह्य में समाज-प्रतिष्ठा की दृष्टि से व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्ति की कामना चाहे कितनी ही हो, पर अन्तरंग में उनके ऐसा विप्लव या विलोड़न है कि अत्यधिक कामना एवं काम्य के संगम से वे सहज आत्मगतिशील हो उठी हैं। संगलिप्सा उनके स्वभाव की प्रधान वृत्ति है और ज्यों-ज्यों वह बढ़ती जाती है वे व्यक्ति से, निजत्व से, अहं से ऊपर उठकर अयुक्त परिमाण में रसास्वादन की ओर अग्रसर होती हैं। कुछ प्रश्न सुलझते है तो कितने ही तथ्य उलझते हैं मानो जीवन के अगणित उलझे सूत्र एक निस्सीम सूनेपन में खो जाते है। महज़ पति को वे जीवन-सर्वस्व

नहीं मान बैठतीं, उनकी आँखों के आगे सत्य के नग्न आलोक में जैसे उनकी अपनी भीतरी तपन की मरूभूमि का विस्तृत उजाड़ साकार हो जाता है और तब उन्हें लगता है कि अपने आप में पुंजीभूत रहकर वे औत्सुक्य या विस्मय जाग्रत नहीं कर सकतीं। वे पति की अन्धी दासता को एक मात्र समाधान मानकर निष्क्रिय नहीं होतीं, क्योंकि उनमें कुछ ऐसी त्वरा और अनन्यता है कि पति जैसे साधारण जीव पर वे निर्भर नहीं, वे दोनों एक नही हो सकते, एक दूसरे के लिए विधाता का विधान, एक नियति के दो पूरक, एक इकाई के दो खण्ड जो मिले हैं तो मिले ही रहें और कभी पृथक् न हो—इस बात की सतर्कता या संयत भाव उनकी दृष्टि में थोथा और बेमानी है। वे पति को अपने प्रेमपाश में बाँधने के लिए मचलने वाली सुन्दरी के सदृश कुछ समय तक उससे खेलकर भावोन्माद वश पर-आकर्षण का सद्यः अनुभव करती हे और इस प्रकार उनमें एक अनथक कौतुक भीतर ही भीतर छहराता रहता है। सामाजिक जबाबदेही को वे महसूस नहीं करती, कारण—उनके जीवन-यापन का एक नवीन और निजी ढंग है। गहरा प्रतिवाद और दुहरा संघर्ष है उनके मन में, जो उनकी प्रेरणा का मूल तत्त्व है और उनके अन्तर को अनवरत आलोड़ित करता है। एक मात्र निज को लेकर रिक्तता को नहीं भरा जा सकता, न ही यह प्रेम, यह क्षणिक मोह उनके जीवन का लक्ष्य बन सकता है, अतएव अपर मन के साथ संयुक्त हुए बिना उनकी सम्पूर्णता प्रतिफलित नहीं हो पाती। कट्टो, सुनीता, मृणाल, कल्याणी, सुखदा, भुवन मोहिनी, अनिता और उनके परवर्ती उपन्यास 'जयवर्द्धन' की लिज़ा ऐसी ही नारियाँ हे जो अनियन्त्रित कामवासना और उद्दीपक यौनाकर्षण से आक्रान्त आचरण की सीमाबद्धता अथवा किसी एक व्यक्तितन्त्र के बलिष्ठ प्रत्यय में आस्थाशील नहीं हो पातीं।

इसके साथ ही एक और विचित्र बात है कि ज्यों-ज्यों इन पत्नियों में स्वकीय व्यर्थता एवं इच्छाओं की स्वसत्ता तीव्रतम होती जाती है इनके पति उनकी प्रकृति की दुर्द्धर्ष शक्ति एवं वहुविध विरुद्धता के समक्ष उतने ही नत होते जाते हे बल्कि कहें कि उपेक्षा और विपन्न द्विविधा में वे अत्यंत दीन और दयनीय बन जाते हे। पत्नियों के प्रेमी पात्रों को प्रायः क्रान्तिकारी और विद्रोही दर्शाया गया है, पर सच्चे क्रान्तिकारी न होकर वे काम-अभुक्ति और अहंवृत्ति से पीड़ित विप्लवी और विध्वंसक आतंकवादी सिद्ध होते हे। उनमें देशभक्ति का उन्माद कम, प्रेम की दाह अधिक है, बल्कि प्रेम करना ही उनका प्रमुख व्यवसाय है। उनमें आत्महनन, स्वरति, विलगाव और मानसिक विकृतियाँ हैं, वे अहं की तुष्टि के लिए असामाजिक कृत्य करते हे और आर्थिक दृष्टि से दूसरों पर आश्रित हे। यह आर्थिक समस्या सभी मान्यताओं से परे इस क़दर उभर आती है कि उक्त अर्थ-संघर्ष ने उनके मन को इतना क्षुब्ध और विक्षिप्त कर दिया है कि उनकी वैचारिक क्रान्ति मखौल बन जाती है और मानव-समाज के अन्तवैयक्तिक सम्बन्ध मध्यवर्गीय ह्रास की छूत से विषाक्त हो उठते हैं। लेखक की उत्तेजक निष्ठा के फलस्वरूप कहीं-कही तो वे लुटेरे और प्रतिहिंसक से प्रतीत होते हैं। डाकू

या लुटेरे अपनी अतरंग भावनाओं का दमन नही करते, वे खुलकर जीते हैं और बिना रोकटोक जीवन की सभी [illegible],पर जैनेन्द्र के ये शिष्ट लुटेरे अपनी मूल वृत्तियों और कामोद्वेगों को अनुभूति की जड़ता में लपेटते हैं और कुंठित जीवन-यापन करते हैं जो क्रान्तिकारी आत्म-जागृति और मान्यताओं की दृष्टि से शर्मनाक चीज़ है। इससे उनकी वैयक्तिकता अराजकतावादी निर्वैयक्तिकता पर हावी हो जाती है।

क्रान्ति के क्षेत्र में रचनात्मक आदर्शवाद की उपयोगिता असंदिग्ध है और मानव-जीवनोत्थान पोषक तत्त्वों को समाविष्ट करके ही उसका प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। मगर थोथे, बेजान आदर्शों को छाती से चिपटाए रहकर वे स्वयं ओज-हीन एवं सामर्थ्यहीन तो हो ही जाते हैं, साथ ही गत्यवरोध के गढ़े में गिरकर समाज-कल्याण के विधायक तत्त्वों को शोषक भी बना देते हैं।

सबसे आपत्तिजनक और विवादास्पद है उक्त चरित्रों की आत्यन्तिक आत्म-केन्द्रिकता। वैयक्तिक और सांस्कारिक होने के बावजूद कोई भी चरित्र सम्भाव्य और विश्वसनीय मनोवैज्ञानिक तथ्यों की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। प्रभाव के मूल में लेखक की क्षमता उसकी अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओं में व्यक्त न होकर चित्रित पात्रों को स्वतन्त्र चेतना एवं व्यक्तित्व देने में उजागर होनी चाहिए अर्थात् वे जिस किसी भी समाज या वर्ग के व्यक्ति है, उनकी सवेदनाओं या विशिष्ट संस्कारों का सच्चा और प्रामाणिक चित्रण होना चाहिए। परन्तु जैनेन्द्र की वे कौनसी कसौटियाँ और मुख्य दर्शन है जो चरित्र-निर्माण की ओर अग्रसर होते-होते अपने चारों ओर के विशृंखल को जीवन का अर्थ देना चाहते है और जिनके आर-पार नहीं झाँका जा सकता ? क्या वैयक्तिक अनुभूतियों के माध्यम से मानववाद की व्याख्या सम्भव है ?

जहाँ तक स्त्री पात्रों के चरित्रांकन का प्रश्न है उनमें वैयक्तिक कुंठाएँ, असं-तुलन और अतिवादी संकीर्ण दर्शन की परिणति फ्रायडीय मान्यताओं के आधार पर हुई है। इसी प्रतिफलन प्रक्रिया का परिणाम है कि संस्कारगत संक्रमण और अपवाद पूर्ण कृत्रिमताओं का आरोपण उनमें थोथे तर्कजाल और वैचारिक [illegible]जियों से उपजा है। इन तर्कों में उतनी गहराई नहीं जितनी आपाततः जान पड़ती है। दर-असल, कितनी ही उलझन भरी जटिलताओं में मानवीय मूल-मर्यादा को स्थापित और विकसित करके स्वातन्त्र्यपूर्ण दायित्व की स्वीकृति का साहस एक हद तक ही उचित कहा जा सकता है। सस्ते भावोन्माद के वशीभूत हो सामान्य को—कोरे शब्दजाल से—असामान्य दर्शाना जीवन के मूल संस्कारों के विरुद्ध है। जैनेन्द्र के उपन्यासों की नायिकाएँ अपने दुराग्रह के कारण जीवन की विविध विरोधी परिस्थितियों में निम्न-गामी और अप्रत्याशित स्तर पर उतर आती हैं, साथ ही बुर्जुआ अहं की मानसिकता और रूमानी अनास्था से उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप उनके सामाजिक सम्बन्ध विशेष और स्थिति विशेष को निर्धारित करने वाले व्यक्तित्व खंडित हैं और ज़बरन

उक्त वर्ग की व्यापक हीनता की चौहद्दी में उन्हें अधिक वैयक्तिक और अन्तर्गूढ़ दर्शाया गया है। जीवन का ग्राह्य, नैसर्गिक सत्य जब किसी के विशेष संस्कारों की परिधि में नहीं सिमट पाता तो वह विरूप और बेमानी हो जाता है। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण जीवन में सामाजिक आचारों की अवहेलना कर जो निजी अव्यावहारिकता एवं सुदूरता में सिमटकर संकीर्ण हो जाते हैं, साथ ही मनोविश्लेषणवादी आधार पर यौन-प्रक्रियाओं और अवर्णनीय चेष्टाओं की अन्विति में ही रस-ग्रहण करते हैं वे मानव-स्वभाव के प्रकृत रूप से स्वभावतः विकृति और अनौचित्य की ओर अग्रसर होते हैं।

सूक्ष्म मनोविश्लेषण जैनेन्द्र की खूबी है, लेकिन मानव-मन के सीमान्त और अगणित सूक्ष्म प्रक्रियाओं का मूल खोजते हुए वे प्रायः उन आत्मसंहारक तत्त्वों के विघटन में बहक जाते हैं जो असाधारण अपवादस्वरूप विकृत चरित्रों की सृष्टि करते हैं। नारियों को ही लें, तो क्या उनमें समाधानकारी नैसर्गिक तत्त्वों का उद्घाटन हुआ है? यह सही है कि आज के फ्रायडीय मनोविश्लेषणवादी लेखक सामान्य जीवन में न दिखाई पड़ने वाले, किसी एक विशिष्ट 'टाइप' या 'मूड' के विकृत चरित्रों को अपनाकर उनके अन्तर्मन की द्वन्द्वात्मक स्थितियों का उद्घाटन करते है, तथापि उनके कार्य-व्यापार, इच्छा-आकांक्षा, चिन्तन और अन्तरात्मा की कोटियों के निर्धारण में सहज, सामान्य जीवन की मौलिकता के निर्णायक संकेत तो मिलने ही चाहिए, अन्यथा कीचड़ में धँसकर और लक्ष्यभ्रष्ट होकर समाज के सामने ये चरित्र नई समस्या बनकर खड़े हो जाते हैं।

जैनेन्द्र के चरित्रों की वक्र रेखाएँ व्यक्तिवादी संस्कृति से सिरजी हैं। उनकी नायिकाएँ मध्यवर्गीय मान और मान्यताओं में पली साधारण घरेलू, कम पढ़ी लिखी नारियाँ हैं, घर और गृहस्थी के दायित्वों तथा पति एवं परिवार की नैतिक आस्था को भी स्वीकार करने वाली हैं, किन्तु न जाने किन कारणों और परिस्थितियों से उनमें इतनी प्रचण्ड बौखलाहट, साहसिक आक्रोश, द्विविधा और असन्तोष भरा पड़ा है कि वे अनायास अबाध और उन्मुक्त अन्तःप्रेरणाओं से छटपटाकर रह जाती हैं। उनकी स्वप्निल कल्पना में कौनसा उन्मादक मायालोक झूमा करता है और एकान्त में वे क्यों कभी-कभी गहरे अवसाद, खीझभरी अनुभूति या किसी अजाने अप्राप्य को पाने की बेतुकी चाह से भर जाती हैं? अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए सुविधापूर्वक और बड़े ही सहज ढंग से, निजी तौर तरीकों पर काबू पाने की दुश्चिन्ता किये बग़ैर वे अपने अभीप्सित पथ पर चल पड़ती हैं। जोखम उन्हें अच्छा लगता है और मन में न जाने कैसी-कैसी अचिन्त्य चाहनाएँ जगा करती हैं। बच्चों का बन्धन, पति का खौफ़ और पारिवारिक परिवेश उन्हें जरा भी त्रस्त नहीं करता। बँधे कूल-किनारों के बीच बहते चले जाने की परिपाटी उन्हें मान्य नहीं, अतएव जीवन के विषम छोरों पर जो टकराहट या हलचल होती है वे भले ही समस्याएँ उत्पन्न करे, पर ये समस्याएँ भी उनमें मधुर-मधुर सिहरन जगाती हैं, बाहरी संघात उन्हें और भी सामर्थ्यवान और

गतिशील बनाते हैं, क्योंकि खालीपन तो जैसे उनकी प्रकृति में है ही नहीं। वे अपने मनोनुकूल निश्चय एवं निर्णय करके कार्य करने वाली महिलाएँ हैं, ऐसी सामाजिक सापेक्षता की वे क़ायल नहीं जो विवशता या नियन्त्रण बनकर उन पर हावी हो जाए।

निश्चय ही, उनके दृष्टिकोण की एक अपनी सीमा है। आखिर जीवन एक खेल ही तो है, एक ख्वाब—कैसा मजा है इसमें कि कोई न कोई नाटक चलता रहे। जीवन का सूनापन और एकान्त की पीड़ा का आवेग जब जोर से हिलोरे मारता है तो उनके साथ हँसने-रोनेवाला, उनके दुःख-दर्द और आँसुओं में सहानुभूति की दुम हिलाने वाला भी तो कोई होना चाहिए, अपना नहीं, कोई ग़ैर, क्योंकि अपने में तो बासीपन की बू आती है। विधि-निषेधों की जकड़ के बीच जीना दुर्वह है, जीवन के साज फीके पड़ जाते हैं और प्रकृत मर्यादाओं की भी क्षति होती है। पति उनके सम्पूर्ण अस्तित्व का 'अथ' और 'इति' नहीं हो सकता, मानो वह स्वतन्त्र इकाई नहीं, पत्नी का दास है, उन्हीं की कृपा पर निर्भर और आश्रित। जैनेन्द्र के उपन्यास का हर पति अपने आपको सौभाग्यशाली मानता है कि उसे ऐसी सुयोग्य और सुन्दर पत्नी मिली, किन्तु इसके विपरीत पत्नी के द्वन्द्व का मूल यही है कि जीवन साथी उसके मनोनुकूल नहीं, परस्पर उनके कार्यों और सिद्धान्तों में संगति नहीं, आकांक्षाएँ सर्वथा भिन्न, जीवन-दृष्टि पृथक्, एक अभावशील गृहस्थी—यही उनके जीवन की 'ट्रेजेडी' है। विवाह की सीमारेखा पर टिक कर नज़र फैलाती हैं तो जीवन उन्हें एक विराट् शून्य, बेहद कटु, बेहद दर्दनाक और पीड़ा, तड़प, कुंठा और घुटन से रुँधा हुआ सा प्रतीत होता है, पर विवाह निभाना उनके लिए लाचारी नहीं है और पति नामक व्यक्ति के हर गुण-दुर्गुण और खुशामद पसन्दगी के साथ ही उनकी इच्छा-आकांक्षाएँ नहीं लिपटी-चिपटी हैं। इस लीक के बाहर झाँक पाती है तो उन्हें लगता है कि उस पार इतना कुछ है कि जिसे न तो एक नजर में देखा जा सकता है और चाह कर भी न एक बार में सहेजा जा सकता है। सुखदा के शब्दों में—"शनैः-शनैः में अपने पति के प्रेम और आदर को अनायास भाव से स्वीकार करने लगी मानों वह मेरा भाग ही हो। मैं ऐसी मानिनी बनी मानों यह समादर और सम्भ्रम मेरा सदा का हक हो। उनमें से फिर कोई रस नहीं मिलने लगा और तब अपनी स्थिति में तरह-तरह के अभाव नजर आने लगे।"

एक अन्य स्थल पर सुखदा कहती है—"इस बीच जाने किस एक अनिर्दिष्ट शक्ति से मैं पति से स्वाधीन होती चली गई। जीवन के रोज़ के कामों के लिए ही हमारी गृहस्थी संयुक्त थी। एक घर में खाते थे, एक घर में सोते और रहते थे, एक बच्चे के माता और पिता थे। एक जगह से आने वाली आमदनी में से दोनों खर्च करते थे। यह था, लेकिन फिर भीतर ही भीतर यह संयुक्तता बँटकर स्पष्टतया दो धाराओं में बहने लगी थी। उस जगह उनमें लेन-देन नहीं था। मेरा विचार और जीवन अलग था। सामाजिक जीवन अलग था। मुझे पता भी नहीं रहने लगा था।

पता रखने की उस समय चिन्ता भी नहीं रही थी कि पति क्या चाहते हैं, क्या सोचते-विचारते हैं, मैं क्या चाहती हूँ। क्या सोचती-विचारती हूँ—यही बात मेरे लिए अत्यन्त प्रमुख थी।"

यों विरोधी भावनाएँ उनके दाम्पत्य जीवन के पारस्परिक संतुलन को डगमगा देती हैं, लेकिन जब कभी घटनाओं और क्रियाओं के संयोग से मतैक्य स्थापित होने के कारण उनके अभावों की खाई पटी-पटी सी लगती है, तभी कहीं से कोई नया या पुराना प्रेमी आ टपकता है और क्रमशः एक नई 'ट्रेजेडी' का जन्म होता है।

पति-पात्रों के चरित्र-विकास के प्रसंग में उनके अधिकार और प्रेम के गूढ़ एवं अदृप्त भाव की व्यंजना की वास्तविकता और प्रामाणिकता का आभास उत्पन्न करने के लिए लेखक ने अनेक कौशलों का सहारा लिया है, पर चूँकि उक्त चरित्रों के जीवन में भी अन्तर्मन की प्रतारणाएँ प्रचुर परिमाण में मौजूद हैं, अतएव उनके मनोविश्लेषण का आधार क्या है ? बात और व्यवहार में ऊपरी तौर पर मर्दानगी निभाते हुए भी भीतर से वे नितान्त खोखले और बेदम क्यों है ?

कहने की आवश्यकता नहीं कि चरित्रों में औचित्य आवश्यक है अर्थात् उपन्यास में कथानक और परिस्थितियों के अनुकूल जिस वर्ग का व्यक्ति हो उसकी विशेषताएँ उसमें परिलक्षित होनी चाहिए। उनके व्यवहार और वाणी में भी अनुभूति जन्य गहराइयों, विविधताओं और सूक्ष्मताओं का उद्‌घाटन होना चाहिए। पर क्या जीवन की सामान्य अनुभूति में वे कसौटियाँ और मानदण्ड उपयुक्त कहे जा सकते हैं जो महज़ विकृतियों को छिपाने के लिए शुद्धतावादी हठयोग, दुहरी नैतिकता और छिछले वात्याडम्बर का पर्याय बनकर रह गए हैं ? ऐसे चरित्रों के पीछे अप्रामाणिक स्वीकारोक्ति है जो भ्रामक तर्कों से ऐन्द्रिकता या कुरुचि को जन्म देती है।

अनिवार्यतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनेन्द्र के पति-पात्रों में मुख्यतः दो प्रवृत्तियों का द्वन्द्व है—एक तो पत्नी के आगे उनका व्यक्तित्व कुंठित है, दूसरे वे इतने निरीह और न्यौछावर हैं कि अपनी अदम्य जीवनी-शक्ति को पत्नी की हसीन हस्ती में खो बैठे हैं। परन्तु व्यक्ति मूलतः मानव है, वह स्वतन्त्र रहना चाहता है, उसका सहज स्वभाव है कि निजी विराट् 'स्व' को वह परिमित नहीं करना चाहता, वह निपट स्वीकृति या विनिमय की इच्छा किए बग़ैर नहीं जी सकता। जीवन के मूलगत संस्कारों का आधार भी उसके वे कार्य-कलाप नहीं हो सकते कि उसके अधिकार छीने जाएँ और माथे पर किंचित् भी शिकन न पड़े। पुरुष हो कर जैनेन्द्र ने पुरुष जाति का क्यों उपहास किया है ? पति बेचारे—जिनकी सरलता से उनकी पत्नियाँ तक त्रस्त हैं, क्यों इतने समर्पित और विपन्न हैं ? क्यों अपने समग्र अस्तित्व से अनस्तित्व बन गए हैं कि उन्हें अपनी इस दुर्भाग्यपूर्ण विरासत में भी सौभाग्य की सम्भावनाएँ नज़र आती हैं ? उछाह और उमंग से छलकते दिल लिये बेहयाई के कोड़े खाकर वे ज़रा भी सहमते या सकुचते नहीं। कोई असहमति, झुँझलाहट, ऊब या लानत-

मलामत भी नहीं है उनमें। आखिर, उनकी नज़रों में उनकी खूबसूरत पत्नी ऐसी हैं जो सभी की प्रेमपात्री बनें! शमा एक होती है, पर बेशुमार परवाने उस पर प्रेम-पिपासा की परिपूर्ति के लिए न्यौछावर होते हैं। काश! प्रेम का दायित्व या पुरस्कार उन्हें पति के नाते मिला है तो क्यों न वे इस सुखदायी सम्भार को खूबी से सँभालें और अधिक सहज एवं स्वीकार्य बनें।

परन्तु मस्तिष्क का यह दृढ़तम संकल्प उस एकनिष्ठ आत्मस्थिति में संभव है जहाँ विकल्प नहीं होते और पार्थिव आवरण की तह के भीतर निर्द्वन्द्व सुख-शान्ति का अनुभव होता है। विरले ही ऐसे मनुष्य होते हैं जो ईर्ष्या या व्यामोह की विडम्बना से हटकर अपनी निरीह दृष्टि को बाहर से भीतर की ओर मूक भाव से मोड़ लेते हैं और अपने आप को संयत रखते हैं।

पर प्रवंचना की ये लीकें कैसी तूल देकर आँकी गई हैं? 'विवर्त्त' में रौबीले, सहज प्रशासनप्रिय बैरिस्टर नरेश के मुँह से ये शब्द कितने अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं—

"वह पहले प्रेमी था, लेकिन बाद में भी प्रेमी हो, निरन्तर प्रेमी हो, तो मुझे उसमें क्या कहना है? क्या मेरा आशीर्वाद है कि ऐसा हो? हाँ, है आशीर्वाद, मेरी मोहिनी को सबका प्रेम मिले। सब ही का प्रेम मिले, क्या उसके मेरी होने की सार्थकता तभी नहीं है कि अभिन्नता इतनी हो कि मेरा आरोप उस पर न आए? यही है मोहिनी, यही है, देखोगी कि मेरी ओर से तुम पर आरोप आने की आवश्यकता कहीं रह गई है। हे ईश्वर! तू हो तो तुझसे मेरी यही प्रार्थना है।"

मोहिनी और नरेश का यह वार्त्तालाप—

"नरेश ने ठोढ़ी में हाथ लगाकर मोहिनी के चेहरे को ऊपर उठाया, कहा—"मुझ पर विश्वास नहीं करोगी? हाँ, ऐसे ही···अब कहो क्या बात है?"

वह उठे चेहरे से पति को देखती रही और देखते-देखते एक साथ झुककर उनके अंक में फिर छिप रही।

"नहीं नहीं, ऐसे काम नहीं चलेगा, मेरी, रानी!" अंक में लिये-लिये कुछ डग चलकर नरेश ने पत्नी को आराम कुर्सी में बैठा दिया और सामने घुटनों बैठते हुए कहा—"कुछ बात जरूर है, खोलकर न कहोगी तो मैं क्या समझूँगा?"

मोहिनी ने उत्तर में अपना मुँह हाथों में छिपा लिया।

नरेश कोई एक मिनट उस तरह बैठे रहे, फिर उठकर कमरे में टहलने लगे। दो-एक मिनट चुपचाप-से उधर डग भरते रहकर वह कुर्सी के सामने कोई दो गज दूर खड़े होकर बोले—"मोहिनी, मुँह छिपाने की तुम्हारे लिए कोई बात नहीं। प्यार का हक सबको है। तुम्हारा, मेरा, उसका सबका···अच्छा, मैं चलूँ?"

'सुखदा' उपन्यास में सुखदा के पति के ये शब्द—

"तुम्हारा, मुझ से विवाह हुआ है, हरण तो नहीं। विवाह में जो दिया जाता है वही आता है, पराधीनता किसी ओर नहीं आती। सुनो सुखदा! स्वतन्त्रता तुम्हारी अपनी है और कहीं आने-जाने में मेरे ख़याल से रोक-टोक मानना मुझ पर आरोप डालना है। मुझ से पूछो तो तुम्हें अपने प्रतिरोध लाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

सुखदा तक को जब पति के अभिमत पर आश्चर्य होता है तो उसकी स्वच्छन्दता को और भी शह देता हुआ वह अपनी बात की पुष्टि में कहता है—

"विवाह क्या चीज है, मैं अक्सर सोचता हूँ। क्या वह स्वत्व को बन्धक रख देना है। स्वत्व का अपहरण कर लेना है? समर्पण में तो सार्थकता है, लेकिन समर्पण का तो व्यक्ति को पता ही नहीं रहता।"

'व्यतीत' में अनिता और जयन्त का पारस्परिक प्रणय-व्यापार जानते हुए भी धनीमानी मिस्टर पुरी का अपनी पत्नी को स्वेच्छया उसके प्रेमी को सौंप जाना या हर बात में इतनी उदारता बरतना कुछ जँचता नही।

"दैट वुड बी मोर लौजिकल'''न होता जरूरी तो मैं न जाता। लेकिन आपके जयन्त हज़रत अभी अनमने हैं। यकीन है तुम पीछे उन्हें मना भी लोगी।"

और सुनीता के पति श्रीकान्त के आग्रह भरे पत्र की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ—

"सुनीता, मुझे उसकी भीतर की प्रकृति की बात नहीं मालूम। तो भी तुमसे कहता हूँ कि तुम इन दिनों के लिए अपने को उसकी इच्छा के नीचे छोड़ देना। यह समझना कि मैं नहीं हूँ, तुम हो और तुम्हारे लिए काम्य कर्म कोई नही है। इस भाँति निषिद्ध कर्म भी कोई नही रहेगा।''''''तुम उसकी वैरागी वृत्ति को किसी तरह कम कर सको, उसमें कहीं बाँधकर बैठने की चाह जगा सको तो शुभ हो।"

इन्ही पंक्तियों की प्रेरणा से सुनीता अपने सतीत्व तक को हरिप्रसन्न को सौंप देने में नही हिचकती। लौट आने पर श्रीकान्त सब कुछ समझ जाता है, पर आश्चर्य कि उसे इस पर रोष नही, अपितु प्रसन्नता होती है और अपनी पत्नी के इस कृत्य पर कृतज्ञता प्रकट करता है—

"आज क्या मैं नही जानता कि यह गाँठ उसके भीतर से खींच निकालने में उपलक्ष्य तुम बनी? हाँ, तुम। मैं इसके लिए तुम्हारा चिरकृतज्ञ हूँ, सुनीता! दुनिया जब यह जानेगी, वह भी तुम्हारी कृतज्ञ बनेगी। मुझे ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारे सम्बन्ध में मेरा पतित्व इस कलाकृति में भरी व्यथा के समक्ष मात्र थोथा ही तो कहीं नहीं है।''''''"

सुनीता ने अपने स्वामी के वक्ष में मुँह टिका लिया।

"सुनीता, अब भी क्या हरिप्रसन्न में ग्रन्थि अवशिष्ट है? उसे क्या फिर बुलाने का साधन नहीं हो सकेगा?"

सुनीता ने कहा, "मैं तुमसे सच कहती हूँ कि मैंने उनसे यही कहा कि वह जाएँ नहीं, रुकें। सच कहती हूँ, मैंने अपने को नहीं बचाया। जाने वह कहाँ गए हैं।

मुझे लगता है·······"

"देखना होगा, कहाँ गया है। बट अवर क्वीन कैन डू नो रॉंग।"

इसी अभिमत को बार-बार दुहराना जैसे जैनेन्द्र की प्रधान निष्ठा बन गई है। दस वर्ष के मौन के बाद उन्होंने 'सुखदा', 'विवर्त्त' और 'व्यतीत' में वही 'सुनीता' की कहानी दोहराई और अब परवर्ती कृति 'जयवर्द्धन' में भी यही चर्वितचर्वण है, मानों तर्क से परे यह विश्वास इतना जमकर बैठ गया है उनके मन में कि इस परिपक्व, ढलती वय में भी वे रंच मात्र इससे आगे नहीं सरक सके हैं। 'जयवर्द्धन' में लिज़ा का अपने पति के सम्बन्ध में मि० हूस्टन से वार्त्तालाप देखिए—

"मैं अपनी जगह खड़ा हुआ, कहा, "पति पर तुम्हारा इतना स्वत्व है ?"

"जाने क्यों है ! मैं उसकी पात्र तो नहीं हूँ, लेकिन..."और लिज़ा के चेहरे पर जैसे एक तीव्र वेदना की छाया आई और चली गई।

"तुम्हारे दुःख को समझ सकता हूँ, लिज़ा !" मैंने कहा, "पति तुम्हें आश्रय नहीं है, कुछ आश्रित है। इस दुःख को समझ सकता हूँ, लेकिन लिज़ा इसी से तुम्हारी जिम्मेदारी बड़ी है, जानती तो हो—?" लिज़ा भी उठ आई, बोली—"विवाह को निभाऊँ, यही न ? लेकिन फिर क्या करूँ ? अपने को न निभाऊँ ? बिलवर ! अधिक काल इस विवाह को ठिकाना मेरे लिए सम्भव न होगा।"

मैंने उठकर लिज़ा को कन्धे पर से पास लिया, कहा, "पागल न बनो, लिज़ा ! यदि जानती हो कि अन्दर तुम में उसके लिए आश्रय नहीं है फिर नाथ को एक क्षण के लिए भी तुम भुलावे में रखती हो तो क्या यह विश्वासघात नही है ?"

"है", मेरे साथ पलंग पर बैठती हुई बोली, "लेकिन वह स्वयं अपने को छलना चाहते हैं, जानते है अब जो है मेरी ओर से किंचित् अनुग्रह है, फिर भी खीझ सकते हैं, लेकिन मेरे प्रति अपने लोभ को जीत नही सकते। और यह भी कहती हूँ बिलवर ! कि मन के भीतर मेरे कुछ भी हो, पर विवाहित हूँ तब तक अपनी परिअंक शायिनी के प्रति मैं उन्हें तनिक भी असन्तोष का अवसर नही देती....क्या यह तपस्या नहीं है ? बलिदान नहीं है ? तुम कहोगे कि उसी बलिदान को मैं अनन्त बनाए रखूँ ? कितना घोर पाप होगा यह सोचो तो···आज भी किंचित् उन्हें इसका अनुमान हो तो हो सकता है, यद्यपि भरसक अपने व्यवहार में, उसके लिए कहीं अवकाश मैं नहीं देती, लेकिन सत्य पर संयम कब तक चल सकता है, और क्या यह पति नामक व्यक्ति के प्रति अन्याय न होगा ?

मैंने उसे अपने अंक में निकट लिया और हौले से कहा—"अब भी क्या अन्याय नहीं है ?"

"हो, लेकिन जो वह पाते हैं उसका मूल्य उन्हीं के निकट उस अन्याय से अधिक है, तब मैं क्या कर सकती हूँ ? ज़बर्दस्ती उनकी आँख खोलना भी क्या अन्याय न होगा ?"

सुनकर मुझ में गम्भीर व्यथा जगी। नाथ के प्रति गहरी सहानुभूति हुई, कहा, "इसी बल से क्या तुम नाथ से जो चाहो करा लेने का विश्वास रखती हो?"

"छी, छी, कहते ग्लानि होती है, पर सच यही है, और इस जघन्य स्थिति से मैं कब ऊब जाऊँगी कह नहीं सकती। बस यही सोचकर सहारा पाती हूँ कि शायद किसी के कुछ काम आ रही हूँ।"

उक्त बुर्जुआ प्रेम की तथाकथित उदात्त भावना की झुठाई की पोल इस तरह की जघन्य स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों के संघर्ष, नितान्त हीन आकाँक्षाओं की पूर्ति और स्त्री-पुरुष के कुत्सित सम्बन्ध की प्रचंड आवेगपूर्ण परिस्थितियों के चित्रण द्वारा प्रकट हुई है, क्योंकि चेतना का इतना उदात्त संस्कार अतिशय प्रेम, बलिदान और त्याग द्वारा भी मुश्किल से ही सिद्ध हो पाता है, फिर साधारण घरू व्यक्तियों के क्रियात्मक जीवन में तो असम्भव-सी चीज़ है। अतः जैनेन्द्र के पति-पात्रों का यह आत्मपीड़न और त्याग एक बड़ा भारी मनोवैज्ञानिक असत्य तो है ही, साथ ही पत्नियों के अहंकारी दायित्वहीन अनैतिक स्वेच्छाचरण को पतियों के उदात्त जीवन दर्शन का परिणाम सिद्ध करके अतिरिक्त महिमा से मंडित करना इतना ही अनुदात्त और लज्जाजनक भी है।

अधिकतर किसी भी व्यक्ति की जीवन-शैली उसके अपने पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण की पृष्ठभूमि पर बनती है और वह जो कुछ करता या सोचता है अपनी सीमा में घिरकर ही। चारित्रिक विश्लेषण में एक और जरूरी बात यह भी है कि किन अर्थों में और क्यों किसी व्यक्ति का स्वभाव दूसरे लोगों से भिन्न है और उनके तौर-तरीके क्या हैं? तार्किक औचित्य प्रदान करने के लिए मनोवैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना नहीं की जा सकती, क्योंकि मनुष्य तभी सत्य है जबकि वस्तु-सीमा अथवा जैव-सीमा में उसकी नियति और कर्म का औचित्य सिद्ध हो सके। देश काल की सीमा में आबद्ध जो खण्ड मानव सत्ता या व्यक्ति सत्ता है उसमें बाहरी या भीतरी तौर पर कितना ही भेद क्यों न हो, किन्तु हमारी व्यावहारिक जीवन-धारा पर मानवीय बोध की विकृति या उपलब्धि स्वाभाविक ढंग से होनी चाहिए। यों तो समाज-परम्परा और विकास की सापेक्षता में मान्य तथ्यब दलते रहते हैं, अनुभव स्तर में भी परिवर्त्तन होता रहता है, तथापि लेखक के दृष्टिकोण वही तक मान्य हैं जो हाड़-माँस के शरीर में भ्रान्तिमूलक धारणाओं की कल्पना न करके अपने कथा-नायकों का मानसिक धरातल उन्हीं तत्त्वों से गढ़ते हैं जो बुद्धि द्वारा विश्वसनीय और ग्राह्य हो।

क्या आज की टेकनीक यही है कि मध्यवर्गीय कुण्ठाओं और नैतिक मूल्यों को अनुचित बढ़ावा देकर व्यक्ति मन की विसंगतियों और विकृतियों की नग्नता का पर्दाफ़ाश किया जाय? क्या जैनेन्द्र के उपन्यासों के कथानक उस बिन्दु से प्रारम्भ नहीं होते जहाँ पति का ध्वस्त आत्मविश्वास उसकी पत्नी का 'अहं' बनकर बिखरता जाता है और क्या इस प्रकार मन के विश्वास को भटकने देकर अज्ञात डोरी में बँधे

उन्हें अवांछित पथ पर बढ़ते जाने का सम्बल नहीं मिलता ? अफ़सोस कि जैनेन्द्र के औपन्यासिक पात्रों में उनके अपने जीवन के सिद्धान्त बोलते हैं और समस्याओं को सुलझाने बैठकर वे स्वयं अगणित प्रश्नों में उलझते जाते हैं। प्रखर चिन्तन के छिन्न अनुषंगों के सहारे उन्होंने अपने पात्रों को निरा यान्त्रिक और एकांगी बना दिया है जो उनके समूचे व्यक्तित्व को एक खण्ड चित्र या भग्न तस्वीर के रूप में उभार कर रह जाता है। मनुष्य के कर्म और अभिज्ञता द्वारा जो सहज ज्ञान उन्मुक्त हो चला है वही मनोवैज्ञानिक सत्यासत्य का परिमापक बनता है और उसी के सहारे हम इस प्रत्यय पर दृढ़ हो पाते हैं कि क्या वस्तुतः सच है और क्या नहीं, अन्यथा हमारे प्रत्यक्ष सन्धान से परे अथवा विचार-विश्लेषण से अगोचर कोई व्याख्या हमारे मन में नहीं धँस आती।

जब पुरुष के मन के मंथन की सहजानुभूति को आँक पाने में असफल रहे हैं जैनेन्द्र, तो नारियों की द्वन्द्वात्मक निगूढ़ मनःस्थितियों के उद्घाटन का दावा ही क्यों करते हैं ? क्या बेहयाई की हद पर भी कोई कुलीन, लज्जाशीला बधू (जैसा कि सुनीता करती है) निरावरण हो किसी पर पुरुष से कह सकती है—

"हरी, मुझे लो, मुझे पाओ। इस एक आवरण को भी हटाए देती हूँ। वही मुझे ढँक रहा है। मुझे चाहते हो न ? मैं इन्कार नहीं करती। यह लो—।"

और 'व्यतीत' की अनिता भी जयन्त की मर्दानगी को खुले-आम चुनौती देती हुई कहती है—

"कहती हूँ मैं यह सामने हूँ। मुझे तुम ले सकते हो। समूची को जिस विधि चाहो ले सकते हो।"

क्या 'जयवर्द्धन' में इला जैसी गंभीर और अल्पभाषिणी, शिष्ट और संयत, साम्राज्ञी एवं महामाननीया के पद पर आरूढ़ शान्त, गरिमामयी भारतीय नारी किसी विदेशी पत्रकार पर्यटक से अपने मन के प्रच्छन्न, गोप्य प्रेम-रहस्यों को इस धड़ल्ले के साथ सुना सकती है—

"फैले हाथ बढ़ते मेरी ओर आते ही गए और प्यार से बिगड़ा मेरा यह नाम 'इली' पछाड़ों पर पछाड़ खाता गूँज-गूँज कर मेरे कानों के पर्दों पर पड़ता मेरे समूचेपन में रमता समा गया····

उन हाथों ने मुझे न छूआ, आँचल के छोर को ही निक उठाया, और उसे अपने होठों और फिर आँखों से लगाया, मेरे सारे गात में काँटे सिहर आए, आँखें बन्द हो गईं, कानों से फुसफुसी, मानो नीरव वाणी में सुनती गई—इली—ी—ी···

ओह, जाने कैसी पुकार थी, काल के किस छोर से वह चली आरही थी। मेरे समूचेपन में से बोल उठा : लो, लो, लो, मुझे लो···तभी एक हल्का-सा परस मेरी उँगलियों को छू गया, सारे गात में एक साथ विजली दौड़ गई और मैं वर्जन करती चिल्लाई : नहीं, नहीं, नहीं···

वर्जन करती ही मैं अपेक्षा में रही कि कोई होगा जो मेरी 'नहीं' नहीं

सुनेगा और मुझे ले ही लेगा। इस अपेक्षा को ही नहीं में दोहराती चली गई, हाथों के बर्जन से लाने वाले को हटाती और बुलाती चली गई······।"

और निर्मम विवेक की कसौटी पर जैनेन्द्र ने नारी के उस अंतर्गूढ़, अतिसूक्ष्म मनस्तत्त्वों को उद्घाटित कर करारी चोट की है जिसे वह स्वयं अपने सम्मुख खोलने तक में सकुचाती है—

"तब से कभी मैंने उन्हें अवश नहीं पाया है । अपनी ओर से चेष्टा की है। धृष्टता की है, निर्लज्जता की है, पर नहीं, कुछ नहीं हुआ है···पूछती हूँ, यह प्रेम है ?"

वह कहती गई, "बीस साल हो गए, शायद अधिक···आँखें मेरी उठी हैं और सामने की आँखों में मैंने चाह चीन्ही है, पर तभी वे आँखें मुँद गई हैं और मुँदी रही है। उँगलियों के पोरों में लालसा लहकी दीखी है कि वे अब बढ़ेंगी, लेकिन नहीं, नाम के जाप में उन्हें अपनी ही ओर फेर लिया गया है ! मैं समक्ष हूँ और सबेरे का तड़क अंधेरा है, कोई पास नहीं और कहते हैं, 'अब भजन,' हर सबेरे, हर शाम, यही कि 'अब भजन'···दिन में, देखती हूँ, समय नहीं मिलता, पर इस समय न मिलने को देखती तो हूँ ही, रात दूर रहते हैं, मै दूर रहती हूँ।"

यों इसी तरह के भाव और वातावरण को बार-बार दोहराया गया है मानो सभी नारियों के हृदय को एक तार से बंधा गया है जो जरा-सी चोट से झनझना उठता है और जिसमें केवल एक ही झंकार होती है। क्यों अनाचार और द्वैधमूलक आत्म-हनन को अनेक पुरावर्त्तनों के साथ नारी का नारकीय उत्पीड़न बताकर नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है ?

जब लाल सुखदा के आलिंगन पाश की जकड़ खोल और उसे सोफे पर ज़बर्दस्ती ढकेल चल देता है तो जैनेन्द्र की परिचित शब्दावली में नारी का अन्तर्मंथन जरा देखिए—

"स्त्री का यह क्या हाल है ? क्या है जो उसको ऐसा अवश कर जाता है कि वह स्वयं नही रह जाती, गलकर पानी बन जाती है ! पुरुष उसे लेने उसकी ओर आता है, तब वह उसे इतना समझती है कि समझ को कुछ बाकी नहीं रहता, कुछ चुनौती नहीं रहती। पर जब वह नहीं आता उसमें, बल्कि या तो उसे लाँघकर या उससे लौटकर जाता वह कहीं किसी अनबूझ में है, वहाँ जहाँ उसे कुछ पकड़ने को मिलता ही नहीं, तब स्त्री को एक साथ क्या हो आता है ? जैसे इस असह्य अपमान की बराबरी करने को उसका सारा मान एक ही साथ आकर पलड़े में झुक पड़ने को आतुर हो जाता हो ! उस अनबूझ की तरफ बढ़ते हुए पुरुष का पीछा करके एक बार तो उसका मुँह अपनी ओर कर देखने की आन पर जैसे वह प्राणपण से तुल आती है ! तब कहीं कुछ उसके लिए नहीं रह जाता। न कहीं वर्जन रहता है, न पाप रहता है, न समाज रहता है, मानो वह होती है और सामने चुनौती। तब अपने में

वह रह नहीं पाती, अपने को अतिक्रमण उसे करना पड़ता है। स्त्री इस चुनौती के जवाब पर देवी बन जाती है, डायन बन जाती है, और स्वयं देखकर विस्मय में रह जाती है कि वह कब स्त्री नहीं रही।"

इस प्रकार सद्गृहस्थ नारी की सुरुचि और उच्च संस्कारिता को घोर कुत्सा और जघन्य शीलच्युति में परिणत कर दर्शाया गया है। दरअसल, आज के काम-मनोविज्ञान ने नारी-पुरुष के यौन-सम्बन्धों को इतना आसान बना दिया है कि न कोई पाप-पुण्य की सीमा है और न किसी बँधी-बँधाई पारिवारिक परिपाटी का लिहाज़। जैनेन्द्र इस मत के हामी हैं। 'व्यतीत' में अनिता के मुख से कहलाया गया है—

"जयन्त क्यों डरते हो ? कौन कितने दिन रहता है। सब एक दूसरे के सुभीते के लिए हैं। क्या अपने में रहना कही है ? यह सच नहीं, असच है। होगा तो वही पाप होगा, दूसरा पाप मैंने बहुत ढूँढ़ा मुझे नहीं मिला।...तुम स्त्री नहीं हो इसलिए न तुम्हें पुरुषत्व का मान है, पर अपने स्त्रीत्व पुरुषत्व को अखंड रखने के लिए हम नहीं सिरजे गए है। हमें एक दूसरे में अपना विलय खोजना होगा। नहीं तो जयन्त सफलता नहीं, परिपूर्णता नहीं है। भगवान् अर्धनारीश्वर है तो क्यों ? इसी लिए कि कोई अपने को बचाने में बन्द न रहे। इसीलिए कि निजता हमारी हठात् टूटे और वह परम्परा का पाठ सीखे...जयन्त स्त्री-देह को तुमने नही जाना है तो यह मैं हूँ। ब्याहता हूँ, पति की भक्ति करती हूँ, फिर भी हूँ। कहती हूँ किनारा लेकर तुम कहीं कहीं कही न जा सकोगे......।"

प्रश्न है—अनैतिकता की यह प्रवृत्ति आज क्यों इस हद तक बढ़ गई है और वह कहाँ तक मान्य या अमान्य हो सकती है। पुरानी वर्जनाओं को मौजूदा आचारिक नियन्त्रणों से हटा देना हमारे सभ्य जीवन की बहुत बड़ी व्याधि है जो अतिशय नग्न ऐन्द्रिकता की प्रवृत्ति को अधिकाधिक पुष्ट कर रही है। यह सच है कि निश्चित फार्मूले से कोई महान् कलाकृति नहीं सिरजी जा सकती, प्रबुद्ध लेखक की मौलिक प्रतिभा पुरानी लकीरों को तोड़कर आगे डग बढ़ाती है, पर इतना ही यह भी सच है कि वाह्यारोपित मतवादों से किन्हीं भी नए जीवन-सत्यों को विकसित नहीं किया जा सकता। चूँकि मनुष्य का विवेकपूर्ण आचरण उसकी जीवन-प्रगति का विधायक है, अतएव उसे पशुधर्मी बनाकर सहज मर्यादाओं को कैसे अतिक्रम किया जा सकता है ?

विवाह तक को जैनेन्द्र ने मिथ्या मर्यादाओं की एक बाहरी नक़ाब माना है जिसके भीतर मनुष्य एकदम नंगा है और जिसकी ओट में उसे और भी खुलकर खेलने का मौका मिलता है। 'जयवर्द्धन' में—

"विवाह यों प्रतिज्ञा है, पर सच कहिए सामयिक सुविधा से वह अधिक है ? प्रेम तो उसमें साथ देता नहीं, प्रेम मुक्त है, विवाह आबद्ध है, अन्त में विवाह बस निर्वाह हो रहता है, ईर्ष्या से बाँधे तभी बँधा रहता है, विवाह टिकाने को ईर्ष्या जरूरी

है, द्वार पर पहरे के लिए ईर्ष्या को बिठाकर ही मानो विवाह की सुरक्षा में रहा जा सकता है···यह सब बेकार है, अड़चन भी है, उपयोग में अड़चन है, और स्वतन्त्रता में और पूर्णता में······"

अतः जैनेन्द्र के लिए विवाह भी एक उलझी हुई बौद्धिक समस्या है। वे इसके मूलवर्ती आधारों में परिवर्त्तन और इसकी सहज मर्यादाओं से संघर्ष करते हैं।

जैनेन्द्र की भाषा नुकीले सूत्रों और सूक्तियों में अधिक मँजी है, पर जहाँ तक शब्द-विन्यास की योजना की गई है उनमें व्यंजक अर्थ की दुरूहता है। उनमें पाण्डित्य के कण ही छितराते हैं, रस की बूँदें बिखरती नहीं। कहीं-कहीं लगता है लेखक का साध्य भाव न होकर भाषा ही है। एक ख़ास परिमाणबद्ध 'पैटर्न' में अदना से अदना छिपी पड़ी रहने वाली उपान्त भावनाएँ वृत्ताकार रूप धारण करती हैं और गहराई में न डूबकर मर्यादावादी दृष्टिकोण से बँधी रहती है जिसके कारण उनमें आन्तरिक व्यवस्था तो है, पर भाव-साहचर्य के बिना असंगत और असम्बद्ध विचार-प्रवाह सी आगे-पीछे, अगल-बगल इतस्ततः कितनी ही धाराओं में विभक्त क्रमहीन और बिखराहट लिए मानव-बुद्धि को चुनौती सी देती है। घटनाओं की शृंखला से अलग छिटककर और यत्रतत्र अनुभूतियों की अँगुली छोड़कर वे मानसिक प्रक्रियाओं के ताने-बाने में उलझी पुलझी सामने आती है, फलतः अनुभूति की मार्मिकता और सहज संवेदनीयता के बदले जैनेन्द्र का ध्वन्यात्मक शब्द-चयन बौद्धिक शुष्कता और नये अभिव्यंजक शब्द-समूह की विलक्षणता में ही सीमित है। 'लज्जित हो पड़कर', 'पलक गिरा लेकर कहा,' 'खोया सा क्या हो पड़ा है,' 'चित्र में सुनीता फँस-सी पड़ी', 'खड़ा ताका किया', 'अप्रसन्न हो आई'—आदि प्रयोग मुझे सदा भौंड़े और बेतुके से लगे हैं। ऐसी भाषा एक सीध में नहीं चलती और व्यर्थ के शब्द ठूँसे जाकर उसमें विचित्रता की सृष्टि की जाती है।

जैसा कि हमने पहले स्वीकार किया है जैनेन्द्र में निरीक्षण की बारीकी है। पर मुझे देखकर ताज्जुब हुआ है कि उनसे भी कई जगह अक्षम्य चूकें हुई हैं। 'सुनीता' उपन्यास के ३२ वें पृष्ठ पर हरिप्रसन्न के आतिथ्य के लिए जब पति-पत्नी अर्थात् सुनीता और श्रीकान्त में पूरी-सब्ज़ी बना लेने का पूरा-पक्का निश्चय हो जाता है तो पता नहीं क्यों दो-चार पृष्ठों के बाद ही जैनेन्द्र यह बात भूल जाते हैं और बिना किसी कारण का उल्लेख किए पूरी-सब्ज़ी फूली रोटी और दाल में बदल जाती है। 'विवर्त्त' में पृष्ठ १४० पर जब मोहिनी की डाक आती है तो उसमें उसे जितेन का का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पत्र मिलता है।"क्षण भर इस पत्र को वह हाथ में लिए रही, फिर उसने उसे जोर से फाड़कर बारीक चीर दिया और रद्दी की टोकरी में फेंक दिया।" लेकिन पृष्ठ १४६ पर इसी पत्र का हवाला देते हुए—"मोहिनी ने वह पत्र निकाला और नरेश को दिया, आज आया दूसरा पत्र भी उसके हाथों में थमा दिया।"

किसी भी पात्र की विशिष्ट भाव-वृत्ति और जीवन-स्थिति के आधार पर उसके विचार और आदर्श स्थिर होने चाहिए, किन्तु जैनेन्द्र ने चिन्तन के घनीभूत क्षणों में पात्रों के परोक्ष कथ्य को अनेक स्थलों पर असंभव और अयथार्थ सा बनाकर रखा है। 'विवर्त्त' की इंगलिश नर्स मैथिल्डे हिन्दी बिल्कुल नहीं समझती, फिर कैसे वह जितेन और भुवनमोहिनी के पारस्परिक कथोपकथन, यहाँ तक कि उनके सांकेतिक शब्दों तक के मर्म में बड़ी आसानी से पैठ जाती है। 'जयवर्द्धन' में मि० हूस्टन के मुख से 'शिव-शिव' और हंगेरियन लिजा के मुख से ये शब्द कहलाये गए हैं—"इला जी सीता के समान हो सकती हैं, लेकिन उन्हें अनुमान है उस परिस्थिति का जो फंदा बनकर किसी समय जय को घोट सकती है ? सतवन्तीपना ठीक, लेकिन क्या वह काफ़ी है ?"

यह बहुत ही आमफ़हम बात है कि ईसाई धर्मावलम्बियों में मूर्त्तिपूजा का घोर निषेध है, पर जरा मि० हूस्टन और लिज़ा का पृष्ठ २५५ पर वार्त्तालाप देखिए—

"पूछा—"मामला क्या है ?"

बोली, "ईर्ष्या, निरी और केवल ईर्ष्या।"

"ईर्ष्या जय से ?"

वह वोली—"मैं तो चाह तक नही सकती हूँ कि ईर्ष्या का कारण होता, पर जय—उनसे अप्राप्य भला क्या है ?"

मै हँसा, बोला, "अप्राप्य क्यों ?',

बोली, "पूछते है आप—आप पूछते है ?"

"अप्राप्य भगवान भी नहीं है" मैने कहा—"भक्ति चाहिए।"

"भक्ति पत्थर की ?"

"भगवान् पत्थर के सिवाय और देखे भी है ? वह पत्थर के ही हो सकते हैं।"

जैनेन्द्र के उपन्यास मुख्यतः एक ही मूल भाव को बार-बार दोहराते और प्रशस्त करते है, हाँ, उनके मानस के कुछ ऐसे अजीबोग़रीब मोड़ है जो राग-विराग अथवा उनकी सहज प्रतीतियों को वाणी देते है। निश्चय ही उनके प्रखर चिन्तन ने मर्म को छूआ है, परन्तु वह हमारे अन्तर को किसी उमंग या भावोद्वेलन से नही भर पाता। कारण, उनकी चेतना प्रयोजन-परिधि को लाँघकर आगे नही बढ़ पाई है। उनके उपन्यासों की प्रमुख विशेषता—राग, अहं और वासना का द्वन्द्व—जो नारी में अदम्य लालसा और उसकी मार्मिक हलचलों का साध्य बनकर प्रकट हुआ है, प्रेमी में समस्त प्रतिबन्धों को तोड़कर नवीन आदर्शों का नीड़ बनाता है, पर वही जो गृहस्वामी या पति में पत्नी की उद्दाम और असन्तुलित कामवासना उसके सात्विक और प्रतिदान शून्य प्रेम में परिणत हो गई है—तो क्या मानव-मूल्यों को—बौद्धिक विडम्बना से

परे—इन संक्रामक तत्त्वों से ऊपर उठकर नहीं देखा जा सकता था ? यों तो औपन्यासिक सृष्टि अनेक जटिल प्रभावों तथा मनस्तत्त्वों का घात-प्रतिघात है, कितने ही 'कम्पलेक्सेज़' और रहस्यात्मक वर्जनाओं की अवतारणा उसमें की जा सकती है, पर उसके निराकरण का प्रयत्न विचित्र, अहेतुक और अपने तर्कों की लाचारी का जवाब नहीं होना चाहिए। मानव मूल्यों के सर्वव्यापक सत्य से आत्मसंस्कार करना अथवा उसे मनःप्राण में उतार लेना ही उपन्यासकार की खूबी है, क्योंकि देशकालातीत इस महत् सत्य के विकासशील पहलू ही उसकी अभिव्यक्ति प्रतिफलित किया करते हैं। कितना अच्छा हो कि जैनेन्द्र अपनी भावी कृतियों में अतिरंजित से हट कर अधिक स्पृहणीय प्रवृत्ति का परिचय दें, साथ ही रुग्ण, प्रतिगामी मान्यताओं का मोह छोड़ अपनी लेखनी को नई समाजोन्मुख मर्यादा की अपराजेय तेजस्विता से अभिषिक्त कर उपन्यास के समस्त संभावित विकास को नया मोड़ दें।

१०

'अज्ञेय' के उपन्यासों में आचरण स्वातन्त्र्य के नैतिक मान

'अज्ञेय' के कृतित्व में नवीनता का उन्मेष और परम्पराविच्छिन्न प्रयोगों की आस्था हमें प्राप्त हुई है, पर मनोविश्लेषण की दृष्टि से चारित्रिक व्यक्तित्वों को जिन नियुक्त खण्डों में विभाजित किया गया है वह रोमानी चौखटे में भले ही 'फिट' बैठें, पर सत्साहित्य की लोकतांत्रिक या व्यावहारिक कसौटी पर खरे नही उतर सकते।

दरअसल, साहित्य को किन्ही निश्चित सीमाओं या शर्तों में नही बाँधा जा सकता, अतः यदाकदा प्रतिक्रियावादी या प्रतिद्वन्द्वी गुट जाने-अनजाने चिन्तन की मूल धारा को नए रुख़ की ओर बरबस मोड़ दिया करते है। सृजन की प्रकृति-चेतना में ऐसा मोड़ क्रांति का सूचक है। परन्तु जो प्रतिमान या अर्थ नयेपन की अदम्य आकांक्षा से सिरजे जाते है उनमें चिन्तामूलक संस्कृति के सारभूत तत्त्व और अंतर्बाह्य के सत्य का शाश्वत स्पन्दन तो होना ही चाहिए। अन्यथा नित्यप्रति के जीवन से दूर चरित्र-चित्रण की उक्त कसौटी मिथ्या और उथली साबित होती है।

'अज्ञेय' के चरित्र-चित्रण और मनोविश्लेषण में एक सुनिश्चित रूप-विधान है जो अभिनव है, किन्तु उनका जीवन-दर्शन जिन विनाशक और विगलनकारी उद्भावनाओं पर आश्रित है वह अनवरुद्ध स्वप्नमय संस्थिति की ओर उत्प्रेरित कर यथार्थ से विमुख और वंचित करने वाला है। प्रायः जटिल वक्र रेखाओं से उनके चरित्र निर्मित हुए है। क्षणिक मनोरंजन की प्रवृत्ति से जो नारी-पुरुष के गर्हित सम्बन्ध स्थापित हो जाते है वे अन्ततः आन्तरिक उत्तेजना और पागलपन के कारण विवेकरहित संकल्पों, भावावेशों, वाह्य हिप्नाटिक प्रभावों और ऐन्द्रजालिक अन्तर्विरोधों से परिचालित एक असंस्कृत, असामयिक मनोवृत्ति में परिणत हो जाते है। गन्दी वासना से उपजे विषैले कीटाणु जीवन-अस्तित्व के सूक्ष्म से सूक्ष्म तन्तुओं मे पैठ मानव के मर्यादित निष्ठापूर्ण आचरण को रुग्ण और जर्जर बना डालते है। अर्थरहित प्रतीक, भग्न छाया-चित्र, उखड़ी पुखड़ी अर्धध्वस्त निष्क्रियता, भावावेश और मूर्च्छना से विषाक्त प्रणयाकांक्षाएँ स्वस्थ समाज को भीतरी निराशा, पीड़ा, अचेतनता और पलायन की मदिरा बनाकर पिलाते रहते हैं जिससे उसके मज़बूत अस्थिर क़दम लड़खड़ा जाते हैं।

'अज्ञेय' के औपन्यासिक पात्र मानवीय आशा और आकांक्षाओं के प्रतीक न होकर

असंगत चेतना की परतों और गतियों पर आश्रित हैं। किसी भी कृतिकार के अनुभूत को जीवन के रागात्मक मूल्यों अथवा उपलब्ध सत्य से संश्लिष्ट कर विकृति या उन्माद का हेतु बनाना उसका गर्हित उपयोग तो है ही, उसकी एकांत अहंगत चेतना द्वारा मानवत्व के मूल तत्त्वों को छिन्न करके उसे संकीर्ण दायरे में बन्दी भी बनाना है।

क्या साहित्य और कला बौद्धिक अतिचार और अनैतिकता के वातावरण में रूप के हाट की उच्छृखल नायिका सी कुछ प्रयोग-प्रेमियों की क्रीड़ाकामिनी बनकर जीवित रह सकती है? क्या रोमांस की ये रंगीन तस्वीरें विह्वलता से काँपते वाष्पीय फेन नहीं हैं जिन पर धूम्रमिश्रित धुध की मुर्दनी छायी है, अतः तर्क द्वारा निजी अनुभूतियों के बीच के व्यवधान को भरने का बोध लेखक में सही, पर दुरूहता के पेंच बोझिल और अप्रयोग्य बनकर उदात्त भावों का गला घोंटते हैं। उदाहरणार्थ—शेखर को लें—उसके चरित्र द्वारा वह तो व्यक्त होता है जो लेखक का आकांक्षित है, पर साथ ही जो अगम्य और अमानुषिक भी है।

इसमें किंचित् भी सन्देह नही कि 'शेखर--एक जीवनी' का नायक शेखर एक अत्यन्त सबल पात्र है जिसमें आकर्षण और विकर्षण दोनों है और जो आत्मरत निविड़ भावनाओं के धुध में भाव की दृष्टि और टेकनीक की दृष्टि से भी लेखक द्वारा अत्य-धिक संधे और सँवरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इसके विपरीत उसके जीवन में प्रारम्भ से ही अन्तर्मुखता की ओर ले जाने वाली एक अद्भुत असंगत तटस्थता है जिसने उसकी चेतना को विकसित ही नही किया अपितु वैविध्य के प्रति संघर्षात्मक प्रसरणशील अनुरक्ति के कारण प्रखर और दुराग्रही भी बना दिया है। बाल्यावस्था से ही उसमें विद्रोह का अनवरत उद्वेग और कसमसाता, मचलता, आकुल उफान है जो परिस्थितियों के अनिर्णीत तर्क-वितर्क, घटना-विघटना और अनेक प्रकार के प्रश्न, दुविधाओ व दुश्चिन्ताओं के मध्य भीतर ही भीतर उमड़ता-घुमड़ता रहता है।

शेखर का स्वभाव औरों की भाँति साधारण नही है। इसके विपरीत उसमें एक गहरा आत्मविश्वास और बोध है जो भीतर की प्राणवत्ता के साथ तदाकार हुआ सा लगता है। जीवन के अगणित सूत्र उलझ-उलझ कर उसके सामने आते हैं और भीतर और बाहर के संयोजन में अन्तरंग अभिन्नता खोजता हुआ अपनी अपूर्तियों, कुण्ठाओं, अभावों और उलझनों के प्रति वह अत्यन्त क्षुब्ध है। व्यक्ति के लिए, समाज के लिए, बल्कि कहना चाहिए कि समूची मानवता के लिए उसमें एक अनासक्त निर्ममता, विलगाव का भाव वरन् कहें कि घोर बौद्धिक प्रतिक्रिया है जिससे वह नित-नई परिस्थितियों के साथ सामंजस्य नहीं कर पाता है। शेखर स्वयं स्वीकार करता है—"मेरे भीतर जन्मतः ही कोई शक्ति थी—या शक्ति का अंकुर था, जो मुझे अव-रुद्ध गति से इधर ही प्रेरित कर रहा था।' आगे वह कहता है 'मुझे विश्वास है कि विद्रोही बनते नहीं, उत्पन्न होते हैं। विद्रोह बुद्धि, परिस्थितियों से संघर्ष की सामर्थ्य, जीवन की क्रियाओं से, परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से नहीं निर्मित होती। वह आत्मा का कृत्रिम परिवेष्टन नहीं है, उसका अभिन्नतम अंग है।'

तो शेखर जन्मतः विद्रोही है, प्रतिक्रियावादी। माता-पिता, भाई-बहिन, मित्र-सखा—सभी के प्रति उसमें अविश्वास है, दूरी है, तटस्थता है। एक दिन जब वह बहुत छोटा था, आहत अभिमान लिये घर से निकल पड़ता है। परन्तु जब झुँझलाहट कम होती है और विचारशीलता जगती है तब वह पुनः घर लौट आता है। लेकिन आत्मव्यामोह-जनित भावनाएँ, जो दुर्निवार अंत.शक्ति से उस पर हावी हो जाती है, उससे वह कभी मुक्त नही हो पाता।

एक और घटना। कुछ दिन बाद वह अपने पिता के साथ सारनाथ जाता है। चुपचाप बिना किसी से कहे-सुने वह अजायबघर देखने चल पड़ता है। उस समय उसके बन्द होने का समय था, पर शेखर को वहाँ का एकान्त शान्त वातावरण, वहाँ की अनभ्यस्त नीरवता अभिभूत कर लेती है। वह एक नग्न नारी-प्रतिमा के सौंदर्य में डूबा हुआ वैसे ही बैठा रह जाता है और बाहर का द्वार बन्द हो जाता है। आनन्दमयी, विह्वल आत्मविस्मृत स्वीकृति में वह निश्चिन्त है, सारी हलचलों और कोलाहल से परे, पर सहसा उसके नाम की पुकार और पिता की उपस्थिति उसे यथार्थ में घसीट ले आती है।

इस प्रकार शेखर आत्मसम्मोहन की स्थिति में अछूते, आदर्शवादी, असंभव स्वप्नों में सदा रमता रहा है। उसकी उक्त अवस्था जब गहरी मानसिकता में स्थिर हो जाती है तो आगे चलकर अधिकाधिक आत्मरति की प्रवृत्ति उसमें घर कर जाती है। पग पग पर वह अपनी परिस्थितियों से असहनशील हो उठता है और आत्मरत व्यक्ति की भाँति पलायन ढूँढ़ता रहता है, यहाँ तक कि आसानी से सुलझने वाली समस्याओं को भी वह अपने अनुकूल नही बना पाता, बल्कि उसकी प्रत्येक आकांक्षा की पृष्ठभूमि में स्वसत्ता की भावना ही तीव्रतम होकर पीड़ा पहुँचाती है।

ऐसे व्यक्ति का अज्ञात मन ही उसकी समूची वाह्य एवं आन्तरिक क्रियाओं का प्रवर्त्तक होता है। वह अन्तर्संघर्ष, भीतरी प्रक्रियाओं, प्रच्छन्न गोपन रहस्यों और परोक्ष-अपरोक्ष इच्छा-आकांक्षाओं को पारिचालित करता है, साथ ही उसके अन्तर्मन का यह संघर्ष इतना तीखा हो जाता है कि बाहर तो उसका प्रस्फुटन नही होता, किन्तु भीतर ही भीतर मनोलोक में उसकी ये अव्यक्त इच्छाएँ छद्म रूप में भीषण द्वन्द्व मचाया करती है। ऐसी स्थिति में नैसर्गिक प्रवृत्तियों से पृथक् 'आत्म-स्थापन' (self assertion) ही उसकी मूल प्रवृत्ति बन जाती है। उसके आंतरिक मन की कल्पना, अनुभव और निरीक्षण उसके वाह्य मन या कहें कि ज्ञात मन के बोध से भिन्न होती है। सामान्य तर्क नही बल्कि उसका अन्तर्ज्ञान और संवेग ही उसके अविच्छिन्न और निरवयव चेतना-स्तरों को नियन्त्रित करते हैं, फलतः उसके नियम-क्रम या मनोव्यापार एक नये सिद्धांत या दर्शन का प्रतिपादन करते हैं जिसके कारण उसका स्वभाव, गुण और रुचियाँ दूसरे ढंग की ही बन जाती हैं।

ऐसे व्यक्ति का वैयक्तिक चेतन मन अधिक विकसित नहीं होता, बल्कि उसके

ज्ञानबोध से दूर अज्ञात भाव-लहरियाँ अवचेतन मन में हिलकोरे लेती रहती हैं। कभी-कभी तीव्र कशाघात में ऐसे संवेग अस्थिर, कार्य-कारण रहित तथा अनियन्त्रित हो जाते हैं जिससे विसंगति या वैषम्य उत्पन्न होता है। प्रकृत इच्छाओं के निरन्तर दमन से वे उसके अज्ञात मन की कुंठाएँ बन जाती हैं और उसमें ज़बर्दस्त अहंकार या हीनत्व की भावना घर कर जाती है। वह संकोची और आत्मभीरु तो होता ही है, साथ ही सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय प्रवृत्तियों को प्रश्रय देने से अथवा प्रकृत वासनाओं के अवरोध से उसमें कामजनित लक्षण या विशेषताएँ भी अनुपात में अधिक उभरती हैं। बाहरी तौर पर उसके व्यक्तित्व का संतुलन भंग न हो वह अपने साथ हमेशा ज़ोर-ज़बर्दस्ती और खींचतान सा करता है। चूँकि उसके ज्ञात और अज्ञात मन में सामंजस्य या तद्रूपता स्थापित नहीं हो पाती, इसलिए यदाकदा ऐसे व्यक्ति असाधारण आचरण भी कर बैठते हैं। ऐसे आचरण के लिए, वास्तव में, उनका अज्ञात मन ही उत्तरदायी होता है।

शेखर के अपने अस्तित्व की इच्छा अदमनीय होने के कारण कोई भी अनिवार्य वाह्य परिस्थिति अथवा उस परिस्थिति से अंगांगि रूप से जुड़ी घटनाओं से वह किसी भी समय सच्चा सुख, निर्द्वन्द्व विश्राम अथवा आंतरिक सन्तोष नहीं पा सका है। उस की आत्मरत प्रवृत्ति जब बहुत बढ़कर उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाती है तो अपने आप पर और चतुर्दिक् परिस्थितियों पर काबू पाना भी उसकी शक्ति से परे हो जाता है।

आत्मरत व्यक्ति स्व-संभोगी नही होता, अपितु भिन्नलिंगी अथवा सहभोगी में उसके चित्त की अवस्थिति हो जाती है। उसकी दुर्बल प्रवृत्तियाँ सिद्धात की भित्ति की आड़ में प्रच्छन्न रूप से कार्य करती रहती हैं। उसे अपनी स्वसत्ता पर मिथ्या अहंकार है, तो यह निश्चित है कि इच्छाओं के ऊहापोह अथवा आलोड़न को वह भीतर ही आत्मसात् कर लेता है, अपने तईं सीमित रहता है, खुलता नही, बिखरता नही। वह प्रायः अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने वाली वस्तुओं का चिन्तन करता है। तब उनके अति निकट आने अथवा उन्हें प्राप्त करने की कामना उत्पन्न होती है, परन्तु उनकी प्राप्ति में बाधा उपस्थित करने वाली घटनाएँ उसके मानस को विक्षिप्त बना देती हैं। फलतः वह अनपेक्षित वैचित्र्य, अवांछनीय क्षुब्धता एवं असामाजिक भावनाओं को प्रश्रय देता है। चूँकि 'अज्ञेय' फ्रायडीय मनोविज्ञान से प्रभावित हैं, अतएव उन्होंने अवचेतन मन और अन्तर्प्रदेश में विचरने वाली छायामयी प्रवृत्तियों, अन्तर्द्वन्द्व और भीतरी संघर्षों से उत्पन्न अनेक अस्पष्ट चिन्तनाओं को आकार देने का प्रयत्न किया है। उसमें लेखक की निजी कुंठाएँ निहित हैं, इस कारण वह अधिक मार्मिक बन पड़ा है।

शेखर का शिशु-मानस भी यौन तथा अन्य मनोविकृतियों से ग्रस्त है। स्वप्न-मीमांसा से प्रेरित अज्ञात अन्तर्ज्ञान में यह प्रक्रिया स्वयंचालित है—इतनी अबूझ, पर इन्द्रियसंवेद्य कि उसके अचेतन पर अनिवार्यतः छायी रहती है। क्रमशः उसके अन्त-

द्वन्द्व की विकृत परिणति रूपवाद अथवा यौन-वर्जना की असम्बद्ध विशृंखल काव्यात्मक अभिव्यक्ति में बिखर जाती है जिसे तर्क का जामा पहनाकर प्रतीक-व्यंजना के सहारे उभारा गया है। लेखक कहता है-- "ऐसी-ऐसी स्मृतियाँ या अर्द्ध-स्मृतियाँ तो अनेक हैं, किन्तु यह एक विचित्र बात है कि उसके जीवन की जो सबसे पहली दो-एक घटनाएँ उसे ठीक तौर पर अपनी अनुभूति सी याद हैं, वे उन तीनों महती प्रेरणाओं का चित्रण करती है जो प्रत्येक मानव-जीवन का अनुशासन करती है··

अहन्ता, भय और सेक्स··

"क्यों ? इन तीन शक्तियों में उनका विद्यमान होना यह जताता है कि वे कितनी महत्त्वपूर्ण हैं, कि मानव उन्हें अपनी मानवता के साथ ही पाता है, बाद की परिस्थिति या व्यवहार से नहीं।"

शेखर की उक्त प्रेरणा का स्रोत फ्रायड से निस्सृत है। इन्हीं यौन-वर्जनाओं और अतृप्त काम-वासनाओं के फलस्वरूप उसे छुटपन से ही अज्ञात प्रेम की तरलता आ घेरती है। उन्माद, विवशता, अनियंत्रित आवेश और अनिरुद्ध पागलपन की कितनी ही प्रतिक्रियाएँ उसके दिल-दिमाग पर सदैव छायी रहती है कि शेखर को प्रतीत होता है मानों उसके भीतर उसके सिद्धांतों और मान्यताओं के विरुद्ध भीषण संघर्ष छिड़ा है। परिचेतना की असंख्य लहरियों को मथकर अगणित अनुभूतियाँ उभड़तीं हैं--विशृंखल और अस्तव्यस्त--फिर किशोरावस्था से ही अनेक समवयस्क लड़कियों का आकर्षण उसे डाँवाडोल करता रहता है। शारदा, शशि, शान्ति, मणिका सभी उसे खीचती है, पर शशि को छोड़कर कोई भी उसके संकोचशील, विचित्र स्वभाव के कारण उसकी रुचियों और भावनाओं से सामंजस्य नही कर पाती। शशि का स्वभाव भी बहुत कुछ वैसा सा ही है। शेखर विचित्र 'अहं' से आक्रान्त है तो शशि अपने संकुचित सस्कारों से त्रस्त है। शेखर के प्रति उसका अज्ञात अनुराग भीतर ही भीतर पुष्ट होता रहता है। उसका उद्भ्रान्त मस्तिष्क इस दारुण व्यथा और प्रबल आकर्षण को भुलाने के लिए कोई आधार चाहता है--ऐसा आधार जिस में वह स्वयं को डुबा दे--अपने आपको विस्मृत कर दे। अतः शेखर जब जेल में है तब विवाह की विवशता को भी वह चुपचाप स्वीकार कर लेती है। पति से उसे प्रेम नहीं। सन्देह में पति जब उसे लात मारकर घर से निकाल देता है तब शेखर के आश्रय में उसका सख्य भाव अन्तरंग अभिन्नता में और शनैः-शनैः प्रेम की तन्मयता में परिणत हो जाता है। शशि रुग्ण है, पर दोनों का परस्पर आकर्षण एक लोकातीत, स्वप्नमय, अशरीरी, स्नेहश्लथ स्तब्धता में क्रमशः प्यार की कृतज्ञता जगाता है। दोनों की क्लान्ति और सम्पूर्ण विशृंखलता के मूल में अतृप्त ऐन्द्रिक वासना है, किन्तु रोग की लाचारी के कारण एक वत्सल कोमलता उन्हें संयत रखती है। शारीरिक सायुज्य का तो अवसर नहीं मिलता, पर प्रणय की निर्वाक् गरिमा में स्नायविक प्रकम्पन और भीषण संघात है। आवेग उमड़ता है तो बौद्धिक उत्तेजना अथवा मनोवैज्ञानिक जटिलताओं में उलझकर उसके वेग एव तीव्रता को कम कर देता है। फिर भी

बीमारी की अवश, गर्हणीय स्थिति के बावजूद शेखर अपनी वासना और प्रेम-चेष्टाओं की परिपूर्ति का मौका नही चूकता। एक उदाहरण—"फिर एक बाढ़ उसके भीतर उमड़ आती है, और वह उन उठे हुए अर्धमुकुलित ओठों की ओर झुकता है—झुकते-झुकते उसकी आप्लवनकारी आतुरता ही उसे संयत कर देती है। एक वत्सल कोमलता उसमें जागती है कि बेले के अधखिले सम्पुट को स्निग्धतम स्पर्श से ही छूना चाहिए, और ओठों के निकट पहुँचते-पहुँचते वह ग्रीवा कुछ मोड़कर, अपना कर्णफूल शशि के ओठों से छुआ देता है। ओठ तप्त है—ज्वर से; उन रोमिल स्पर्श से एक सिहरन भी उसके माथे में दौड़ जाती है, तब चेतना की एक नई लहर से बाधित वह फिर झुकता है और शशि के स्निग्ध, स्तब्ध किन्तु बेझिझक ओठ चूम लेता है—निर्द्वन्द्व, वरद, दीर्घ चुम्बन······।"

यों शेखर-शशि के वाह्याचरण और आंतरिक विलोड़न में विसंगति दर्शाने के लिए उपन्यासकार ने स्वप्न-पद्धति का सहारा लिया है और उसके माध्यम से अत्यन्त तीव्रता और गहराई से उनके मन के मिस अपने मन के प्रच्छन्न स्तरों को खोलने का प्रयास किया है। वह स्वय स्वीकार करता है—"मै शेखर की कहानी लिख रहा हूँ, क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने है, किन्तु एक सीमा ऐसी आती है जिससे आगे मै अपनी और शेखर की दूरी बनाए नही रख सकता—उस दिन का भोगने वाला और आज का वृत्ताकार दोनों एक हो जाते है, क्योंकि अन्ततः उसके जीवन का अर्थ मेरे ही जीवन का तो अर्थ है।"

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य निजी आकांक्षाओं को खंडित होते देखता है तो वह मानसिक विभ्रम की स्थिति में उन आकांक्षाओं की बलपूर्वक परिपूर्ति खोजता है। आज के सामाजिक गठन में व्यक्ति का स्वातन्त्र्य एक बहुत बडी समस्या बन गया है, इसी कारण शेखर की मनोग्रंथियाँ और अनुभूतियाँ केवल विकृति के रूप में ही व्यक्त होकर उभरी है। उसकी बुद्धि और विवेक का द्वन्द्व समस्त पूर्वाग्रहों एवं परम्पराओं का पर्यवसान कर अन्तहीन ऊहापोहों और अन्तर्भूत स्थापनाओं में खोया रहता है। संत्रस्त मनःस्थिति में वह न तो नये उभरते जीवन-सत्यों को पकड़ सका है और न सामाजिक वाह्यारोपणों के प्रति खुलकर विद्रोह ही कर पाता है।

जहाँ तक उपन्यास के कथानक का प्रश्न है वह उपन्यासकार की आंतरिक मानसिक अस्वस्थता के कारण घुटकर रह गया है। कहा जा सकता है कि उसने जीवन के कतिपय विरोधी पक्षों को सजग दृष्टिकोण और गहरी सवेदनशीलता से उभारा है, किन्तु पात्र और घटनाएँ लेखक की बेधक दृष्टि से इस प्रकार बिधे है कि उनकी किसी प्रकार निष्कृति नही है। समूची कृति में ऐसे अनेक भावस्थल है जो शिल्पगत दुर्बोधता के कारण पूर्णरूपेण विकसित नहीं हो पाए।

शेखर मध्यवर्गीय समाज के एक विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है

और उसी के अनुसार आचरण भी करता है। पर प्रश्न है कि क्या मध्यवर्ग में इस तरह के व्यक्ति होते हैं ? शेखर के व्यक्तित्व की द्वान्द्विक गति का विश्लेषण करने पर वह एक असाधारण 'टाइप' प्रतीत होता है जो परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से नये-नये सत्यज्ञान की प्राप्ति करता है तथा जिसमें नई-नई व्यवस्थाओं से नई-नई विचारधारा और आपेक्षिक दृष्टिकोणों की उत्पत्ति होती है। अनेक स्थलों पर शेखर का अन्तर्निहित द्वन्द्व क्रान्ति के रूप में उठ खडा हुआ है, पर उसके इस मनोद्वन्द्व और आभ्यन्तरिक आलोड़न मे जो तिलमिला देने वाली भीतरी कचोट है उसे लेखक ने दृढ़ एवं सुनिश्चित संकल्पशीलता से व्यंजित किया है। व्यक्ति-चरित्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म पहलुओं को इस तलस्पर्शिनी दृष्टि से आँका गया है कि अनेक स्वीकृत या वर्जित स्थापनाओं का मार्मिक उद्घाटन हुआ है।

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक कृत्रिम कल्पना के सहारे शेखर के चरित्र को अवश घुमाता गया है और परिस्थितियों की जटिल गुत्थियाँ उसके अन्तर्विकारों के शब्दांकन को यत्र-तत्र जकड़-सी लेती हैं।

इस कसौटी पर कोई भी जीवन्त सृजन बौद्धिक विशृंखलता अथवा बहिष्कारवादी आस्था को एक सत्य की भाँति अपनाकर दूर तक नही चल सकता। हठवादिता की चौहद्दी में लेखक की दृष्टि भले ही अन्वेषी हो, पर उसमें सहजता नही आ पाती, न जीवन हर स्तर पर और हर रूप में उसके कृतित्व में स्वीकृति ही पा सकता है। कारण—एक समग्र सत्य के संश्लिष्ट जीवनानुभव व्यक्तिगत लाभहानि से ऊपर है। औपन्यासिक कला का शिल्प निरा वैयक्तिक सत्य नहीं है। जीवन की समग्रता में न पैठ केवल मनचीता लिखना, आंतरिक उलझाव और कशमकश द्वारा अपरिहार्य रूप में व्यंजना की दुरूहता पैदा करना, क्रिया-प्रतिक्रिया के परस्पर-विरोधी, असम्पृक्त छोरों से टकराते रहना तथा वासनात्मक प्रतीक चित्रों एवं अहंपूर्ति की कल्पनामूलक लालसाओं तक ही सिमट कर रह जाना क्या निरी एकांगिता अथवा संस्कारहीनता नही है ?

उक्त उपन्यास में उठाए गए प्रश्न और उनका समाधान आँकना कठिन है। अतएव इसका धरातल दूसरा है। एक मौलिक अन्तर यह भी है कि घटनाओं और सयोजन की अपेक्षा विघटन और विलगाव अधिक है। सब कुछ मानो भेद-बुद्धि द्वारा तर्क पर तौल कर मानव की सहृदयता को चुनौती दी गई है। शेखर का जीवन अतिरेको के बीच झूल रहा है। प्रतिकूल घटनाएँ उसके जीवन के लक्ष्य को आगे या पीछे ढकेलती भर हे, वे किसी निर्दिष्ट दिशा में गत्यवरोध उत्पन्न करती हे, अतएव चरित्र विकास की दृष्टि से भी हम इसे असफल कृति ही कहेंगे, हाँ—मनोव्यथा के आँवे में तपी भावनाओं, उत्कट अनुभूतियों एवं विकल्पों का इसमें सुन्दर परिपाक हुआ है।

'नदी के द्वीप' में व्यक्तिवाद के चरम उभार ने लेखक की पहली आस्था

और बौद्धिक चेतना को अपेक्षाकृत नये धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। शेखर में तर्कगृहीत सूत्रों की असंगत स्थापना है तो इस उपन्यास में चेतन मन के ऊपरी तल से उतरकर अवचेतन के विरोधाभासपूर्ण, अर्द्धस्फुट विचार-प्रवाह में उसके अनुभूत की आंतरिकता ही अधिक व्याप्त हुई दीख पड़ती है। सामाजिक आचार की सीमाएँ प्राणियों के मनोव्यापारों को कहाँ तक छूती हैं, मन क्या है और वह किस प्रकार क्रियाशील होता है, स्नायविक विकारों से हृदय एवं मस्तिष्क के सामान्य सूक्ष्म स्पन्दनों में कैसे तीव्रता आ जाती है—यही ऊहापोह और द्वंद्व उपन्यासकार के कथन और कथ्य की नवीनता के आकर्षण का हेतु बन गया है।

पहले उपन्यास की भाँति इसमें भी आत्मविश्लेषण पद्धति पर प्रज्ञासूत्रों में परम्परागत प्रेम-ग्रंथियों को खोला गया है। प्रायः वे ही ह्रासशील फ्रायडीय वेदना, कुंठा, विषाद, उद्वेलन और विकृतियाँ इसमें मौजूद हैं जिनके फलस्वरूप भोगेच्छा की अतृप्त लालसा से सिहरती प्रणयाकांक्षाओं के जज़बात दिलोदिमाग़ पर छा जाते हैं और रक्तवाहिनी रगों में खोलते खून की ग़रदिश बढ़ा देते हैं।

अतएव, 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' की कहानी का इति-अथ भी ज़िन्दगी की मस्त रवानियों से गुज़रता प्यार और मुहब्बत के ख़यालेख़ाम में कुलाचे भरता है। भुवन और रेखा का औपचारिक शिष्टाचार शनैः-शनैः प्रेम की लाचारी बनकर उनकी क्लान्त शक्तियों को उद्दीपित करता हुआ कालान्तर में संयोग-वियोग की न जाने कितनी सुख-दुःख भरी वैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। आकर्षण की प्रारम्भिक प्रक्रिया, मन का मन से उलझाव, एक दूसरे में समाहित होने की बलवती आकांक्षा, अपने-पराये का अभेद अर्थात् तन-मन की वह संभोग्य स्थिति जो शरीर-भेद से परे ऐक्य का एहसास कराती है, बेताब जवानी की मस्ती और अगणित अनासक्त मनुहारों और प्रतीक्षातुर रजत-फेनों की भोगभूख का कसमसाता ऊफान, जिसमें परस्पर सम्मोहन का अन्धापन उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है—यों उनकी मदभरी छाती की धड़कनों के भीतर से उनकी प्रेम की मजबूरियों और हसरतों के स्पन्दन फूट पड़ रहे हैं।

कहना न होगा कि निर्बाध प्रेम और मुक्त भोग की स्फुरित चेतना ही वे दमित कुंठाएँ हैं जो कल्पना के छद्म जगत में तृप्ति लाभ कराती हैं। फलतः इसमें लेखक ने विधि-निषेध तक को अपने ढंग से आँक कर नया आकार-प्रकार दिया है, परिस्थितियों से मोर्चा लेते हुए अभिनव जीवन-कला को उजागर किया है, अन्यथा इन अन्तश्चेतनावादियों के मत से साहित्य को नई गतिविधि कैसे मिले, एक अजीब संस्कृति कैसे पैदा हो और नये आवर्त्तनों-प्रत्यावर्त्तनों अथवा नये मन्तव्यों एवं विचारों को ठेलकर क्योंकर आगे बढ़ाया जाय।

उक्त उपन्यास के कथानक की टेकनीक, शिल्प, सौन्दर्य, संवेदना, वर्णन की चुस्ती और भाषा के निखार का जहाँ तक प्रश्न है हम लेखक की सशक्त कल्पना के

क़ायल हैं, मानो किसी कल्पनाप्रवण रेखांकनकार द्वारा बरवस काँपते रंगों को सजीव आकार मिला हो और तरंगित भाव-शबनम की बूँदें इन आकारों में जैसे स्वयमेव ढल गई हों। अनेक स्थलों पर कहानी अन्तर को छूकर तिलमिला देती हैं, कारण—लेखक ने इसे केवल अपनी कल्पना से नहीं गढ़ा बल्कि वह उसके अपने जीवन की अनुभूत कहानी है। अतः परिप्रेक्षण की नवीनता के साथ-साथ उक्त कहानी में उस भाव-बोध का भी तर्कसंगत योग है जो उसके जीवन-तथ्यों से लिपटा-चिपटा स्थान-स्थान पर उभर-उभर कर झलक दिखाता है।

लगता है, कहानी में निहित सत्य को लेखक ने अपने अन्तर में काफ़ी अर्से तक पकाया है। वह उसकी महज़ कल्पना द्वारा सम्भव न था, अपितु अपने विश्वासों और मतवादों की गहरी छाप उस पर पड़ी। लेखक ज़िन्दगी का एक निरपेक्ष द्रष्टा मात्र नहीं, भुक्तभोगी है, यही कारण है संयोग-वियोग, प्रेम-विवाह, कितनी ही खूबियों-ख़ामियों और नाज़-अन्दाज़ के उथल-पुथल भरे संघर्ष के स्वर और प्रश्नोत्तर भी कहानी में सशक्त हो उठे हैं। अपने पात्रों के दिलोदिमाग़ की तहों में उतर कर उनके विचार-वितर्कों, क्रिया-कलापों का ऐसा मार्मिक चित्रण किया गया है कि लेखक ने उनकी हर साँसों और धड़कनों को मानो महसूस किया है, बल्कि उसका स्वयं का व्यक्तित्व उनसे कितना दूर और अलग है—इसमें सन्देह होने लगता है।

ऐसी स्थिति में लेखक की एक जीवन-दृष्टि है और उसके सामाजिक चिंतन की अपनी सीमाएँ हैं। उसने जो दर्शन व्यक्त किया है वह भाव-जगत् के संघात को नये सन्दर्भों के साथ विकसित करता है। व्यक्ति का मन कैसी विचित्र समस्या है जो केन्द्र से छिटक कर कभी-कभी किसी परिधि में भटक जाया करता है। परिधि छोटी होती है, विस्तीर्ण होती है, उसकी विस्तीर्णता की सीमा नही है और वह सीमा भी यदा कदा अनन्त और अमाप्य बन जाती है। परिधि को केन्द्र मानने पर असंख्य परिधियाँ उत्पन्न होती हे और अपने गोरखधन्धे में जीवन को उलझाकर सहसा निरुपाय बना देती हैं। जीवन की विडम्बना पर आधारित ऐसी 'फंटेसी' में न जाने कितने चित्र उभरा करते हैं। पहला चित्र—

"रेखा नहीं बोली।"

"भुवन ने फिर पूछा, "रेखा, क्या बात है ?"

"तुम–हो, तुम सचमुच हो। यू आर रीअल।" रेखा का स्वर इतना धीमा था कि ठीक सुन भी नही पड़ता था।

भुवन ने कहा—आइ एम वैरी रीअल, रेखा। पर ठहरो पहले तुम्हें कम्बल उढ़ा दूँ।

एक हाथ में रेखा के दोनों हाथ पकड़े वह उठा, दूसरे हाथ से उसने कम्बल खींच कर रेखा की पीठ भी ढक दी। स्वयं पैर समेट कर बैठा हो गया, कुछ रेखा की ओर को उन्मुख।

रेखा सहसा हाथ छुड़ाकर उससे लिपट गयी। आँखें उसने बन्द कर लीं, भुवन के माथे पर अपना माथा टेक दिया। उसके ओठ न जाने क्या कह रहे थे, आवाज़ उनसे नहीं निकल रही थी।

भुवन कहता गया, "क्या बात है, रेखा, रेखा, रेखा क्या बात है—" उसका स्वर क्रमशः धीमा और आविष्ट होता जा रहा था।

रेखा के ओठ उसके कान के कुछ और निकट सरक आये। पर स्वर उनमें से अब भी नहीं निकला।

पर सहसा भुवन जान गया कि वे शब्दहीन-स्वरहीन ओठ क्या कह रहे हैं।

"मैं तुम्हारी हूँ, भुवन, मुझे लो।"

एक दूसरा चित्र—

'रेखा बीच-बीच में उसकी ओर देख लेती थी। जानती थी कि वह कुछ सोच रहा है। पर उसने पूछा नही। सहसा भुवन के विषय में एक नये संकोच ने, एक व्रीड़ा ने उसे जकड़ लिया था। क्षण-भर के लिए उसका मन नौकुछिया की उस घटना की ओर गया जब भुवन उसकी गोद मे रोया था—कैसे वह कह सकी थी जो भी उसने कहा था ? वह पछताती नही है, उसने जो कहा था उन्मुक्त भाव से कहा था, पर···लाज से सिहर कर वह सिमट गयी, पल्ला खीच कर उसने मानों अपने को और लपेट लिया।

भुवन ने पूछा, "ठंड लगती है ?"

"नही, नहीं।" उसकी वाणी के अतिरिक्त आवेश को लक्ष्य कर भुवन ने उसकी ओर देखा, दोनों की आँखें मिली। भुवन की आँखों में स्नेहपूर्ण कौतुक था, रेखा की आँखों में एक अन्तर्मुख लज्जा, पर सहसा उसका मन हुआ, वहीं बाँह फैला कर भुवन को खींच ले, इस पुरुष को, इस शिशु को, इस–'शुभाशंसा चूमती है भाल तेरा···।"

यों जीवन के कितने ही खण्ड है, कितने ही चित्र हैं जिनसे परिस्थितियाँ नित्य टक्कर लेती हैं। इन खण्डों में ही तो जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र उभरा करते हैं और अनगिन झलकें दिखा कर तिरोहित हो जाते है, किन्तु दिगन्तस्पर्श चित्रशाला में इन बनते-मिटते रूपाकारों का क्या अर्थ होता है भला ? अविश्रान्त जीवन-प्रवाह के कतिपय चंचल क्षण जो एक-एक भँवर के समान हैं और कहाँ, किधर, किस, कितनी दूर तक ठेल ले जाया करते हैं ? व्यास की परिधि को माप लेने वाले क्या है वे भला ? किस बिन्दु का चरम उत्कर्ष जिसमें अतीत भी जुड़ा हो, वर्त्तमान और भविष्य भी ? एक स्थल पर रेखा कहती है—"मैं तो समझती हूँ, हम अधिक से अधिक इस प्रवाह में छोटे-छोटे द्वीप हैं, उस प्रवाह से घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी, भूमि से बँधे और स्थिर भी, पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी—न जाने कब प्रवाह की एक स्वैरिणी लहर आकर मिटा दे, बहा ले जाय।" एक अन्य स्थल पर रेखा कहती है "प्रत्येक क्षण एक द्वीप है, ख़ासकर व्यक्ति और व्यक्ति के सम्पर्क का, कांटेक्ट का प्रत्येक क्षण और

परिचय के महासागर में एक छोटा किन्तु कितना मूल्यवान द्वीप।"

और तर्क अपना काम करता है। ये द्वीप ही बावली, अवश आकांक्षा बनकर मस्तिष्क में उन्माद और भीषण हलचल जगाते है। एक अबूझ उपद्रव मनःप्राणों में समाकर दिग्भ्रांत बनाता है और मन:संकल्प घटना-वैचित्र्य के इन्द्रजाल में रह-रह कर एक स्वप्न उभारते है जो टूट-फूट जाता है। इस प्रकार जीवन का निर्णय हाथों से फिसलता चलता है।

उक्त भ्रमित मानसिक सम्मोहन की स्थिति में अनिर्दिष्ट पथ की ओर अग्रसर होना मर्यादाक्रमण तो है ही दुर्निवार आकांक्षाओ की अगम्य कारा की निःस्तब्धता में अन्तर्मन द्वारा उन्मुक्त स्वैरगमन भी है। उस क्षुद्र परिधि के भीतर सब कुछ कर गुज़रना एक पूर्णतर जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा को उथला बनाना है। किसी द्वन्द्वग्रस्त, विषम या कृत्रिम नियंत्रण के अधीन मानव-जीवन में इतनी अधिक जटिलता या वैचित्र्य और इस कारण उनकी प्रकृति एवं कार्य-व्यापारो में भी बेहद वैपरीत्य अथवा अप्रत्याशित उत्थान-पतन दर्शाना सर्वदेशीय और सर्वोन्मुख मनस्तत्वों की चिरविकास-मान, जीवनमूलक सत्ता में अशक्यता लाना है। सेक्स-'इंस्टिक्ट' या कहें कि ऐन्द्रिक चेतना की तात्कालिक प्रतिक्रिया के रूप में जो सब कुछ जायज़ मानकर चित्रित किया जाता है वह सच्ची इन्सानियत का निषेध करती, अस्मिता को लूटती, परिस्थिति की गुलामी को स्वीकार करती, प्रेम जैसे पवित्र और पाक शब्द की आड़ में तृष्णा और वासना का खुला प्रदर्शन है जहाँ कामनाएँ जाग कर तड़प उठती है, जलती भूख और हविस की लपटें लपलपाती है और शैतान के कहक़हों का नंगा नाच होता है। यथा--

"भुवन ने उठकर उसके कन्धे पकड़े—ठंडे, जैसे बर्फ। बलात् उसे लिटा दिया, कम्बल उढ़ा दिए। धीरे-धीरे उसके चेहरे पर हाथ फेरने लगा, चेहरा भी बिल्कुल ठंडा था। उसने खाट के पास घुटने टेक कर नीचे बैठते हुए रेखा के माथे पर अपना गर्म गाल रखा, उसका हाथ धीरे-धीरे रेखा के कन्धे सहलाने लगा। भुवन ने कम्बल खींच कर कन्धे ढक दिए। कम्बल के भीतर उसका हाथ रेखा का वक्ष सहलाने लगा--

सहसा वह चौंका। झीने रेशम के भीतर रेखा के कुचाग्र ऐसे थे, जैसे छोटे-छोटे हिमपिंड···और अब तक जड़ रेखा के सहसा दाँत बजने लगे थे।

"पगली-पगली।"

भुवन ने एकदम खड़े हो कर एक हाथ रेखा के कन्धे के नीचे डाला, एक घुटनों के, उसे कम्बल समेत खाट से उठाया और अपने बिछौने पर जा लिटाया। अपने कम्बल भी उसे उढ़ाये, और उसके पास लेट कर उसे जकड़ लिया।

सहसा रेखा ने बाहें बढ़ा कर उसे खींच कर छाती से लगा लिया, उसके दाँतों का बजना बन्द हो गया। क्योंकि दाँत उसने भींच लिए थे, भुवन को उसने इतनी जोर से भींच लिया कि उन छोटे-छोटे हिमपिंडों की शीतलता भुवन की छाती में चुभने लगी··

फिर स्निग्ध गरमाई आयी। भुवन ने धीरे-धीरे उसकी बाहुलता की जकड़ ढीली करके उसे ठीक से तकिये पर लिटा दिया, और हाथ से उसकी छाती सहलाने लगा। चाँदनी कुछ और ऊपर उठ आयी थी, रेखा की बन्द पलकें नए ताँबे-सी चमक रही थीं।

'दिस दाई स्टेचर इज लाइक टु ए पाम ट्री, एण्ड दाई ब्रेस्ट्स टु क्लस्टर्स आफ ग्रेप्स।

"आइ सेड, आइ विल गो अप टु द पाम ट्री, आइ विल टेक होल्ड आफ द बाउज देयराफ: नाउ आल्सो दाइ नोज़ लाइक एप्ल्ल।"

सहसा भुवन ने कम्बल हटाया, मृदु किन्तु निष्कम्प हाथों से रेखा के गले के बटन खोल, और चाँदनी में उभर आए उसके कुचों के बीच की छायाभरी जगह को चूम लिया। फिर अवश भाव से उसकी ग्रीवा को, कन्धों को, कर्णफूल को, पलकों को, ओठों को, कुचों को···और फिर उसे अपने निकट खींच कर ढक लिया:

सालोमन का गीत उस घिरे वातावरण में गूँजता रहा।

'आई स्लीप, बट माई हार्ट वेकेथ; इट इज द वायस आफ माई बिलवेड दैट नाकेथ, सेइंग: ओमन टुमी, माई सिस्टर, माइ लव, माइ डव, माइ अनडिफाइल्ड, फार माई हैड इज़ पिल्ड विद ड्यू, एण्ड लाक्स विद द ड्राप्स आफ द नाइट···"

भुवन ने अपना माथा रेखा के उरोजों के बीच मे छिपा लिया: उनकी गरमाई उसके कानों में चुनचुनाने लगी: फिर उसके ओठ बढ़ कर रेखा के ओठों तक पहुँचे, उन्हें चूमा और प्रतिचुम्बित हुए।

"माई बिलवेड इज माइन, एण्ड आइ एम हिज, ही फीडेथ एमंग द लिलीज़···"

क्यों भुवन के ओंठ शब्दहीन हो गए हैं, स्वरहीन हो गए हैं, क्या वह गीत के ही बोल स्वरहीन हिलते ओठों से कह रहा है या कुछ और कह रहा है?

"रेखा, आओ···"

"आइ रोज अपटु, अप टु माई विलवेड, एण्ड माई हेड्स ड्राप्ड विद माई एण्ड फिंगर्स···"

"चाँदनी बहुत है, सब पी न सकोगी···ऐसे में तुम्ही चाँदनो हो जाओगी।

'और तुम, भुवन, तुम? तुम भी, लेकिन जम कर नहीं, द्रवित होकर।"

शिल्प के कसाव और लाघव द्वारा 'कम्प्लेक्स' जीवन के ये पटल, ये चित्र, ये बिन्दु, ये भाव, ये रेखाएँ, ये अनुभव, ये क्षण, ये संभावनाएँ, साथ ही कल्पना से उपजे स्वप्न, नशा, निष्ठा और विश्वास फ्रायडीय मनोविज्ञान की अवचेतनीय सूक्ष्मताओं के सरगम में संतरण करता कैसे कौशल और नूतन रचना-तन्त्र के सहारे मानों उंगली पकड़कर उसके कथ्य और भावबोध को आगे बढ़ाता चलता है, जहाँ कृत्रिम गरिमा के पृथक् मानदंड द्वारा आनन्दजन्य भोगवाद की चरम परिणति दर्शायी

गई है। कामोपभोग सहजात मनोवृत्ति है। वह पशु और मनुष्य में समान रूप से विद्यमान है। पशु-सामान्य धरातल से ऊपर की चीज़ जो संयम और विवेक है वही दरअसल मनुष्यता है। मनुष्य विकसित प्राणी है और उसके समग्र और मुक्त सभी विराट् प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत संस्कार होते हैं। किन्तु उक्त संस्कारजन्य प्रयोजन की सीमा का अतिक्रमण कर नैसर्गिक सत्य के ब्याज से जब आचरण की उच्छृंखलता का पोषण किया जाता है अथवा गर्हित रसास्वादन की प्रक्रिया में परस्पर असम्बद्ध और विच्छिन्न से लगने वाले रसप्रेरणा के स्रोतों में मन की उद्दाम वासना एवं दुर्वृत्तियों के निरंकुश स्खलनों को निर्बाध प्रश्रय दिया जाता है तो मानव-अस्तित्व के बुनियादी प्रतिमान प्रश्नचिन्ह के रूप में सामने आ खड़े होते हैं। आखिर वे प्रतिमान क्या हैं—जो सत्-असत् का विवेक देते हैं और वे तत्त्व भी क्या हैं जो कुछ ऐसे गुणों से पृथक् स्वीकृत नैतिक मूल्यों की स्थापना द्वारा जीवन के गहनतम स्तरों से उद्भूत उन ज्वलन्त सत्यों की कसौटी बन कर प्रकट होते हैं।

किसी भी उपन्यास में घटनाओं का परात्पर घटित होना ख़ास मानी रखता है। परन्तु मानवीय धरातल के व्यक्ति-पक्ष से हटकर स्वेच्छाचारिता अथवा पाशव वृत्तियों को परितुष्ट करना ही वाह्य और अन्तस्थ जीवन का सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत नहीं कर सकता। रचनाकार की मानसिक दशा किन्हीं खास मतवादों या असंगत तर्कों का आधार लेकर क्षयशील आदर्शों अथवा अतिरंजित 'मूडों' की अवतारणा में फिट नहीं की जा सकती। आश्चर्य तो यह है कि 'अज्ञेय' जैसे सूक्ष्मदर्शी कलाकार ने इन रोमानी, प्रणयरम्य, चाँदनी रातों की उन तमसावृत्त, पापरत मानवाकृतियों को उभारने में अपनी कल्पना-वैभव के क़रिश्मे दिखाए हैं—जहाँ वासना के भयंकर झंझाबात से हहराकर गुनाह भरे दो सीने परस्पर टकराते हैं, उनकी अदृश्य धड़कनें ओठों का स्पर्श बनकर विषैली भाप उगला करती है और बाहें साँप बनकर दुर्निवार आलिंगन-पाश में जकड़ जाया करती है। जुनून पर चढ़ी हुई बयार जैसे एक ही झपाटे में आग का चक्कर लगाकर बड़वानल बना देती है उसी प्रकार भीतर जल रही बेताव, ख़ामोश हाड़माँस की यह भूख हिस्टीरिया के दौरे सी उस गहन दुर्भेद्य तमस में कैसी तड़प-तड़प उठती है।

"कभी रेखा जागी। तब चाँदनी शायद दोनों के सटे हुए चेहरों को लाँघकर ऊपर उठती हुई फिर खो गयी थी, रात का एक ठंडा स्पर्श उस खुली जगह से अन्दर आता हुआ दोनों के तपे माथे और गालों को सहला रहा था, रेखा ने एक लम्बी साँस खींच कर उसे पी लिया, उसके जिस हाथ पर भुवन सोया था उसकी उंगलियाँ उसके माथे के उलझे बालों से बड़े कोमल स्पर्श से खेलने लगीं, कि वह जागे नहीं, फिर वह दुबारा सो गयी।

कभी भुवन जागा। उसकी चेतना पहले केन्द्रित हुई उस हाथ में जो रेखा के वक्ष पर पड़ा उसकी साँस के साथ उठता-गिरता। उफ़! कितने कोमल आलोड़न से, जिससे भुवन को लगता था कि उसकी समूची देह ही मानों धीरे-धीरे आलोड़ित हो

रही है, मानो बहती नाव में वह सोया हो''''अवश हाथ, जिन्हें वह हिला भी नहीं सकता, अवश देह, लेकिन एक स्निग्ध गरमाई की गोद में अवश चाँदनी वह अधिक पी गया—"चाँदनी, मदमाती, उन्मादिनी।"'''और उस मीठी अवशता को समर्पित वह भी फिर सो गया'''

फिर भुवन जागा, इस बार सहसा सजग, कुहनी पर जरा उठ कर उसने झुक कर धीरे से उसके ओठ चूम लिए, रेखा जागी नही उसके ओठ ऐसे हिले मानों स्वप्न में कुछ कह रही है। फिर सालोमन का गीत गूँज गया :

"एण्ड द रूफ आफ दाइ माउथ द बैस्ट फार द बिलवेड, दैट गोएथ डाउन स्वीटली, काज़िग द लिप्स आफ दोज दैट एस्लीप टु स्पीक''''''"

और उसने बड़े जोर से रेखा के ओठ चूम लिए, वह जागी और उसकी ओर उमड़ आई :

"लैट अस गेट अप अर्ली टु द विनयाड्र्स, लैट अस सी इफ द वाइन फ्लरिश, ह्वेदर टेन्डर ग्रेप्स एपीयर, एण्ड द पोमेग्रेनेट्स बड फोर्थ : देयर विल आइ गिव दी आफ माइ लव्ज।"

और वह उमड़ना फिर एक आप्लवनकारी लहर हो गया।"

कैसी है यह भूख, जंगल की रीति, बनोक़स प्राणियों की रस्म, जिसकी अंतरंग परतों में पैठकर लेखक ने अपने दर्शन की जड़ता की काली परछाइयाँ उभारी है, क्योंकि लेखक के मत से यथार्थ है ही छोटा और फीका और छाया कितनी बड़ी है, कितनी रंगीन, कितनी रसीली।

आखिर किस महान उद्देश्य और मनोवृत्यात्मक माँग की पूर्ति करते हैं ऐसे उपन्यास ? कठोर सत्य को, कुरूप तथ्य को, अश्लीलता, गन्दगी और हीन विषयों को विश्लेषणात्मक तर्कों अथवा विकल्पात्मक अभिव्यक्तियों द्वारा विशिष्टता प्रदान करना अथवा निरे कल्पना-विम्बों के सहारे उक्त अभिव्यक्ति को अनुभूत संवेदना के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रोमांचों का वाहक बना देना वंचना या विभ्रम है जो मानसिक धरातल के अत्यन्त निम्न स्तर पर ले जाता है और प्राणत्व के साथ मिलकर ऐन्द्रिय विकृति उत्पन्न करता है। मामूली से मामूली व्यक्ति के जीवन में भी उक्त भोगजन्य आनन्द की चरम अनुभूति के क्षण आते हैं। निःसंदेह ऐसे मौकों पर भावों की सान्द्र उमड़न का अनुभव होता है। किन्तु भोग-चेतना जैसा घृण्य कृत्य कल्पना की आँच में पिघल कर खरा कंचन नही बन सकता।

अन्तश्चेतनावादियों का सिद्धान्त है कि मनुष्य की मूल एवं आदिम प्रवृत्तियों पर कोई रोक न लगाई जाय। क्योंकि मौजूदा नैतिकता की प्रकृति भीतर से नितान्त खोखली और निःस्पन्द है। अंतर्मन की अजीबोग़रीब धारणाएँ, ध्वनि-प्रतिध्वनियाँ, यादगारें, कमज़ोरियाँ, नैराश्यपूर्ण विभ्रम, उलझनें, गुनाह और कुत्सित चेष्टाएँ भीतरी बैषम्य और अन्तर्विरोधों से उलझी हैं जो वाह्य द्वंद्वात्मक संस्थितियों के साथ

षण और एकीकरण खोजती हैं। यदि मनोभावों को पूर्णतया व्यक्त होने दिया जाय तो स्वप्न एवं अवचेतन व्यापारों के ऐसे कितने ही अदृश्य पहलू प्रकाश में उभर कर आएँगे जो अन्तर में हिलोरे मारने वाले स्रोतों को बहिर्मुख होने को विवश किया करते है।

किन्तु किसी भी कथ्य के व्यंजनात्मक प्रभाव एवं सामाजिकता की भी एक अनिवार्य मर्यादा होती है। अपने मनोमय और अन्तर्मुखी प्रतीकात्मक उद्‌गारों को अन्तश्चेतना के संस्कारों का यथार्थ उन्मेष बताकर मन के घोर निर्जन एकाकीपन में जो एक अमानुषिक और असामान्य विच्छेद की अनुभूति पैदा होती है उससे महत्तर लक्ष्य और उच्च संस्कारिता की गम्भीर क्षति होती है। मानसिक तनाव की प्रक्रिया में उसकी आंतरिक विकृतियाँ, स्वप्न कल्पनाएँ और दुर्बल प्रयत्नों की असफलता के बीच एक गहन अन्धकारमय भयावना शून्य वर्तमान रहता है। उस परिस्थिति से ऊब कर और उससे त्राण पाने की चेष्टा में उसकी अन्तश्चेतना ही वह भीषण शून्य बन जाती है, जहाँ घोर तमस है और अति वैयक्तिक एवं पलायनवादी तत्त्व उभरकर उस वातावरण से ऊब महसूस करने लगते हैं। उसकी आत्मा में क्रमशः एक तूफानी हड़कम्प पैदा होता है और वह जीवन के प्रति एक रुग्ण आकर्षण की सतत खीच-तान का अनुभव करता है।

अतएव उक्त चेष्टाओं के विश्लेषण में सर्जनहार को आत्मवंचक एवं अवैज्ञानिक प्रसंगों से सावधान रहना चाहिए, अन्यथा ये मनगढ़ंत रोमांचक सपने यथार्थ को अविश्वसनीय बनाकर ग्रस लेते हैं। समाज में जो वर्जनाएँ अथवा गर्हित या अनैतिक काम-कुंठाएँ हैं उनका प्रयोग पाठक को आश्चर्यजनक और आकर्षक लग सकता है, कुछ सीमा तक उत्तेजक भी हो सकता है, किन्तु इस प्रकार की अपरिमार्जित और हेय अभिव्यक्ति—भले ही नये शब्द, नये रूप और नये भावसंघात के सहस्रशः विधान और मिश्रण उसमें हों—अराजक और असद् कथाख्यान की ही सृष्टि करते हैं।

उत्तेजित प्रेरणा से सिरजी गई किसी महत् कथा-चरित्र की ये विचित्र छाया-कृतियाँ क्या किसी उच्च निर्माणात्मक लक्ष्य अथवा सैद्धान्तिक मान्यताओ की संश्लिष्ट इकाई बन सकती हैं ? क्या कोई प्रभावशाली व्यक्तित्व अशक्त जीवन-स्पन्दनों की सफल सृष्टि हो सकता है ? अति कल्पनाशील अस्पष्ट छायाभासों में आनुपातिक संतुलन और रंगों की ताज़गी फिर भला कहाँ से मिलेगी ?

इस द्विपक्षीय संघर्ष में 'अज्ञेय' के चरित्र सदा अवांछित दिशा की ओर अग्रसर हुए हैं। अवश घटनाओं एवं वातावरण में वे यथार्थ से भिन्न अस्वाभाविक चरित्र बनकर रह जाते हैं। रेखा को ही लें तो भुवन पर सब कुछ लुटा देने वाली एक नारी के रूप में उसने अपना जीवन प्रारम्भ किया था, पर अन्त में जो मार्ग उसने ग्रहण किया वह कितना नकारात्मक और अतिरंजनापूर्ण है और फिर इसी तथ्य को एक तथाकथित समाधानहीन विरोधाभास के रूप में कहानी का आकस्मिक पूरक

बनाना चरित्र-चित्रण का दिवालियापन है।

सफल कथाकार को जीवन की विभिन्न सम्भावनाओं में आपेक्षिक महत्त्व की चेतना होनी चाहिए। किसी चरित्र के प्रतिनिधि पहलुओं का चित्रण करते हुए उसकी अछूती अनुभूतियाँ और दृष्टिकोणों के मूल्य और महत्त्व को स्थिर करना जितना उसका कर्त्तव्य होता है, उस से भी अधिक उसकी मूल्यगत मर्यादा का नैसर्गिक विकास और मूल्यांकन भी मानवता के नये विकास की पृष्ठभूमि में ही होना चाहिए।

अवचेतन की गुत्थियाँ खोलने से अथवा कामकक्ष के वातायनों को उन्मुक्त कर देने से कोई भी अपने सवेद्य को संतृप्तिकारी अथवा अर्थवान नहीं बना सकता, क्योंकि अन्तरंग विरूपता की ओट में इस प्रकार मानवीयता कहाँ निभ पाती है। रेखा के जीवन के हल में लेखक घोर वैयक्तिक और स्वार्थपूर्ण अहंतुष्टि का पोषक बनकर सामने आया है। वह इस मत का खुलेआम हामी है कि स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बंध किसी भी दशा में गर्हित अथवा जघन्य नही है, अपितु भूख और प्यास की भाँति भोगेच्छा भी जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता है। उस पर किसी प्रकार की पाबन्दी या हस्तक्षेप अनुचित है। व्यक्ति की अबाध, निरपेक्ष सत्ता है, जो किसी मर्यादा, मूल्य और नैतिकता की गिरफ्त में नही, सर्वथा स्वतन्त्र और मुक्त—समय की अमाप पगडंडियो पर जिसकी स्वसंचालित गति है। क्योंकि लेखक ने इस अभिमत को बार-बार दोहराया है—"क्षण सनातन है···छोटे छोटे ओएसिस··· सम्पृक्त क्षण···नदी के द्वीप···जो काल-परम्परा नहीं मानता। वह वास्तव में कार्य-कारण-परम्परा नही मानता। तभी वह परिणामों के प्रति इतनी उपेक्षा रख सकता है—एक तरह से अनुत्तरदायी है···पर इससे क्या! उत्तर माँगने वाला कोई है ही कौन? मैं ही तो मुझे उत्तर माँग सकता हूँ? और उगर मैं अपने सामने अनुत्तरदायी हूँ, तो उसका फल मैं भोगूँगा—यानी अपने अनुत्तरदायित्व का उत्तरदायी मैं हूँ···।" एक अन्य स्थल पर—"हम जीवन की नदी के अलग-अलग द्वीप है, ऐसे द्वीप स्थिर नही होते, नदी में निरन्तर घुलते और पुनः बनते रहते है—नया घोल, नये अणुओं का मिश्रण, नयी तलछट, एक स्थान से मिट कर दूसरे स्थान पर जमते हुए नये द्वीप···" यों जीवन की यह तीखी ऐन्द्रिय भूख और प्यास मिथ्या आचरण की गुरुता का नकाब ओढ़े कितने ही मुक्त चिन्तन-खण्डों से टकराकर विचित्र तर्कों द्वारा चेतन मन के निरोध के पूंजीभूत रूप मे ऊहापोहात्मक मानस प्रक्रियाओं मे उभारी गई है। उन्ही के अनुबन्ध में लेखक ने अनेक अवांछित विचार व्यक्त किये है और परस्पर जुड़े होने के कारण इनकी एक लम्बी शृंखला बन गई है। मनोवैज्ञानिकों के से तर्क और बौद्धिकों की सी दार्शनिक पद्धति को अपनाकर उसके फलस्वरूप कतिपय निष्कर्ष निकाले गए हैं—उदाहरणार्थ—वासना को उकसाने और पुरुषार्थ के प्रस्फुरण के लिए स्वकीया की अपेक्षा परकीया-प्रेम अधिक कारगर होता है। उपन्यास के एक पात्र चन्द्रमाधव के प्रसंग में—

"कभी जब वह टाई खोलकर उसे कालर से निकालने के लिए उसके ऊपर झुकती तो उसकी कमीज के गले के भीतर से उसके उरोजों का जो थोड़ा सा हिस्सा उसे दीख जाता, उसे वह स्थिर दृष्टि से देखता रहता, कभी-कभी उस दृष्टि को लक्ष्य कर के वह लजा जाती, कौतूहल से चन्द्र सोचता कि अगर वह नौकरानी होती या कोई और स्त्री होती, तो चन्द्र उससे छेड़छाड़ करना चाहता और शायद कमीज का गला पकड़ कर अपनी ओर खींच लेता, पर वह तो उसकी स्त्री थी जो उसके खींचने पर झुक जायगी, हाथ बढ़ाने पर सह लेगी, चौकेंगी नही, विरोध नहीं करेगी, निषिद्ध के रोमांचकारी रस से उमड़े-सिमटेगी नही···वह वैसा ही स्थिर देखता रह जाता, पर उसकी आँखों का केन्द्रित भाव बिखर जाता, फिर वह एक करवट हो जाता, पत्नी चली जाती तो उठ कर कपड़े बदल लेता···।"

आश्चर्य तो इस बात का है कि मनुष्य की इस पतनकारी, जघन्य कुत्सा को बहुत ही सहज वृत्ति के साथ स्वीकार किया गया है। यहां तक कि गौरा—भुवन की सखी और शिष्या—जो अपेक्षाकृत आस्थावान और सुसंस्कृत है—अपने संवेदनों. विचार और चेष्टाओं में समान आचरण-स्वातन्त्र्य की क़ायल है। तभी तो रेखा और भुवन के प्रणय-व्यापार को वह बुरा नही समझती, न तो अपने प्यार के एकाधिकार को यथावत् जता पाती है और न उसका प्रणयावेग, जैसा कि स्वभावतः होता है, हिंसात्मक या आक्रामक ही होता है। रेखा या भुवन से उसे कोई शिकायत नही, उल्टे उनकी इच्छाओं को शह देते हुए उसे सन्तोष मिला है। भुवन की यह सफाई—"स्नेहशिशु, तुम्हें छोड़कर नहीं भागा, भागा जरूर, पर सच कहूँ कि जब भागा तो कुछ अगर साथ लिया तो तुम्हारी प्रतिच्छवि—और मेरे विक्षत मन के कसैले विराग को एकदम कटु हो जाने से बचाया तो उसी ने···" गौरा में आक्रोश नहीं जगाता, न उलहना,। अपने नकारात्मक त्याग एवं औदार्य द्वारा वह नारी-निष्ठा और उसकी एकाकी शालीनता पर कुठाराघात करती है, जिसने अपने प्रणयी का न पूतत्व जाना, न माँगा, न उसकी शिकायत ही की। वह सहज भाव से सब कुछ मानों स्वीकार कर लेती है, सब कुछ "जहाँ कही पृष्ठभूमि में रेखा भी है। रेखा की व्यथा भी और विशालता भी, अकिंचनता भी और दानशीलता भी"—शरीर का दान कितना भयावह है—कितना घृण्य। एक स्थल पर—"कैसी विडम्बना है यह स्त्री-शक्ति की, कि उसका श्रेष्ठ दान है स्वयं अपना लय, अपना विनाश।" किन्तु 'अज्ञेय' के औपन्यासिक पात्र, चाहे वह गौरा के से अभिमत के ही क्यों न हो, ऐसे दान से भी किंचित् विचलित नहीं होते। (क्षमा करें—मै तो यह आधारभूमि ही ग़लत और अभारतीय मानती हूँ जहाँ गुरुभाव और प्रणयीभाव को एक करके दर्शाया जाता है)।

'अज्ञेय' का हर पात्र इसी अमर्यादित अनाचार और इन्द्रिय-लिप्सा का शिकार है।

मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी 'अज्ञेय' के चरित्र विकृत काम-प्रवृत्ति के प्रतीक

हैं। ऐसे व्यक्ति आत्मसम्मोही और स्वयंकेन्द्रिक होते हैं। उन्हें सदैव यह भ्रम रहता है कि पर वर्ग (Opposite sex) उनके प्रति आकर्षित है। इस प्रकार उनके अंतर्गूढ़ मन में अपराधी भावनाएँ पनपती रहती हैं और व्यावहारिक कसौटी पर उनका आचरण अनपेक्षित एवं अवांछनीय सिद्ध होता है। अहं या उच्चादर्श के कारण बाहरी तौर जब प्रकृत इच्छाओं का दमन किया जाता है तो भीतर ही भीतर बेहिसाब गुत्थियाँ या उलझनें बढ़ती हैं जिनकी प्रतिक्रिया सदैव मन की विशृंखलता अथवा मनोह्रास में होती है। उक्त क्रियाशील विश्लेषक बुद्धि जब संवेगों से असम्बद्ध हो जाती है तो इस मनोदशा का प्रभाव भावना ग्रन्थियों पर पड़ता है जिससे अहं और मूल प्रकृत इच्छाओं में घोर कशमकश होती है और चरित्र के विकास में विपरीत लक्षण उभर आते हैं।

ऐसे चरित्र या व्यक्तित्व सीमाओं का अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके जीवन में कोई क्रम, तरतीब अथवा मर्यादित आचार-व्यवहार नही रह जाता। उनका भीतरी आकर्षण या मोहासक्ति एक से दूसरे पर नित्य बदलती रहती है।

बाल्यकाल, यौवन व प्रौढावस्था—किसी भी अवस्था में—इनकी अनुभूतियाँ या प्रच्छन्न चेष्टाएँ कामवृत्ति में केन्द्रित हो जाती हैं। फलतः विभिन्न चारित्रिक पहलू निम्नगामी और घृणित स्तर पर दमित इच्छाओं से आक्रान्त बने रहते हैं।

ये इच्छाएँ क्या हैं? किस सीमा तक ये मौजूदा मनोविज्ञान का अंग बन सकती हैं, साथ ही उदात्त कला किंवा सत्साहित्य के सृजन की दृष्टि से उनका मूल्य और महत्त्व कहाँ तक है? नारी-पुरुष की अवांछित, हेय काम-चेष्टाओं का प्रदर्शन ही क्या उसका मापदण्ड है?

यदि विश्लेषण किया जाय तो ऐसे व्यक्ति या चरित्रों में बड़ी खीचतान एवं ऊहापोह होते हैं। उनके जीवन के व्यावहारिक पहलुओं और ऐन्द्रिय वासना-तृप्ति में यदि किसी प्रकार समझौता होता भी है तो बड़े ही विलक्षण ढंग से। पर प्रायः विरोधी सिद्धान्तों से संचालित होने के कारण भीषण घात-प्रत्याघात होता रहता है जो परोक्ष या प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति द्वारा कला का माध्यम बन जाता है। भीतर मूलतः जो कुत्साएँ नग्न या प्रवंचक रूप मे सक्रिय होती है वे ही साहित्य या कला में परिष्कृत और परिमार्जित रूप में उभारी जाती हैं, पर वस्तुतः कामवृत्ति का उन्नयन अथवा नई-नई परिकल्पनाओं द्वरा मानसिक बुभुक्षा की तृप्ति सच्ची कला की कसौटी नहीं हो सकती। इसके विपरीत अंतर्वाह्य कार्य-कारण पद्धतियाँ क्रमशः अपराधी वृत्तियों में विकसित होकर समाज विरोधी व्यक्तित्व या चरित्र उभारती हैं। 'अज्ञेय' के औपन्यासिक चरित्रों को हम ऐसे ही आत्मसम्मोही अपराधियों की श्रेणी के अंतर्गत रख सकते है।

उक्त एकांगी कसौटी को लेकर चलने से अनेक आन्तरिक विरोधाभास

उत्पन्न होते हैं और स्थापित मूल-मर्यादाओं के मूल को ध्वस्त करने की चेष्टा करते हैं। एक तीव्र संहारकारी अनास्था मानव-संस्कृति की शिराओं में प्रवहमान स्वस्थ रक्त को विषाक्त बना देती है और वासनात्मक प्रेम की उन्मादक अभिव्यक्ति चिरप्रतिष्ठित आदर्शों को झकझोर कर गुमराह तो बनाती ही है, साथ ही इस निन्दनीय अवैध कृत्य द्वारा नैतिक और वैधानिक सिद्धान्तों की भी अवहेलना करती है।

नितांत नकारात्मक और असंगत धारणाओं को उद्बुद्ध करने से जो चित्र ज्ञात-अज्ञात रूप में मन के विभिन्न स्तरों और अन्तःप्रदेश मे उतरते चलते हैं उनसे अनुभवी आँखें भी चौंधिया जाती हैं, फिर नई अनुभवहीन, अपरिपक्व आँखें तो इन प्रांजल भाव-रेखाओं और चित्रों के जादू में अपने आप को बरबस विस्मृत कर बैठे तो क्या आश्चर्य !

जबकि साहित्य का उद्देश्य तत्त्वतः विधेयात्मक और उदात्त आदर्शो की अव्याहत सिद्धि है तब मन की एकाकी, आबद्ध कारा में कराहती हुई चारित्रिक पतन की यह लज्जाजनक, विपन्न पीड़ा और उस पीड़ा की घुटन में रेंगती हुई अवांछित इच्छा-आकांक्षाओं का निरपेक्ष अंकन या कहें कि कोरी बौद्धिकता के बळ पर प्रच्छन्न कुंठाओं को उभारने का पलायनकारी दम्भ मानसिक उद्वेगों और अन्तर्गुहा की वे दुर्लंघ्य दरारें हैं जिनसे निम्नगामी ईप्सा एवं वचना की चाबुक खाकर सर्वतोमुखी जीवन-विकास की सम्भावनाएं डगमगा जाती है और स्थितप्रज्ञ व्यक्तियों तक के विश्वास और सिद्धान्त आविष्ट हो उठते है।

निश्चय ही युवकों और कमसिन किशोरियों में इन प्रयोगवादी कृतियों के प्रति असीम उत्साह और दिलचस्पी है, क्योकि इनमें किसी प्रकार की रोकटोक या प्रतिबन्ध नही है। किन्तु अन्ततः इसका परिणाम क्या होता है कि साहित्य और कला, जो चेतना के विकास का श्रेष्ठतम सोपान है, चिन्तन-पद्धति के महत् मूल्यों की उपेक्षा कर ह्रासशील और हीनतर संस्कारों को प्रश्रय देता है। यह सही है कि घिसीपीटी नैतिक लीकें किसी महान् कृति के सृजन का दावा नही कर सकतीं, किन्तु नैतिक मूल्य यानी शिवत्व और सौन्दर्य के मूल्य कृतिकार में सृजनात्मक तुष्टि तो जगाते ही हैं, औचित्य और उपयुक्तता के साथ-साथ जीवन-मीमांसा के सत्य की भी अवतारणा करते है।

मौजूदा युग में नवीन वादों और मतों का जो कुत्सित प्रभाव हमारे साहित्य और कला को विकृत कर रहा है वह उन अर्थों में 'एस्थेटिक सेंस' जगाता है जो उदात्त जीवन से असम्बद्ध और परे 'वास्तव' को झुठलाकर आच्छन्न अन्धता से ग्रस्त नग्नवाद की ओर प्रेरित करता है। नग्नवाद रूपी दानव जब सहमे हुए खामोश दिमागों को धर दबोचता है तो काम-वासना की धधकती शत-शत उल्काएँ सहस्र अश्वों के बल से तड़पकर रन्ध्र-रन्ध्र में धँसती हुई सुन्दर कल्पनां-चित्रों और स्वप्नो को आकार नही देतीं, प्रत्युत् अवांछित इच्छाएँ उपजातीं, भूख से बुझी श्वासरोधक

तिलमिलाहट जगाती और भीतर के आहत पशुत्व से पिछली वह तपन उभारती है जो साहित्य और सृजन की अंतःशक्ति को दग्ध कर उसे राख का ढेर बना देती है। इस घृणित अराजकता में क्या निर्माणात्मक अथवा क्रियात्मक विचार उत्पन्न हो सकते हैं ? आत्मा की ऐसी सड़ांध भरी अन्धेरी गहराइयों में तो ध्वंसात्मक और अपराधी इच्छाएँ ही पनपती हैं। अतएव साहित्य के ये रुग्ण, पलायनवादी तत्त्व अमानुषिक या कहें कि बेबुनियादी हैं जो प्रेरणा या देवत्व के स्वर नही जगाते, बल्कि कुत्सा के मलबे के नीचे दबी पड़ी असह्य आत्मपीड़ा और कुंठा के स्वर उभारकर साहित्य के सुन्दर और मूल्यवान, यथार्थ और सन्तुलित, उदात्त और लोकोत्तर के महान् अनुष्ठान की धारणा को सर्वथा निर्मूल सिद्ध करते है।

११

कथाकार देवेशदास

एक औपन्यासिक के रूप में देवेशदास का नाम बंगला कथा-साहित्य में प्रसिद्ध है, किन्तु नवीन भावादर्श की प्रतिष्ठा, पुरातन व नवीन भावधारा के समन्वय और प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के सेतु-निर्माण में हिन्दी के लिए भी इनका अवदान कम उल्लेख्य नहीं। आज जब कि भाषा का संघर्ष है अपनी मातृभाषा के प्रति असीम अनुराग होते हुए भी इनकी समंजस दृष्टि राष्ट्रभाषा के प्रति प्रेम-भावना को कुंठित नही कर सकी। देश और काल की सीमा का अतिक्रमण कर इनकी कल्पनाप्रवण सृजनशील प्रेरणा युगसन्धि के कर्त्तव्य-पथ पर, मतवाद-विच्छिन्न और संस्कार-मुक्त हो, विश्वमानवत्व की अनन्त भावधारा के साथ पर्यवसित हुई है।

'यूरोपा'

युगदृष्टि के अनुरूप इनकी चिंतनधारा का गहरा अर्थ है सभी मूल्यों की सापेक्षता। यही कारण है कि इनकी प्रथम कृति 'यूरोपा' मे इनकी प्रतिभा कल्पना-लोक की स्वप्न-कुहेलिका से विश्वमानव के सदा जाग्रत कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हुई है। 'यूरोपा' उपन्यास नही है, पर सत्य को कला का आधार बनाकर उसे जीवन की आलोचना के रूप में ग्रहण किया गया है। चूँकि देशभेद से मानव की मूल प्रकृति में कोई अंतर नही आता, अतः मानवतावादी विकासमूलक धरातल पर सूक्ष्म आन्तरिक आप्यायित भावों को बड़ी विदग्धता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। न केवल इन यूरोपीय देशों के गहन गिरिकानन, सर-सरिता-उपवन, पत्र-पुष्प विभूषित बासन्ती मादकता, धूप और बादलों की क्रीड़ा, नदी-निर्झरों का उन्मुक्त जलोच्छ्वास, विहग-कौतुक, सुमन-सौरभ, धवल हिमराशि, छायातप, ज्योत्स्ना-किरण आदि का हृदय-स्पर्शी वर्णन है अपितु वहाँ की बहुविध सहज प्रेरणाएँ, उन्नति-अभियान, आत्यन्तिक संघर्ष की सीमाएँ, सामाजिक मनोवस्था, श्रेय-प्रेय के निरूपण की जीवन्त परिणति, समसामयिक जीवन की जटिल सापेक्षता और नव स्वच्छन्दतावादी धारा में अनागत अन्धविश्वास और असंगत श्रद्धा से परे आधुनिक चेतना से उद्भूत व्यक्ति मानव का सम्पूर्ण निजत्व तथा विश्वमानवता के प्रति आस्था के साथ मनुष्य से मनुष्यों के परस्पर वास्तविक सम्बन्धों पर दृक्पात है। भारतीय और योरोपीय जीवन-दोनों-की तुलना करने पर विभिन्न भावच्छायाओं के विम्ब आँखों में तैरने लगते हैं। वैविध्यपूर्ण

जीवन-क्षेत्र में कितनी ही सीमाएँ निर्धारित की गई है। उदाहरणार्थ—मृत्यु का भय भारतीयों के जीवन की मस्ती को भले ही ग्रस ले, पर प्रायः यूरोपीय लोग बड़े साहसिक होते है। मृत्यु का भय उन्हें निश्चेष्ट या आशंकित नही बनाता। जीवन की आकांक्षा ही उन्हे मृत्यु से जूझने की प्रेरणा देती है। उनके मत में जीवन की यह आकांक्षा ही नित्य और सत्य है, शेष तो नश्वर है और असत्य। लेखक के शब्दों में—"उस समय समझ सका कि जड़वाद, वस्तुवाद आदि में डूबा यूरोप किस प्रकार निर्विवाद रूप से जरा को जीत एवं मृत्यु की उपेक्षा कर जीवित है। इनके पास हमारे समान आध्यात्मिक सम्पत्ति नही, तथापि ये हमसे कितना अधिक आनन्द प्राप्त कर जाते हैं। सबके जीवन की शेष परिणति मृत्यु में है, कितने दिन जीवित रहना है, फिर प्राण-प्राचुर्य क्यों न रहे ? जिसने कभी भोग ही नहीं किया उसे त्याग के दुःख-लाभ करने का सौभाग्य कहाँ ? मलिन पुष्करिणी के शैवाल दल को हटाकर केवल नीचे के जलबिन्दु ग्रहण करने की चेष्टा के अनुसार जिसने संसार को असम्पूर्ण भाव से ग्रहण किया उस संसारी के संन्यास में महिमा कहाँ ? जिन आत्मनिर्भरता, साहस और त्याग में हम दुःख-विपद् को तुच्छ समझ पाते हैं, वे हमारे हैं ही नही। है केवल दुर्बल रुदन। इसीलिए हम जीवन को असहाय दृष्टि से देखते हैं।"

यों यूरोप का जीवन चिरगतिशील है और घटनाओं के घात-प्रत्याघात से अग्रसर होने की प्रेरणा उन्हें अनवरत मिलती रहती है। जीवन-डगर पर वे कितने निर्मुक्त विचरते हैं। लेखक का कैशोर मन वहाँ के लोगो की निर्भीकता और नित्य ही आगे बढ़ने की चाह को देख कर मुग्ध हो उठता है—'अच्छा लगता है—यूरोप का यह आनन्दमय उल्लासयुक्त, मुक्त जीवन, जो पैदल चलकर और दुःखों को दूर कर मृत्यु की उपेक्षा करता है—वह जीवन मुझे अच्छा लगता है।'

इस प्रकार उक्त पुस्तक में लेखक की मानसिक प्रतिक्रियाएँ अपने मूल उद्वेगों और उन जागरूक क्षणों की अविस्मरणीय स्मृति के साथ उभरती है अर्थात् वह जिस क्षण जो अनुभूति प्राप्त करता है, कुण्ठा, पूर्वाग्रह अथवा रीति-नीति से परिचालित हुए बग़ैर उस क्षण के, उस साक्ष्य के प्रति ईमानदार रह कर उसका निर्वाह करता है यही उसकी जीवन-दृष्टि और आत्मा को तुष्टि प्रदान करते हैं।

"कितनी विभिन्न सज्जा एवं भंगिमा के साथ या तो कोई युवक पथ में किसी युवती के साथ चलेगा अथवा दो भिन्न या एक ही आफिस के लोग साथ-साथ चलेंगे। पथ पर चलते-चलते नेत्रों के हास, बातचीत एवं क्षणिक साहचर्य में जो कुछ भी सुख है उसे कर्म के आनन्दतीर्थ के ये यात्री अवहेलित नहीं करना चाहते। जीवन में संभव है इनमें से अनेक के अदृष्ट में विवाह नही, अन्ततः प्रथम जीवन में, किन्तु फिर भी कर्मस्रोत में ये नर-नारी पास-पास रह बहते चले जाते है। पुरुष नारी को 'नरकस्य द्वार' कहकर अवहेलना नही करता। नारी पुरुष को भय की सामग्री समझ कर पीछे नहीं हटती और समाज इनके बीच केवल आग और घी के सम्बन्ध का निर्देश नहीं करता। स्त्री-पुरुष के सान्निध्य के परिणामस्वरूप रूप, स्वास्थ्य और

सामाजिक गुणों की चर्चा इनमें मन के अगोचर रूप में बढ़ जाती है। इसके फलस्वरूप नारी की दृष्टि में जनता के बीच मनुष्य बनने के लिए पुरुष की निशदिन साधना रहती है, नारी की भी वही साधना है। इसीलिए पश्चिम में मनुष्य जाति की सर्वविधि उन्नति हुई है। हम लोगों के समान क्षीणजीवी एवं असुन्दर होने की लज्जा यूरोप में दिखलायी नहीं पड़ती।"

लंदन की जनता की कर्मठ सचेष्टता का उल्लेख करते हुए देवेशदास लिखते है—

"उस विराट् जनता में गति-प्राचुर्य है, प्रावल्य नहीं, सबको शीघ्रता है, किन्तु हुड़दंग कोई नही करता, सब शृंखला मानकर चलते है, कारण—शृंखला उनके पथ की सहचरी है, पैरों की शृंखला नही, गति का बन्धन नही।"

आस्थावान और सम्पूर्ण निजत्व की जीवनी-शक्ति को विकसित कर आधुनिकता के प्रति अधिक सजग होने के नाते लेखक आज के व्यक्ति मानव से मर्यादित आचरण की माँग करता है। उसकी उपलब्धि, उसका नियोजन और उसका निश्चित इष्ट, जो आत्मविश्वास के आयामों में जीवन की अनुभूति की गहनता से अन्तर्निविष्ट है, सर्वांगीण तत्वों के साथ जीवन का साक्ष्य चाहता है।

'यूरोपा' के बंगला संस्करण को पढ़कर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लेखक को संबोधन करके लिखा था—"तुमने यूरोप के माहात्म्य एवं सौंदर्य को सर्वान्तःकरण से स्वीकार किया है। दृष्टि को प्रसन्न न रखने पर कभी भी नूतन देश को सत्य रूप में नही देखा जा सकता। तुमने आनन्दित मन से यूरोप को देखा है और वही आनन्द पाठकों को वितरित किया है।"

अतएव यूरोप में लेखक की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ मानव-सम्बन्धों से, मानव-सम्बन्ध विशेष परिस्थितियों से और विशेष परिस्थितियाँ सामाजिक सन्दर्भों से एक अविच्छिन्न सम्बन्ध-शृंखला में बँधी हुई हैं। किन्ही आरोपों या मन्तव्यों की अभिव्यक्ति का दर्प यहाँ नही, अपितु भाव की [illegible] और उत्कर्ष, विचार और कल्पना की उन्नत भूमियों के दर्शन होते हैं। भीतर की प्राणशक्ति या निसर्गजात अतिशयता के कारण प्रवाह की खण्ड-चेतना का परिहार हो जाता है, पड़ाव के विराम-चिन्ह लुप्त हो जाते हैं, बुद्धि के भेद-व्यभिचार की अनायास निवृत्ति हो जाती है। देवेशदास ने यूरोप का भ्रमण करते समय वस्तु का अन्तरंग देखा है, उसके गूढ़ार्थ से मन का तादात्म्य स्थापित किया है और अतीत की अतिशयता को वर्त्तमान के काल-तरंग में समाहित कर एक अखण्ड परम्परा का साक्षात्कार कराया है। परम्परा और रीति में भेद है। परम्परा का सम्बन्ध काल से है, रीति का देश से। पर परम्परा और रीति से परे जब कथाकार आलोचक बन जाता है तो जीवन की वैविध्यपूर्ण आढ्यता से प्रभावित अतिसामान्य प्रसगों, चिरपरिचित घटनाओं, पात्रों, परिस्थितियों और समस्याओं को छूता हुआ वह बड़े कौशल से आगे बढ़ता है। कहीं-

कहीं कथाकार की हैसियत से लेखक का उपभोक्ता—उच्छिन्न निरपेक्षता का अतिक्रमण कर—सामने उभर आता है और कहीं-कहीं आलोचक की बौद्धिकता उसके उपभोक्ता को सामान्य स्तर पर उतरने से रोके रहती है। फिर भी वैयक्तिकता के ऊपर सर्वत्र सार्वभौमिकता ही दीख पड़ती है। सौन्दर्य के मौलिक महत्त्व का प्रश्न है जिसे अनेक चित्रशिल्पियों के रुचि-वैचित्र्य का लक्ष्य कर परखा गया है।

"रूप का आदर्श क्या है? हम सब के ही मन के गहन अतल में स्वप्नसंगिनी अथवा निखिल मानस रंगिनी का एक आदर्श रहता है जिसे भाषा में प्रकाशित करने पर वह अन्तर्धान हो जाता है और जो चिरकाल ही हमारे सम्पूर्ण प्रश्न और प्राप्ति के अतीत पट पर रहता है। फिर भी हम एक आदर्श रखते ही हैं—वह चाहे देह-सौष्ठव का हो, प्रकाशभंगी का हो अथवा प्राणमयता का। उसको कवि वर्णित करता है और शिल्पी व्यंजित। अपनी स्वप्नमूर्ति और कल्पना को लिये हम चिरकाल से उसके निकट जाते हैं। इसीलिए हम शिल्प के इतिहास में अनन्त सौंदर्य की शोभा-यात्रा देखते हैं।"

कला की लम्बी परम्परा में विभिन्न चिन्तनधाराओं को मानवी रूप पर लागू कर लेखक उपयोगी एवं तर्कसंगत तत्त्वों को समो लेना चाहता हैं—

"प्रस्तर युग में नारी विशेषत: वंश की जननी थी—जिस वंश को बर्फ़ के युग में यूरोप के कठिन शीत से जीवन-रक्षा करनी पड़ी थी। अत: प्रस्तर युग की नारी थी स्थूलांगी वीरांगना, केवल गजगामिनी नहीं साक्षात् गजेन्द्राणी। गुहा-मानव गुहा गात्र में 'बैसन' शिकार-प्राप्ति के लिए उसका चित्र अंकित करते थे। इससे ही उन्होंने शिल्प को किस रूप में ग्रहण किया था—समझ में आ जायगा। युग-युग में पुरुषों ने संगिनी की जिस रूप में आकांक्षा की उसे उसी रूप में अंकित किया और नारी भी पुरुष के समक्ष उसी रूप में आविर्भूत हुई। सौष्ठव एवं सामंजस्यमय निरवद्य गठन-भंगिमा का सौन्दर्य ग्रीक का आदर्श था। भगवान् ने अपनी आकृति से मानव का निर्माण किया, धर्म की इस शिक्षा को ग्रीक शिल्पियों ने देवी के सौन्दर्य को मानवीय आकार देकर अक्षरश: प्रकाशित कर दिया। उनकी 'वीनस' स्वर्गीय अथवा स्वर्ग सुषमामय नारी की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है। उनके निकट तिलोत्तमा सुन्दरी नागरिक फ्राइनी श्रेष्ठ देव-सुन्दरी के मानव रूप की प्रतीक थी एवं इस कल्पना से उन्होंने देश के सम्पूर्ण शिल्परसिकों का समर्थन पाया था। आर्ट के स्वर्णयुग में इटली के पर्वतीय प्रदेश की सुन्दरियाँ (मैडोना) देवमाता के मॉडल रूप में अवतीर्ण हुईं। उन्होंने ही प्राचीन धर्म-कहानियों के देवियों के चित्र और मूर्ति को रूप दिया। लियोनार्दो की मोनालिसा की ही बात नहीं कहता। अन्य सभी शिल्पियों ने मानवीय मूर्ति में देवी को उपलब्ध किया। करेज्जिओ सब प्राचीन देव-कहानियों के चित्रों में श्रेष्ठ सुन्दरियों को 'वीनस' के रूप में सजाते थे। फ्लीमिश शिल्पी भी यही करते थे, किन्तु उनके देश के सौन्दर्य का मानदण्ड सब के लिए आकर्षक न था, इसीलिए रूबेन्स और रेमब्रांट की हँसमुख गृहणियाँ कभी सौन्दर्य-जगत् में चंचलता नहीं ला पायीं। चित्र-

शिल्प की एक और शताब्दी में शिल्पी नारी का चित्र आँकते समय देवी को भूल ही गये। अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी पम्पादुर, द्युवारी आदि ने राजप्रेमियों की कक्ष-सज्जा में मनोनिवेश किया और अंगरेजी शिल्पी अभिजातों के चित्ररूप लेकर व्यस्त रहे। शेषोक्त चित्र इस समय अमेरिकन लक्षपतियों के आदर की सामग्री हैं---कारण, ये मार्किन धनी के पूर्व पुरुष के परिचय का श्रेष्ठ विज्ञापन और उपकरण है।

फिर भी तो वह मानवी है। किन्तु चित्र-राज्य में और भी अनेक देवी अथवा नारी की प्रतिकृति है जिनका मानवीय आकृति मे गठन हुआ है या नही---इसमें सन्देह है। रसेटी के युग की सारस कण्ठी वेलवती आदि की आकृति अथवा वर्त्तमान युग के क्यूबिस्ट आदि के नारी-चरित्र के अनुकरण में यदि मानवी को देखा जाय तो मूर्त्तिकला के यन्त्रों को प्रस्तर के स्थान पर रक्त-मांस की देह पर चलाना होगा। रुचि का वैचित्र्य इसी को कहते हैं। फिर भी युग-युग से विभिन्न रुचि और शिल्प-धारा का प्लावन प्रतिहत कर ग्रीस की सौन्दर्य-सृष्टि अपनी महिमा का श्रेष्ठ सम्मान पाती रहेगी।"

यूरोप में भ्रमण करते हुए विभिन्न परिस्थितियों और विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों के बीच घात-प्रतिघात द्वारा लेखक का अंतर्मन अधिक स्पन्दनशील और विश्लेषण की दृष्टि से अधिक अर्थवाही हो उठा है। भावुकता के क्षणों में उसका अन्तर्बोध उसके परिवेश के धरातलों का मिलन-बिन्दु है और आत्मस्पर्श की अनुभूति की शक्तिमयी चेतना उसमें अन्तर्निहित अभिराम अर्थ के विलक्षण अन्तर्भाव को सजीव कर कमनीय मूर्त्त रूप प्रदान करती है। भाषा-सौष्ठव, वाग्वैदग्ध्य और अर्थवैचित्र्य की उद्भावना के साथ-साथ उसके प्रांजल भावों की कविता में आत्मा का सुवासमय परिस्पन्दन है जहाँ आनन्द की कम्पनमयी हिलोर समूचे अन्तस्तल को उद्वेलित करती है।

"यदि प्रकृति स्वयं प्राणमयी है और क्रान्ति में कल्पना है तो सौन्दर्य कभी श्रान्ति उत्पन्न नहीं करता।.........पार्वत्य प्रदेश होने के कारण स्विट्जरलैण्ड इतना अच्छा लगता है। एक-एक श्रृंग मानों मानवात्मा की वाणी का प्रकाश है। समतल की माटी का मोह स्वच्छ, लघु और अगंभीर है। उसके ऊपर से आकर्षण बिखर पड़ता है। कहीं न रुकता है और न इकट्ठा होता है, किन्तु असमतल के पत्थर का प्रेम चोटी-चोटी पर आकर्षण का किरीट धारण किये तरंग-भंग के खेल के समान, सरगम की ध्वनि के समान लहरें खेल जाती हैं और समतल से उच्चता मन को ऊपर की ओर रात-दिन अविराम खीचती रहती है। पथिक के लिए, मेरे लिए वह बर्फ़ की चोटी अतन्द्र निद्रा से अनाहूत, चिरकाल से जाग्रत है।"

और "केवल फूल! समस्त जीवन ही फूल के समान विकसित किया जा सकता है। चारों ओर हँसते हुए मुख, स्वस्थ सबल देह और उल्लसित मन देख रहा हूँ। पैरों में अपरूप गति-भंगिमा, नेत्रों में स्वप्न और माथे पर सोने के ऐश्वर्य के लिए कितने लोगों को जाते देखा है। इस पूर्व उपकूल के तम्बुओं के शहर में एक भी ऐसे

मनुष्य को नहीं देखता हूँ जिसको मन ही मन किसी फूल के नाम से भूषित न कर सकूँ। एक शुभ्र निष्कलक मुख को नाम दिया 'लिली व्हाइट', एक लजीले किशोर को 'स्नोड्रॉप' और एक आडम्बरमय प्राणी को 'रोडोडेनड्रन'। शेषोक्त को 'स्नैप-ड्रैगन' भी कहा जा सकता है।

केस्टर में वसन्त की प्रथम मादकता का उपभोग करने आया हूँ, कारण, यहाँ भारतीय शायद कोई नहीं आता। पैर और मन की शृंखला कदाचित् खुल गई है इसीलिये सब ओर से अपने परिचय के हाथों से भी मुक्त होना चाहता हूँ। अपरिचित के साथ परिचय करना चाहता हूँ और निस्संग के साथ विश्रम्भ आलाप। मैं निस्संकोच रूप से अपने बाहर आऊँगा, कारण—कोई मेरी आन्तरिक स्वतन्त्रता पर व्याघात नहीं करेगा और अपरिचयता को अक्षुण्ण ही रखूँगा। व्यावहारिक सभ्यता का आवरण खोलने का मैंने यह प्रशस्त स्थल पाया है।"

लेखक के मन की अनवरत प्रवहमान गति है जो अपने भीतर स्पन्दित साँसों के माध्यम से वह इसी गति-संचरण का आवाहन करता है। उसका उद्वेग अनेकानेक भाव-तरगों और कल्प-विधानों में इतनी शक्ति से प्रवाहित होता है कि लगता है कि पूर्व और पश्चिम की सीमाएँ मिलकर एक हो गई हैं, किन्तु यह उसका वाह्यांग है, उसका अन्तरंग इससे भी महत्त्वपूर्ण है।

'रजवाड़ा'

यही बात लेखक की दूसरी कृति 'रजवाड़ा' पर भी लागू होती है। उसकी यायावर आत्मा राजस्थान के सम्मोहन से खिंचती है। वहाँ जो दर्शनीय है, ग्रहणीय है अथवा सवेदनीय है उसको मन-मजूषा मे सँजोता जाता है और कौतूहल एवं जिज्ञासा भरी उत्सुकता से जीवन-दर्शन के रूप में आत्मसात् भी करता है।

वह यहाँ की राजनीतिक परिस्थितियाँ और सामाजिक जीवन के विभिन्न स्तरों के मूल स्रोत को पहचानता है, उनके भीतर पैठकर अनुभूति प्राप्त करता है और अपने विवरणो तथा समस्त ज्ञातव्य बातों को अभिव्यक्त करता है। 'रजवाड़ा' में राजस्थान का प्राचीन गौरव, इतिहास, पुरातत्त्व, रीति-रिवाज, सामाजिक अर्थ-व्यवस्था, जीवन की विषमता और जटिलता, धर्मगत और जातिगत रूढ़ियाँ, अभिजात्य और मध्यवर्ग की मनोवृत्ति, पूँजीवाद और निर्धनता का संघर्ष, भिन्न-भिन्न मनोदशाओं और विचार-परम्पराओ का उल्लेख है जिससे वर्त्तमान के साथ अतीत भी सश्लिष्ट हुआ सा प्रतीत होता है।

"यह रावत साहब जिस राज्य के जान पड़े वहाँ के राजवंश के एक पूर्वज की कहानी याद पड़ी। वह कोई साढ़े छः सौ वर्ष पहले की कहानी है। वे वर्षों से सुलतान की सेना से लड़ते हुए अपने गढ़ की रक्षा कर रहे थे। एक दिन देखा गया कि किले को अब वचाया नहीं जा सकता। मृत्यु के सिवा कोई रास्ता नही!

उस महामरण से पहले की रात को गढ़ में महोत्सव मनाया गया। पुर-नारियों तथा रानी ने अपनी माँगों में सिन्दूर भरा और प्रियजनों से विदाई ली। उसी रात २४००० वीरांगनाओं ने तलवार की धार या आग की लपटें चूम कर आत्मोत्सर्ग किया। जो चार हज़ार योद्धा बचे वे रात बीतने पर केसरिया बाना पहन, सिर पर मौर रख, हाथों में नंगी तलवारें लिए मौत के मुँह में कूद पड़े और वीरगति प्राप्त की। राजपूत जीवन में दो बार सिर पर मौर रखते थे—एक बार विवाह-मंडप में और दूसरी बार महानिद्रा से आलिंगन करते समय।

और इस प्रकार जब दूसरी बार वे मौर रखते तो उनके कपड़े गेरुआ होते थे। संसार छोड़कर संन्यास लेते समय गेरुआ वस्त्र पहना जाता था। इसी प्रकार इस दुनिया को छोड़ते समय गेरुआ वस्त्र पहने जाते थे। उस समय कोई बन्धन नहीं रह जाता था। उस समय एक मात्र लक्ष्य यही होता था कि शत्रु को मार कर मृत्यु का वरण किया जाय। इसलिए 'ज़र्द कपड़ों वाला' राजपूत सैनिक शत्रु के लिए महाकाल होता था।"

लेकिन मरण वेला के इस रोमांचकारी दृश्य के साथ राजसी ऐश्वर्य और मस्तानी घड़ियों की मादकता भी अविस्मरणीय है जहाँ उन्मत्त भावनाएँ उद्दाम हो उठती थीं और श्रृंगार एवं स्वेच्छा का पोषण होता था।

"जिनको श्रम का दुख नहीं मिलता उन्हें विश्राम का सुख भी नहीं मिलता। नींद भी उन्हीं को आती है जो पसीना बहाते हैं। हीरों और पन्नों से जड़े सुरा और सुन्दरी से लसित सन्ध्या इनमें से बहुतों की जागती आधी रातों को नूपुरों की रुनझुन और नृत्य की मीठी तालों के आघात से उषा के निकट ले आती है। इसके बाद अलसायी उषा आँखों में नींद भरे प्रभात के आँचल में मुँह छिपा कर कब दुपहरी की ओर चली जाती है, इसे हम अभागे जो उस समय कार्य करते करते थक कर घड़ी की ओर देखने लगते हैं—कैसे जान सकते हैं।"

राजस्थानी जीवन और समाज की विसंगतियों पर कहीं-कही लेखक ने गहरी चोट की है। यह सही है कि वह उन कारणों को जानता है जिनमें समाजिक राजनीति, समाज नीति, अर्थ नीति में जनजीवन का उत्थान-पतन होता है अथवा जिनके प्रभाव से उस युग विशेष के लोग अपने-अपने वर्ग-स्वार्थों में आबद्ध रह कर कार्य करते हैं, किन्तु किसी भी देश अथवा युग में जीवन-यापन के प्रतिमान मूल मानवीय प्रतिमानों से भिन्न या विरोधी नहीं हो सकते, अतएव वह व्यष्टि और समष्टि के एकीकरण में ही जीवन का पूर्णत्व खोजता है तथा उस व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को (भले ही वह व्यक्ति शासक या ऐश्वर्यशाली हो) हिक़ारत की नज़र से देखता है जो शोषण को प्रश्रय देता है, यथार्थ से पलायन का पाठ सिखाता है और दूसरे की स्वतन्त्रता की अवमानना करता है। तेजस्वी क्षत्रिय वीरों के युद्धोत्साह, क्षात्र धर्म और स्वामिभक्ति की अनुवर्तिनी प्रतिपक्षी से युद्ध में तिल-तिल करके कट मरने की

बलवती आकांक्षा की जहाँ प्रशंसा है वहाँ आनन्दोपभोग के आकर्षण और सुरा-सुन्दरी के प्रलोभन पर गहरा तिरस्कार और निंदा का भाव भी उसमें हैं।

"उनमें मौज उड़ाने की प्रवृत्ति बहुत थी, साथ ही अपने मन की वासना को रंगीन बनाकर वह उसे इन्द्रधनुष की तरह आकाश में फैला सकते थे। न मालूम कब क्या हो जाय, सिर रहे या न रहे, इसीलिए सुखभोग के सम्बन्ध में उनकी नीति इस प्रकार रहती थी—

"बूढ़े बढ़े लेत कमाय, आखिर जैहे सींग दिखाय।"

मध्ययुगीन सामन्ती व्यवस्था के खण्डहर पर अंगरेजों ने देशी रियासतों का ढाँचा खड़ा किया था। इस दीर्घ काल में एक प्राणहीन ह्रासोन्मुख परम्परा का अर्से तक निर्वाह होता रहा, किन्तु परम्परावादी रूढ़ियों में जकड़े राजस्थान को नव-युग ने मुक्त किया और एक नई सजीव परम्परा में दीक्षित किया। आज़ाद भारत की प्रजातान्त्रिक सत्ता द्वारा सामन्ती समाज-विधान के क्षय के साथ उक्त परम्परा का ह्रास अवश्यंभावी हो गया। देवेशदास लिखते हे "मनुष्य समाज में बैठकर ही में इन बातों पर विचार कर रहा हूँ और सो भी पुराने रजवाड़े के बगल में जो राजस्थान उत्पन्न हो रहा है उसी के वातावरण में यह आलोचना चल रही है।"

'मास्को से मारवाड़' और अन्य कहानियाँ

अपनी तृतीय कृति 'मास्को से मारवाड़' में भी लेखक एक सचेत आत्मनिष्ठ कलाकार की भाँति नए मूल्यों की नई मर्यादाओं को स्थापित करने में उतना ही जिज्ञासु और जागरूक है। एक यायावर की हैसियत से दूसरे देशों के जीवन, समाज, संस्कृति और आचार-विचारों के प्रति उसकी एक स्वतन्त्र दृष्टि है और चरित्रों की बहुरंगी गाथाएँ कहानियों के रूप मे उभर कर संदर्भो से परे मानव-मूल्यों का मूल्यांकन करती हें जो किसी को ज़बर्दस्ती लक्ष्य करके नहीं बल्कि उसकी अपनी आस्था पर उपजी और चरितार्थ हुई हे। वाह्य जीवन-वृत्त अथवा तत्सम्बन्धी संस्मरणात्मक तथ्यों को लेकर सत्य और कल्पना का उचित समन्वय उनकी कहानियों की विशेषता रही है, पर उनका उत्स कही न कही उनके विचारों एव अनुभवों में अन्तर्निहित रहता है।

उनकी कहानी-टेकनीक की सबसे बड़ी कसौटी है—कल्पनात्मक सहानुभूति। इसी सहानुभूति के कारण मनस्तत्त्वों के अभ्यन्तर में प्रवेश कर देखने में वे समर्थ होते हे और अन्य के समक्ष मूर्तिमान रूप में प्रस्तुत करने में सफल। अतः सतही परिचय की सीमा से बढ़ कर तदाकार परिणति की स्थिति में वही उनके अन्तर की गहराई से स्फूर्त सत्य बन जाता है। 'सपने के संसार' कहानी में एक साधारण जिप्सी के उद्गारों एवं अनुभूति-अभिव्यक्तियों के मर्म को भी यथावत् रूप से हृदयंगम करने की चेष्टा की गई है।

"मैंने उसके नेत्रों में विषाद की छाया देखी। उसकी विशाल देह बड़ी असहाय और भग्न हो गई थी। मुझे उस पर दया आई, मैं उसे कतई धोखा नही देना चाहता था। मुझे ऐसा लगा कि उसके रूक्ष वाह्य शरीर के भीतर कही अत्यन्त असहाय कोमल अन्तर है।"

रूडी जिप्सी भावुक किन्तु स्पष्टवादी व्यक्ति है। उसके मुख से उसकी अपनी परम्परा, संस्कार और अनुभव से प्राप्त अनेक प्रेम और विवाह सम्बन्धी अद्भुत सत्यताओं का उद्घाटन कराया गया है। यहाँ इन्सान की आत्मा बिना किसी वाह्य आवरण के सामने उभर आती है। दरअसल, मानव व्यक्तित्व के कितने ही अछूते पहलू है, जो किन्ही ख़ास परिस्थितियों और मोड़ों पर, जीवन के कूल-किनारों से लहरों की भाँति बार-बार टकराकर, नए-नए चिह्न बना जाते है और इस प्रकार अनुभूति के स्तरों और प्रेरक परिणामों में बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

'निशा-स्वप्न' में वृद्ध इटालियन बूनो के भावुकता भरे आकुल उद्‌गार एक गहरी अनुभूति, चितन और दर्शन से अभिभूत मनोभावों का दिग्दर्शन कराते हैं।

"यौवन रंगीले स्वप्नों का समय है, परन्तु काल किसी को भी यौवन-स्रोत के तट पर बैठकर प्रतीक्षा नही करने देता। बूनो भी उसके प्रवाह में बह गया और अब उसमे कोई आकर्षण नही रहा।

यह स्वाभाविक भी है। वे अधर जो ओसकण से भीगे उषःकाल में पुष्पदल सदृश थे, सूर्यताप लगने से पूर्व ही मुरझा गए।

काल किसी के लिए भी नही थमता। प्रेम के लिए भी नही। 'आज' सत्य है, एक मात्र सत्य। आगामी कल को वह हो जायगा अतीत और मिथ्या। कवियों ने अनन्त प्रेम की महिमा का गान किया है, किन्तु मनुष्य चाहता है आज के प्रेम की माधुरी। अनन्त की तुलना में वर्तमान बिन्दुमात्र भी कम सत्य नही है।"

अन्त में एक प्रश्नचिन्ह लगा कर बूनो के उच्छृंखल ऐय्याश व्यक्तित्व का नकाब उतार फेंका है और सिद्ध किया है कि मानव-चरित्र इस बौद्धिक वातावरण में विकसित और उन्नत होता हुआ भी कुतूहल, विस्मय, भ्रान्ति और विभ्रम की वस्तु बना हुआ है। इस तरह के व्यक्तियों का अपना एक ख़ास तबक़ा होता है। ये आवारा घुमक्कड़ जरा शानदार होते है और अपने फ़न के उस्ताद। उनकी आँखों में कृत्रिम रौब होता है और अदाओं में ग़रूर टपकता है जो मानस को अभिभूत कर लेता है।

"दोष किसी का नही। दोष यदि किसी का है तो इस देश के नीले आकाश का है, जिसने यहाँ की तरुणियों के नेत्रों से रंग छीन लिया है। दोष इस वेनिस की जलराशि का है, जो सहस्र-सहस्र लहरों में नाचता प्रत्येक रूपसी के घर के नीचे से सारे दिन और सारी रात्रि गान करता हुआ अनन्त में लीन हो जाता है। भारतीय

होने के कारण तुम समझ जाओगे कि इस वेनिस के जल की लीला, चंचलता इटली की युवतियों की हृदय-माधुरी का सजल संस्करण है।"

बूनो की लच्छेदार भाषा और पदावली ने मुझे दिशाहारा कर दिया।

"...मैं समझ न सका। दूर छोटी नाव पर एक माझी त्रिभंग होकर खड़ा था। बूनो की कहानी सन्ध्या के तारे के समान मेरे मन के आकाश में झिलमिला रही थी।"

जिस निगूढ दर्शन का इन कथा-चरित्रों में आभास होता है, लगता है कि हमारे निकट ही है और एक स्वभावगत अनासक्ति जीवन के प्रत्येक चरण, प्रत्येक विकास व प्रगति मे सत्य का शोध चाहती है। मानव-चरित्र का विश्लेषण करना अथवा उसके जीवन और कार्य को पृथक्-पृथक् करके देखना व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव है, पर चरित्र प्रायः परिस्थिति के अनुकूल ढला करते हैं, हाँ उनका स्पष्ट अनुक्रम कभी-कभी ओझल हो जाता है, क्योंकि जिस हवा-पानी में मनुष्य पनपता है, पलता है, उसका प्रभाव भीतर-ही-भीतर जाने-अनजाने उसके आचार-विचारों और संस्कारों में भी रम जाता है। सहसा विपरीत परिस्थितियाँ उसके जीवन की धारा को दूसरी ओर मोड़ देती हैं। अक्सर देखा जाता है ये चारित्रिक पुष्प एक ही देश की धरती में उपजे, यकसाँ मिट्टी-पानी से उन्हें तरावट मिली, यकसाँ हवा उनको थपकियाँ देती रही, एक ही आसमान की शबनम उन्हें भिगोती रही और एक ही सूर्य-चन्द्र के प्रकाश मे उनमें प्राण-स्पन्दन जगा। उनके चतुर्दिक् छायी फिजा भी एकसी है और इसी फिज़ा से उनमे रंगीनियाँ और सुगन्ध आ बसी है, पर उनके रूपरंग कितने भिन्न हैं, कितने अजीबोगरीब। यों मानव-जीवन विचित्र अबूझ पहेली है और सामाजिक व्यवस्थाओं ने तो उसे और भी विचित्र एवं अबूझ बना दिया है। ये अबूझ चरित्र हमें उलझाते रहे हैं और उलझाकर अलग-अलग फिरक़ों और जमातों में हमारे समक्ष उभरते हैं। नये लेखक और विचारक काँपते-काँपते इनके पन्ने खोला करते हैं।

विचित्र रूप, रस और गंध की दुनियाँ में भ्रमण करते रहने के कारण देवेशदास जमाने के विधि-निषेधों और चारित्रिक सूक्ष्मताओं से अवगत हैं। मास्को, हिवरी-डीस द्वीप, बर्मा, वेनिस, स्पेन, इगलैण्ड, फ्रान्स, रोम आदि दूर देशों के कितने ही पात्र और व्यक्ति जिन्दगी के दौर में इन्सानियत के ऐसे तकाज़े हैं जिनके रक्त, रूपरंग, रुचि, मान्यताओं, आदतों और विचार-परिपाटियों को बड़ी खूबी के साथ पेश किया गया है। सभी चरित्र निरालापन लिये हैं और उनके चित्रण में अजीब-अजीब टेकनीक बरती गई है। उक्त पुस्तक की कहानियाँ निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध करती हैं कि यौवन की मस्ती में तूफ़ानी हलचल होती है और प्रेमावेश के कसमसाते ऊफ़ान जिन्दगी को लहरा-लहरा देते हैं। करुण संवेदना और प्यार का नित्य प्रवर्द्धनशील यह तूफ़ान मौत से टक्कर लेता है। प्रणय की दिलक़श मौत से—दूसरे शब्दों में जिसे चिरव्यथा कह सकते हैं, जहाँ भग्न हृदय निराशा के शिकंजे में जकड़े जाते हैं और विस्मृति के

गहरे गह्वर में उनकी चिरपोषित आशा-आकांक्षाओं के पौधे तिरोहित हो जाते हैं। 'मास्को से मारवाड़' में तरुण और तरुणी के उन्मुक्त, उद्दाम प्रणय के विकास का विश्लेषण करते हुए उसकी परिणति का चित्र खींचा गया है। 'मास्को से मारवाड़' की कतिपय कहानियों को जर्मनी की एक साहित्यिक पत्रिका में भी प्रमुख स्थान दिया गया है।

इनकी परवर्ती कहानियाँ 'मरु मंजरी','फलि बार जोयार','सोहो','अपरा' आदि में कथाशिल्प और आनुभूतिक मार्मिकता बढती गई है। अतृप्त प्रेम की उद्दीपक लिप्सा से अधिकाधिक सूक्ष्मता की ओर रुझान होता गया है और निरपेक्ष अभि-व्यंजना एवं भाव-विनियोग को प्राधान्य मिला है। प्रेम एकमात्र शरीर की भूख नही है, न निरी वासना। वह केवल मुक्त अथवा इन्द्रियगत भी नही है, आत्मगत है। 'मरुमंजरी' में मरुभूमि की बालुका राशि में काल के व्यवधान को चीर कर सुदूर अतीत के गोपन प्रणय का ऐतिहासिक आख्यान उभरता है। निःस्तब्ध रात्रि की स्वप्न-मूर्च्छना में शनैः-शनैः वह दृश्य मनःचक्षुओं के समक्षस जीव होकर मूर्तिमान हो जाता है जिसमें बंगाल के किसी दरिद्र ब्राह्मण की सुन्दरी कन्या का विक्रय तरुण मुस्लिम नवाब को छिपाकर किया जाता है, पर कालान्तर में सन्देह के कारण नवाब द्वारा उसी प्रिय रानी का बध कर दिया जाता है। ऐतिहासिक परिस्थितियाँ साधारण हैं, किन्तु कथाकार ने अपनी भीतरी प्रेरणा से खण्डशः एक प्रसंग को दूसरे प्रसंग से संश्लिष्ट करके कहानी का ढाँचा खड़ा किया है। कहानी में नाटक के दृश्यों की अवतारणा की गई है। गन्धराज की सुरभि से समाच्छन्न वातावरण में मोह तथा जड़ता के निद्राभंग के साथ ही कहानी की सूक्ष्मता पकड़ में आती है, अन्यथा मोहाविष्ट वर्णन कथन के प्रत्यक्ष साक्ष्य को व्याहत किए रहता है।

"तुम कौन हो रूपसी ! जिसकी सुललित बाहुबल्लरी ने मुझे बुलाया, जिसने बार-बार राजकीय अश्वयान मेरे सुखविहार के लिए भेजा, जिसने मेरे गले में अपनी मीठी स्वरलहरी संचरित कर दी। तुम कौन हो रहस्यावृता रूपसी ! रूपसागर की अमृत निषिक्त मूर्ति, तुम कौन हो ? तुम निशाधरी तो नही, अलौकिक जगत् की लुब्ध कल्पना की भैरवी अदृश्य चारिणी या स्वप्न विहारिणी भी नहीं हो। समस्त दिन-रात्रि तुम मेरे कष्ट में, हृदय में और दृष्टि में समायी रही, मै तुम्हारा अनुसरण करूँगा, तुम्हारे आभरण की रिणिकनी सुनते-सुनते पीछे चलूँगा।"

और 'फलि बार जोयार' में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि द्वारा चरित्र की जटिल मनो-वैज्ञानिकता के मूल केन्द्र को स्पर्श किया गया है।

"अकस्मात् सामने के शीशे पर दृष्टि पड़ गई। सारे दिन जो कुछ खाया-पिया नहीं था उसकी स्पष्ट छाप सामने थी। यह अनशन तो केवल एक दिन की ऐसी ही सामान्य बात थी। मगर कल की वह लड़की ? सोचते ही उत्तेजित हो उठा।

शरीर तन्वी नहीं था। अनाहार और अल्पाहार से क्षीण हो गया था। जिसे

भरपेट भोजन नहीं मिलता है उस लड़की का मुख अल्पवयस ही में क्लान्त नहीं होगा तो और क्या होगा। और कवि व रसिक लोग क्लान्त दुखी दृष्टि को वन-हरिणी की भीरु दृष्टि ही समझेगे। पाला पड़ती हुई ठंडी रात को जो लड़की केवल पोलो-गाउन पहन कर बाहर घूमने निकल पड़ती है उसका मतलब पैसा कमाने का ही नहीं होता है। उसका मुख देख कर ही समझ मे आ जाता है कि न उसके ठहरने की कोई जगह है, न उसके पेट मे एक टुकड़ा कौर का पड़ा है।"

आज के वर्त्तमान युग मे आर्थिक विषमता की घोर कशमकश है। कितने ही प्रश्नचिन्हों ने मन मे ऐसी ग्रथियाँ डाल दी हैं जिनके कारण ग़रीबी और बेबसी की विडम्बनाओं को लेकर न तो मनुष्य की विशिष्टता के प्रति आस्थावान हुआ जा सकता है और न उसमें आत्मविश्वास ही विकसित हो सकता है।

'सोहो' और 'अपरा' मे सुजित एवं आजेता के व्यक्तित्व मे लेखक ने एक और तत्त्व का विकास दिखाया है और वह है प्रेमतत्त्व। जिनका प्रेम समर्पण है, प्रतिदान है, वह विलगाव या दूरी नही चाहता।

"जिसे इतने दिनों से चीन्हा, जाना, पहिचाना और मन का देन-लेन किया उसे देने के लिए क्या कुछ रह जाता है?"

इसके विपरीत आजेता का प्रेम-व्यापार और मानसिक संतुलन बड़ा ही विचित्र है। उसकी सम्मति में विवाह प्राचीनों का आदर्श भले ही रहा है, पर उस समय के आदर्श आज बदल चुके है। वैसी परिस्थितियाँ और वातावरण न होने से धारणाएँ भी परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। आजेता के शब्दों में—
"भविष्य है क्या विवाह? मगर उसके लिए इतना कष्ट उठाकर पढ़ने-लिखने की क्या आवश्यकता थी? दरिद्रता और अस्तित्वहीनता के साथ विवाह? नीरस पुरानी सड़ी-गली बातों के पीछे यौवन की समस्त आशा-आकांक्षाओं और सपने मिटा दिए जाएँ? नही, कोई नये ढग का रास्ता पकड़ कर चलना होगा।"

फलतः आजेता का प्यार अनुशासन के रास्ते आड़े आया, न कभी अनुशासन ही इतनी एकांगी हुआ कि वह परिस्थिति विशेष की आवश्यकताओं पर हावी हो उठता।

यांत्रिक युग के नैराश्यमूलक आवेष्टन एवं परिवेश के परिणामस्वरूप मस्तिष्क की प्रगति मे जहाँ हृदय बहुत पीछे छूट जाता है और वैयक्तिक कुण्ठाओं से घिर कर आदर्श और आचरण मे, विचार और मनन में, यहाँ तक कि पहले से चली आती हुई परम्पराओं से सर्वथा भिन्न नये विकास की ओर उन्मुख होता है तो ज़िन्दगी की मान्यताओं में प्रत्यक्ष और अप्रत्याशित रूप से परिवर्त्तन हुआ करता है। वांछा और अपेक्षा के दो कूल-किनारों के नीचे ये मान्यताएँ टकराती है।

सुजित के प्रेम के प्रतिदान में क्या देना चाहती है यह आजेता? आखिर क्या? उसकी दयनीय विपन्नता की करुणा अथवा अपनी रिक्तता की सहानुभूति?

कुछ समझ में नही आता।

'रक्तराग'

देवेशदास की अन्यतम प्रौढ़ कृति 'रक्तराग' इनकी प्रयोग-चेतना का सफल प्रतिनिधित्व करती है। उपन्यास का प्रारम्भ सैनिक वातावरण में होता है। सैनिकों की जिन्दादिली और हँसी-मज़ाक की प्रवृत्ति में जीवन की ना-ना रोमांचकारी घटनाओं का ऊहापोह नव आकर्षण की उद्दामता और आह्लाद में डूबा रहता है। सैनिक जीवन के कितने ही अनुभवों और यथातथ्य घटनाओं का समावेश उक्त समस्या में हुआ है जिसमें लेखक सिद्धहस्त है।

कथा-नायक देवल सिन्हा मिता नाम की लड़की से प्रेम करता है। पर चूँकि वह मुखर नही है, उसका गंभीर प्रेम नई निष्ठा को जन्म देता है। सच्चा प्रेम ऐसा अटूट अविच्छिन्न तार है जिसे तोड़ कर दो टूक नही किया जा सकता। मिता से दूर रह कर देवल में और भी अधिक विश्वासजन्य स्थिरता आ जाती है और मर्मान्तक कसक लिये वह सैनिक जीवन में भी, लुके-छिपे मूक भाव से, प्रेम की लौ जगाए रहता है।

मुखर प्रेमियों को जिन्हें अनायास मनचाहा मिल जाता है हृदय पर लगी ठेस का अनुमान नही होता। प्रेम और प्रेम के रंगीन फदे उनके लिए दिलचस्प क़ैद साबित होते है, पर उनकी रातें निद्राहीन नहीं होती, उन्हें ठोकर नहीं लगती और उनकी भावनाओं से लहू नही टपकता।

मिता या देवल में प्रेम का उथलापन नहीं है। गहराई में उतर कर भावनात्मक आवेशों में उनका मन उफनता भी है तो भीतर ही भीतर। बाहर उसका एहसास नही होता। केवल उसकी कलाई में बँधी घड़ी की धीमी टिक-टिक उसके अन्तरंग प्रेम की साक्षी है और घड़ी के ढक्कन के भीतर रखी प्रिया की प्रतिच्छवि में उसके मन को बाँध रखने का आग्रह है, मानो वह उसे दिशाहारा न होने की अहर्निश प्रेरणा देती रहती है—

"देवल ने बाम कलाई पर बँधी घड़ी को अपने से चिपटा लिया। उस घड़ी के पीछे ढकने के भीतर एक छोटी सी छवि थी। यदि कोई कलंक लगा तो यह छवि उसे सान्त्वना देगी और सहायता करेगी। वह अकेला नही है।"

आतुरता, तृष्णा, कल्पना, अनुभूति—देवल के प्रेम-तरु की जड़ के तमाम सूक्ष्म तन्तु मिता में लिपट गए हैं। घड़ी के रन्ध्रों में साँसों की लय के साथ एक मोहक आकांक्षा जगती है, जिसमें देवल को मिता की आवाज़ डोलती सी लगती है—"यह घड़ी टिक-टिक करती समय बताने के साथ ही मेरी बातें भी तुम्हें बताती रहेगी। तुम्हारे साथ यह मेरा चित्र रहेगा। यह घड़ी तुम्हारे मन में और कोई बात आने न देगी। मैं आज संध्या को तुम्हें छोड़ कर जा रही हूँ, किन्तु तुम यही समझना कि मैं सर्वदा तुम्हारे साथ हूँ।"

विदा के समय कहे हुए मिता के ये उद्बोधन वाक्य मानो देवल के अन्तर का गीत बन गये और प्रणय-गीत की नित उठती प्रतिध्वनि उसकी भीतरी पुकार की गूँज बन गई।

मन की यह भावनात्मक प्रतिक्रिया उसे एक हद तक चिन्तनशील बना देती है और उसके समस्त बाहरी क्रिया-कलापों को प्रभावित करती है। फिर भी सारा कथानक नायक के केन्द्रीय व्यक्तित्व के चतुर्दिक् बुना गया है। मिता की याद और उसको प्रति पल-पल महसूस होता आकर्षण उसकी जीवनान्वित प्रवृत्ति है, जो उसके विचार-प्रवाह को प्लावित करती रहती है।

इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं कि प्रबल प्रणयोच्छ्वास के मुकाबले देवल के सैन्य जीवन में विद्रूप एकरसता थी अथवा भयंकर उथल-पुथल। उदासीनता और सूनेपन के भारी बोझ के बावजूद इस एकरसता अथवा उथलपुथल में भी उसके भीतर एक निष्करुण दाह थी जो बौद्धिक अनासक्ति जगाती थी या दाह की ज्वाला को मधुर स्मृतियों की स्निग्धता से ओतप्रोत कर देती थी।

मौन आवरण की तह के भीतर एक गुप्त विह्वल आकांक्षा लिये हुए भी देवल में साहस की कमी नहीं है। बौद्धिक स्तर पर वह बेहद ईमानदार है। उसमें कोई पूर्वाग्रह नहीं, कोई संकीर्णता नहीं, निषेध का आग्रह और अहंकार भी नहीं है। दृष्टि की पैठ गहरी है और उसमें काम करने की स्फूर्ति और सामर्थ्य है। युद्ध की भयंकर और रोमांचकारी परिस्थितियाँ भी उसे विचलित नहीं करतीं। ऐसे अवसरों और बोझिल क्षणों में व्यक्त किये गए उसके विचार और उठाये गए क़दम उसकी क्रियात्मक गतिशीलता और हर क्षेत्र में नई राह ढूँढ़ने की प्रेरणा के परिचायक हैं।

कालान्तर में देवल आई० एन० ए० का उच्चाधिकारी हो जाता है। मिता भी निष्क्रिय होकर नहीं बैठती। असंगत घटनाओं और परिस्थितियों से समझौता करने के अविराम प्रयत्न और संघर्ष के दौरान में वह अंग्रेजी सेना की 'बाकाई कमांडर' हो जाती है। राजनीतिक विचारधाराओं में इतनी घोर विषमता होने पर भी जब देवल और मिता की अकस्मात् भेंट होती है तो हारे-थके अन्तर्मन में खुल कर खेल रही महत्त्वाकांक्षाएँ पर्वतश्रृंग से गिरते प्रबल वेगमान प्रवाह के समान अभी भी, उसी वेग से, मन के तटों से टकरा रही हैं। दोनों के मन में संघर्ष हो रहा है और आखिर मिता ने देवल पर विश्वास करके बता ही तो दिया कि क्या बात है और कहाँ उसका मन रमा हुआ है। देवल को निराशा अवश्य हुई थी, किन्तु आक्रोश नहीं। घृणा भी नहीं। मिता के प्रति गहरी कृतज्ञता का भाव तब भी बना ही रहा। मिता ने उससे कहा था—"प्यार—यही यथार्थ तत्त्व है। प्रतिदान न मिलने से कोई क्षति नहीं।"

देवल का प्यार तो और भी गहरा है, शरीर की स्थूल कामना से परे। जिन सूक्ष्म तन्तुओं से जीवन की आकांक्षा बुनी जाती है वे यद्यपि छिन्नभिन्न हो गए थे तथापि मिता का आश्वासन और सहानुभूति उन विच्छिन्न तन्तुओं को धैर्य से थामे

रहने का आग्रह करते हैं।

"भगवान् तुम्हारा भला करे, देवल ! मंगल करे ! मेरी बात याद रखना। जाओ, अब जाओ !" मिता ने अपने हाथों से देवल को अंधकार में ठेल दिया। अंधकार ऐसा था कि हाथ को हाथ दिखाई नही देता था। नेत्रों से कुछ भी नहीं देखा जा सकता था। वह अंधकार समस्त जीवन मे छाया हुआ था। सारे मन को ढके हुए था। उसी अन्धकार में मिता पीछे खड़ी रह गई।

और रह गए उसके नेत्रों में आँसू......मन का रुदन।"

और इसी निविड़ अंधकार में देवल की उत्तमा नाम की रमणी से भेंट होती है। दोनों का देर तक साथ रहता है और उत्तमा देवल की ओर आकर्षित हो जाती है, पर उखड़े-पुखड़े कैशोर जीवन में देवल ने जिसे प्रथम प्यार दिया उसे मन से नहीं निकाल सका। कोई आग्रह नहीं चला। मिता का आग्रह भी नहीं और उत्तमा की अनुनय भरी करुण दृष्टि की बेधक व्यथा भी नहीं। देवल ने दृढ़ निश्चय कर लिया—"मिता को जो उसने मन दिया है, वह मिता ने नहीं लिया है। किन्तु उसे देने पर भी उसके मन के ऊपर उसका सब अधिकार समाप्त हो गया है। संसार में अब और किसी के लिए उसका प्रेम बिल्कुल बाकी नहीं रह गया है।'

कोर्टमार्शल के पश्चात् जेल में विदा की बेला आई और देवल ने अविचलित रह कर सभी से विदा ले ली। मिता की प्रगल्भ निवेदन भरी निष्कम्प आँखों से विदा, उत्तमा के मौन कोमल आग्रहों से विदा और उसके अपने सीने में ज़ोर-ज़ोर से बेकाबू होकर धड़कनेवाली प्रणयाकांक्षाओं से विदा। तभी विलायती बैंग पाइप बजने लगा। देवल को लगा "मानो विहाग में विदाई का स्वर बज रहा हो ! भुवन भर में अभी निर्जन, निस्संग संध्या समा जायगी।"

इस तरह की रिक्त संध्या देवल से क्या लेकर जाएगी ? देवल नें निमिष भर सोचा। केवल निमिष भर। उसके बाद उसने अपने को स्वाभाविक रूप से मज़बूत किया। वह वीर है, योद्धा है, वह हार सकता है, पर हार नहीं मान सकता। जीवन के साथ, भाग्य के साथ लड़ने की शक्ति होना ही उसका सबसे बड़ा लाभ है। यही सबसे बड़ा संयम है। नहीं उसकी संध्या रिक्त नहीं है, वह रक्तराग से भरी है।

इस उपन्यास में नायक और नायिका के चरित्र के अतिरिक्त और भी बहुत से आनुषंगिक पात्र चित्रित किये गए हैं जो कथानक के विकास में अनिवार्यतः सहायक होते हैं और जिनकी वजह से उपन्यास में अनेक प्रभावोत्पादक स्थल मन को मोह लेते हैं। पात्रों को ऐसे स्तर से उठाने का प्रयत्न किया गया है जहाँ वे केवल व्यक्ति नहीं, वरन् सैन्य जीवन के अलग-अलग 'टाइप' हैं। उसकी निरन्तर साँसत में पड़ी ज़िन्दगी के उतार-चढ़ाव, सुख-दुःख और संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं की कहानी—एक प्रकार से उनकी सैद्धान्तिक एवं जीवन सम्बन्धी मान्यताओं को समझाने का अवसर प्रदान करती है और वह भी केवल एक बुद्धिजीवी का कोरा रुख नहीं है, अपितु

उसमें तो लेखक के अपने अनुभवों की सचाई बोलती है। देवेशदास 'इण्डियन सिविल सर्विस' के एक उच्च पदाधिकारी हैं, अतएव उन्हें सैनिकों के चरित्र, उनकी छोटी-मोटी मनोवृत्तियों और प्रवृत्तियों को पास से अध्ययन करने का मौका मिला है। अनेक प्रश्नो के हल उन्होने स्वयं ढूँढे हैं और मानसिक किवा बौद्धिक से अधिक समृद्ध और विविधतापूर्ण, साथ ही मनोवेगों के उतार-चढ़ाव से मुक्त तथा वाह्य आग्रहशील उद्वेलनो से सर्वथा विलग रह कर नीरव अन्तर में गम्भीर तथा मौलिक अन्तर्प्रेरणा द्वारा उनकी जीवन-स्थिति और गति का निर्धारण भी किया है। यह पूछे जाने पर कि उनके लिखने के प्रेरणा-स्रोत क्या हैं देवेशदास ने बताया था—

"मै उन स्रोतों से लिखने की प्रेरणा ग्रहण नही करता जो आम तौर से लेखकों के प्रेरणा-स्रोत हुआ करते हैं। इसका मुख्य कारण है कि महज लिखने की वजह से मै नही लिखता, अपितु निरीक्ष्य वस्तुओं को मन में सँजोता चलता हूँ और तज्जनित परिस्थितियों, इन्सानी खुशियों या बदकिस्मती पर कैसा प्रभाव डालती है इस पर ग़ौर करता रहता हूँ। उक्त प्रभाव अमिट रूप से मस्तिष्क पर अंकित हो जाते हैं और जब लिखने लगता हूँ तो ये ही प्रतीक उभर कर व्यक्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ 'रक्तराग' मे सैन्य जीवन का चित्रांकन करते हुए कोई खास प्रेरणा मेरे समक्ष नही थी, बल्कि उन सीमान्त युद्धबन्दियों के दुःख-दर्द, इच्छा-आकांक्षाएँ और स्वप्नों का सीधा-सच्चा, व्यावहारिक अनुभव मुझे हुआ था जो सारे भारत में मेरे अधीन थे और जिनसे सैन्य जीवन के बारे मे लिखने की मुझे प्रेरणा मिली। मैंने उन्ही से जाना कि दूसरे सिपाहियों को मारते हुए, शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाते हुए, बचाव के लिए भागते हुए अथवा बन्दी बना लिये जाने पर उन्हें कैसी अनुभूति होती है। मैंने उन्ही के मुँह से सुना कि अपने परिवार के सम्बन्ध में वे क्या-क्या सोचते है अथवा उनके परिवार वालों पर ही उनसे प्राप्त खबरों एवं समाचारों की कैसी प्रतिक्रिया होती है और तब अपने प्रिय जन के अस्तित्व और भावी सुरक्षा के सम्बन्ध में कैसी-कैसी आशकाएँ उठती है और क्योंकर उनका समाधान होता है। विगत महायुद्ध के समय जब-जब मुझे मिलिट्री मेस में जाने का मौका मिला था हर जाति और धर्म के सैनिको के साथ कंधे से कंधा भिड़ा कर काम करना पड़ता था, साथ ही सैन्य टुकड़ियों की क़वायद आदि सैन्य प्रशिक्षणों का निरीक्षण करना पड़ता था, तब-तब उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आकर मैं सीधे उनके जीवन, विचार, दृष्टिकोण और अनुभवों को समझने-बूझने की चेष्टा करता था। 'रक्तराग' मे जो स्वप्न और अनुभूतियाँ अंकित है वे मेरी नही उनकी हैं। यहाँ तक कि युद्ध और पारस्परिक संघर्षों का वर्णन मेरी अपनी कल्पना से नही बल्कि उनके द्वारा देखे तथा बताये तथ्यों के आधार पर हुआ है। आप कदाचित् इसे लेखक की अंतःप्रेरणा कहना पसन्द न करें, पर ये ऐसे सच्चे अनुभवों की दास्ताँ है जिसने मुझे गहरा झकझोरा है और वस्तुतः जिससे मुझे सँजोयी अनुभूतियों, घटनाओं और वातावरण के चित्रण करने की

अंतःप्रेरणा मिली है। जैसे कि मैंने 'रक्तराग' की भावभूमि का उपसंहार करते हुए लिखा है—'इसमें वर्णित घटनाएँ एवं युद्ध सब कुछ सत्य हैं। केवल इतिहास को साहित्य का मोयन दे दिया गया है।"

इस प्रकार सच्ची घटनाओं के समावेश ने उपन्यास की महत्ता को कई गुना बढा दिया है। सफल औपन्यासिक के नाते लेखक की कल्पना की परिष्कृति और मौलिक उद्वेगों की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ जीवन के मूर्त्त, सघन, नानारूपी और जीते-जागते चित्रो के रूप में उसकी समर्थ लेखनी से उभरे हैं जिनमे प्राण-संचार है और विभिन्न मनोदशाओं की प्रचुरता का समाधान। घटनावैचित्र्य अधिक नही है, पर वर्णित घटनाएँ यथार्थ के समीप है और सैनिक जीवन में ऐसी घटनाएँ प्रायः घटती रहती हैं। सबसे बड़ी खूबी तो यह है कि उन्होने इस सीमा में भी सैनिकों के जीवन को अनेक दृष्टियों से देखा-परखा है और जब-जब उक्त चरित्रों में अपनी कल्पना और सहानुभूति का रंग भरा है तो वे असली रूप में ही उनके सामने आये हैं। एक दूसरे प्रश्न के उत्तर में देवेशदास ने कहा था--"मुझे विश्वास है कि इस बौद्धिक युग में हमें भी बौद्धिक होना चाहिए और उपन्यास लिखते समय तो जीवन के प्रति बिल्कुल सच्चा और ईमानदार। बौद्धिक संवेदनाओं और भावात्मक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप भले ही निजी सर्जनाओं में नया रंग भरा जा सके, पर अपनी वास्तविक वस्तुस्थिति से उन्हें कैसे विलग किया जा सकता है। मेरी सम्मति में कथाख्यान से वह व्यक्त नही होता जो उपन्यास से जाहिर होता है। मै यह भी सोचता हूँ कि पलायनवादी साहित्य आज के युग के लिए यथेष्ट नहीं है, इसी प्रकार न ही अभिव्यक्ति साहित्य की खपत है क्योंकि उलझे मनोविज्ञान के युग में वह अधिक कारग़र नहीं हो सकता। जिस तरह के उपन्यास आजकल लिखे जा रहे है वे महज अभिव्यक्ति साहित्य के अन्तर्गत आते है। पाठक को उनसे कोई निर्देशन नहीं मिलता। उसे अपना पथ स्वयं खोजना पड़ता है, कारण—आज का आख्यान साहित्य इस नैराश्य युग मे कोई प्राणशक्ति संचरित नही करता। बंगाल की ही मिसाल सामने रखें तो यहाँ अनेक ऐसे लेखक है जो भारत-पाकिस्तान विभाजन से उत्पन्न संकटों, युद्धपूर्व अकाल के कष्टों और बगाल मे स्वतंत्रता आन्दोलन की समस्त परि-स्थितियों के बारे में लिख रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नही कि मानवीय दुःखान्तों की सफल झाँकी अनेक बार उनके द्वारा प्रस्तुत की गई है। पर कोई गहरा, अमिट चित्रांकन सृजित नही कर सका। अभिव्यक्ति के कतिपय सबल-दुर्बल पहलुओं के अलावा चिरन्तन, सृजनशील रंग-नियोजन का अभाव है। लगभग तीस-चालीस लाख व्यक्ति बंगाल के अकाल को भेंट हुए, किन्तु एक भी अमर चरित्र की सृष्टि नहीं की जा सकी जो गर्व से सिर उठाकर कह सके 'नहीं, मैं मरना नही चाहता।' बंगाल में प्रायः ऐसा होता है कि बाढ़ के दिनों मे नदी का किनारा बह जाता है, वहाँ बसने वाले लोग तब नदी के दूसरे किनारे पर अपनी कुटिया बना लेते हैं। जब दूसरा किनारा भी डूब जाता है तो वे नदी की छाती पर आवास स्थल बनाने का साहस रखते हैं।

किन्तु हमारे लेखकों ने कोई ऐसा चरित्र नहीं आँका जो सिर उठा कर कह सके 'बाढ़ में डूबने की अपेक्षा हम तूफान में बहते पट्टों पर नया घर बनाना चाहते हैं अर्थात् इस माने में हमारे आजकल के लेखक यथार्थवादी होने का दावा करते हुए भी जीवन के चित्रांकन मे स्थायिता लाने मे असफल रहे है। तमाम साहित्य में क्षयग्रस्त रोगियों की सी करुणोत्पादक खँकार भरी पड़ी है, मगर किसी भी लेखक ने ऐसा चरित्र सृजित नहीं किया जो परिचर्या और उपचार की कठिन परीक्षा में से साहस और ज़िन्दादिली से गुजर जाय और अन्ततः रोग का निदान हो सके।"

अतएव लेखकों की समस्या मूल रूप में यह है कि वे क्यों नही अदम्य विश्वास के साथ वह शक्ति, वह विराट् जीवनपोषक प्रेरणा उत्पन्न कर पाते जिसके बिना साहित्यिक प्रयोजन सिद्ध नही होता। अपनी लिखने की सचाई को वे विश्लेषणात्मक बुद्धि से अनुभव करे, गहरे पैठें, भीतर आत्मसात् करें, सही ढंग से जीवन के विकासोन्मुख तत्त्वों को झूठी आत्मसत्ता से नही वरन् सक्रिय सृजनात्मक शक्तियों से उद्बुद्ध करें ताकि साहित्य और कला की पूर्ति हो, साथ ही उन्हें मौलिक और मूल्यवान् उपलब्धि से अनुप्राणित करने वाले तत्त्वों से भी सुसम्पन्न किया जा सके।

सचमुच, इन कुछेक प्रश्नों का हल ही आज के साहित्य की समस्या बना हुआ है जो मध्यवर्गीय उलझनों, थकानों, कुंठाओं और वर्जनाओं के मध्य से ह्रासोन्मुख निःसत्त्व साहित्य के खोखले पर 'डिकेडेंट' अर्द्ध-सत्यों के शिकार रुग्ण मानस के संकीर्ण घेरे में बन्दी है। निष्प्राण आदर्शों को छाती से चिपकाए रह कर हमारे आज के साहित्यकार जिस गत्यवरोध के गढ़े में डूब-उतरा रहे हैं उससे उनके बौद्धिक विश्वास क्षीण होते जा रहे हैं और उनकी सहज प्रवृत्ति प्रतिक्रियावादी कल्पित धारणाओं के पक्ष-समर्थन में वास्तविक सत्य को विकृत कर रही है।

देवेशदास ने प्रतिपाद्य विषय के साथ-साथ साहित्य की उद्देश्यमूलकता की चर्चा की है। किन्तु उद्देश्यमूलकता का अर्थ है सृजन-चेतना की स्फूर्ति और आत्मा का उन्मेष। केवल किताबी गुर जानना ही आवश्यक नहीं है, क्योंकि इससे साहित्य का प्रयोजन सिद्ध नही होता, न ही प्रख्यापित एवं प्रचारित भड़कीले वादों से चिन्तन-प्रणाली का पूर्ण सामंजस्य हो पाता है। साहित्य सस्ती नारेबाज़ी नहीं है, उसके सृजन के लिए गम्भीर अन्तर्दृष्टि अपेक्षित है। जो अनुभूत विशेषताओं को सूक्ष्म सौन्दर्य-तत्त्वों में समोकर और बुद्धि द्वारा विश्लेषित कर अपनी गम्भीर पकड़ और चिन्तन की मौलिकता को साहित्य में प्राणान्वित कर जाते है वे ही अनथक अन्वेषी हैं और उन्ही के सृजन की सार्थकता है।

'राजसी'

देवेशदास की दृष्टि सामाजिक है, वैयक्तिक नहीं। वे विकासशील परंपरा के हामी हैं और यही सत्य उनकी कृतियों के सामाजिक सार का निर्धारक हैं। 'राजसी' में देवेशदास जिन निर्णयों पर पहुँचते हैं वे हमारे रागात्मक स्तर को छूते हैं।

उक्त कलाकृति में स्वयं इतनी मूर्त्तता और प्रेषणीयता विद्यमान है कि वह लेखक की कल्पना के सम्मोहन से जीवंत हो उठी है। उसकी लेखनी अनेक स्थलों पर मानों जादुई छड़ी बन कर स्पर्श से युगों-पुरानी अतीत की घटनाएँ सजीव करती चलती है। बहुविध प्रसंगों के विवरण प्रस्तुत करते हुए मन जब खंड-दर्शन में उतरने लगता है तो पृथक्करण के प्रयास में एक जिज्ञासा के पीछे चलने लगता है। किन्तु औत्सुक्य एवं जिज्ञासा में विलमने का भी उसे अधिक मौका नहीं मिलता। भावना में तल्लीन और रसानुभव करने वाली उसकी भीतरी शक्तियाँ अनेक स्तरों का उद्घाटन करती हैं और तब कितने ही संस्मरण, पुरानी पिछली बातें और स्मृतियाँ जीवन-पथ की अमिट रेखाएँ बनकर सामने बिछ जाती हैं—"मैंने मरुभूमि में घूमते-घूमते पाषाणों में कान लगाकर उनके अतीत का रुँधा रोदन सुना है। सुनी है चिरकाल के रजवाड़े की राजसी कहानी। उसे आजकल की पटभूमिका में केवल थोड़ा-सा नया कर दिया है। एक हज़ार वर्षों के बाद देश स्वाधीन हुआ है। नये जगत् में नये पथ पर उसकी यात्रा प्रारम्भ हो गई है। आज जरूरत इस बात की है कि शक्ति और प्रताप की तरह लड़ाई न करके एक जगह पर भाई-भाई होकर रहें। आज कितनी जरूरत है सवाई जयसिंह की तरह बाहर पृथ्वी से समस्त नई विद्या को अपने देश में ले आने की, पद्मिनी के समान देश में विपत्ति पड़ने पर पुरुष के साथ खड़े होकर सलाह देने की। एक दिन देश राजाओं का सिरदर्द था। आज उस पर हम सब लोगों का समान दायित्व है। त्याग और साधना में सभी को जुट जाना है। जो गुण और बीरता हम केवल राजरानियों में देखते हैं उसे सब में पहुँचा देना होगा। जन साधारण ही इस युग के राजारानी हैं।'

राजस्थान के रंगमहलों की कहानी पाठकों के लिए नई नहीं है, पर लेखक का गहन अनुभव, पर्यवेक्षण-क्षमता और वैदग्ध्य-भणिति में अनुभूतिमयी अभिव्यंजना की तारल्यभरी भंगिमा है जिसमें भव्य भाव की महिमा के दर्शन होते हैं।

"अकेले कालिदास ही नहीं, हमारे घर-घर में क्लान्त अकवियों का दल मेघों को देख कर अनमना-सा हो उठता है और प्रेयसी के निकट पहुँचने के लिए व्याकुल हो उठता है। और यदि वे दूर, बहुत दूर हुए तब ? इस दुस्तर मरु के उस पार ? उसके भी और आगे—बहुत दूर।

प्रेयसी यदि दूर दुर्गम पर्वत की चूड़ा पर है तब ? किले के झरोखे के पास बैठ कर विरहिणी अँधेरी रात में दिया जलाये बैठी रहेगी। घोड़े पर वायुवेग से उसका प्रियतम व्याकुल होकर आता होगा। उसकी प्रतीक्षा में वातायन के पास दीपशिखा के अतिरिक्त दो नेत्र भी उसे कहीं खोज रहे होंगे। किन्तु यदि मिलन न हुआ ? विरह-सागर की लहरें उन दोनों को अलग ही किये रहीं तब ?"

लेखक ने ऐसी घटनाओं और सजीव दृश्यों को कथासूत्र में गूँथकर रखा है जो रजवाड़े के रूप-विकास और परिवर्त्तन का समुचित मूल्यांकन करते हैं। आज बहुत कुछ बदल गया है, किन्तु यह नई दृष्टि बड़ी ही ज्वलंत और मौलिक है।

मौजूदा वस्तुस्थिति और व्यवस्था को अनिवार्य मानकर केवल परिवर्त्तन के तथ्यों को ही स्वीकार नहीं किया गया, अपितु राजस्थान के अतीत जीवन के वृहद् और विराट् रूप का निर्देशन और भावी प्रगति के लिए आस्था का स्वर भी है। कथावस्तु की सामग्री राजस्थानी परम्पराओं और वहाँ की आचार-मर्यादाओं पर आधारित है। शासक-शासित, दीन-हीन और अभिजात्य, आर्थिक एवं सामाजिक विषमता, साम्राज्य-वाद और सामन्ती शोषण की झाँकी ही सिर्फ इसमें नही है, वरन् इनकी अन्तश्चेतना परिस्थितियों से ऊपर उठकर जिन आदर्शों का निर्माण करती है उसके प्रति यह अविचल भाव ही इनके कृतित्व का प्रेरणा-स्रोत रहा है। छोटी-छोटी चीजों में इनकी दृष्टि रमी है, यहाँ तक कि राजस्थानी बालू और रेत के टीलों तक को ये नहीं भूले हैं--"थोड़ी-थोड़ी दूर पर बालू है, बड़े-बड़े ढूहों की चोटियाँ भर दिखाई देती हैं। वे भी कब बालू भरी हवा के साथ किधर उड़कर चले जाएँगे और नया ढूह बना लेंगे इसका ठीक नही। सरकार ने यहाँ कुछ कंकड़ पत्थर बिछाकर एक रास्ता बनाया तो है, किन्तु मरुभूमि उसके ऊपर हँसते-हँसते बालू के ढेर के ढेर जमा कर देती है।"

इस प्रकार रजवाडे की झाँकी इन्होंने सर्वांगीण धरातल पर प्रतिष्ठित की है। अपने लेखन में इन्होंने सिर्फ़ उतने ही पैमानों का प्रयोग किया है, जिनकी सचाई का, अपने विस्तृत अध्ययन के क्षणों में, इन्होंने साक्षात्कार किया है। फिर प्रसंगों का चुनाव और संधान भी इनकी उदात्त रुचि का द्योतक है।

'अधखिली'

अधखिली देवेशदास का व्यंगात्मक उपन्यास है। आज का व्यंग कुछ अधिक गुत्थ मनोवेगों एवं प्रतिक्रियात्मक भावनाओं का संयोजक हो गया है, पर इनके व्यंग में ईषत् उपेक्षा, विरोध एवं रोमांस का ऐसा सूक्ष्म संतुलन रहता है कि कोई एक हल्का झटका भी रसभंग की स्थिति उत्पन्न नहीं करता। इतस्ततः व्यंग्य की फुलझड़ियाँ मन को आहत नही करती, प्रत्युत् संयत उपहास-चारुता से मन को मुग्ध कर लेती है। इसमे स्थल-स्थल पर व्यंग्य-हास्य की बड़ी सौम्य चुटकियाँ हैं जिनमें उक्ति-कौशल के साथ-साथ जीवन की ख़ामियों पर पैनी और बेधक दृष्टि डाली गई है-"भीड़ छँट गई। चारों तरफ़ पुरुषों की आँखें कंगालों की तरह स्त्रियों में उन्हें ढूँढ़ती फिरती थी।"

"और किशोरी हँस पड़ी और उसके सामने खड़े तरुणों के हृदय में एक लहर सी दौड़ गई।"

आधुनिक सभ्यता, मध्यवित्त वर्ग के विभिन्न चरित्रों की कमजोरियाँ, जीवन की जटिल गुत्थियों के बाच उत्पन्न विलासी, ह्रासशील, संघर्षशील किन्तु हास्यात्मक परिस्थितियाँ, जनता, समाज और राष्ट्र के प्रति जागरूकता के अभाव में पतनोन्मुख जड़ता, रूढ़िग्रस्त सामाजिकता, विश्वासहीनता और विषमता से जर्जरित सुधार की दिशा में फैला गोरखधन्धा, अपरिहार्य और द्वन्द्वात्मक कशमकश, उत्पीडित दिलो-

दिमाग़ की अड़चनें, दैनन्दिन संघर्ष से उद्भूत ऊहापोह और झंझटें, यों—वाह्यावरण का भीतरी खोखलापन यत्र-तत्र सभ्यता का पर्दाफ़ाश करता है। औरतों के स्वभाव, झगड़ालू मनोवृत्ति, कुण्ठित लोक-लज्जा, मान-अपमान और मान-भजन के रोचक प्रसंगों पर विनोदभरी, रोचक छीटाकशी है ओ मन को मोह लेती है। विवाह पर यह बेधक व्यंग—"हे मेरी अग्निशिखे, व्याह-व्याह सब घपला है, इसमें अपरिपक्व मन की बू आती है। उसकी मर्यादा भी बहुत पहले ही नष्ट हो चुकी है। नदी-नाले संयोग के कारण व्याह की खूब चली और गृहलक्ष्मियों की भी खूब चलो। फिर ज़माना मानस-लक्ष्मियो का आगया। पर वह युग भी ढल गया, अब ब्रेन लक्ष्मी का युग है।"

अत्यधिक फैशनपरस्त आधुनिका स्त्रियों पर निम्न कटूक्ति का प्रयोग किया गया है—

"आजकल की आधुनिक स्त्रियों से, जो पेरिस से लेकर न्यूयार्क तक फैशन का अध्ययन करती रहती हैं, किसी ने कालिदास का काव्य पढ़ कर यह नही कहा कि तुम ऐसा करो। फिर भी उन लोगों ने समझ लिया है कि जब बल्कल से शकुन्तला सज सकती थी तो बग़ल कटी हुई और सीने तक की पौशाक भी मेमसाहबों के लिए सुन्दर हो सकती है।"

एक अन्य उद्धरण में—"स्त्रियों को जब कुछ माँगना होता है तो वे गले की आवाज़ धीमी कर लेती हैं। पर ज्यों ही उन्हे मालूम होता है कि वार खाली गया त्यों ही उनका स्वर पंचम पर पहुँच जाता है।"

एक पात्र कहता है—

"धर्मपत्नी का अर्थ है, सर्वाधिकार सुरक्षित, नथनी-लटकन से सुशोभित, या यों भी कह सकते हो नख-दन्त शोभित घूँघट वाली, जिसे लोग बहू कहते हैं। विवाह के बाद लोग उसे नही पाते, क्योकि वह घर की मालकिन और सास की पुत्रवधू है। यदि उसकी बात याद आये तो रोना ही आता है।

नीहार ने अपने साथियों को देखा, फिर बोला—धर्मपत्नी को यों समझो कि वह एक गतिशील बोझ है। गले में हँसुली नही हार, ओठ पान के कारण लाल, मिल की मैली साड़ी पहने हुए, पैरों में बिछुओं की झुनझुन और महावर का रंग। घर में वह राज करती है, घर के सारे कामकाज सँभालती है, उससे शादी तो हो सकती है, पर प्रेम नही।

पर अरे भई वाइफ, वह तो हम लोगों की लाइफ़ है। वह पास रह कर भी दूर और निकट रहकर भी दुष्प्राप्य होती है। वह जार्जेट और सैण्डल पहनती है। वह सबेरे से शाम तक तुम्हें उड़ाकर चलाती रहेगी। प्रातःकाल के शापिग से लेकर सिनेमा तक वह जिन्दगी की बहार लूटती है और बेचारा पति लुटता रहता है। दफ्तर से आने से पहले देख लीजिए कि कही फुटबाल मैच या कोई ऐसी बात है

या नहीं, जिसमें फैशनवाली स्त्रियों के लिए जाना जरूरी है। अगर कोई ऐसी बात है तब तो जान लो कि वाइफ महोदया वही तशरीफ़ ले गई होंगी, फिर तुम टापते रहो। तुम चाहो तो उससे प्रेम कर सकते हो, पर वह भी तुमसे प्रेम करेगी ऐसी कोई गारंटी नहीं। क्या पता तुम प्रेम के क़ाबिल न हो।"

एक दूसरे स्थल पर स्त्रियों के स्वभाव पर तीखा व्यंग करते हुए लिखा है कि—"जिस बात को ईश्वर क्षमा करता है और पुरुष भूल जाता है उसी को नारी सदा के लिए याद रखती है।"

अपनी पुरुषोचित प्रकृति के कारण देवेशदास में भले ही पक्षपात हो, पर इन विशिष्ट ब्यौरों में व्यापक जीवन-संघर्ष, द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व, विभिन्न चरित्रों के घात-प्रतिघात—खासकर नारियों के विचित्र स्वभाव और बहुमुखी प्रवृत्तियों का सुन्दर निदर्शन मिलता है। साथ ही शृंगारिक व्यंजना की स्निग्धता भी अछूती है।

यों—उनकी हर कृति में अविचल भाव और आशा का स्वर है। उनमें जीने और जागने की आकांक्षा है, सर्जनात्मक जिज्ञासु प्रवृत्ति है, तभी तो उनके विश्वासों में इतनी स्फुर्ति और प्रेरणादायिनी शक्ति है। यह आशा और स्फूर्ति केवल किसी एक ही दिशा में सीमित नहीं है, वरन् उसमें सम्पूर्ण मानवता की आकांक्षाओं का उद्घोष है जो अनवरत वर्द्धमान प्रगति का सूचक और सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध करने वाला है। जबकि भाषा और साहित्य एक दूसरे के पूरक बनते जा रहे हैं तथा परस्पर विचार-विनिमय एवं आदान-प्रदान तेजी से चल रहा है, देवेशदास का बंगला से हिन्दी में उतरना शुभ लक्षण है और कथा-साहित्य में इनकी कृतियों का स्वागत होना ही चाहिए। राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने इनके अभिनन्दन में लिखा है—"अपने उच्च पद के कर्त्तव्यों को पूरा करते हुए भी इन्होंने बंगला साहित्य में रस लिया है और उसकी वृद्धि में सक्रिय सहयोग भी दिया है और इस प्रकार स्वनामधन्य बंकिमचन्द्र चटर्जी, रमेशचन्द्र दत्त, द्विजेन्द्रलाल राय प्रभृति साहित्यकारों की परम्परा को इन्होंने इस युग में क़ायम रखा है।"

१२

सुमित्रानन्दन पंत की काव्य-साधना

पंत की कविता का पाट बड़ा विस्तृत है । विकास-क्रम की दृष्टि से उनकी समग्र काव्य-कला को मुख्यतः यों रक्खा जा सकता है।

प्रारम्भ में अर्थात् 'वीणा' से 'गुजन' तक उनकी कविता का मूल भाव प्रकृति-प्रेम एवं ऐन्द्रिय उल्लास है, जिसमे वस्तुसत्य के साथ-साथ आत्मसत्य के समन्वय का प्रयास है ।

'गुंजन' के बाद 'युगांत' से आगे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तक कवि की अनुभूति और जिज्ञासा-वृत्ति अधिक सजग और सचेष्ट हो उठी है । उसके भावोन्माद का अब प्रौढ़ विकास हुआ है और उसकी चितासरणि भाव-जगत् में पैठने की अपेक्षा वस्तु-जगत् में अधिक खुलकर विचरण करती है ।

'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में कवि का सूक्ष्मचेता मन मार्क्सवादी भौतिक संघर्षों से ऊब कर आध्यात्मवाद की ओर मुड़ा है ।

और 'युगपथ', 'उत्तरा' 'अतिमा', 'वाणी' आदि उसकी परवर्ती कृतियों में आत्मोन्मुख मनोभूमि अर्थात् उसके अवचेतन मन के साथ ऊर्ध्वमुखी वृत्तियों का समाहार है, जहाँ उसकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि स्थूल तथ्यों पर उतराती हुई सूक्ष्म सत्यों में रम गई है।

किन्तु नव्य काव्यसंग्रह 'कला और बूढ़ा चाँद' की अस्पष्ट छायावीथियों में भ्रमित पंत की चेतना किस प्रकार जीवन की सक्रिय वास्तविकता में प्रवेश करती है और मानववाद ने उन्हें जो अमरत्व का सम्बल दिया है उसी का आलोक उनके इधर के कृतित्व में प्रस्फुटित हुआ है । उनकी कला आज बन्धनों से मुक्त है और उसकी उन्मुक्ति ही कला का प्राण बन गई है ।

पंत की प्रारम्भिक कृतियों 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुंजन' आदि में कोमल भावानुभूति एवं रागात्मिका वृत्ति का प्राधान्य है । प्रकृति-जगत् और सौन्दर्य-जगत् के मध्य जो झलमल-झलमल आलोक-रेखा कवि को खिची दीखती है उसी स्निग्ध, तरल तार में उसकी अनगिन भावनाएँ गुँथी हैं । प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में वह घंटों बैठा अनुराग की उषःआभा में अपने प्राणों के अणु-अणु को रस-विभोर करता रहा है और उसकी चिंतन-शक्ति का सशक्त आधार अन्तरिक्ष-पथ में किन्हीं

दुरन्त, मोहमयी, अपार्थिव सूक्ष्म प्रक्रियाओं द्वारा उद्वेलित होता रहा है। कवि ने लिखा है, "पर्वत-प्रदेश के निर्मल चंचल सौंदर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सौंदर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बर्फ की ऊँची, चमकीली चोटियाँ रहस्यभरे शिखरों की तरह उठने लगी थी, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चँदोवे की तरह आँखों के सामने फहराया करता था। कितने ही इन्द्रधनुष मेरी कल्पना के पट पर रंगीन रेखाएँ खींच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौंध कर चुकी थी, फेनों के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुम्बी सौंदर्य मेरे हृदय पर एक महान् सन्देश की तरह, एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनन्द, सौन्दर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।"

कवि के समक्ष प्रकृति हर मोड़ पर नये-नये रूपो में आ खड़ी हुई है। प्रारम्भ में उसके अन्तर्देश का उन्माद और उल्लास प्रकृति की सौदर्य-श्री से मुखरित होकर काव्यधारा में प्रसरित होता है। उसका उच्छल रसावेग हर दृश्य वस्तु, हर आकर्षण और 'सुन्दर' मे रमना चाहता है, फलतः उसके उन्मादक और हलचल भरे भावावेग कविताओं की पोर-पोर में भीने हैं। उसके काव्य-सृजन के मूल तत्त्व 'सत्यं—शिवं—सुन्दरम्', जो उसके प्राणों में औत्सुक्य जगाते हैं, उस समय 'सुन्दर' से अधिक प्रभावित हैं। स्नेह और अनुराग भरे मीठे सपने, हृदय की मधुर सिहरन और किसी अज्ञात रूपसी का बिखरा रूप उसकी उद्भ्रात चेतना को विमूर्च्छित करता रहा है। वाता-यन-पथ से उठने वाली शीतल, स्निग्ध, सौरभश्लथ समीर की हल्की-हल्की थपकियाँ, चतुर्दिक् बिखरी दृश्यावली, अवनि-अम्बर की अथाह सुषमा और जीवनमय उन्मद राग कवि की अरूप वृत्तियों से तद्रूप होकर उसके अन्तर्वाह्य को एक विचित्र झकृति से भर देती है और वह तन्मय होकर गा उठता है :

'मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्त्र दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार,
नीचे जल में निज महाकार,
जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण सा फैला है विशाल।"

कुछ समय तक कवि का चितन इस हद तक प्रकृति में तदाकार हो गया है कि वह उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म धड़कन सुना करता है। प्राकृतिक सुषमा में शराबोर उसका हृदय लहराता है और उसका सुख-दुःख, श्वास-सौरभ, विचार-भावनाएँ, यहाँ तक कि अपने अस्तित्व तक को वह उसमें विलय कर देना चाहता है। न जाने कब के, कहाँ के अमूर्त्त, अलक्ष्य, उलझे हुई सूत्र उसके अवचेतन मन में घनीभूत होकर प्रकृति की छायापथ में बिखर जाते हैं कि वह हठात् दूरत्व या पार्थक्य की कुहेलिका चीर कर

उसके सीमाहीन सौन्दर्य में खो जाता है। प्रभात का धूसर आलोक और बाल-रवि की रश्मियों से रंजित प्रकृति का उन्मुक्त प्रसार तथा पक्षियों की मधुर ध्वनि अन्तः-प्रेरणा के क्षणों में उसकी सूक्ष्मतम अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर लेती है, जिसमें विभोर अन्तर्नुभूत आनन्द की पूर्णता में उसका मूक स्वर उद्बुद्ध हो उठता है।

> "स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर,
> विश्व को देती है जब बोर,
> विहग-कुल की कल-कंठ हिलोर,
> मिला देती भू-नभ के छोर,
> न जाने अलस पलक दल कौन,
> खोल देती तब मेरे मौन।"

समीरण का प्रत्येक हृत्कंपन जब अगाध जल को क्षुब्ध करता हुआ बुलबुलों को बिखेर देता है तो किसी अपरिसीम, अनवद्य रूपराशि की स्मृतियों को झकझोरती हुई लहरे चुपचाप कवि को अज्ञात सकेत करके बुलाती हे :

> "क्षुब्ध जल-शिखरों को जब बात
> सिन्धु में मथ कर फेनाकार
> बुलबुलों का व्याकुल संसार,
> बना, बिथरा देती अज्ञात;
> उठा तब लहरों से कर कौन,
> न जाने मुझे बुलाता मौन ?"

यहाँ तक कि पंत की सूक्ष्म, सौन्दर्यग्राही वृत्ति छाया जैसी अरूप वस्तु में भी रमती है :

> "किस रहस्यमय अभिनय की तुम,
> सजनि ? यवनिका हो सुकुमार,
> इस अभेद्य पट के भीतर है,
> किस विचित्रता का संसार।"

किन्तु 'गुंजन' में भौतिक यथार्थताओं से टकरा कर कवि की कैशोर भावना का सौन्दर्य-स्वप्न जैसे विशृंखल हो गया। यौवन काल में जब जिन्दगी की रंगीनियाँ अँगड़ाई लेती है, रग-रग में नये ताजे खौलते खून की गरमाहट होती है और प्राणों में उन्मादक स्पंदन हिलोर लेता है, तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कुछ और का और हो गया है, परन्तु कालस्रोत के प्रवाह में जीवन के अविराम डगर पर चलते-चलते उसकी अलसायी पिंडलियों में कम्पन होता है, पीड़ा का आवेग गहरी शून्यता में खो जाता है, वह प्रतीक्षा में निरत रहता है, पर क्या कभी यौवन पुनः लौटकर आता है ? अपनी अनुभूति की अनुपयोगिता से आहत होकर उसने अपने चिन्तन का क्षेत्र विकसित कर लिया और प्रकृति के माध्यम से असीम चेतन तक

पहुँचने की जो एक अव्यक्त, अज्ञात लालसा उसके हृदय के भीतर कहीं छिपी थी उससे हठात् विमुख होकर जीवन के अशेष विफल पथ पर वह सक्रिय चिह्नों की खोज में निकल पड़ा। छायावन की नीरव सघनता से आवृत्त उसकी सूक्ष्म-चेतना, जो भोर की अरुणिमा, संध्या के धुन्ध और उच्च पर्वत-शृंगों पर छीजते बर्फ़ की श्वेतिमा में रमना अधिक पसन्द करती थी, जो 'प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय, प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम' और हरियाली की छोटी से छोटी फुनगी को छूकर आत्म-विभोर हो जाती थी, वह यथार्थ के आग्रह से मानव के चिरंतन भाव-जगत् की ओर उन्मुख हुई :

"जीवन की लहर लहर से,
हँस खेल खेल रे नाविक ?"

कवि ने जीवन की सूक्ष्मता में पैठकर उसके चिरंतन स्वरूप को हृदयंगम करने का प्रयत्न किया :

"महिमा के विशद जलधि में,
हैं छोटे छोटे से कण,
अणु से विकसित जग-जीवन
लघु अणु का गुरुतम साधन।"

कवि सौन्दर्यस्रष्टा से जीवनद्रष्टा हो गया। महत् विचार दीक्षा से अनुपूरित, परहित और मानव-प्रेम की सशक्त इकाई तथा साध्य-साधन की एकरूपता ही जिसकी चरम परिणति है--ऐसी चिरन्तन अभिव्यक्ति अन्ततः मुखर हुई। उसकी कलात्मक चेतना विकसित होते-होते प्रकृति के माध्यम से मानवात्मा में प्रविष्ट हुई और इन्हीं से अन्तर्भूत रूपव्यापारों ने उसके हृदय पर मार्मिक प्रभाव डाल कर उस के भावों का प्रवर्त्तन किया। 'ज्योत्स्ना' में कवि ने लिखा :

"न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन बन्धन ?"

ज्यों-ज्यों उसकी दृष्टि लोकोत्तर भाव में पैठती गयी, त्यों-त्यों कवि सौन्दर्य लोक से हरी-भरी, ठोस पृथ्वी पर उतरता गया, यों मार्क्सवाद के भौतिक संघर्ष में उसकी वृत्तियाँ कभी न रमीं। 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या' में युग-जीवन और मानव व्यक्तित्व प्राणान्वित हो उठा है। कवि छायावाद की सघनता से सामूहिक सुख-दुःखों एवं जीवन-वैषम्य में झाँकने को उत्सुक है :

"मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान प्रेत औ' छाया से रति।"

चिरपीड़ित मानवता के स्नेहल स्पर्श से उसमें नीरव क्रांति जगी और उसने

जीवन का अधिक व्यापक और चिरन्तन स्वरूप आँका।

"मिट्टी से भी मटमैले तन
फटे, कुचैले, जीर्ण वसन—
कोई खण्डित, कोई कुण्ठित—
कृशबाहु पसलियाँ रेखांकित
टहनी सी टाँगें, बड़ा पेट
टेढ़े मेढ़े विकलांग घृणित—
लोटते धूलि में चिरपरिचित।"

किन्तु कवि की कोमल आत्मा अधिक दिन तक इस बौद्धिक स्वीकृति से आश्वस्त न हो सकी। भौतिक संघातों से ऊबकर वह पुनः चिरन्तन सत्य और कल्पना के समानान्तर शाश्वत सनातन गुणों की ओर आकृष्ट हुआ। कदाचित् भीतरी आध्यात्मिक चेतना का दबाव इतना तीव्र हो गया था कि वाह्य की भौतिक सीमाएँ तोड़कर अन्ततः उसकी इधर की कृतियों में फूट पड़ा। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में कवि की आत्मा का मुक्त उल्लास, साधना की तल्लीनता और शाश्वत जीवन-जागृति की स्फूर्ति है। उसे जीवन की पूर्णता में स्वर्णिम आभा और एक नया आलोक फूटता नज़र आता है :

"यह छाया भी है अविच्छिन्न
यह आँख मिचौनी चिर सुन्दर
सुख-दुःख के इन्द्रधनुष रंगों की
स्वप्न-सृष्टि अज्ञेय, अमर।"

'युगपथ', 'उत्तारा' 'अतिमा', 'वाणी' आदि कवि की परवर्त्ती कृतियों में उसकी आत्मभाव की परिधि व्यापक होती गई है। जीवन का स्थूल अर्थ, यथार्थता और अनुक्रम मानों मिट गया है, उसके स्तब्ध प्राण किसी अतिमानवी, अलौकिक परिव्याप्ति, किसी अन्तर्भव सत्य से अनुप्राणित हैं। कलाकार और मानव-चेतना में जो सहज विद्रोह उठ खड़ा हुआ था वह तिरोहित हो गया। जीवन के स्थूल पहलुओं से वह आज एक विशाल आत्मा की अन्तर्साक्षी में रम गया है।

'वाणी' से उद्धृत 'फूलों का दर्शन' शीर्षक कविता में रूप का प्रकाश कवि की सुनहरी स्मृति के तारों से जुड़ गया है जिसने अन्तर्मन के क्लान्त कोलाहल में पुलक का प्रकाश भर दिया है :

"ये जो हँसमुख फूल खिले
मधु के उपवन में
ये कुछ गाते रहते मन में!
भू रज से तन, किरणों से रँग
नभ से रूप, अरूप अनिल से

मृदुल रेशमी पंखड़ियों के ले अँग,—
ये कृतार्थ करते बीजों को
सौ रंगों में विहँस एक सँग !
निःस्वर शोभा मुखर गीत बन
गूँजा करती वन वन उपवन
मधुकर में भर प्रीति की उमँग !"

एक अन्य कविता में रूपमुग्ध कवि महिमामय, अचिन्त्य सौन्दर्य में वृहत्तर आदर्शों की चरम परिणति खोजता है :

"मैं कृतज्ञ, मन, अन्धकार को टोह अनुक्षण
तुम प्रकाश अंगुलि बन करते पथ-निर्देशन;
भाव, बुद्धि, प्रेरणा,—ब्राह्म श्रेणियाँ पार कर
तुम तन्मय हो बनते शाश्वत मुख के दर्पण !
प्राण, धन्य तुम, रजत हरित ज्वारों में उठकर
आशा आकांक्षा के मोहित फेनिल सागर
चन्द्रकला को बिठा स्वप्न की ज्वाल तरी में
तुम बखेरते रत्नछटा आनन्द तीर पर !
प्रेम प्रणत हूँ मेरे हित तुम बने चराचर,
ज्योति, मुग्ध हूँ, तुम उज्ज्वल उर मुकुर अगोचर;
शांति, देह मन की तुम सात्विक सेज अनश्वर
प्रिय आनन्द, छन्द तुम मेरे, आत्मा के स्वर !"

उनकी नव्यतम कृति 'कला और बूढ़ा चाँद' मे आज की बहु प्रचलित प्रयोगवादी धारा से टकराकर भी कवि की कविताओं का सम्मोहन और माधुर्य ज्यों का त्यों अक्षुण्ण है, केवल बौद्धिक गहनता और व्यापक अनुभूति के संस्पर्श ने उसकी काव्य चेतना के उत्कर्ष को नया मोड़ दिया है। बिम्ब योजनाएँ और चित्रात्मक प्रतीक भी अपेक्षाकृत सधे उभरे है, उनमें रेखांकनों का बोध और निखार अधिक गहरा है तो स्पष्टता और शक्ति का समावेश भी है। लगता है जैसे परम्परागत प्रतिपादन और छन्द एवं लय की गिरफ्त से छूटकर उसकी भावनाएँ आंतरिक प्रवाह के वेग और गति पर थिरक रही है। अभिव्यक्ति का मध्यम जो भाषा है उसके अनुशासन में वह नहीं, अपितु भाषा स्वयमेव उसकी अभिव्यक्ति की एकमात्र उपलक्ष्य तथा धुरी है जो स्वयं कलाकार के लिए बोलने लगती है और अगणित रूप-स्वरूप उभार कर पूर्णतः संगीत में परिणत हो जाती है। एक चित्र—

"यह नील
अंतःस्पर्शी एकाग्र दृष्टि है,

जिसमें अनन्त सृजन स्वप्न
मचल रहे हैं !"

एक अन्य स्थल पर कवि स्वीकारता है :

"प्रेम, आनन्द और रस का रूप
बदल गया है !

हृदय
शांति की स्वच्छ अतलताओं में
लीन होता जा रहा है !
विश्व कहाँ खो गया है !
देश काल ? जन्म-मरण ?

ओ चन्द्रकले,
केवल अमृतत्व ही अमृतत्व
अनिर्वचनीय
अस्तित्व ही अस्तित्व शेष है ।"

जिस अरूप, अचिन्त्य को पाने के लिए कवि का चित्त व्याकुल होकर इधर-उधर भटकता फिरा और सम्पर्क की उपलब्धि में एक मोहावेश, एक कम्पित हिल्लोल, एक उमगता अवसाद या अन्तरात्मा के गहन, गोपन प्रकोष्ठ में जो दुविधा की आशंका थी वह बहुत कुछ साधना की सिद्धि में समाहित हो गई । रूपशिल्प की शर्तें व्यापक संवेदनाओं से जुड़कर ऐसे चित्र उभारती हैं जिसके आलंकारिक आलेखनों में प्रयोग के बावजूद भी वैसी ही रूप-समृद्धि और ऐश्वर्य-सम्पन्नता है और वैसा ही मार्दव, भले ही छन्द-योजना वैसी नही जो इनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में है । कविताओं की पंक्तियाँ कहीं उखड़ी-पुखड़ी और कहीं असम्बद्ध और बेतरतीव-सी बन पड़ी है, फिर भी उनका आकर्षण ज्यों का त्यों है :

"ओ गीत सखी
ये बोलते पंख मुझे भी दो
जो गीत गाते रहते हे–
और,
वह मधु की गहरी परख–
मैं भी
मधुपायी उड़ान भरूँगा ।"

आज जो वैचारिक उलझाव और अन्तर्विरोध है उसको पचा कर आत्मसात् करने की अद्‌भुत क्षमता भी कवि में है । उनके इतने लम्बे साधना-काल में कितनी हवाओं का रुख बदला, पुरानी जर्जर मान्यताएँ चकनाचूर हुई, नई मान्यताओं की प्र तिष्ठा हुई, पर पन्त के जीवन-दर्शन ने इन सभी विचारधाराओं के बीच समन्वय

का सन्धान किया है। कला के साधक के पास उसकी अपनी कला के मूल्यांकन की जो कसौटी है वह है—आत्मानन्द। उसकी रसग्राही चेतना के तंतु जागृत रहते हैं तो उसकी काव्यधारा का अजस्र प्रवाह कभी क्षीण नहीं पड़ता। यही कारण है कि कवि की हर कृति में उसकी आत्मा का निमज्जन और एकात्म्य भाव मूर्त हो सका है। कलाकार के अभिप्राय की सिद्धि में जो उसकी साधना का सच्चा रूप है वह उसके सौन्दर्यबोध की अन्तश्चेतना के संस्पर्श से स्फूर्त हो कर, उसके माधुर्य को छू कर चित्र-काव्य की अठखेलियों में मानों बिखरा-सा लगता है। निम्न पंक्तियों में कवि का वैसा ही मुक्त भाव देखिए जिसके कारण उसकी काव्य-स्रोतस्विनी कभी सूखती नहीं वरन् छलकते उल्लसित भावों की अनवरत सृष्टि करती चलती है :

"लोक-चेतना के व्यापक
रूपहले क्षितिज खुले हैं
तुम रचना के मंजल के पंखों पर
उन्मक्त वायु में
निःशब्द
विहार करो,—
छन्दों की पायलें
उतार रहा हूँ !"

इस प्रकार नई चेतना का यह ज्योतिबीज जो कवि की भाव-सत्ता पर पनपा है उसकी जड़ें निश्चय ही अत्यन्त गहरी हैं और स्निग्ध रसधारा से उसका अभि-सिंचन हुआ है। इनकी आज की कविताओं में भी एक खास रंगीनी है, नई भावना, नई सौदर्य-दृष्टि और नये रागात्मक सम्बन्धों के बीच नई दीप्ति और नया उल्लास। कुछ कविताओं में राग का स्वर प्रधान है, पर कुछ में यथार्थ की पकड़ गहरी होती गई है। इनकी कतिपय कविताओं की भीतरी संगीतात्मकता का हमारी विशेष मनो-दशाओं के साथ होने वाले संमिश्रण के कारण एक व्यापी संवेदना का संचार हमारी उपचेतन मानसिक अवस्था में होता है और तभी हमारी सौंदर्यग्राही प्रवृत्ति उनसे प्रवाहित होने वाले रस का आस्वादन करती है। कवि की काव्य-साधना में कष्ट-कल्पना के पाषाण नही हैं और न तर्क का अवरोधक हिमप्रवाह, अपितु उसके उद्वेगों एवं कोमल प्रेरणाओं को वे चिन्तन की समतल घाटी में ले जाती हैं। शब्दों के माध्यम से व्यक्त होने वाले अर्थ जिस चित्र का निर्माण मन के स्तरों पर करते हैं उनकी मर्मस्पर्शिता अधिक प्राणवान और चेतन बनकर प्रतिपाद्य विषय के सत्य को पहचानने की प्रेरणा प्रदान करती है।

मानव-हित और प्रेमयोग की साधना के कारण उसकी भीतरी वृत्ति तदाकार हो गई है और इस तदाकार तन्मयता से कवि का मन जैसे अभिभूत हो उठा है :

"मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर।"

निःसन्देह, पन्त की सम्पूर्ण साधना अन्तर्नुभूत सत्य के आधार पर पार्थिव जीवन की सूक्ष्म, दार्शनिक परिणति में है। प्रारम्भ में उन्होंने जिन सुनहले स्वप्नों को सँजोया वे जीवन के कठोर तल से टकराकर बिखर गये और पुनः विराट् का स्पर्श पाकर उनके सारे द्वंद्व, सारे संघर्ष सीमा का व्यवधान मिटाकर सान्त से अनन्त में एकाकार हो गये। कभी प्राणों के उन्मद राग से उनके भीतर का मौन काँप उठा, कभी असम्बद्ध जीवन-प्रयोगों को आत्मसात् करके वे हतसंज्ञ हो उठे और कभी उन्होंने अपनी कला की सूक्ष्मता से व्यष्टि-व्यक्तित्त्व में समष्टि का सामंजस्य दर्शाया। उनके सम्पूर्ण कृतित्व में स्थान-स्थान पर उनकी बाहरी और भीतरी वृत्तियों में उलझाव पैदा हो गया है। लौकिक और आत्मिक जीवन में कशमक़श सी रही है। कवि के अन्तर्मन का ऊहापोह कभी अशरीरी, स्वप्नमय, लोकातीत भावनाओं में परिव्याप्त हो गया और कभी वाह्य परिस्थितियों एवं मानव-द्वंद्वों से उसका अन्तर उद्वेलित हो उठा। कभी उसकी उद्भ्रांत चेतना निस्सीम सुषमा में खो गई और कभी जीवन के व्यापक सामंजस्य के मूक दर्शन में उसने उससे आँखें मूँद ली।

वस्तुतः, पन्त की सुकोमल अन्तर्वृत्तियों में जो कशमक़श सी है—वह न सिर्फ़ आन्तरिक, वरन् वाह्य प्रेरणाओं के कारण भी है। साहित्य-क्षेत्र में आलोचकों के जो दो दल हैं—रूढ़िवादी और मार्क्सवादी, उन्होंने समय-समय पर अपनी आलोचना से कवि के कोमल मन को झकझोरा है। वह स्वभावतः स्वप्नदर्शी होते हुए भी कुछ अंतःप्रेरणा और कुछ प्रगतिशील आलोचकों के प्रबल आग्रह से प्रगतिशील बना, किन्तु दूसरे आलोचकों के दल ने उसे स्वप्नदर्शी ही बने रहने की प्रेरणा दी। कवि का सरल मन अनेक स्थलों पर द्विविधाग्रस्त सा हो उठा है और उसकी निर्भ्रान्ति धारणाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाई है। कवि द्वारा अपने व्यक्तित्व और कला की आलोचना, जो उसने स्वयं की है, पढ़ने से हमारे कथन की पुष्टि हो जाती है और मननपूर्वक पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि पर वाह्य प्रेरणाओं का दबाव अपेक्षाकृत अधिक रहा है, यहाँ तक कि वह अपने जीवन और कृतित्व की आलोचना भी उस तटस्थता से न कर सका, जैसी कि एक आत्मजागरूक कलाकार को करनी चाहिए।

आलोचनाओं को पढ़ते हुए हमें ऐसा बार-बार खटका है जैसे पन्त जी ने अपने आलोचकों की आलोचना पढ़कर अपनी आलोचना लिखी हो। कदाचित् यह उनके मन की सरलता अथवा अधिक कोमलवृत्ति के कारण हो उनमें अपनी आलोचना करते हुए कहीं-कहीं आत्मश्लाघा का भाव आ गया है। जैसे 'मैं शर्मीला और जन-भीरु था', 'मैं प्रकृति को एकटक निहारा करता था' अथवा ऐसा ही भाव व्यंजित करने वाले अन्य वाक्य में 'यह था—वह था'—उसी के समकक्ष है जैसे कोई आत्म-जिज्ञासु जीवन-द्रष्टा के मुख से यह कथन अशोभनीय है—'देखो, मैं कितना सुन्दर हूँ।'

न जाने कितने उतार-चढ़ाव, आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन और मानसिक ऊहापोहों के पश्चात् कवि अपनी अन्तर्जिज्ञासा की साधना जगा सका है। उसकी स्वप्निल दृष्टि जीवन-कुहर को चीरकर अब भौतिक यथार्थता से आ टकराई है, किन्तु उसमें विश्वास

का आग्रह कम, कल्पना का उलझाव अधिक है। वस्तुतः, उसकी विराट् चेतना आरम्भ में अपने भीतर के उच्छ्‌वसित सौंदर्य को प्रकृति में आरोपित करके जिस अज्ञात छवि की मधुमयी विस्मृति में लीन रही है, वह बाद में क्रमशः अपने प्रेरक आधारों और जीवन की यथार्थताओं के अनुरूप ढलती गई। अनेक बार उसकी तार्किक वृत्तियाँ प्रबुद्ध होकर जीवन के ज्वलन्त सत्य पर आ टिकी और परस्पर द्वंद्व, संभ्रम सा होता रहा।

'जादू बिछा इस भू पर
तुमने सोने की किरणों की,
जीवन हरियाली बो-बो कर।'

प्रायः पन्त की कृतियों को लेकर दो प्रमुख विचारधारा के आलोचकों में खींचातानी सी रही है। यह भी विवाद का विषय रहा है कि साहित्य में चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति अधिक अभिप्रेत है अथवा तात्कालिक सामाजिक समस्याओं का चित्रित किया जाना। आज जब रोटी का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है और जीवन-यापन की विभीषिका लपलपाती जिह्वा से रक्त चूँस रही है तो उससे सर्वथा मुँह फेर कर कोई कैसे उदासीन हो सकता है? किन्तु यह भी कैसे सम्भव है कि पेट की भूख ही सब कुछ है और आत्मा की भूख कुछ नही? कैसे कोई सामाजिक समस्याओं में ही परितोष पाकर निस्सीम सुषमा और प्रकृति के अनन्त वैभव से आँखें मीचकर जी सकता है? साहित्य में सदैव से दोनों की कांक्षा रही है, दोनों ने अधिकार माँगा है, दोनों समानान्तर लीकों पर देखा गया है।

पन्त की कविता शाश्वत-सत्य और युग-सत्य की सफल अभिव्यक्ति है। उन्होंने प्रकृति की रंगीनी में दिव्य, चिरंतन विराट्-रूप का दर्शन किया है, साथ ही सामाजिक-जीवन की समस्याओं पर भी दृष्टि-निक्षेप किया है। अतएव उनके काव्य को हम चिरंतन सोंदर्य-बोध और युग-बोध का निगूढ़ सामंजस्य कह सकते हैं।

कहना न होगा कि 'वीणा' से 'उत्तरा' तक आते-आते कवि ने एक गहरे पाट को लाँघा है। आज वह अनेक चक्करदार मोड़ों से निकलकर अपने अभीप्सित पथ पर आ गया है। अब उसे किधर मुड़ने की प्रेरणा होगी—इसे कौन बता सकता है?

"ओ स्वर्ण हरित छायाओं,
इन सूक्ष्म चेतना सूत्रों में
मुझे मत बाँधो!
में गीत खग हूँ,
उड़ता हूँ,—
ज्योति जाल में नहीं फसूँगा!"

१३

काश्मीरी सन्त कवयित्री--लल्लदे

लल्लदे या लल्लेश्वरी काश्मीरी वाङ्मय की एक ऐसी प्रेमयोगिनी भक्त कवयित्री है जिन्होंने अपने स्फुट गेय गीतों से न केवल अपनी अन्तरात्मा के सत्य का सौरभ बिखेरा अपितु अपने चैतन्य गूढ़ दर्शन द्वारा भक्ति और ज्ञान, विवेक और अन्तर्नुभूति, एक अखण्ड और अव्यय की स्वरूपभूत सत्ता का भी साक्षात्कार कराया। ये बहुत ही विरक्त और ब्रह्मानन्द में तल्लीन रहती थी। यहाँ तक कि इन्हें अपने शरीर की भी सुधबुध न रहती थी और प्राय: अर्द्ध नग्नावस्था में तत्त्वदर्शी साधक की भाँति एक अद्भुत सम्मोहावस्था में ये घूमा करती थी।

इनके जीवन के विषय मे बहुत कम ज्ञात है, पर काश्मीरी जनजीवन में क्या हिन्दू, क्या मुसलमान आम जनता की नज़रों में आज भी ये इतनी लोकप्रिय है कि इनके फुटकर पद मौके-बेमौके उनकी जबान पर चढ़े रहते है। ये पद इनकी स्मृति को अत्यन्त श्रद्धा व समादर के साथ तरोताजा बनाये रखते हैं। इनके विषय में कितनी ही किम्बदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं जिनमें यत्र-तत्र इनके महान् त्यागमय जीवन की कुछ झलकियाँ ही मिलती है। कहते हैं—इनका विवाह एक अत्यन्त सम्मानित उच्च घराने में हुआ था, पर इनकी सास का स्वभाव इतना चिड़चिड़ा और कर्कश था कि वे इन्हें तरह-तरह की यातनाएँ देती थी। इनके एक गीत का भावार्थ है कि चाहे घर में कितना ही बढ़िया पकवान क्यों न बने, पर लल्लदे को तो हमेशा पत्थर ही खाने को परोसा जाता था। इनकी सास बड़ी ही चतुराई से इनकी थाली में पत्थर का टुकड़ा रख देती थी और उस पर चावल की पतली परत जमा देती थी जिससे देखने वालो और परिवार के अन्य व्यक्तियों को वह बहुत ज्यादा चावल नज़र आता था। लल्लदे ने किसी से कभी कुछ शिकायत न की, चुपचाप अपनी स्थिति से संतुष्ट रहकर वे सारे ग़म को पीती रहीं। फिर इनकी सास ने इनके पति के मस्तिष्क को भी विषाक्त बना दिया। उसने हर तरह से अपने पुत्र को यह समझाने की चेष्टा की कि लल्ल विश्वासघातिनी है और उससे प्रीति नही रखती। एक बार संशय में पति ने इनका अनुसरण किया तो एकान्त में इन्हें उपासना में रत पाया। किन्तु निरन्तर कोचने से ज्यों-ज्यों दुर्भावना दृढ़ होती गई, दोनों के दिलों में फ़र्क आता गया और एक दिन उसने लल्लदे को घर से बाहर निकाल दिया। फटेहाल

चीथड़ों में ये दर-दर भटकने लगीं जिसका परिणाम यह हुआ कि एक पहुँचे हुए शैव मतावलम्बी विरक्त सन्त की कृपा से ये स्वयं एक महान् योगिनी बन गई। वाह्य साज-सज्जा, यहाँ तक कि वस्त्रों तक की इन्होंने उपेक्षा कर दी। नाचती-गाती, आनन्द-विभोर ये जगह-जगह घूमती फिरती रहती थीं। जब कोई इनकी नग्नता पर सहम जाता या इन्हें आचार-मर्यादा का उपदेश देता तो ये उत्तर देती कि मैं तो उन्ही को मनुष्य मानती हूँ जो भगवान से डरते हैं और ऐसे व्यक्ति दुनियाँ में कम हैं। एक बार की घटना है कि इनके समकालीन सैयद अली हमदानी, जो कि एक मशहूर मुस्लिम सूफ़ी फकीर थे और चौदहवी शताब्दी में काश्मीर आए थे, लल्लदे की ख्याति सुन इनसे मिलने के लिए इन्हें बाहर ढूँढ़ने निकल पड़े। लल्लदे ने जब उन्हें दूर से आते देखा तो वे एकदम चिल्लाती हुई दौड़ी कि आज तो मुझे असली मनुष्य के दर्शन हो गए। पास ही एक रोटी बनाने वाले की जलती भट्टी में ये कूद पड़ीं और ऐसा लगा कि ये उसमें अवश्य जलकर भस्म हो गई होंगी। मुस्लिम सन्त ढूँढ़ते हुए उधर आए और उन्होंने रोटी पकाने वाले की पत्नी से इनके विषय में पूछताछ की। वह भयभीत हो गई और उसने कुछ भी जानने-बूझने से इंकार कर दिया। किन्तु वे सन्त निरन्तर इन्हें खोजने में लगे रहे और सहसा लल्लदे भट्टी से हरे दिव्य वस्त्र धारण किये हुए निकल पड़ीं।

उक्त कथा में कितना सत्यांश है—कहा नही जा सकता, परन्तु इसमें इनकी अन्तरंग सिद्धि और उच्च आत्मा का तो आभास मिलता ही है। जीवन को आच्छन्न करने वाले मोह और अत्यन्त जटिल बन्धनों से मुक्त होकर जब अकस्मात् प्राणों में दीप्ति जगती है तो ऐसा तेज, आत्मगौरव और अनन्त स्फूर्ति का संचार होता है जो क्षुद्र स्वार्थों अथवा अभीष्ट पूर्तियों से बहुत ऊपर उठा देता है। लल्लदे के शून्य अन्तर में, जबकि वह नितान्त असहाय और सभी सुखों से बंचित हो चुकी थीं, एक ऐसी ही लौ जगी थी। इससे उनके विश्वास को बल मिला और भीतरी पीड़ा ने व्यापक सामंजस्य एवं सहिष्णुता को प्रश्रय दिया।

उस समय पंडितों और शिक्षित जनों के उपयोग की भाषा संस्कृत थी, पर लल्ल दे ने जनभाषा काश्मीरी में बड़ी ही निश्छल सरलता से अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। उस समय देश में घोर अशान्ति और उथल-पुथल मची हुई थी और धर्मान्ध कट्टर पन्थी लोग अपने-अपने मज़हबों का प्रचार करने में जुटे थे। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमता ने सभी को त्रस्त कर दिया था। उस अवसर पर लल्लदे गरीबों में घुलमिल गईं और अपने अन्तर्हित सत्य को जन-मंगलकारी आत्मदान के साथ एक ऐसी व्यापक और सर्वसुलभ संघटिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसमें न कोई आवरण था, न विक्षेप, न कोई अन्तराय और न किसी अपने-पराये का भेदभाव। इनकी दृष्टि के सम्मुख मानो सौहार्द और समता का सत्य प्रकट हो गया था।

एक स्थल पर वे कहती है :

"पर् ता पान् ।। यमी समीय मानों
हिहोय् मानोन् दिन् त रात ।।

यमी अद्वय् मन सम्पन्नों
तमी दिट्ठो सुरगुरुनाथ् ॥"

अर्थात् जो अपने में और दूसरे में ज़रा भी भेद नहीं समझता, जिसके लिए दिन की खुशहाली और रात्रि की उदासी एकसी है, जो द्वैत या पृथकत्व की भावना से दूर है, वही केवल वही देवाधिदेव परम प्रभु से साक्षात्कार करने का अधिकारी है।

लल्लदे शैव थीं, अतएव शिव की सत्ता में जो शक्तियाँ निहित हैं उन शक्तियों की साम्यावस्था को ही वे ईश्वर या ब्रह्मभाव मानती थी। स्थूल इन्द्रियों द्वारा बहिरंग वस्तुओं का ज्ञान तो हो सकता है, किन्तु अतीन्द्रिय वस्तु जानने का उपाय तो दूसरा ही है और वह है निग्रह या योग। योग महान् है, उससे निःसंकल्प मोक्ष की प्राप्ति होती है। मन और क्रियाओं को साधने में योगी को बड़ा सचेत रहना पड़ता है, क्योंकि विषयाकार वृत्ति को ब्रह्माकार वृत्ति में लगाने के लिए बड़ी कशमकश करनी पड़ती है।

"चिदानन्दस् ॥ त ज्ञान प्रकाशस् ॥
यमु चिनो तीम् ॥ जूवन्तिय् ॥ मुक्ती ॥
विषमीस् संसारनीस ॥ पाशस् ॥
अबुधि गण्डा शत् ॥ शत् दिती ॥"

अर्थात् दुःखदायी संकल्पों के विनाश के साथ मोहाच्छन्न धुन्ध को चीरकर जिसने स्वयंभूत प्रकाश यानी आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है, जो जीवितावस्था में ही जीवनमुक्त हो जाता है यानी पुनर्जन्म की बार-बार की यन्त्रणा से पार पा जाता है वही अचिन्त्य प्राणशक्ति से तादात्म्य का अनुभव करता है। परन्तु जो अज्ञानी हैं वे जन्म-मरण के बन्धन मे अधिकाधिक उलझे रहकर गाँठ पर गाँठ लगाते चलते हैं।

परन्तु शिव के दो रूप हैं—शिव तत्त्व और शक्ति तत्त्व। सत्-चित् की अनुभूति होने पर एकाग्र समाधि अथवा निरतिशय आनन्द मे अवस्थिति होती है। चित्त की पाँच अवस्थाएँ अथवा वृत्तियाँ हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति। पर साथ ही पाँच प्रकार के क्लेश या विकार भी हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। उक्त मनोविकृतियाँ निरन्तर जीव को कर्म की ओर प्रवृत्त करती रहती है जिससे तरह-तरह की संस्कारजन्य वासनाएँ उभरती हैं। योगी अष्टांग—अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि के द्वारा चित्तवृत्तियों या क्लेशों का वहिष्कार करने की सतत चेष्टा करता है। इसकी कितनी ही अन्तर्दशाएँ एवं कोटियाँ हैं जिनसे साधक को गुज़रना पड़ता है। चरम बिन्दु पर जब आत्मा और परमात्मा का एकीकरण हो जाता है, तब आराधक और आराध्य में किंचित् भी अन्तर नहीं रह जाता। भारतीय रहस्यवादियों अथवा मुस्लिम सूफियों जैसे

सिद्धान्त की ही लल्लदे ने अपने कृतित्व द्वारा पुष्टि की है। इनके एक पद में—

"नाथा पाना ना पर्जाना
साधित् बाधिम् एह् कुदेह ।।
चि भू चू चि मिलो ना जाना
चू कु मु कु क्यों सन्देह् ।"

अर्थात् हे नाथ ! मैंने अपने आपको नितान्त तुच्छ माना है और इस कुदेह की विकृतियो को सदैव नष्ट करने में लगी रही हूँ। निरोध के द्वारा मन को तुझमें लय किया जा सकता है। लेकिन मैं कौन हूँ और तू कौन है—यह सशय और तर्क-वितर्क मन को सदा सालता रहा। आत्यन्तिक निवृत्ति या तुझमें 'स्व' को पर्यवसित कर सकने में असमर्थ रही।

लल्लदे ने उस अवर्णनीय अनित्य प्रेम की भी व्याख्या की है जिसका गूँगे के गुड़ के समान स्वाद ही लिया जा सकता है, पर जिसके विषय में कुछ भी स्पष्ट नही कहा जा सकता। इस चरम प्रेम या ब्रह्मानंद की अनुभूति ही यौगिक क्रियाओं की सिद्धि है। प्राणायाम के अनवरत अभ्यास से प्राणवायु द्वारा शरीर स्थित वायुनाड़ियों और चक्र के उत्तेजित होने से जो शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती है, वे ही इड़ा, पिगला और सुषुम्णा के सहारे कुंडलिनी को ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाती हे। अन्ततोगत्वा जब कुंडलिनी सहस्र दल कमल मे प्रविष्ट होती है तभी साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। मन और शरीर से परे तब आत्मा ही परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है, जिससे पाप का कलुष स्वयं धुल जाता है और विश्व की वृहत् परिधि में भ्रमण करते हुए भी उसे भय या संकोच नही होता।

अत्यन्त ऊँची स्थिति पर पहुँचने से एक प्रकार का मतवालापन आ जाता है। आध्यात्मिक मदिरा के नशे में मनुष्य इतना चूर हो जाता है कि भले ही लोग उस पर हँसे या उसकी खिल्ली उड़ावें इससे उसका कुछ बनता-बिगड़ता नही। लल्लदे ऐसी ही अवधूत मस्तानी संत थीं। वासनामयी प्रवृत्तियों से मुक्त होने के कारण उनमें ऐसी उन्मुक्तता या कहें कि समता आ गई थी कि उनकी दृष्टि में न कोई बड़ा था, न छोटा। जो उनकी इस मस्ती को नही समझ पाता था वह उन्हें पागल या विक्षिप्त कहता था, मगर जो इस इश्कहक़ीकी के खुमार का आभास पा जाता था वह स्वयं भी इनके संसर्ग और अलौकिक कृत्यों से चमत्कृत हो उठता था। एक बार किसी बजाज से एक थान के दो बराबर-बराबर टुकड़े फड़वाए और दाये-बाये दोनों कन्धों पर एक-एक टुकड़ा डालकर ये आगे बढ़ गईं। मार्ग में जिन लोगों ने इनका उपहास किया अथवा जिन्होंने इन्हें एक महान् योगेश्वरी समझकर इनकी अभ्यर्थना में सिर झुकाया तो वे प्रत्येक मज़ाक और प्रत्येक प्रशंसा पर एक-एक गाँठ उन कन्धों पर पड़े अलग-अलग टुकड़ों पर लगांती जाती थी। संध्या समय सभी जगह घूम फिरकर लौटने के पश्चात् इन्होंने वस्त्र-विक्रेता को वे दोनों टुकड़े लौटा दिए और तौलने के लिए कहा। उनके भार में उन गाँठों से जरा भी अन्तर न आया था। इससे इन्होंने दुनियाँ को

जताया कि ऐसी समता ही मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है। मान-अपमान की ओर से उदासीन भोली-भाली विशुद्ध दृष्टि ही ऐसी सर्वव्यापी चेतना का अधिष्ठान करती है, जिससे कोई कितना ही अहित करे मन विचलित नही होता और न किसी की स्तुति या प्रशंसा से ही कुछ असर होता है।

कहना न होगा---लल्लदे उस सिद्धावस्था को प्राप्त हो गई थी जो विकारों से परे परमात्मा से मूक मिलन का अनुभव करती है। पांचभौतिक शरीर, जो वासनाओं एवं कुसंस्कारों का आगार है और मिथ्याभासों एवं क्षुद्रताओं के कारण सर्वोपरि विशुद्ध स्फुरणाओं की अवहेलना करता रहता है, अनेक असाध्य रोगों अथवा व्याधियों से ग्रस्त होने पर भी कितना प्रिय होता है। कारण—भूल से आत्मा की अमरता शरीर में आरोपित कर ली जाती है। जीव समझता है कि शरीर ही आत्मा और सत्य है जिसमें आत्मरक्षण की प्रवृत्ति प्रबल होकर उसे चिरकाल तक कायम रखने के लिए प्रयत्न-शील बनाती है।

लल्लदे पूछती हैं :

'कुसो उङ्गित कुसो जागि
कुसो सर् वचि तिलेया
कुसो हरस् (पूजि लागि)
कुसो परम पद् मिलेया ।।'

अर्थात् कौन सोया पड़ा है और कौन जागा हुआ है? ऐसा कौन-सा जलाशय है जहाँ निरन्तर जलस्रोत प्रवाहित होता रहता है? मनुष्य हर (शिव) को क्या वस्तु पूजा में भेंट चढ़ा सकता है? किस शाश्वत परिणाम को अन्ततः पहुँचा जा सकता है?

इसी के समाधान में लल्लदे अपने निम्न पद मे उत्तर देती है :

'मन उङ्गि ता अकुल् जागि
दाङुय् पंच् इन्द्रिय् चिलेया
पुण्ये हरस् पूजि लागि
एहुय चेतन् शिव् मिलेया।।'

मनुष्य गहरी निद्रा में निमग्न पड़ा है, परन्तु जब उसे स्वात्म का बोध हो जाता है तो मानो वह जाग जाता है। पंच इन्द्रियाँ ही वह जलाशय है जो निरन्तर प्रवहमान रहता है। सबसे पवित्र वस्तु जो भगवान् शिव की उपासना में भेंट चढ़ाई जा सकती है वह है अपने अस्तित्व या अहभाव के सर्वान्तर्गत अनुभव का अविनाशी रूप। जिस शाश्वत परिणाम को अन्ततः पहुँचा जा सकता है वह है शिवतत्त्व।

लल्लदे ने अपनी अंतरंग भावनाओं के समक्ष अनेक तर्क उपस्थित किए हैं। कहीं-कही अनुभूत भावोन्माद मे वे इतनी खो जाती है कि ऐसा प्रतीत होता है मानों वे अपने आप से वार्त्तालाप कर रही हैं। उनके एक गीत का भावार्थ है जिसमें उन्होंने एक प्रसंग का उल्लेख किया है।

'सैयद वाययू नामक फकीर के पास एक बार लल्लदे और कई अन्य शिष्य-शिष्याएँ बैठी थी। अचानक उन्होंने प्रश्न किये—सबसे बड़ा प्रकाश क्या है? सबसे प्रसिद्ध तीर्थ कौन सा है? सबसे पवित्र सम्बन्ध किसमें होता है? सबसे अधिक सुख किसके सहवास से मिलता है? सबसे पहले लल्लदे ने फ़ौरन ही उत्तर दिया--सूर्य से बढ़कर कोई प्रकाश नहीं है। गंगा से बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है। भाई जैसा कोई पवित्र सम्बन्ध नही है। पत्नी के सहवास में ही सबसे बड़ा सुख निहित है। मगर सैयद उनसे सहमत न हुए। उन्होंने प्रतिवाद किया—नहीं, आँखों से बढ़कर कोई प्रकाश नहीं है। अपने पैरों की सामर्थ्य से बढ़कर कोई तीर्थ नहीं हैं। जेब की पूँजी से ही सर्वोत्तम सम्बन्ध स्थापित होते हैं? कम्बल की गर्माई से बढ़कर कही सुख नहीं है। किन्तु लल्लदे ने उनसे हार न मानी। उन्होंने पुनः उत्तर दिया—भगवद् ज्ञान से बढ़कर कोई प्रकाश नहीं है। अचिन्त्य प्रभु-प्रेम की अनुभूति ही सबसे बड़ा तीर्थ है। भगवान् का सामीप्य ही सबसे बड़ा सम्बन्ध है। ईश्वर के भय से ही सबसे बड़ा सुख मिलता है।'

ऐसे कितने ही गीत और पद इनके मिलते हैं जो इनकी स्वानुभूति के प्रसाद हैं, कोरे तर्क की उद्भावना नहीं। लल्लदे के मर्म को समझने के लिए धार्मिक संकीर्णता से ऊपर उठकर मुक्त मानव भावभूमि पर विचरने की आवश्यकता है। ये आत्म-चिंतन में इतनी निरत थी कि अंततः इन्होंने 'अहं ब्रह्मास्मि' का निरूपण किया और सृष्टि में जो कुछ गोचर है उसे भी परमात्मा का ही व्यक्त रूप समझा।

लल्लदे चूँकि ईश्वर की अभय सत्ता के आत्मानंद में ही मस्त रहती थीं उन्हें लगता था मानों अखिल विश्व से उनकी एकता है। सत्य का आश्रय उनके जीवन में इतना सुस्थिर हो गया था कि स्वजनों द्वारा ठुकराये जाने पर भी राग-द्वेष के क्षुद्र आवेशों से वे जरा भी विचलित नही हुई। अपने आप को भूल-भटका कर नहीं बल्कि उन्होंने अपनी भीतरी शक्ति का सहारा ढूँढ़ लिया। आत्मविस्मृति मे जो पवित्र भावातिरेक है, जहाँ कोई शर्त नही, बदले की भावना नहीं, इसके विपरीत अपने आप को पूर्णतया समर्पित करने की चाह है वही आत्मदान क्रमशः इनमें जाग्रत होता गया और आख़िर वे उस सतह पर पहुँच गई जहाँ उनका आत्मिक समभाव पूर्ण हो गया और जिसके आनन्दमय कौतूहलों में वे स्वयं खोयी रहती थी।

"उत्थ रैन्या अर्चने सखर ॥
अथि अल्॥ पल्॥ ता अखुर् ॥ हित् ॥
यिद् जानक् परमो पद्॥ अक्षुर् ॥
खशे खर् ह्वंशे खुश् कित् ॥"

चल उठ री सखि! पूजा-अर्चना की तैयार कर ले। चल उठ, भोग और भेंट की सामग्री सँजो ले। क्या तू परम मोक्ष के दाता प्रणवमन्त्र 'ओम्' को जानती है? क्योंकि तुझे शायद यह भी विदित है कि बिना आत्मज्ञान के अर्थात् अंतःकरण की वृत्तियों को सत्-चित्-आनन्द में लय किये बग़ैर ये तमाम औपचारिकताएँ व्यर्थ हैं। इनसे उलटे हानि होती है।

लल्लदे ने अपनी गूढ़, अरूप, यौगिक अनुभूतियों के साथ अपनी गहरी अंतर्दृष्टि और स्वात्म को विकसित एवं विस्तीर्ण किया। प्राणों की ऊर्ध्वमुखी शक्ति जगाकर और वाह्य निसर्ग को अंतश्चैतन्य से संश्लिष्ट कर उन्होंने यह समझा कि विश्व के दुःख के मूल में किस प्रकार स्वार्थभरे प्रयत्न होते हैं जहाँ ज़िन्दगी की हर साँस के लिए संघर्ष करना पड़ता है और जीवनोपयोगी साधनों को ज़बर्दस्ती जुटाना पड़ता है। भौतिक स्वत्वों की प्रतिद्वन्द्विता के लिए एक भयभीत कृपण की भाँति किलेबन्दी करना अथवा भोग प्रधान संस्कार-परम्परा को उजागर करने के लिए स्थूल जड़ की उपासना किसी भी स्थिति में गर्हित है। ऐंसे समाज की परिधि में कैद हो जाना जहाँ कितने ही द्वित्व हों—उन्हें सह्य न था, वे तो उस शुद्ध ऐकान्तिक की अविभाज्य अश थीं जहाँ व्यवहार की निर्विकल्पता के कारण चिति की विशेषता है, चरम आनन्दतत्त्व है, सच्चित् की परिणति है और जिसे समैकरसता व कैवल्य रूप के कारण त्रिगुणातीत सच्चिदानन्द ब्रह्म कहा जाता है। एक बार किसी राह चलती औरत ने लल्लदे से प्रश्न किया—'ऐ बहिन ! तू क्यों ऐंसे घूमती है। तुझे शर्म नही आती।' लल्लदे ने उत्तर दिया :

"गुरुन् वान्नाम् कुनी वासुन्
न बाहर दोपनाम् अन्दरय् आसुन् ॥
सोय् गुन् लल्ल् मे वाखु ता वासुन्
तावे ये हयोतुम् नंगय् नासुन् ॥"

अर्थात् मेरे आध्यात्मिक गुरु ने मुझे एक अत्यन्त गोपनीय रहस्य बतलाया था—'बाहर से मुख मोड़ तू भीतर अपने अन्तर को खोज। समस्त प्रेरणाएँ अन्तरात्मा से ही उपजती हैं।' बस, तभी से मैंने इस नसीहत को गाँठ बाँध ली। गुरु का यह उपदेश मेरे भीतर समा गया, अतएव ताण्डव नृत्यमुद्रा मे मैं सदा विवस्त्र घूमती हूँ।"

लल्लदे का मन्तव्य था कि जब आत्मा के निरन्तर निदिध्यासन से देह बुद्धि से परे बन्धनमुक्त हो जाता है और जीवन-तत्त्व का अनन्त महोदधि उसी में लीन होकर उस महातत्त्व से एकाकार हो जाता है, तब क्षुब्ध या उद्विग्न करने वाली तरंगें नहीं उठती, मनोविकार और कुत्सित वासनाएँ तिरोहित हो जाती हैं, इन्द्रिय, मन और शरीर की भ्रान्ति या शंकाएँ, आत्मोन्नति के मार्ग में बाधक बनकर, पराभूत या विचलित नहीं करतीं।

मन के संकल्पात्मक चित्रों के केन्द्रबिन्दु के रूप में किसी मूर्त वस्तु की आवश्यकता है, क्योंकि चित्त को स्थिर करने के लिए कुछ आधार चाहिए। तब दो ही रास्ते हैं। एक तो अभीष्ट की आसक्ति का मूलोच्छेद कर अपनी यात्रा के हर कदम को उससे दूर ले जाएँ, दूसरे दृढ़तापूर्वक अग्रसर होकर उसे ही ध्येय तक पहुँचने का साधन समझें। तब साधन भी उस ध्येय का एक अंश बन जायगा अथवा यात्रा का हर कदम ध्येय की सिद्धि का रूप लेता जायगा। परन्तु उक्त दुष्प्रवृत्तियों की अँधेरी घाटी पार करते हुए जब तक ऐसी शक्तियाँ नहीं जगा ली जातीं जो गहन अंधकार

में आलोक बिखेरे, तब तक सफलता के उच्च शृंग पर नहीं चढ़ा जा सकता। गिरते-पड़ते, लुढ़कते-पुढ़कते यदि ऊपर चढ़ते भी हैं तो नीचे कुछ अन्तर पर नगर का प्रकाश, जिसे अभी-अभी छोड़कर आए हैं, उसी ओर प्रेरित करता है। चहल-पहल, शोरगुल, हँसी-कहक़हे, संगीत और मस्तानी तानें कितनी ही मिश्रित ध्वनियों के साथ आकृष्ट करते हैं। तब मित्रों और स्वजनों का भी ध्यान आता है, दुनियाँ की चहल-पहल और आनन्दोल्लास भी मन-पटल पर कौंध जाते हैं, लेकिन सच्चा संकल्प-बल यदि जाग गया है तो भोग्य पदार्थ तुच्छ हैं और अदम्य, अमोघ मनोबल से मार्ग में आने वाली बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं।

"कर्म जु कारण चि कुम्भीत्
यव लभक् ।। परलोकस् ।। अङ्क ।।
उत्थ खस् ।। सूर्या मण्डलो चुम्भीत्
तवें चालिय् मरणत्री शङ्क ।।"

अर्थात् कार्य दो प्रकार के हैं—अच्छे-बुरे, पर कारण अनेक हैं जिनसे सद्-असद् भावनाएँ उपजती हैं। इन सब बुरी वृत्तियों, कुसंस्कारों और अनिष्टकारी क्षुद्रताओं को विनष्ट करने के लिए कुम्भक योग का अभ्यास कर। दूसरी दुनियाँ में यानी उच्च शृग पर पहुँचकर ही तू निर्भय और स्वतन्त्र हो सकती है। अतः उठ, आगे बढ़, चढ़ती चली जा और सूर्य-मण्डल को चीर दे। मृत्यु का भय तुझसे तब बहुत दूर भाग जायगा।

"ज्ञान अम्बर पैरीम लल्लि
यीम पद् दयीतीम् हृदि अङ्क
कारुणी प्रोणोकी गरीत्रि लल्लि
कोन् ।। कासूय् । मरणत्री शङ्क ।।"

अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से अपने 'स्व' को आवृत्त कर ले। लल्लदे जो गीत गाती है उसे अपने अन्तर में समो ले। 'प्रणव' की सहायता से लल्ल ने अपने आप को अभिभूत कर लिया है। अलौकिक अन्तर्ज्योति जगा लेने से मृत्यु का भय उससे अब बहुत दूर भाग गया है।

ऊँची से ऊँची अलन्घ्य उड़ान भरते हुए लल्लदे ने उस उच्च शृंग की प्रकाशमान अनुभूतियों को नीचे उतारकर भू-वासी मानव-चेतना को भी उस योगामृत का पान कराया है जो उनके दिव्य अन्तश्चैतन्य का भागवत प्रसाद है। तिस पर एक साधारण साधुनी या जोगिन की सी रुक्ष विचारधारा या नसीहत ही उनमें नहीं है, अपितु उनमें कलात्मक अभिव्यंजन और तीव्र प्रेषणीयता भी है। उन्होंने कितनी ही ऐसी धारणाएँ व्यक्त की है जो समसामयिक और युगीन हैं। अपनी फक्कड़ बेफ़िक्री के कारण भाषा और भाव के संस्कार-परिष्कार की उन्होंने अवहेलना नहीं की, बल्कि कहीं-कहीं वे इतनी जागरूक और जिज्ञासु हो उठी है कि उन्होंने प्रश्नों की झड़ी-सी लगा दी है।

"ये गुरा परमेसुरा
दपुम् अन्तुर वित्तो ।।
द्वनवै उपन्याय कन्दपुरा
ह्वह् ।। कव तूलरो हाह् ।। कब ततो ।"

अर्थात् ओ मेरे गुरु परमेश्वर ! मुझे समझाओ वह गूढ़ रहस्य, जो केवल आप ही को विदित है। श्वास दो किस्म की है जो अन्तर को चीरती हुई कण्ठ में ध्वनित होती है, फिर वही एक 'आह' सर्द क्यों और दूसरी 'आह' तप्त क्यों होती है ?

इसी का समाधान करती हुई वे अपने इस पद में कहती हैं :

"नाभिस्थान् ।। ज्वियी प्रकत् जलवन्यी
हीलीस् ताँ क्योयी इसुर् सुतो ।।
मानसमण्डल् ।। नद वहवन्यी ।।
ह्वह् तव तूलरो हाह ।। तब ततो ।।"

नाभि-प्रदेश स्वभावतः भयकर गर्भ है, वहीं से तप्त वायु टकराकर कण्ठ में ध्वनित होती है और मुख से 'आह' बनकर फूटती है, किन्तु वही ब्रह्मरन्ध्र से छल-छलाते प्रवहमान शीतल जल के सयोग से सर्द बनकर मुख से सुख-शान्ति की वर्षा करती है। यही कारण है कि 'आह' सर्द और तप्त दोनों होती है।

एक अन्य पद में—

"कलना काल काजी यिद् ।। विगलो ।।
कन्दिव् ।। गेह ।। कन्दिव् बनवास् ।।
जानीत् ।। सर्वगत् ।। प्रभू ।। अगलो ।।
यीथोय् जानक् ।। तीथोय् आस् ।।"

अर्थात् यदि कालान्तर में तूने अपनी शरीरजन्य वासनाओं का दमन कर लिया तो तू घरेलू जीवन पसन्द करेगी या बनवास ? यदि तेरी समझ में यह अच्छी तरह पैठ जाय कि प्रभु सर्वगत और कल्याणमय है तो ज्यों-ज्यों तेरी सहनशक्ति दृढ़, पवित्र और अजेय होती जायगी, त्यों-त्यों तेरा अन्तर-बाहर अलिप्त रहकर अद्भुत आत्म-संतृप्ति प्राप्त करेगा।

लल्लदे के अन्तर का सत्य है ज्ञान में अद्वैत तत्त्व और कर्म में योग-साधना। इस तरह की धारणा, जिसमें कि मनुष्य की सर्वोच्च चेतना तक ज्ञानातीत हो जाती है, उनकी रहस्यपूर्ण यौगिक अनुभूतियों की ही उपलब्धि है। एक समग्र पूर्णता—जिसे आत्मा का ऐश्वर्य कह सकते हैं—उन्हें अपनी योग-साधना से उपलब्ध हुआ था—वह भी जड़ रूप में नही, सात्विक सजग रूप में, क्योंकि बहुत पहले ही गार्हस्थ जीवन बिताते हुए उन्होंने वास्तविक अनुभूतियों और मन की अछूती ऊँचाइयों मे समझौते की अवतारणा अर्थात् अपने भीतर और वाह्य जगत् के बीच एक सन्तोषजनक सम्बन्ध-सूत्र की उद्भावना कर ली थी। जीवन बहुत उलझा हुआ और वैविध्यपूर्ण

है। उसकी कारा में बन्दी होकर भी यदि सच्चे मानो में मुक्त होना है तो स्व-स्थित सिद्धान्तों के द्वारा ही उन्हें पूर्णता देनी है। एक स्थल पर वे कहती हैं :

"शिव शिव करान्त यमी लोयो
चञ्यीस ॥ भयु भङ्ग ॥ ता द्वत्
यमी अद्वय् ॥ मन् ॥ सम्पन्नो
तमी प्रसन्नो सुरगुरनाथ् ॥"

अर्थात् जो सदैव उठते-बैठते 'शिव शिव' रटता है और भीतर मन में 'सोहम्' जगा लेता है वह चाहे रात-दिन संसारी कार्यों में व्यस्त रहे उसकी द्वैत-बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है। तब अपनी आत्मा में ही वह प्रभु की असीम कृपा का आभास पाता है।

अन्त में जो ज्ञान लल्लदे को हासिल हुआ वह था संकीर्ण स्वत्व की सीमाओं से परे सत्य स्वरूप का बोध। इससे उन्हें एक नई शक्ति और नई अन्तर्दृष्टि मिली। दरअसल, विश्व चेतना की कुंजी आत्म चेतना है। आत्मचेता व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ दैहिक चेष्टाओं की संकीर्ण परिसीमा में बन्दी नहीं रह सकतीं। उसके भीतर जो है उसी असीम को वह वाह्य समता की परिधि में पा लेने की चेष्टा करता है। किन्तु यह अन्तर्ज्ञान बाहरी प्रयत्नों से नहीं, उसके अपने भीतर ही अमर आस्था के ऐसे दीप से जगमगाता है जो सदा विस्तीर्ण असीम को आलोकित कर गतिशील बनाये रखता है। लल्लदे को इस तरह का विवेक जीवन के अधिक सच्चे दर्शन द्वारा प्राप्त हुआ था, यही कारण है कि इस दर्शन में उन्हें वर्त्तमान का ही नहीं, वरन् उस परोक्ष का भी दर्शन हुआ था। जिसके केन्द्रस्थ सत्य की प्रतीति हमें आज तक उनकी वाणी द्वारा होती है।

सुभद्राकुमारी चौहान का वात्सल्य

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के हृदय में उठने वाली भाव-लहरियों को मथकर जो निरीह सारल्य और कभी न श्रांत होने वाली आनन्दमयी पुलक उनकी कविता में प्रकट हुई है उसमें आज भी जीवनी-शक्ति के कण छलक-छलक कर मन को आप्लावित कर लेते हैं। उनमें जो सहज बाल-रुचि की मर्मस्पर्शी रसलीनता है वह द्वन्द्वात्मक बोध अथवा किन्हीं ख़ास मन्तव्यों की आरोपित औपचारिकता नहीं, अपितु वात्सल्य-वर्णन में उनकी गहरी आत्मीयता एवं मर्माहत [illegible] के अन्तरंग आवेग का परिणाम है। उनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ :

"मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी
नन्दन वन सी फूल उठी,
यह छोटी सी कुटिया मेरी ॥"

वस्तुतः बचपन की कल्पना में कवयित्री का निज का अनुभव अन्तर्हित है। जिन्दगी अपने सुख-दुःख, हँसी-खुशी और आँसुओं समेत भले ही प्यारी हो, पर बेफ़िक्री की वे अल्हड़ घड़ियाँ न कभी फिर लौटकर आती है और न कभी हृदय को गुदगुदाने वाला वैसा आनन्द ही बिखेरती हैं।

"बार-बार आती है मुझको
मधुर याद बचपन तेरी।
गया ले गया तू जीवन की
सबसे मस्त खुशी मेरी ॥"

जीवन की चित्र-विचित्र, नित-नई अगणित अनुभूतियों के साथ जो बचपन की तरंगित स्मृतियाँ उभर आती हैं उनसे अंतर्प्राणों के तार झनझना उठते हैं। कैसी होती है यह अनुभूति जो अज्ञात जादू की मोहिनी सी डाल देती हैं? कवयित्री जब बहुत छोटी थी——अबोध शिशु——तब की अनिर्वचनीय पुलकभरी सुधियाँ उसे जाग्रत स्वप्नवत् अथवा प्रत्यक्ष सत्य सी भासने लगती हैं। एक बार नहीं अनेक बार बाल्यावस्था के ऐकांतिक दृश्य उसके स्मृति-पटल पर कौंध जाते हैं।

"चिन्ता रहित खेलना खाना
वह फिरना निर्भय स्वच्छन्द।
कैसे भूला जा सकता है
बचपन का अतुलित आनन्द ।।
ऊँच-नीच का ज्ञान नहीं था
छुआछूत किसने जानी ?
बनी हुई थी वहाँ ? झोंपड़ी—
और चीथड़ों में रानी ।।
किये दूध के कुल्ले मैंने
चूँस अँगूठा सुधा पिया।
किलकारी किल्लोल मचाकर
सूना घर आबाद किया ।।
रोना और मचल जाना भी
क्या आनन्द दिखाते थे ?
बड़े-बड़े मोती से आँसू
जय माला पहनाते थे ।।"

बच्चे के रोने से माता का हृदय करुणार्द्र हो उठता है। वह चाहे कुछ भी करती हो सारा काम-धाम छोड़ कर उसे हृदय से लगाकर पुचकारती है और उसके अश्रुकणों को अपने स्नेह-सुधारस से सींचकर सुखाती है। बाल-क्रीड़ाओं में कितना चापल्य, कितना सुख और विभोर करने वाला आनन्द उमड़ता रहता है—यह निम्न पंक्तियों में देखिए :

"मैं रोई माँ काम छोड़कर
आई मुझको उठा लिया।
झाड़-पोंछ कर चूम-चूम
गीले गालों को सुखा दिया ।।
दादा ने चन्दा दिखलाया
नेत्र नीर युत दमक उठे।
धुली हुई मुस्कान देखकर
सबके चेहरे चमक उठे ।।"

यद्यपि यौवन की मादक तरलता और रूप-रस की आसक्ति बढ़ती वय के साथ नये-नये विकसित और परिवर्तित रूप धारण करती गई है, किन्तु वार्धक्य की करुण शिथिलता और एकाकीपन का मार्मिक विषाद बाल्यावस्था की अल्हड़ मस्ती को ग्रस लेता है। उस समय कवयित्री को लगता है मानों उसके सुख का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो रहा है और वह लुटी हुई और ठगी हुई जवानी की राह बढ़ रही है। यों एक सुखद कम्पन के साथ सूक्ष्म और रहस्यात्मक अनुभूतिशीलता में उसके

भीतर की तन्मयता एकात्म्य होती जा रही है, फिर भी सारी चपलता और मन का उल्लास बुझा हुआ सा लगता है। जीवन की विवश अंगीकृति तो है, पर यौवनावस्था के विचित्र कौतूहल और असाधारणता ने निस्संग मानसिक ऊहापोह एवं अन्यमनस्कता में लघु वयस की विकासमान उद्दाम धारा के वेग को मानों अवरुद्ध सा कर लिया है। एक अनबूझ, गोपनीय मनःस्थिति में उसके हृदय में चुभन सी पैदा होती है जो व्यथा पहुँचाया करती है और जिसके प्रति कवयित्री ने गहरे प्रतिवाद का भाव व्यक्त किया है :

"लाजभरी आँखें थी मेरी
मन में उमंग रँगीली थी।
तान रसीली थी कानों में
चंचल छैल छबीली थी॥
दिल में एक चुभन सी थी
यह दुनिया अलबेली थी।
मन में एक पहेली थी
मैं सब के बीच अकेली थी॥
मिला, खोजती थी जिसको
हे बचपन ? ठगा दिया तू ने।
अरे ! जवानी के फन्दे में
मुझको फँसा दिया तू ने॥"

दैनिक जीवन के संघर्ष और विक्षेप, घर गृहस्थी की अगणित समस्याएँ और परस्पर विपरीत तथा द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों के कारण मन कितना चिन्तित और दुर्वह भार से दबा रहता है। परन्तु सुभद्रा जी ने गृहस्थी को कभी जंजाल नहीं माना, क्योंकि नारी के यथार्थ रूप की व्यंजना पहले पत्नी, फिर माँ में होती है। महामहिम जननी के रूप में तो उसका सर्वोत्कृष्ट अलौकिक रूप प्रस्फुटित होता है। सन्तान उसके व्यक्तित्व की पूरक है अर्थात् पति पत्नी के सानन्द समन्वय का मूर्तिमान प्रतीक, उनके परस्पर विश्वास एवं ममत्व का हेतु और उनके जीवन के हर संघर्ष-जन्य क्रिया-कलाप का मूलाधार। बचपन की नैसर्गिक विश्रान्ति, भोली भाली मधुर सरलता और निष्कपट जीवन की याद मन के सन्ताप और असन्तोष पर मरहम का काम करती है :

"आ जा बचपन ? एक बार फिर
दे दे अपनी निर्मल शान्ति।
व्याकुल व्यथा मिटाने वाली
वह अपनी प्राकृत विश्रान्ति॥"

चूँकि कोमलता और एकनिष्ठ संरक्षण ही मातृत्व-प्रेम के अंतःप्राण का केन्द्र-

बिन्दु है अतएव नारी के चरित्र-योग की सात्विकता के सन्दर्भ में 'माँ' का रूप ही उसकी भौतिक साधना की चरम परिणति और अनंत व्यापक रसतत्त्व के समन्वय की सतत चेष्टा है। युगों की ठोस चट्टानों पर जो उसके पदचिन्ह अंकित हुए हैं वे वैसे ही—भिन्न स्तरों में—जाने-पहचाने से लगते हैं और यद्यपि आज जीवन का रूप बहुत कुछ बदल गया है, पर माँ के हाड़-माँस के शरीर संज्ञक भौतिक व्यवधान की विशुद्ध कसौटी ज्यों की त्यों की है।

कवयित्री के हृदय को विलोड़ित करने वाली मनोव्यथा, तर्क-वितर्क, चिन्ता, आशंका और औत्सुक्य का जब ज्वारभाटा सा जगता है तभी उसकी नन्ही बिटिया यह स्वप्न भंग कर देती है। वह मिट्टी खाने के पश्चात् अपनी माँ को भी उसका स्वाद चखाने आई है। कवयित्री को तब ऐसा प्रतीत होता है मानों वह स्वयं बच्ची बन गई है और पुत्री के रूप में उसी का बचपन साकार हो उठा है :

'माँ ओ' कह कर बुला रही थी
मिट्टी खाकर आई थी।
कुछ मुँह में कुछ लिए हाथ में
मुझे खिलाने आई थी।।
पुलक रहे थे अंग, दृगों में
कौतूहल था छलक रहा।
मुँह पर थी आह्लाद-लालिमा
विजय-गर्व था झलक रहा।।
मैंने पूछा "यह क्या लायी?"
बोल उठी वह "माँ, काओ।"
हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से
मैंने कहा "तुम्हीं खाओ।"
पाया मैंने बचपन फिर से
बचपन बेटी बन आया।
उसकी मंजुल मूर्ति देखकर
मुझ में नवजीवन छाया।"

बालिका का निश्छल प्यार माता के स्नेहविगलित हृदय में कितना अटूट साहस और आत्मिक शांति उत्पन्न करता है। वह उसके साथ खेलती है, खाती है, तुतलाती है और स्वयं बच्ची बन जाती है। वह अपने स्नेहाचल मं उसे समेट लेना चाहती है जहाँ प्रेम और करुणाविगलित वात्सल्य के साथ-साथ शिरा-शिरा में प्राण धारा स्पंदित हो रही है। माँ के उत्तरदायित्व निभाने में उसे एक नया अर्थ मिल गया है मानों जिस बचपन को वह वर्षों से खोज रही थी वह उसकी अपनी बच्ची के रूप में लौट आया है।

"मैं भी उसके साथ खेलती
खाती हूँ, तुतलाती हूँ।
मिलकर उसके साथ स्वयं
मैं भी बच्ची बन जाती हूँ॥
जिसे खोजती थी बरसों से
अब जाकर उसको पाया।
भाग गया था मुझे छोड़कर
वह बचपन फिर से आया॥'

एक अन्य स्थल पर इसी भाव को व्यक्त करती हुई सुभद्रा जी लिखती हैं :

'बीते हुए बालपन की यह
क्रीड़ापूर्ण वाटिका है।
वही मचलना वही किलकना
हँसती हुई नाटिका है॥'

माता का हृदय विधाता ने किन स्वर्गीय उपादानों और दिव्य वृत्तियों को लेकर निर्मित किया है और न जाने कैसे संतति-प्रेम का आकर्षण मनःप्राण को एक अभिनव मोहजाल मे आबद्ध सा कर लेता है। एक कैसी विचित्र भावोन्मादना सी मस्तिष्क की शिराओं को अभिभूत सी कर लेती है कि जिससे माँ का व्यक्तित्व उसके बच्चे के द्वारा अभिव्यंजना का मार्ग पाता है। बालक उसके आदर्शों का प्रतीक और सुख-सौभाग्य का पूरक है। कवयित्री के मानस लोक में दिवा स्वप्नों, रंगीन कल्पनाओं और भावुकतामयी प्रेम-सवेदनाओं के समुद्भव के साथ-साथ अपत्य-स्नेह का वरदान सा वह पुनीत वत्सल प्यार पनप रहा है जिसने उसे प्यार की तन्मयता और आत्मा की विशालता प्रदान की है। वह माँ का अखण्ड विश्वास लिए आप्लवनकारी आतुरता और संयत औत्सुक्य के साथ स्नेहश्लथ, शीतलस्निग्ध प्यार की थिरकती हल्की छायाओं को मन मे उतार ऐसे कितने ही चित्र प्रस्तुत करती है जिनमें वात्सल्य की कोमलता और मातृ-हृदय के दुर्लभ भावरत्न छिपे पड़े हैं।

'यह मेरी गोदी की शोभा
सुख सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है
मनोकामना मतवाली॥
दीपशिखा है अन्धकार की
बनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल-भृंग की
है पतझड़ की हरियाली॥
सुधा धार यह नीरस दिल की

मस्ती मगन तपस्वी की।
जीवन ज्योति नष्ट नयनों की
सच्ची लगन मनस्वी की।।"

यहाँ तक कि बालिका का रुदन भी उसे नहीं अखरता, इसके विपरीत उसके नन्हे से ओंठ, लम्बी सिसकी, अश्रु बिन्दु और करुण दृष्टि से माँ का हृदय गद्‌गद हो उठता है। वह समझती है उसका अपना कोई अंश है, उसके अवस्थान का स्थूल प्रतिरूप--जिसे उसकी आवश्यकता है, जिससे उसका घनिष्ट नाता है।

"मैं सुनती हूँ कोई मेरा
मुझको कहीं बुलाता है।
जिसकी करुणापूर्ण चीख से
मेरा केवल नाता है।।'

सुभद्रा जी ने बाल चेष्टाओं का भी बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। 'पतंग' पर लिखी एक कविता में :

"लाल लाल हैं, हरे हरे हैं
पीले और चाँद तारा।
धेले वाला भी पतंग माँ
लगता हमें बहुत प्यारा।
पैसे वाला ले दो माँ या
धेले वाला ही ले दो,
क्यों देरी करती जाती हो
चलो उठो पैसे दे दो।।"

इस प्रकार माँ की जीवन्त रागात्मकता से इनकी वैयक्तिक निष्ठा का एकात्म्य, अविच्छिन्न सम्पर्क आज तक अटूट बना हुआ है। महा भाग्यशीला नारी का रूप, जिसके जीवन की पूर्णता माँ बनने में है, इनकी कविताओं में अत्यंत सरल सहज रूप में व्यक्त हुआ है। आने वाली पीढ़ियाँ माँ की आस्था और प्राणवत्ता को क्या कभी खंडित होने देंगी ? माँ के समूचे विकसित व्यक्तित्व में खंडशः विभक्त व्यक्तित्वों के संश्लेष का सहज समाहार हो सकता है अर्थात् समस्त दायित्वों का स्वीकरण या उनकी परिपूर्ति। सुभद्रा जी ने जो कुछ भी लिखा वह माँ के रूप में युगान्तव्यापी जीवन की एक ऐसी अभिन्न इकाई है जिस में सदैव निःश्रेयस की प्राप्ति का आनन्दोल्लास है और जहाँ अन्तस् की रंजनकारी प्रवृत्ति को बाँधकर वे अपने समन्वित भाव और प्रभाव से चिर-चिरान्त तक जनता-जनार्दन के समक्ष निवेदित होती रहेंगी।

"बिखरे बाल विरस बदना सी
आँखें रोई रोई - सी।
गोदी में बालिका लिये,
उन्मन सी खोई खोई-सी।"

१५

महादेवी की काव्य-साधना

साहित्य और कलानुरागियों को महादेवी जी से प्रायः शिकायत रही है कि उनके कृतित्व में सामाजिक संघर्ष, हलचल एवं वैषम्य के घात-प्रतिघातों की सीधी और निर्बाध अभिव्यक्ति न होकर उनके अपने ऐकान्तिक जीवन की पूर्णता के उत्प्रेरक चित्र हैं जो एक ख़ास क्षितिज पर हल्की, धूमिल रेखाओं में रूपायित होकर ढले हैं। जहाँ तक महादेवी जी की कविता का प्रश्न है, बात कुछ हद तक सही कही जा सकती है। जीवन के वाह्य विरोधी वैविध्य में भीतर ही भीतर कुंठित रह कर और पीड़ा को आत्मसात् करके वे जिस अवचेतन स्थिति में अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होती रहीं वह स्पष्ट और वहिर्गत न होकर बहुत कुछ कल्पनामय और मनोमय हो उठा। स्वच्छन्द विचारधारा और नैतिक आतंक से सहम कर ज्यों-ज्यों उनकी प्रकृत भावनाओं का संयम और गोपन होता गया, त्यों-त्यों स्थूल के प्रति उनका आग्रह कम होकर एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत होता गया और वे छायावाद की झिलमिल छाया में जैसे आँखमिचौनी सी खेलती रहीं।

'उसमें हँस दी मेरी छाया,
मुझमें रो दी ममता माया,
अश्रु हास ने विश्व सजाया,
रहे खेलते आँखमिचौनी।'

वस्तुतः कविता में महादेवी के अन्तःस्वर प्रकृत रूप में कम ही झंकृत हुए हैं। कवयित्री की तरल, सूक्ष्म कोमल अनुभूतियाँ जीवन के जिस सत्य को लेकर प्रकट हुईं, वे चिंतन तक ही सिमट कर रह गईं, कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा न दे सकीं। जिस सीमा-रेखा के भीतर जीवन अनेक बाधाओं से घिरा है उसे लाँधकर भीतर आने में कवयित्री को जैसे भय लगता है। जीवन की चाह जगते ही वह सहम कर ठिठक जाती है और स्थूल से उठकर सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति में प्रश्रय पाती है।

'कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?

स्वर्ण-स्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय में
कौन तुम मेरे हृदय में ?'

महादेवी जी को जीवन मे पीड़ा की बड़ी ही तीव्र अनुभूति हुई है, किंतु इस पीड़ा में भी वे एक प्रकार का आनन्द अनुभव करती हैं। उनकी कविता की अनेक पंक्तियाँ बतलाती हैं कि वे पीड़ा से छुटकारा नही चाहतीं, वरन् अन्य किसी भी वस्तु से वह उन्हें अधिक प्रिय है।

प्रश्न है, यह पीड़ा की अनुभूति कैसी–जिससे छुटकारे की इच्छा न की जाय ? उनका अभाव भरा सा लगता है और रोने की चाह रखते हुए भी उनके प्राणों में पुलक है। इस जिज्ञासा के समाधान में हम कहेंगे कि उनकी पीड़ा या अंतर्व्यथा भावना की तरलता में डूबी अन्तस्थ ऊहापोह की सहज तृप्ति अथवा रागात्मक द्रवण है जिसमें उतनी मार्मिकता और विह्वलता नही है जितनी पीड़ा के मूल में अपेक्षित है। पीड़ा कवयित्री के मन की वह मधुर स्निग्धता है जो गीतों में उभर कर किन्हीं अस्पष्ट उमगों और धुँधले आवेगों की धूमिलता में फैल जाती है, जिसे ठीक-ठीक पकड़ा नहीं जा सकता, आँका नही जा सकता। शब्दों के माध्यम से इतनी सूक्ष्म मनःस्थिति को व्यक्त कर पाना संभव ही कैसे है, अतएव उनकी अभिव्यक्ति में वह दर्शन और दाह नही है जो अपने अस्तित्व से घबरा कर मध्याह्न की प्रखरता को ज्योत्स्ना की शीतलता और भीतर के कोलाहल को शान्ति में परिणत कर देने की ख्वाहिश करे। वे तो अपनी पीड़ा, छटपटाहट और बेचैनी को ज्यों का त्यों अक्षुण्ण बनाये रखना चाहती हैं।

'मैं पुलकाकुल,
पल पल जाती रस-सागर ढुल,
प्रस्तर के जाते बन्धन खुल,
लुट रही व्यथा निधियाँ नव-नव।'

पीड़ा महादेवी के जीवन की सक्रिय पूरक है। उसमें वह व्यापक रसात्मक आवेग है (कचोट नही) जो एक छोर से दूसरे छोर तक संव्याप्त होने की क्षमता रखती है। इस स्थिति में कवयित्री कभी-कभी इतनी ऊँची सतह पर उठ जाती है कि पीड़ा, वेदना और विवशता में उसकी भावनाओं का तादात्म्य सा हो जाता है।

"प्रिय सान्ध्य गगन, मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया बीतराग,
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन
साधों का आज सुनहलापन,
घिरता विषाद का तिमिर गहन

संध्या का नभ से मूक मिलन
यह अश्रुमती हँसती चितवन।"

महादेवी का हृदय मार्मिक संवेदना से आप्लुत है जिसका मूल उत्स है प्रेम। आंतरिक तन्मयता और आकुल आवेग के कारण उनकी अन्तर्दृष्टि खुल गई है, पर इनका उक्त प्रणयोन्माद अतीन्द्रिय अनुभूति से परे सर्वतोभावेन आत्मार्पण की निष्काम विह्वलता में खो जाता है जहाँ अन्तरात्मा की गहराई में असीम व्याकुलता छिपी पड़ी है। प्रेम-साधना दुस्तर तपस्या में परिणत होकर आन्तर्रति के उस चरम बिन्दु पर पहुँच गई है जहाँ छिछली कामनाओं को समेटकर उसकी पूर्णानुभूति की सार्थकता है और इस एक प्रेम से उसके आगे अनन्त प्रेमपिपासा जगती है।

"जीवन है उन्माद तभी से
निधियाँ प्राणों के छाले
माँग रहा है विपुल वेदना
के मन प्याले पर प्याले।"

प्रेम-विह्वलता का ऐसा भावावेग –चाहे वह लौकिक हो अथवा पारलौकिक —एक ऐसी विगलित प्रेम-साधना की तल्लीनता जगाता है जहाँ वेदना से अभिषिक्त और हृदयरस से प्लावित प्रेमांकुर शाश्वत प्रेम-पिपासा के महान् महीरुह मे लह-लहा उठता है :

'है युगों की साधना से
प्राण का क्रंदन सुलाया,
आज लघु जीवन किसी
निस्सीम प्रियतम में समाया!'

इसी 'निस्सीम प्रियतम' का मोहक, स्नेहार्द्र रूप जो कवयित्री के कल्पना-पट पर अंकित हो गया है उसी के प्राणरस से मानों वह ओतप्रोत हो रही है, उसका प्रत्येक नि.श्वास उसी से सुवासित है और उसके कोमल सस्पर्श से वह मानों अभि-भूत और आविष्ट सी है। सर्वांगरूपेण वह उसमें लय होना चाहती है, उसके जीवन में अपने जीवन का राग और मूक संवेदन उँड़ेलने की आकांक्षा रखती है, फलत: दर्द और कसक की सँजोयी अनुभूतियों में वह यत्र-तत्र तदाकार हुई सी लगती है :

'चित्रित तू, मैं हूँ रेखा क्रम,
मधुर राग तू, मै स्वर संगम,
तू असीम, मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय!
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या?'

यही कारण है कि उनका व्याख्यातीत दर्द व्यक्तिपरक होता हुआ भी समष्टिपरक है। विभिन्न मन:स्थितियों के बीच उसका सघर्षरत रूप बड़ गहराई

और मार्मिकता से उभरा है। पलायन उसमें है, पर निवृत्तिद्योतक जड़ता नहीं। इसके विपरीत पूर्ण मनोयोग से उसकी सापेक्ष्य भावस्थिति को बड़े कौशल से ग्रहण किया है। कहीं-कही उसमें निहित गहरे संकेतों को इतनी तीव्रता और स्थिरता के साथ आँका गया है कि उसकी अव्यक्त और गूढ़ातिगूढ़ उपलब्धियों की न केवल मार्मिक व्यंजना हुई है, अपितु उसमें सौन्दर्य और मांगल्य की प्रतिष्ठा भी की गई है।

महादेवी की उक्त मार्मिक प्रखरता इतनी वैविध्यपूर्ण है कि उसकी विधाओं में उनके मानसिक ऊहापोह के अगणित बिम्ब-प्रतिबिम्ब उभरे हैं। कहीं स्वप्निल छाया में आवेष्टित विवशता, क्रन्दन और कुण्ठाओं की निर्द्वन्द्व अवतारणा है तो कहीं उनकी उदात्त भावस्थिति दर्शन की गरिमा में लिपटी-चिपटी प्रकृत अनुभूतियों में मानवेतर होकर सूक्ष्म सौन्दर्यबोध की सघन अनुभूति में लय हुई सी लगती है। यह सघन अनुभूति कवयित्री की आन्तरिक पीड़ा के योग से कहीं-कही इतनी संक्रामक हो उठी है कि उसके आहत क्रन्दन की अनुगूँज अथवा भीतरी अवसाद के कुहासे में दबी पड़ी राशि-राशि भावलहरियाँ हुमककर झलकें मारती हैं और उसके ऐकान्तिक व्यष्टिभाव को सार्वजनीन, तो कभी दार्शनिक चिंतन की कुंठा से भर देती हैं :

**"मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं !
नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय
आज हो रही कैसी उलझन
रोम रोम में होता री सखि
एक नया उर का सा स्पन्दन !
पुलकों से बन फूल बन गये
जितने प्राणों के छाले हैं।"**

प्रेम-तत्त्व का प्राधान्य होने से महादेवी के काव्य में विकास की एक स्पष्ट अन्तर्धारा दीख पड़ती है। दृश्यमान पदार्थों के वास्तव और वाह्य रूपों की अवहेला कर वे अपने भीतर के सौन्दर्य को उपलब्ध करने में सदैव सचेष्ट हैं। भौतिक जगत् की कर्दयता जैसे उनकी दृष्टि, मन और प्राणों को स्पर्श तक नहीं करती। उषा की आलोक भरी आभा में कभी उनके प्राण गा उठते हैं और कभी संध्या की अवसादमयी घनता में सिहर उठते हैं। उनके छन्दोमय अन्तर में शिशु का सा निरीह सारल्य है जो इन्द्रधनुष की रंजित शोभा के असंख्य बुलबुले आसमान में बनते-मिटते देखता है और जिसके मन की विचित्र उमंग, कौतुक की रंगीनी और आनन्द की पुलक कभी श्रान्त होना नहीं जानती। दूर—बहुत दूर—असीम शून्य का मूक मौन जब कवयित्री के मन के क्षितिज पर उद्भासित हो उठता है और किसी भी तरह स्पष्ट-अस्पष्ट रूप में वे उसे अपनी कल्पना और सूझ के भावडोरों से बाँध रखना चाहती हैं तो उनके अन्तस्थ के किसी सुदूर, भीतरी कोने में उदासी उभर आती है और एक हल्का सा, अजीब सा बोझ छा जाता है। नीरव, एकान्त वाता-

वरण में सृष्टि के विराट् और चरम सुन्दर रूप को खिरनने की अदम्य चेष्टा में वे खोयी सी अवाक् बैठी रह जाती हैं और घनी गहरी वेदना में उन्हें एक चुटीली मिठास का अनुभव होता है। कभी उनका मन किसी अज्ञात वस्तु के साक्षात्कार की लालसा में तड़प उठता है, कभी जीवन की वृहत्तम शून्यता उन्हें अखरने लगती है और कभी अन्तर्पट पर किसी निर्मम की चाह मचल उठती है, अधरों पर अनुराग बिखर जाता है और नयनों में विरह की छाया छटपटा उठती है :

'अपनी लघु निःश्वासों में
अपनी साधों की कम्पन,
अपने सीमित मानस में
अपने सपनों का स्पन्दन।
मेरा अपार वैभव ही
मुझसे है आज अपरिचित,
हो गया उदधि जीवन का
सिकता-कण में निर्वासित।'

किन्तु कवयित्री की सृजन-शक्ति का यह अपरिचित अपार वैभव कभी चुक नहीं पाता, उसकी अभिव्यंजना का आवेग कभी थकना नहीं जानता। उसके भीतर कला-साधना की ज्योति उत्तरोत्तर दीप्त होती रही है और इसी आलोक ने उसे बाहर के अँधेरे की उपेक्षा करने की सामर्थ्य दी है।

महादेवी के काव्य में एक स्वप्निल मानसिक वातावरण और व्यथा का सम्मोहन है। प्रणयोन्माद और अन्तःसौन्दर्य की अभिव्यक्ति में उनके भाव जितने ही अन्तर्गूढ़ होते गए हैं उनकी भावाभिव्यजना की कला भी उतनी ही सघन और दार्शनिक रहस्यात्मकता से आच्छन्न होती गई है। कौतूहल के बाद जिज्ञासा आई, फिर रंजित कल्पना और अन्ततः कोमलतम सूक्ष्म सौंदर्य-भावना। उनके अन्तरतम में सहेजे उदात्त सपने धुँधली सी, मीठी-मीठी, मादक उदासी में भरकर कविता मे उभरे। माधुर्य की गूढ़ अनुभूति में सौंदर्य का उनका आकर्षण उत्तरोत्तर अन्तर्मुखी होता गया और वास्तविक अनुभूतियों के गूढ़तम स्तरों में छिपी आन्तरिक उथल-पुथल को उन्होंने विविध रंगों, ध्वनियों और असाधारण लयमयता में झकृत किया। किन्तु उनकी भावधारा में करुण उच्छ्वास, अश्रु और बेबसी की ग्रन्थि है। जीवन के अत्यन्त निकट होकर उनकी दृष्टि यथार्थता की ठोस भूमि पर नहीं, कोमल वस्तु पर टिकती है। उनका प्यार छलकता है, पर रुके जल-संघात के सदृश। उनके भीतर कुछ दुराव सा है जो उन्हें यथार्थ के निकट आने से रोकता है और यह दुराव अन-जाने में ही क्रमशः बढ़ता गया है। भीतर दर्द है, कुछ अवरुद्ध सा घुमड़ता हुआ उभरता भी है, लेकिन कवयित्री उसे हवा में उड़ाना नहीं चाहती। वह दूरी का स्वाँग सा करती हुई आध्यात्मिक पाश में उसे जकड़ लेना चाहती है।

निम्न पंक्तियों में भाव-गुम्फन देखिए :

'रजत-रश्मियों की छाया में धूमिल घन सा वह आता,
इस निदाघ से मानस में करुणा के स्रोत बहा जाता।
उसमें मर्म छिपा जीवन का,
एक तार अगणित कम्पन का,
एक सूत्र सबके बन्धन का,
संसृति के सूने पृष्ठों में करुण-काव्य वह लिख जाता।'

यों महादेवी के काव्य में एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी है, जो निराकार उपासना, सूफीवाद और बौद्ध-दर्शन से प्रभावित है, किन्तु उसे भी एक बौद्धिक प्रयोग ही समझना चाहिए। जहाँ भाव की प्रमुखता में तथ्य दब जाता है, वहाँ व्यक्ति-जीवन के प्रसार में गहरी लीकें खिच जाती हैं। महादेवी के काव्य की दर्शनिक गूढ़ता, अत्यधिक कल्पनाशीलता, सूक्ष्म चिंतन, संशयात्मक बुद्धि उनकी अपनी अनिर्दिष्ट स्थिति से उत्पन्न हुई है। वह अन्तः प्रकृति की ओर से नहीं, वाह्य प्रकृति की ओर से हे। इसीलिए उसमें उनका निजत्व डूबता नहीं, वह जैसे अपार्थिव, अज्ञात आलम्बन के सहारे दूर टँगा सा रह जाता है।

महादेवी के काव्य में कही-कही अव्यक्त, अमानवीय स्वर सुन पड़ते हैं। निर्वाक्, स्तब्ध, बीतराग स्वर, जो स्वच्छन्द होकर भी अन्तःप्रेरणा के असीम आदेशों में निगड़ आबद्ध हैं। किसी अज्ञात इच्छा से विह्वल उनके समस्त कृतित्व पर धुँधली सी छाया पड़ी है। 'दीपशिखा' में जहाँ कवयित्री ने गीतों के साथ तूलिका का भी प्रयोग किया है, कल्पना की सूक्ष्मताओं के साथ रंगों का भी अभूतपूर्व सामञ्जस्य हो गया है। उसमें काव्य और कला का नवीन रूपान्तर है, कला की आत्मा का सजीव स्फुरण है और सूक्ष्म रंगों की कलामयता के साथ उनके भाव-गांभीर्य की अभिनव अभिव्यक्ति है। चित्रों मे अगणित संकल्प भर दिये गए हैं और कवयित्री की कला की अन्तरंग साधना गीतों के प्राणों में मुखर हो उठी है।

किन्तु सच्चे अर्थों में साधक वे हैं जो साधना की निविड़ता में वाह्य साधनों के ऊपर उठ जाते हैं। मानवीय अस्तित्व अपने भीतर चाहे कितनी ही गहराइयाँ और चाहे कितनी ही महत्ताएँ सन्निहित किये हुए क्यों न हो, इस प्रकार की प्रेमयोग-स्थिति सहज सम्भाव्य नहीं है। स्वयं महादेवी जी 'आधुनिक कवि' की भूमिका में लिखती हैं, "चिन्तन में हम अपनी वहिर्मुखी वृत्तियों को समेट कर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपना बौद्धिक समाधान करते हैं, अतः कभी-कभी वह इतना ऐकान्तिक होता है कि अपने से बाहर प्रत्यक्ष जगत् के प्रति हमारी चेतना पूर्ण रूप से जागरूक ही नही रहती और यदि रहती है तो हमारे चिन्तन में बाधक होकर।"

बौद्धिक होने के साथ-साथ महादेवी के दार्शनिक चिन्तन में रस-सिद्धता अधिक है। उनके काव्य में रागात्मक उद्वेलन है, आत्मानुभूति नहीं। भिन्न-भिन्न

रंगों के धूमिल आलोक में आध्यात्मिक-तत्त्व तिरोहित हो गये हैं और अदृष्ट बिन्दु पर उनकी भावनाएँ जैसे जड़ हो गई हैं, एकदम सीमित। उनमें फैलाव नहीं है, नारी के सरल, कोमल पाश को तोड़कर वे मानों आगे नही बढ़ पाती।

गद्य

किन्तु इसके ठीक विपरीत महादेवी जी अपने गद्य में उस रूप का निदर्शन कराती है, जिसमें केवल स्वात्म को गौरव और अनतता प्रदान करने वाले उपकरण ही नहीं, प्रत्युत् हृदय को हिलकोरने वाली प्रेरणा-प्रदायिनी शक्ति है। वे अपने निजी व्यक्तित्व को छोटे से छोटे इतर व्यक्तित्वों में लय करके अपने दिल और दूसरे के दिलों की बात सुनने और सुनाने को तैयार हैं। उनका गद्य कविता की भाँति सौंदर्य के भुलावे में डालकर हमें जीवन से दूर नहीं ले जाता, वह तो हमारी शिराओं में चेतना भरकर हमें यथार्थ जीवन में झाँकने की प्रेरणा प्रदान करता है। वहाँ साधना और व्यामोह नही है, जीवन के परस्पर पूरक चित्र है। आत्मा का सत्य शब्द-शब्द, पक्ति-पंक्ति में सजीव होकर हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

'आज भी जब कोई मेरी रंगीन कपडों के प्रति विरक्ति के सम्बन्ध में कौतुक-भरा प्रश्न कर बैठता है तो वह अतीत फिर वर्तमान होने लगता है। कोई किस प्रकार समझे कि रगीन कपड़ों में जो मुख धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगता है वह कितना करुण और कितना मुर्झाया हुआ है। कभी-कभी तो वह मुख मेरे सामने आने वाले सभी करुण-क्लान्त मुखों में प्रतिबिम्बित होकर मुझे उनके साथ एक अटूट बन्धन में बाँध देता है।'

'स्मरण नहीं आता वैसी करुणा मैंने कहीं और देखी है। खाट पर बिछी मैली दरी, सहस्रों सिकुड़न भरी मलिन चादर और तेल के कई धब्बे वाले तकिये के साथ मैंने जिस दयनीय मूर्ति से साक्षात् किया उसका ठीक चित्र दे सकना संभव नहीं है। वह अठारह से अधिक की नहीं जान पड़ती थी—दुर्बल और असहाय जैसी। सूखे ओठ वाले, साँवले पर रक्त-हीनता से पीले मुख में आँखें ऐसे जल रही थीं जैसे तेलहीन दीपक की बत्ती।'

'मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता जब मैंने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किये हुए ही उन बेचारों को सफाई का महत्त्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब जैसे के तैसे ही सामने थे—केवल कुछ गंगा जी में मुँह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गया था, कुछ ने हाथ-पाँव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ वे अलग जोड़े हुए से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिये कीट से मैले फटे कुरते घर ही छोड़कर ऐसे अस्थिपंजरमय रूप में आ उपस्थित हुए थे जिसमें उनके प्राण 'रहने का आश्चर्य है गये अचम्भा कौन' की घोषणा करते जान पड़ते थे।''

('अतीत के चलचित्र' पृष्ठ २८, ६३, ७४)

'धूल से मटमैले सफेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाये, पतलून और

पैजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पैजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उघड़े हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढके, दाढ़ी-मूँछ विहीन, दुबली नाटी जो मूर्त्ति खड़ी थी वह तो शाश्वत चीनी है। उसे सबसे अलग करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा।'

('स्मृति की रेखाएँ' पृष्ठ २२)

आश्चर्य है कि महादेवी जी, जिन्होंने अपनी रंजित कल्पना द्वारा कविता में मनोज्ञ सृष्टि करके असौदर्य को बहिष्कृत या गौण सिद्ध कर दिया था, वे गद्य में सचेत प्रयत्न द्वारा जीवन को एक पूर्णतर एव दृढ़तर धरातल पर प्रतिष्ठित कर सकी है। वहाँ उन्होंने कलाकार की उस समृद्ध जीवन-दृष्टि को विकसित किया है जो दृष्ट वास्तविकताओं और कल्पनामूलक सम्भावनाओं के साम्य-वैषम्य की विभाजक सीमा मिटा देती है। आंतरिक रागातिरेक को उन्होंने अपने तक ही सीमित नहीं रखा, वरन् जिस-तिस व्यक्तित्वों और जीवन की अनन्त जटिल वास्तविकताओं में लय कर दिया है। 'अतीत के चलचित्र' में घीसा के गाँव की गँवई नारियों का कितना सजीव दृश्य चित्रित किया है, ज़रा देखिए :

'दूर पास बसे हुए, गुड़ियों के बड़े-बड़े घरौंदों के समान लगने वाले कुछ लिपे-पुते, कुछ जीर्ण-शीर्ण घरों से स्त्रियों का झुण्ड पीतल-ताम्बे के चमचमाते मिट्टी के नये लाल और पुराने भदरंग घड़े लेकर गंगाजल भरने आता है, उसे भी मै पहचान गई हूँ। उनमें कोई बूटेदार लाल, कोई निरी काली, कोई कुछ सफ़ेद और कोई मैल और सूत में अद्वैत स्थापित करने वाली, कोई कुछ नई और कोई छेदों से चलनी बनी हुई धोती पहने रहती है। किसी की मोम लगी पाटियों के बीच में एक अंगुल चौड़ी सिंदूर रेखा अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में चमकती रहती है और किसी के कड़वे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी-छोटी लटें मुख को घेरकर उसकी उदासी को और भी केन्द्रित कर देती हैं। किसी की साँवली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूड़ियों के नग रह रह कर हीरे से चमक जाते हैं और किसी के दुर्बल काले पहुँचे पर लाख की पीली मैली चूड़ियाँ काले पत्थर पर मटमैले चन्दम की मोटी लकीरें जान पड़ती हैं। कोई अपने गिलट के कड़े-युक्त हाथ घड़े की ओट में छिपाने का प्रयत्न सा करती रहती है और कोई चाँदी के पछेली-ककना की झंकार के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसे वाली तरकी धोती से कभी-कभी झाँक भर लेती हैं और किसी के ढारें लम्बी जंजीर से गला और गाल एक करती रहती है। किसी के गुदना गुदे हुए गेहुँए पैरों में चाँदी के कड़े सुडौलता की परिधि सी लगते हैं और किसी की फैली उँगलियों और सफेद एड़ियों के साथ मिली हुई स्याही राँग और काँसे के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बेड़ियाँ बना देती हैं।'

('अतीत के चलचित्र' पृष्ठ ७६)

निःसन्देह, मानव-जीवन इतना बिखरा हुआ और विविधता से पूर्ण है कि उसे

देखने-समझने के लिए अशेष चक्षुओं की आवश्यकता है। महादेवी जी ने अतीत की अनगढ़, सामंजस्यहीन, बिखरी स्मृतियों को सरस विश्वास के सुकोमल धागे में पिरोया है। उन्होंने जीवन में जो कई मोड़, उथल-पुथल, आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन और उनसे प्राप्त स्थिर विवेक और स्थिति को परखने वाली आत्म-विश्वासमयी दृष्टि-प्रसार की कला सीखी, उससे अपने सपनों के सरल, किन्तु मार्मिक चित्र खींचने में उन्हें पर्याप्त सुविधा हो गई। उनका सरल, तरल, सजीव स्नेह भूखे, नगे, निराश्रित बालकों को देखकर उमड़ पड़ा और उनका कोमल हृदय अभावग्रस्त, भर्त्सनाओं की शिकार, पीड़ित, उपेक्षित, पुरुषों द्वारा रौंदी और सामाजिक बन्धनों में जकड़ी नारियों की आशा-निराशा, हास्य-रुदन और अन्तर्वाह्य ऊहापोहों से द्रवित हो उठा। जहाँ कही उन्हे परवश असहाय विधवाएँ अथवा कुसुमकली सी कोमल अल्पवयस्का पति-विहीना, किन्तु किसी युवक की विकृत वासनाओं की शिकार, अवैध संतति से विभूषित कोई किशोरी बाला दीख पड़ी, वहीं उनके भीतर का तकाज़ा और भी अधिक दुर्दम्य, कठोर आत्मवेदना से प्रताड़ित होकर प्रकट हुआ।

'यदि यह स्त्रियाँ अपने शिशु को गोद में लेकर साहस से कह सकें कि 'बर्बरो, तुमने हमारा नारीत्व, पत्नीत्व सब ले लिया, पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न देंगी' तो इनकी समस्याएँ तुरन्त सुलझ जावें।'

न केवल उपेक्षिताओं, परित्यक्ताओं, विधवाओं और अवैध सन्तान वाली माताओं के प्रति उनकी असाधारण करुणा और सहानुभूति जाग्रत हुई, अपितु पुरुषो की सम्भोगेच्छा की प्रज्ज्वलित अग्निशिखा बनकर रूप का गर्हित व्यापार करने वाली वेश्याओं तक के प्रति भी उनकी सद्‌भावना है। असहाय बेबसी और मजबूरी के कारण जिनकी ज़िन्दगी के मूल्य नित्य घटते-बढ़ते रहते हैं, वे समाज में हेय और पतित समझकर भले ही ठुकरा दी जायँ, किन्तु उनके पतन में पुरुष का स्वार्थ और उसके भीतर घुमड़ता हुआ कुत्सित वासनाओं का कसमसाता ऊफ़ान ही सहायक होता है।

'इन स्त्रियों ने, जिन्हें गर्वित समाज पतित के नाम से सम्बोधित करता आ रहा है, पुरुष की वासना की वेदी पर, कैसा घोरतम बलिदान किया है, इस पर कभी किसी ने विचार भी नहीं किया। पुरुष की बर्बरता, रक्तलोलुपता पर बलि होने वाले युद्ध-वीरों के चाहे स्मारक बनाये जावें, पुरुष की अधिकार-भावना को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रज्ज्वलित चिता पर क्षण भर में जल मिटनेवाली नारियों के नाम चाहे इतिहास के पृष्ठों में सुरक्षित रह सकें, परन्तु पुरुष की कभी न बुझने वाली वासनाग्नि में हँसते-हँसते अपने जीवन को तिल-तिल जलाने वाली इन रमणियों को मनुष्य जाति ने कभी दो बूँद आँसू पाने का अधिकारी भी नहीं समझा।'

('शृंखला की कड़ियाँ' पृष्ठ ११३)

महादेवी जी ने वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था और परम्परागत संस्कारों पर कहीं-कहीं इतना दारुण आघात किया है कि पाठक तिलमिला उठता है और उनकी अन्तरंग करुणा एवं निर्मम कचोट से प्रेरित गतिशील अभिव्यक्ति को सजीव रंगों में चित्रित

देखता है। कहीं हृदय को द्रवित करने वाली कोमलता है तो कहीं कड़ुवाहट के मन्थन से उत्पन्न कशाघात। अप्रतिहत रूप से इन कशाघातों ने उनके मर्म को छुआ है, उनकी मार्मिक, तीखी संवेदनाओं को उभाड़ा है और जीवन की समूची सहिष्णुता और हर तरह के अनुभवों की परम्परा में ग्रहण किये व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक अन्तर्साक्ष्य को प्रत्यक्ष किया है। सामाजिक जीवन की गहरी पर्तों को छूने वाली इतनी तीव्र दृष्टि, नारी-जीवन के वैषम्य और शोषण को तीखेपन से आँकने वाली इतनी जागरूक प्रतिभा और निम्न-वर्ग के निरीह, सुख साधनहीन प्राणियों का ऐसा हार्दिक और अनूठा चित्रण अन्यत्र कम ही मिलेगा। यथार्थ की ठोस भूमि पर जब कलम चलती है तो उसमें अनुभव की गहराई होती है, आत्म-विश्वास की सक्रिय सजगता निवास करती है, उसमें टीस होती है, मिठास होती है, चिरन्तनता साँस लेती नजर आती है। महादेवी के 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' और 'पथ के साथी' में उनके सूक्ष्म अन्तर्भाव ऊपरी सतह पर उठने वाली लहरियों की भाँति नहीं, वरन् अंतस् के गहन-गम्भीर आलोड़न से उत्पन्न तीखे ठोस बिन्दु है जो मर्म पर चोट करते हुए अमिट रूप से अंकित हो जाते है, मानो भीतर की सारी शक्ति संचित होकर शब्दों में सजीव हो उठती है।

'सप्तपर्णा'

महादेवी जी के बौद्धिक चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है 'सप्तपर्णा' और इससे उनके कृतित्त्व को सर्वथा नई दिशा मिली है। उसमें इन्होंने भारतीय वाङ्मय के बिखरे सन्दर्भों को अपनी रंजित कल्पना द्वारा मुखर किया है। जैसे अनन्त बहते प्रवाह का न कहीं ओर-छोर नजर आता है और न कहीं आदि-अन्त, वैसे ही भिन्नता और दूरी नापती कितनी ही समानान्तर रेखाएँ आज तक साहित्य के प्रवाह में लय हुई हैं। उक्त प्रवाह की चर्चा करते हुए महादेवी जी कहती हैं—'प्रवाह में बनने मिटने वाली लहर नव-नव रूप पाती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती रहती हे, परन्तु प्रवाह से भटक कर अकेले तट से टकराने और बिखर जाने वाली तरंग की यात्रा वही बालू मिट्टी में समाप्त हो जाती है। साहित्य हमारे जीवन को ऐसे एकाकी अन्त से बचाकर उसे जीवन के निरन्तर गतिशील प्रवाह में मिलने का सम्बल देता है।"

एक अन्य स्थल पर वे लिखती हैं—'आलोक को सूर्य से पृथ्वी तक आने में कितना समय लगता है, अंतरिक्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक ध्वनि की यात्रा किस क्रम से कितने समय में पूर्ण होती है, यह जानने में समर्थ विज्ञान भी इस जिज्ञासा का समाधान नहीं कर सका है कि मानवीय विचार और संवेदन का, एक युग से दूसरे में संक्रमण किस क्रम और कितने समय की अपेक्षा रखता है। पर वर्षों की संख्या और इतिहास की ऊह पोह के अभाव में भी हमारे हर चिंतन, हर कल्पना, हर भावना में मानो 'तत्त्वमसि' तुम वही हो का कभी स्पष्ट कभी अस्पष्ट स्वर गूँजता रहता है जो प्रमाणित करता है कि हमारे बुद्धि और हृदय के तारों में कोई दूरागत झंकार भी है। जिसके सम्बन्ध में तर्क की असंख्य उलझने हैं उसके सम्बन्ध में हमारा हृदय कोई

प्रश्न नहीं करता, क्योंकि हमारी अंतश्चेतना उसे अपना स्वीकार कर लेती है।"

सचमुच, साहित्य की पटभूमि भले ही समसामयिक वैशिष्ट्य लिये हो, फिर भी उसकी प्राणवान परम्परा देश एवं काल के सीमान्तों से परे ऊर्ध्व चिरंतन मानवीय समस्याओं से सदा जुड़ी होती है। आज का साहित्य जिस जिज्ञासा, अध्यवसाय एवं प्रयत्न के बल पर इस विकास-बिन्दु तक पहुँचा है वह अपने इस अभियान में कितनी ही पगडंडियों से गुज़रकर एक बड़ी मंज़िल तय करता हुआ आगे बढ़ा है। 'सप्तपर्णा' में महादेवी जी ने हमारे साहित्य की अमूल्य धरोहर—जैसे आर्षवाणी, बाल्मीकि, थेरगाथा, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति तथा जयदेव आदि की कृतियों से कुछ अच्छे पदों का रूपान्तर प्रस्तुत करके सर्वथा एक नई परम्परा क़ायम की हे।

सामान्यतः इस प्रकार का रूपान्तर कठिन कार्य है। कारण—ऐसी रचनाओं में लेखक परवश होता है, वह अपने मौलिक चिन्तन और अनुभूति का सत्य न बनाकर परमुखापेक्षी सत्य कहता है। अतएव मूल विषय की आत्मा एवं गूढ़ता को ऐसी रचना में यथावत् चित्रित करना एक बड़ी कला है और इस कला में महादेवी जी—मेरी सम्मति में—खरी उतरी हे।

सबसे पहले आर्षवाणी अर्थात् वेदों के सृजन और निर्माण की सम्पूर्ण विधि में एकाकार विभिन्न विचारधाराएँ—जिन्होंने न सिर्फ़ हमारे धर्म, संस्कृति, आचार-विचार बल्कि मनःप्राणों तक को गतिमान किया है, काव्य रूप में प्रस्फुटित हुई हैं। ऋग्वेद से अनूदित 'जागरण' की निम्न पंक्तियाँ देखिए :

"ज्योतिर्वसना तू शनैः शनैः उतरी भू पर,
निधियों में तेरा दान रहा सबसे भास्वर;
ओ सूर्य वरुण की स्वसा ! गूँजते तेरे स्वर,
हारें विद्वेषी, रथी रहें हम विजयी वर।
हो ऊर्ध्वगामिनी सत्य पुरन्ध्री वाक् मधुर,
प्रज्ज्वलित पूत यह अग्निशिखा उठती ऊपर;
जो रूप आज, कल भी उसका प्रत्यावर्तन
करती अरुणाएँ वरुण नियम गति में धारण।"

वैदिक साहित्य 'आउट आव डेट' है, साथ ही भाषा और शैली की दृष्टि से अत्यन्त दुरूह भी। बौद्धिक होने के कारण उससे हृदय का तादात्म्य भी बहुत कम हो पाता है, पर महादेवी जी ने उसमें से वे चीज़ें चुनी हैं जिनसे किसी भी देश एवं काल में मानव जीवन का अटूट सम्बन्ध बना रहता है। उषा, ज्योतिष्मति, अग्निगान, भू-वन्दना, शान्ति-स्तवन, साम्यमन्त्र, गृहप्रवेश जैसे विषय ऐसे हैं जो सदैव सृष्टि का नियमन और संचालन करते हैं। समय की असंख्य परतों को चीर कर दूसरे छोर पर खड़े मानव के सौदर्य-बोध, राग-विराग, हर्ष-विषाद और उदात्त-अनुदात्त वृत्तियों की झाँकी भी उसमें मिल जाती है। अथर्ववेद के ये उद्‌बोधन वाक्य, निश्चय

ही, सीधे अन्तस्तल को छूते हैं।

"यह उन्नत आकाश
और यह धरती जैसे
भीतिरहित है और
निरन्तर रहते अक्षय।
वैसे ही हे प्राण।
अबाधित गति तेरी हो,
नष्ट न होना और सदा तू रहना निर्भय।"

वैदिक साहित्य के बाद आदिकवि बाल्मीकि की अमर कृति 'रामायण' में से कुछ सुन्दर प्रसंगों को लिया गया है। राम का लोकोत्तर रूप एक ऐसे श्रेष्ठ महा-मानव की उद्भावना है जिसमें लौकिक और पारलौकिक शक्तियों का एक साथ सम्पुंजन है। आदिकवि के हृदय में राम की यह महागाथा एक बहुत ही छोटी घटना से प्रेरित हुई थी। क्रौंच पक्षी के करुण क्रन्दन ने उनकी प्रतिभा को मानो सोते से जगा दिया और उसके अस्फुट स्वर इस महाकाव्य में लय होकर अजर-अमर स्वर और ताल बन गये।

"व्याध से हत क्रौंच की
दयनीय स्थिति का ज्ञान,
कर गया मुनि धर्मधन के
द्रवित आकुल प्राण।
देखकर तब विकल क्रौंची
व्याध चरित अधर्म,
बह चली वाणी सहज,
ले द्रवित उर का मर्म।"

वन में राम और भरत मिलाप की कुछ कारुणिक पंक्तियाँ देखिए :

"भरत तब दौड़े रुदित
दुःख मोह से आक्रान्त,
चरण तक पहुँचे न भू पर
गिर पड़े दुःख भ्रान्त।
'आर्य' ही बस कह सके वे
धर्म में निष्णात,
कण्ठ गद्गद से न निकली
अन्य कोई बात।"

आदिकवि बाल्मीकि के बाद महाकवि अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, जयदेव तक आने के लिए बौद्ध साहित्य की अटूट लम्बी परम्परा को नज़रन्दाज़ नहीं किया जा सकता।

बौद्ध दर्शन, धम्मपद, जातक कथाएँ और थेरी-थेरी गाथाएँ हमारे भारत की मिट्टी से सिरजी गईं, उनके विशाल वैविध्य में मूलभूत जीवन की कितनी ही व्याख्याएँ और अनुभूतियाँ बिखरी पड़ी हैं। बीतराग भिक्षु-भिक्षुणियाँ, राजकुमार-दासीपुत्र, ब्राह्मण-शूद्र, साध्वी और नगरबधुएँ, राजमहिषी और क्रीत दासियाँ—इस प्रकार विविध वर्ण, परिवार और परिस्थितियों के भुक्तभोगी मानव और उनके अगणित सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और घात-प्रतिघात के जीते-जागते चित्र हमें उन बौद्ध-आख्यानों में मिलेंगे जो सहज ही हमारी रागात्मक संवेदनाओं को आलोड़ित करते हैं।

'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' महाकाव्यों के रचयिता अश्वघोष महाकवि कालिदास के पूर्वगामी हैं। बौद्धकालीन दार्शनिक रूढ़ियों और धार्मिक मान्यताओं के बावजूद भी इस तत्वज्ञानी कवि की रसग्राही चेतना के तंतु उसकी अन्तरंग अनुभूतियों को छूकर, साथ ही भीतरी राग-विराग, आकर्षण-विकर्षण तथा कठोर साधना के साथ-साथ उसकी रागमयी अभिव्यक्ति की तात्त्विक एकता की ओर भी संकेत करते हैं।

"विहग और मृगदल दोनों ने
रोक दिया कलरव कोलाहल,
शान्त तरंगों में बहता था
शान्त भाव से सरिता का जल।
शान्त दिशाएँ स्वच्छ हो गईं
नील गगन था स्वच्छ मेघ बिन
पवन लहरियों पर तिरता था,
दिव्य लोक के तूर्यों का स्वर।"

महादेवी जी के हाथों कालिदास के प्रकृति-चित्र और भवभूति तथा जयदेव के शृंगार और गेय पद भी बड़ी ही सजीवता और सौन्दर्यानुभूति के दिग्दर्शक बन कर उभरे हैं जिनमें भारतीय लोक जीवन मानों उनकी धमनियों में सतत प्रवाहशील रसस्रोत है जो न कभी सूखा है और न सूखेगा। आलंकारिक योजना और शब्द-विन्यास को ही काव्य का प्राण माना जाय तो इस दिशा में भी महादेवी जी ने बड़ी ही गरिमा और प्रासादिकता के साथ उसे निभाया है। किसी दूसरे की अनुभूति को संप्रेषणीय बनाने के लिए ऐसे अनुवादों या रूपान्तरों की निगूढ़ व्यंजना एक बड़ी ही कठिन साधना है, बिना तन्मय हुए उसे प्राणों में उतारा नहीं जा सकता। कालिदास के अज-विलाप की ये पंक्तियाँ कितनी सजीव उतरी हैं :

"चाह थी सुरलोक की,
मुझको न पर छोड़ा अकेला,
सत्य ही निज गुण यहाँ
तुम रख गई हो गमन-बेला।

पर विरह की गुरु व्यथा से
यह हृदय है भार बोझिल
दे नहीं पाते इसे ये आज
कुछ अवलम्ब सम्बल ।"

कालिदास की प्रकृति-निरीक्षण से प्रेरित 'कुमार संभव', 'रघुवंश', 'मेघदूत', 'ऋतुसंहार', 'विक्रमोर्वशी' और 'अभिज्ञान शाकुंतल' आदि के प्रसंगों को भी उन्होंने मार्मिक रूप में काव्योचित अभिव्यक्ति प्रदान की है। शकुन्तला की विदाई की ये पंक्तियाँ--

"आज विदा होगी शकुन्तला
सोच हृदय आता है भर-भर,
दृष्टि हुई धुंधली हुई चिन्ता से
रुद्ध अश्रु से कण्ठ रुद्ध स्वर।
जब ममता से इतना विचलित
व्यथित हुआ वनवासी का मन,
तब दुहिता विछोह नूतन से
पाते कितनी व्यथा गृही जन !
ग्रहण किया था कभी न जिसने
तुम्हें पिलाये बिना स्वयं जल,
मंडन प्रिय होने पर भी जो
नहीं स्नेह से तोड़ सकी दल,
जन्म तुम्हारे नव मुकुलों का
जिसके हित होता था उत्सव,
वह शकुन्तला जाती पति गृह
आज अनुज्ञा दो इसको सब ।"

'मेघदूत' में विरह कातर यक्ष अपनी प्रिया को संदेश भेजता है। महादेवी जी सरल भाषा में एक अखंडित भाव-इकाई की रूपसृष्टि करती हैं :

"संतप्तों के शरण बलाहक !
ले जाओ संदेश प्रिया तक
मेरा, जिसकी धनद कोप से
विरह तप्त काया।
आषाढ़ मास का
प्रथम दिवस आया।"

और भवभूति के 'उत्तररामचरित' की जरा चन्द पंक्तियाँ देखिए :

"ये वे ही गिरि मुखर, मयूरों की केका से
वनस्थली है वही मत्त हरिणों से संकुल

जहाँ निचुल पादप जल में गहरे डूबे हैं
वही नदी तट जहाँ मंजु लतिकाएँ बंजुल।"

'सप्तपर्णा' में महादेवी जी ने प्राचीन काव्य-वैभव को समूचे शास्त्रीय सन्दर्भों में ग्रहण किया है और चमत्कार, परिष्कार और अतिरिक्त प्रेषणीयता द्वारा उसे गरिमामय बनाने की चेष्टा की है। इसमें तारुण्य का उल्लास या रूमानी दृष्टि नहीं है, अपितु आंतरिक सहानुभूति एवं संघात का सम्मोहन है। अन्तश्चेतना एवं मनः-स्पन्दन के माध्यम से जो कुछ उन्हें अनुभूत हुआ अथवा साहित्य के बहुविध प्रसार में झाँककर कला और सौन्दर्य की आत्मोपलब्धि द्वारा जितना भी वे उसे मुखर बना सकीं वह निश्चय ही उपादेय एवं प्रभविष्णु है। स्वयं महादेवी जी के शब्दों में--

"किसी कवि की कृति के अध्ययन के समय उसकी अनुभूतियों के साथ पाठक का जो तादात्म्य होता है वह कभी पूर्ण, कभी अंशतः पूर्ण और कभी अपूर्ण हो सकता है। इस तादात्म्य की मात्रा के न्यूनाधिक्य पर केवल उसके अपने आनन्द की मात्रा का न्यूनाधिक्य निर्भर है, किन्तु जब वह किसी की अनुभूति को मर्मतः दूसरों तक सप्रेषणीय बनाने का कर्त्तव्य अंगीकार कर लेता है, तब उसका तादात्म्य या उसका अभाव दो पक्षों के प्रति उत्तरदायी है। प्रस्तुत अनुवाद की अपूर्णताओं के प्रति मैं सजग हूँ, किन्तु समुद्र की अतल गहराई से निकाला हुआ मोती काष्ठ की छोटी मंजूषा में भी रखा जा सकता है।"

जीवन-दर्शन

किसी भी श्रेष्ठ कलाकार की महत्ता का मापदण्ड उसकी अनुभूति की गहराई और उसकी विषय-वस्तु का फैलाव है। कलाकार ज्यों-ज्यों अपनी भावनाओं को विश्वात्मा की एकरूपता मे लय कर देता है, त्यों-त्यों उसके आत्मभाव की परिधि व्यापक होती जाती है और तब प्रत्येक ज्ञेय वस्तु उसकी बुद्धि का विषय न होकर अनुभूति का विषय बन जाता है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हे महादेवी के काव्य में विषण्ण वातावरण की सृष्टि हुई है। उनकी अस्पष्ट, आकारहीन चाहनाएँ आन्तरिक विवशता का परिणाम हे। वाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता शक्य न होने से उनमें जो आत्म-पीड़न और अनासक्ति है, उसी ने जीवन के प्रति उनका तन्मय विश्वास खोकर उनमें खीझ, निराकार आक्रोश, पलायन भावना और झिझक उत्पन्न कर दी है। गद्य में यह आन्तरिक विद्रोह और भी अधिक तीखा और खुलकर व्यक्त हुआ है। अन्त-संघर्ष और असन्तोष के साथ-साथ उनमें सामाजिक परिस्थितियों से तनाव है और यह तनाव, यह अनासक्ति ही उनके सारे दर्शन का आधार है। गद्य में सामाजिक जीवन की ह्रासोन्मुखी गतानुगति के प्रति स्वस्थ एवं सबल विद्रोह होते हुए भी उनमें गतिशील क्रान्तिकारी चेतना और सजग क्रियाशीलता के चिह्न नही हैं। उनमें राग है, कशाघात नहीं, पराजय है, प्रतिकार-भावना नहीं, कोमलता है कठोरता नहीं, निर्मम वास्तविकताओं के प्रति मूक स्वीकृति है, उनके निदान का

कोई स्पष्ट उपचार नहीं। महादेवी में विद्रोही तत्त्व सांघातिक सामाजिक निरंकुशता सहन नही करते, अतएव उनमें प्रतिरोध और विरक्ति है, जिसमें विषाद का गहरा पुट भी है। कहीं-कहीं जहाँ ठेस गहरी है, उनकी बद्ध आत्मा तड़प उठती है। उनके भीतर में विद्रूप बज उठता है, नारीत्व का अहं चीत्कार कर उठता है और वे अधिकाधिक दारुण होकर चोट करती हैं। समाज की विभिन्न ह्रासोन्मुखी विकृतियों का पर्दाफ़ाश करते हुए उनमें हृदय की मधुर पीड़ा की कराहट सुन पड़ती है, जो पाठक के मस्तिष्क में अमिट चिह्न लगा जाती है।

इसी को अधिक स्पष्ट करें तो हम कहेंगे कि गद्य और पद्य में महादेवी के जीवन-दर्शन की दो पृथक् धाराएँ विकसित हुई हैं। उनके पद्य की कसौटी है असामंजस्य और आत्मपीड़न, जिसमें वाह्य परिस्थितियों में आस्था न होने के कारण अन्तर्मुखी चिन्तन है, विशुद्ध आध्यात्मिक अनुभूति नहीं। आत्मदर्शी जिन अनुभूतियों में रमता है, उनका उसमें अभाव है, अतएव इनका पद्य रागात्मक कल्पना का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता हुआ भी इतना लोकसंवेद्य न हो सका जो मन में उतर पाता। इसके विपरीत महादेवी के गद्य का अपना पृथक् अस्तित्व है। पद्य के अंतर्गूढ़ स्वरों को उन्होंने गद्य में मुखर किया है और जीवन को सच्चे अर्थों में प्रतिष्ठित करने का स्वप्न देखा है। लोक-सामान्य संवेदनीयता की भावभूमि पर उन्होंने गहरे-हल्के रंगों के सम्मिश्रण से जीवन के जो चित्र आँके हैं वे अर्थपूर्ण अनुभूतियों के आधार पर यथार्थ का सच्चा निरूपण करते हैं।

'यामा,' 'दीपशिखा' और 'आधुनिक कवि' की भूमिकाएँ कवयित्री के अन्तमंथन और प्रमुख संकल्पों की विचारात्मक प्रतिक्रिया है, जिसमें अपने पक्ष-समर्थन का आग्रह अधिक, वस्तुस्थिति की निर्दिष्ट दिशाओं का संश्लेषण कम है। कहीं-कहीं दार्शनिक चिन्तन की बोझिलता से उनकी भाव-व्यंजना सहज दुर्ज्ञेय हो गई है।

महादेवी जी की एक विचित्र आदत है कि वे हँसती बहुत है और कभी-कभी विपरीत स्थिति में भी बेहद हँसती हैं। जीवन के प्रति 'ट्रेजिक' दृष्टिकोण रखनेवाली कवयित्री का यह रूप बहुतों को आश्चर्य में डाल देता है।

मानव-मन के सीमान्त क्या हैं?—यह तो बताना कठिन है, किन्तु किसी भी शारीरिक अथवा मानसिक असम्बद्धता, विसंगति या विपर्यय से सजग चेतन का अचेतन से संयोग होने के कारण मनुष्य का पराजित मन वाह्य संघर्षों से ऊबकर एक काल्पनिक झूठी मस्ती अथवा मन बहलाने वाली मादकता का प्रश्रय लेता है और अपनी फक्कड़पन से भरी अनुभूतियों की आवेगपूर्ण अभिव्यंजना करने लगता है। यह एक प्रकार का लक्ष्यहीन लक्ष्य है जो उसे काल्पनिक सुख देता है। अनेक बार बाहरी असफलताएँ और भीतरी विवशता भावुक व्यक्तियों को प्रमादग्रस्त बना देती हैं। उसकी वेदना में जैसे करुण आवेग की प्रचुरता होती है, उसी प्रकार उसकी विपरीत प्रतिक्रिया हर्ष भी विचित्र और आवेगपूर्ण होता है। महादेवी जी की हँसी

निराशा, पलायन, आवेग, अतृप्ति, असन्तोष और भीतरी विवशता का परिणाम है, जिसे अनन्त संघर्षों से परे मुक्तावस्था कहा जा सकता है। यदि हम उनकी हँसी का विश्लेषण करें तो उसके अतल मे उतनी रसात्मक अनुभूति नही जितनी असम्बद्धता, असंगति और उथलापन पायेंगे। उनके रुदन की भाँति उनका हास्य भी संक्रामक है। असम्बद्ध बातों और विपरीत स्थिति में हँसना इसी संक्रमण से प्रेरित होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि विश्लेषण किया जाय तो अज्ञात मन की दबी-घुटी इच्छा-आकांक्षाएँ कभी ऐसे बाहरी विषय पर आ टिकती है जो किसी विशेष अवस्था में स्थिर या आरोपित हो जाती है। बेहद निरोध या असाधारण दमन ही इसका मूल है जो बाहर-भीतर असामंजस्य के कारण मस्तिष्क का संतुलन बिगाड़ देता है। मनोलोक में यह भीषण कशाघात एवं द्वंद्व-संघर्ष 'मनोविच्छेद' (Mental Dissociation) का कारण बनता है जिससे मानसिक दौर्बल्य या मनोविक्षेप उपजता है। मन की अस्थिरता, क्षणिक संवेग एवं अत्यधिक भावुकता कुछ ऐसे मनोभ्रम उत्पन्न करती है, साथ ही परिस्थिति की प्रतिकूलता परस्पर विरोधी वृत्तियों को प्रश्रय देती हुई उन संवेगों को उभाड़ती है जिससे अकारण ही हँसना या रोना आता है। किसी दुराग्रही वृत्ति से छुटकारा पाने के लिए मन जब किन्ही अशेष कल्पनाओं में रमने लगता है तो अन्ततः वे ही उस पर हावी हो जाती है और ये विचित्र क्रियाएँ या हठ-प्रवृत्ति शनैः शनैः उसकी आदत में शुमार हो जाती है। यह समझते हुए भी कि यह असंगत, अकारण और निराधार है मन विवश रहता है मानों ये नियत क्रियाएँ या सांकेतिक चेष्टाएँ उसका अभिन्न अंग बन गई हैं और ऐसी स्थिति में सहज ही वैचित्र्य अथवा असामान्य चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

कभी-कभी अतीत की घटनाएँ--जिन्होंने हमें बहुत अधिक प्रभावित किया है—हमारी मौजूदा अनुभूति के साथ संश्लिष्ट होकर समूचे चेतना तंतुओं को झकझोर डालती है। फिर वे इस प्रकार मन पर आच्छन्न हो जाती हैं कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे ये नाना प्रतिक्रियाएँ आत्मसंघर्ष की द्योतक और मानसिक विकार की रूपान्तर मात्र हैं। इससे 'अहं' या ज्ञात मन—जो बाहरी जगत् के नियम-उपनियमों में बँधा है—सदैव अभिभूत रहता है और अज्ञात इच्छाओं से परिचालित मन के सूक्ष्म तन्तुओं को विशृंखल करता रहता है। परिणामस्वरूप संवेगात्मक क्रिया-प्रतिक्रयाएँ असम्बद्ध हो जाती है और इससे उसमें कभी अत्यधिक प्रसन्नता जगती है तो कभी अत्यधिक उदासी। यह उसके तात्कालिक मनोभाव या 'मूड' पर निर्भर करता है।

जब चेतन-अचेतन स्थिति में हृदयस्थ भाव, विचार एवं आलम्बन एक हो जाते हैं तब हम किसी विशेष बात पर नहीं हँसते, न किसी वस्तु को हास्यास्पद जानकर हँसते है, वरन् यों ही अपने आप हँसते है, तब हँसी भीतर से नही, बाहर से आती है। महादेवी जी अपनी हँसी को स्वकीय भाव से नहीं मुक्त-भाव से अपनाती है। उनके वाह्य सुख-दुःख, जय-पराजय, मान-अपमान, हानि-लाभ और प्रिय-अप्रिय प्रसंग उनकी आत्मिक दृढ़ता से टकराकर मुक्त हँसी में बिखर जाते हैं। हँसी

का विश्लेषण करती हुई एक स्थल पर महादेवी जी स्वयं लिखती हैं :

"जब हमारी दृष्टि में प्रसार अधिक रहता है, तब हम किसी एक में उसे केन्द्रित नहीं कर सकते। प्रत्युत् हमारी विहंगम दृष्टि एक ही क्षेत्र में एक साथ अनेक को स्पर्श कर आती है। इससे जिस सीमा तक हमारा ज्ञान बढ़ जाता है उसी सीमा तक हमारी दृष्टि के विषयों का महत्त्व घट जाता है। इसके विपरीत जब हमारी हँसी में मुक्त विस्तार नहीं होता, तब हम हवा के झकोरे के समान उसका सुखद स्पर्श सब तक नहीं पहुँचा सकते। उस स्थिति में हमारे हास-परिहास व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों को केन्द्र बनाकर सीमित हो जाते हैं। कलाकार की दृष्टि एक-एक पर ठहर कर ही प्रत्येक को अपना परिचय देती है और उसकी हँसी एक साथ सबको स्पर्श करके ही आत्मीयता स्वीकार करती है। इस परिचय और आत्मीयता के अभाव में जीवन का यह आदान-प्रदान सम्भव नहीं होता जिसकी साहित्य और कला में पग-पग पर आवश्यकता रहती है।"

महादेवी जी भावप्रधान कवयित्री हैं। भावोन्मेष ही उनमें जीवन-साधक आशा, आनन्द, तुष्टि, साहस, आस्था, उद्योग और व्यष्टि-समष्टि सम्बन्धी व्यापक अनुभूति तथा विरोधी तत्त्वो को उन्मीलित करने की शक्ति देता है। इसी भाव-भावना से उनमें आत्मनिष्ठा उत्पन्न हुई है।

अनेक बार उनके रेखाचित्रों और संस्मरणों को पढ़ते हुए यह विचार मन में उठा कि महादेवी जी ने अपने कृतित्व में निजी वैवाहिक पहलुओं पर क्यों न प्रकाश डाला अथवा पति से सम्बन्धित किन्हीं भी अनुकूल-प्रतिकूल अनुभवों को क्यों न शब्दों में बाँध दिया, जैसा कि उन्होंने अपने जन्म, बचपन, स्वभाव तथा माता-पिता, भाई-बहिन और सम्पर्क में आये अन्य छोटे-से-छोटे व्यक्तियों और घटनाओ के सम्बन्ध में किया है। वस्तुतः महान् साहित्य-साधक के सम्मुख उसका अपना 'स्व' पृथक् अस्तित्व नही रखता और पार्थक्य एवं भेदभाव की सास्थिति व्यापक आत्मानुभूति में लय हो जाती है।

कहाँ मिलेगा वह बिछुड़ा प्रियतम ? कब आएगा ? क्योंकर, कैसे, किन सुखद क्षणो और सौभाग्यशाली बेला में उससे साक्षात्कार होगा ?

"जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग;
गाता प्राणों का तार-तार
अनुराग भरा उन्माद राग;
आँसू लेते वे पद परवार।
हँस उठते पल मे आर्द्र नयन,
धुल जाता ओठों से विषाद,

छा जाता जीवन में बसन्त--
लुट जाता चिर संचित विराग;
आँखें देती सर्वस्व वार ।"

किन्तु जब व्यथा सघन होती है तो भाव स्तब्ध और अनुभूति-शक्ति शिथिल हो जाती है। न उसका विश्लेषण ही हो सकता है और न उसकी व्याख्या ही संभव है।

'रात सी नीरव व्यथा तम सी अगम मेरी कहानी।'

क्या जाने यह अगम कहानी महादेवी जी के लिए भी उतनी ही दुर्भेद्य और अनजानी रह गई हो कि वे स्वयं आज तक उसके अतल में न पैठ पाई हों और अपने अन्तर्मन की सूक्ष्म प्रक्रियाओं और जीवन-सूत्रों का उस घटना से कोई सामञ्जस्य न बैठा पाई हों।

जब साधक आत्मनिष्ठा जगा लेता है तो उसे जीवन के आदान-प्रदान की आवश्यकता नहीं रह जाती और न वह अपने जीवन में सामंजस्य-असामजस्य ढूँढ़ने की चेष्टा में ही अपनी शक्ति व्यय करता है। उसे न किसी के संरक्षण की अपेक्षा है और न कोई बन्धन ही उसे अपनी सीमा में बाँध सकता है। महादेवी जी लिखती हैं, "स्त्री जब किसी साधना को अपना स्वभाव और किसी सत्य को अपनी आत्मा बना लेती है तब पुरुष उसके लिए न महत्त्व का विषय रह जाता है, न भय का कारण।"

महादेवी जी आज उस सतह पर पहुँच गई है जहाँ तिमिर की सीमा पार करके वे निस्सीम पथ की पन्थी है और उस पथ की अशेषता को जानते हुए भी उनके धैर्य और विश्वास का अवसान नहीं है। उनकी अन्तश्चेतना जगकर आज अपने अव्यय रूप में सुस्थिर हो गई है, उन्हे न विजय की आकांक्षा है और न पराजय ही उनके उन्नति-पथ का अवरोधक है। वस्तुतः, कला की अमर साधना ही उनके जीवन का प्रथम और अन्तिम ध्येय बन गया है।

१६

हिन्दी कवयित्रियाँ

हिन्दी काव्य क्षेत्र में नारी के योगदान पर विचार करते हुए दो बातें निर्विवाद कही जा सकती हैं—एक तो उनके कृतित्व मे मानव-जीवन के युगल पक्ष भौतिकवाद और अध्यात्मवाद की चरम साधना का प्रस्फुरण, दूसरे करुण कोमल और अत्यधिक भावप्रवण होने के कारण उनकी नारी-सुलभ व्यंजना जितनी सरल और मर्मस्पर्शी बन पड़ी उनकी अनुभूति उतनी ही तीव्र और गहन होकर प्रकट हुई।

प्रेमयोगिनी **मीरा** की कविता अश्रुमुखी वेदना के कणो से सिंचित है—यह कौन नही जानता ? उनका प्रेम कितना सच्चा है, उनकी लगन कितनी गहरी और स्वाभाविक ! प्रियतम से अपने को एकरूप मानती हुई उन्हे भिन्न अस्तित्व की भावना ही नहीं होती। उन्हें तादात्म्य हो गया है और प्रिय-मिलन की आकांक्षा उन्हें उन्मत्त बना देती है।

'मै तो गिरधर के रँग राती
पँचरँग चोला पहन सखी
मै झिरमिर खेलन जाती
या झिरमिर में मिलो साँवली
खोल मिली तन गाती।'

विरह की कसक के साथ मिलन की प्रसन्नतम अनुभूति भी हमें मीरा की कविताओं में मिलती है। उनमें अपने उपास्य के लिए केवल करुण अधीरता ही नही, हृदय की विह्वल प्रसन्नता भी मिश्रित है। आत्मा में उमड़ती उद्दीप्त भाव-तरगों को वाणी का रूप देकर उन्होंने जिस स्वच्छन्दता एवं सरसता के साथ अनुभूति और सवेदनशीलता का मिश्रण किया है—वह लोकोत्तर है। साधारण शब्दों मे भी वे कितनी ऊँची बात कह गई है :

'नैनन बनज बसाऊँ री, जो मै साहब पाऊँ री।
इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न नाऊँ री
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहां से झांकी लगाऊँ री।'

और

'सुरत निरत का दिवला सँजोले, मनसा की करले बाती

प्रेम हटी का तेल मँगाले, जगे रह्या दिन राती।'

मीरा मुख्यतः सगुणोपासक है, उन्होंने अपने उपास्य श्रीकृष्ण के मधुर रूप की ही उपासना की है, किन्तु जब उनकी गूढ़तम अन्तर्नुभूति अन्तस्तल को चीरकर अपनी स्थिति स्थिर न कर सकी तो उन्होंने उस निर्गुण को भी चाहा जो भौतिक प्रपंचों से परे एकरस और निर्मुक्त है 'आ, अपनी गैल बता जा।' कहीं वे कहती हैं :

'सूली ऊपर सेज हमारी किस विध सोना होइ।
गगन मण्डल सेज पिया की किस विध मिलना होइ !'

अलौकिक प्रेम की दीवानी मीरा ने अपने उद्‌गारों द्वारा मुक्तावस्था का वह सन्देश दिया जो जीवंत है, जाग्रत है और दीप्तिमय है।

भगवान कृष्ण के एकान्त प्रेम में वे इतनी विभोर थीं कि अपनी भाव-वृत्तियों के तादात्म्य द्वारा उन्हें पति रूप में उन्होंने वरण कर लिया था :

"भाई म्हांने सुपने में बरी गोपाल
राती पीली चुनरी ओढ़ी मेंहदी हाथ रसाल ।।"

मीरा की इस आकुल तन्मयता में कोई दुराव-छिपाव नही है। उनकी प्रेमासक्ति उस निर्मुक्त स्थिति में पहुँच जाती है जबकि आराध्य के सिवाय उन्हें कुछ सूझता ही नही। उसी की रूप-माधुरी उनके नयनों में धँस जाती है और दूसरी कोई छवि नही समाती।

"हेली, मो सों हरि बिन रह्यौइ न जाय।
सासू लड़ौ री, सजनी, नणद खिजौरी
पीव किन रहो री रिसाय।
चौकी भी मेलौ, सजनी पहरा भी मेलौ,
ताला क्यूँ न जड़ाय।
पूरब जनम की प्रीति हमारी सजनी,
सो क्यूँ रहै री लुकाय।
मीरा के तो, सजनी, राम सनेही,
और न आवं म्हारी दाय।"

मीरा का प्रेमोन्माद अथवा सर्वतोभावेन आत्म-समर्पण की दार्शनिक जिज्ञासा के भीतर पैठने के लिए उस उच्च स्तर पर पहुँच जाना चाहिए जहाँ ससीम प्रेम के दुःख एवं नैराश्यपूर्ण परिवेश का अतिक्रम करके आत्मानन्द की असीमता एवं भगवत् प्रेम के रसाम्बुधि में लय हुआ जा सकता है। आत्मा और परमात्मा, जीव और ईश्वर एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। माया का आवरण अथवा दूसरे शब्दों में अज्ञान का पर्दा दोनों में अलगाव पैदा करता है। मीरा शुष्क ज्ञान-दर्शन द्वारा इस तथ्य पर नही पहुँची थीं, बल्कि वे तो भगवान नटनागर के सगुण रूप की उपासिका थीं। उनका समुचा मन, प्राण, जीवन-दर्शन और साधना इसी प्रेमावेग में डूबी थी।

"प्यारे दरसन दीज्यो आय, तुम बिन रह्यो न जाय
जल बिन कमल, चन्द बिन रजनी, ऐसे तुम देख्यो बिन सजनी।
व्याकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन, बिरह कलेजो खाय।
दिवस न भूख नींद नहीं रैना, मुख सू कहत न आवै बैना।
कहा कहूँ कछु कहत न आवै, मिलकर तपत बुझाय
क्यूँ तरसावो अन्तरयामी, आय मिलो किरपा कर स्वामी
मीरा दासी जनम जनम की, परी तुम्हारे पाँय॥"

मीरा प्रेम की इस अतीन्द्रिय अनुभूति की पराकाष्ठा पर कैसे पहुँच गईं—इसके कितने ही कारण बताये जाते हैं। जन्मतः ये भक्त थीं और निष्ठावान व आस्तिक मेड़ता राजपरिवार में उत्पन्न हुई थीं। इनके पितामह राव दूदा परम कृष्ण-भक्त थे। माता-पिता की एकमात्र सन्तति होने के कारण इन्हें माता के एकान्त प्रेम की निष्ठा का अवसर अपेक्षाकृत अधिक मिला, फलतः उसके संस्कारों का सीधा प्रभाव इन पर पड़ा। एक दिन हँसी-हँसी में उन्होंने अपनी लाड़ली बेटी को बहलाने के लिए भगवान श्रीकृष्ण की प्रतिमा की ओर अंगुलि-निर्देश कर कहा था—'बेटी, ये ही तेरे दूल्हा हैं। इन्हीं से तेरा व्याह रचाऊँगी।' बालिका के मन में बात धँस गई और उसकी अबोध सरलता शायद इसे जाने अनजाने सच मान बैठी। मीरा का अधिक समय पूजा-आराधना और भगवान की मूर्ति के समक्ष अनुनय-विनय और तरह-तरह की मनुहारों में ही बीतता था। बड़े होने पर सगाई या विवाह तक की बात इन्हे जंजाल लगती थी और उससे इनका मन सामंजस्य नही कर पाता था।

"कांई और को वरूँ भांवरी म्हांके जग जंजाल।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, करो सगाई हाल॥"

प्रेम दीवानी मीरा की इस लगन और तल्लीनता पर तब किसी ने ध्यान नही दिया।

'जिन आंखन में यह रूप बस्यो उन आंखिन से फिर देखिये का।'

इस मर्म को तब कोई न समझा, परिणाम स्वरूप मीरा का विवाह शिशोदिया वंश के महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार भोजराज सिंह के साथ सम्पन्न हुआ बिदाई में गिरिधर गोपाल की प्रतिमा को माँगना ये न भूलीं।

"दे री माई, म्हां को गिरिधर लाल।
प्यारे चरण की आन करत हौं और न दे मणि लाल।"

विवाह के पश्चात् भी इनकी लौ भगवान में ही लगी रही। स्वप्न में इन्हें सदा प्रभु के दर्शन होते रहे।

"सोवत ही पलका में मैं तो, पलक पल में पिउ आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कु, जाग परी पिव ढूँढ़ न पाये।

और सखी पिउ सूत गमाये, में जु सखी पिउ जागि गमाये।
आज की बात कहा कहूँ सजनी, सुपना में हरि लेत बुलाये।
वस्तु एक जब प्रेम की पकरी, आज भये सखि मन के भाये।"

वैधव्य के बाद तो ये सचमुच ही बन्धनमुक्त हो गईं। जन्म-जन्मान्तर का विरही प्रेमविह्वल मन निष्काम भाव से और परम सान्त्वना व आश्वासन के साथ कृष्ण भक्ति में विभोर हो गया। राजवंश की आचार-मर्यादाओं का पालन करने में इन्हें कठिनाई होती थी। पति की मृत्यु से इनका वैराग्य इतना बढ़ गया कि प्रेम विह्वलता के कारण इनमें भावोन्माद जगा। अपने प्राणाधार प्रभु की प्रतिमा के सम्मुख कभी ये हँसतीं, कभी रोतीं और कभी-कभी इतनी तदाकार व एकनिष्ठ हो जाती कि ये एक प्रेमातुर उन्मादिनी की भाँति नाच उठतीं। इनकी भक्ति एवं प्रेमनिष्ठा चरम स्तर पर पहुँच गई थी, पर जैसा कि प्रायः होता है सामान्य परिस्थितियाँ अनुकूल न थीं। इनकी दुस्सह पीडा, प्रियतम को परम आत्मीय के रूप में पाने की असीम व्याकुलता, दूसरी तरफ लोक-लाज, कुल-प्रतिष्ठा और स्वजन-परिजनों की तीव्र भर्त्सना—इन सब विधि-निषेधों ने इन्हें कष्ट दिया और इन सबके दौरान इन्हें बड़ी-बड़ी यातनाएँ सहन करनी पड़ी, किन्तु मीरा उनसे विचलित नहीं हुई, बल्कि उन आघातों और प्रताड़नाओं का दबाव बढ़ते-बढ़ते इनकी कविताओं की मस्ती में ही प्रस्फुटित हुआ।

"राती माती प्रेम की, विष भगत को मोड़।
राम अमल माती रहे, धन मीरा राठौर॥"

और—

"भाव भगत भूषण सजे, सील संतोष सिंगार,
ओढ़ी चूनर प्रेम की, गिरिधर जी भरतार।"

कभी इन सभी परिस्थितियों से घबराकर अन्तर की प्रेरणा के वशीभूत हो वे पुकार उठतीं :

"अब तो निभाया बनेगा, बाँह गहे की लाज
समरथ सरण तुम्हारी साइयाँ सरब सुधारण काज
भव सागर संसार अपर बल, जामें तुम हो जहाज
निराधार आधार जगत गुरु, तुम बिन होय अकाज।"

मीरा के काव्य की विशेषता है कि रूपदर्शन और मिलन स्पृहा की आंतरिक अभीप्सा के साथ-साथ उनका विह्वल और आप्लुत भाव उन्हें उस भावभूमि पर प्रतिष्ठित करता है जहाँ उनका चरम उत्कर्ष एवं परिपूर्ण विकास हुआ है। प्रेमास्पद की साधना में वे एक ऐसी प्रेमयोगिनी के रूप में आविर्भूत हुईं जिनकी वाणी लोकोत्तर व्यंजना करती हुई हृदय की निश्छल तरलता में डूबकर प्रकट हुई। उनका यह प्रसिद्ध पद—

"हेरी, मैं तो दरद दीवाणी, म्हारा दरद न जाण्या कोय
दरद री मारयाँ दर दर डोल्याँ बैद मिल्या ना कोय
मीरा री प्रभु पीर मिटांगा जद बैद साँवरो होय।"

मीरा की कान्तासक्ति कुछ ऐसी थी जिससे भगवान श्रीकृष्ण ही उनके सर्वस्व और वे स्वयं उनकी चेरी या दासी थीं। उनमें एकत्व इतना बढ़ गया था कि वे अपनेपन को सर्वथा भूलकर, जो साधना की चरमातिचरम सीमा है, अपने प्राणपति में ही एकीभूत हो गई थीं।

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई"

एक दूसरे पद में वे कहती हैं :

"मैं गिरिधर के घर जाऊँ।
गिरिधर, म्हाँरो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।
रैणा पड़े तब ही उठ जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ
जो पहिरावे सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ
मेरी उणकी प्रीति पुराणी, उन बिन पल न रहाऊँ
जहाँ बैठावे तित ही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ।"

मीरा ने भाषा-सौन्दर्य अथवा उदात्त शैली-शिल्प की दृष्टि से काव्य-रचना नहीं की, वरन् उत्कट भक्ति एवं प्रेम विह्वल हृदय से जो सहज उद्‌गार निकले वे ही गेय पद बन गए।

"हरि मोरे जीवन प्राण आधार॥
और आसरो नाहिं तुम बिन, तीनूँ लोक मँझार।
आप बिना मोहि कछु न सुहावै, निरख्यौ सब संसार।
मीरा कहै मैं दास रावरी, दीज्यो मति विसार॥"

अब तक गोस्वामी तुलसीदास की विदुषी पत्नी **रत्नावली** के सम्बन्ध में कोई नही जानता था, पर मध्ययुगीन साहित्य पर शोध करने वाले अनेक विद्वानों ने उनके दो ग्रन्थों 'दोहा रत्नावली' और 'गोस्वामी तुलसीदास' को खोज निकाला, जिनमें उनके नीतिपरक और आत्मपरक दोहे मिलते हैं। गोसाईं जी का अपनी पत्नी से कितना प्रेम था और वे उसके प्रेम में बौराये किस प्रकार एक भयंकर, तूफ़ानी रात में नदी-नाले पार करके अपनी पत्नी के पास पहुँचे थे—यह एक प्रसिद्ध आख्यान है। चूँकि वे एक विदुषी और पठित नारी थीं, उन्हें अपने पति की यह उच्छृंखलता और बेसब्री पसन्द न आई। एक सच्ची कर्त्तव्यनिष्ठ जीवन सहचरी के नाते उनके मुख से उस समय अपूर्व भावमयी, ओजस्वी वाणी निस्सृत हुई जिसने तुलसीदास जी को सर्वथा दूसरी दिशा की ओर मोड़ दिया।

पर यह क्या ? इन अनमोल क्षणों में वह क्या खो बैठी—इसका भान रत्ना-

वली को बाद में हुआ। गोसाईं जी ने घर और गृहस्थी का परित्याग कर दिया और फिर कभी वापस न आये। पति दूर था और पत्नी की पहुँच से परे, किन्तु विरहिणी दुखिया ने भक्ति एवं प्रेमाश्रु के नैवेद्य से ही पति की पूजा-अर्चना प्रारम्भ की जो दोहों मे बनकर फूटी :

"धिक् मो कहँ मो बचन लगि, मो पति लह्यो विराग।
भई वियोगिनी निज करनि रहूँ उड़ावति काग॥"

प्रेम और कर्त्तव्य के इस द्विधा संघर्ष में उनका नारीत्व सचमुच शिकस्त खा गया और उनका आकुल अन्तर कभी-कभी अत्यन्त कातर हो पुकार उठता :

"हौं न नाथ अपराधिनी, तौऊ क्षमा करि देउ।
चरनन दासी जानि निज, वेगि मोरि सुधि लेउ॥"

पति के अभाव में वैवाहिक जीवन की नीवें ही खोखली हो गईं। प्रेम-बन्धन और गार्हस्थ्य की एकनिष्ठा चरमरा उठी। जिस शान्ति का उदय मन के भीतर होता है उसके सहसा छिन जाने से वह अविश्वास बन जाती है। दैनन्दिन धूल और राख भरे जीवन की थकान के जब पर्त्त के पर्त्त उघड़ने लगते हैं तो लगता है शान्ति मिथ्या है, भ्रम है, क्योंकि अन्तर्विरोधों का हल क्या है, मन कैसे शान्ति पा सकता है, शान्ति तो मन के बाहर से नहीं मन के भीतर से उत्पन्न होती है :

"जदपि गये घर सों निकरि, मो मन निकरे नांहि।
मन सो निकरो ता दिनहिं, जा दिन प्रान नसांहि॥"

ये विषाद की छायाएँ नारी-कण्ठ से निर्मुक्त होना चाहती थीं। अन्तर्ज्ञान का वृत्त इन झूलती परछाइयों से छिप गया। रह गया थोथा ज्ञान। विरह कातर रत्नावली अत्यन्त दीन हो लिखती हैं :

"हाय सहज ही हौं कही, लह्यौ बोध हिरदेस।
हौं रत्नावलि जँची गयी, पिय हिय काँच विसेस॥
नाथ रहौंगी मौन हौं, धारहु पिय जिय तोष।
कबहुँ न दऊँ उराहनो, दऊँ न कबहूँ दोष॥"

रत्नावली के आत्मपरक दोहों में उनके हृदय की वेदना, विरह और निराश प्रेम की कठोर साधना की झाँकी मिलती है। ऐसे प्रेम में सचाई और मार्मिकता होती है। विवाह-बन्धन में बँधे दो साथी, जो एक दूसरे के पूरक हैं, किन्तु भाग्य की विडम्बना से अलग हो जाते हैं और फिर मिलने का अवसर नही पाते तो सहन-सहिष्णुता ही उसकी पूरक बनती है :

"रतन प्रेम डंडी तुला, पला जुरे इकसार।
एक बाट पीड़ा सहै, एक गेह सम्भार॥"

प्रेम की यह उमडन सहज बुद्धि, तर्क एवं ज्ञान से अनुशासित होकर अंततः तृप्तिकर बन जाती है। जब निराशा हाथ लगती है और यह अनुभव होता है कि बार-बार

निराशा ही मिलेगी तो सात्विक वैराग्य जगता है। यह वैराग्य किसी निराशा से उद्भूत नहीं, अपितु सत्य एवं महत्तर लक्ष्यों को प्राप्त करने की भावना से जन्म लेता है अर्थात् चलायमान प्रेम के लिए अनुताप करना छोड़कर वह आन्तरिक मिलन अथवा आत्मार्पण बन जाता है। आसक्ति, आवेग और कामना ये सब बेड़ियाँ हैं और आगे बढ़ने से रोकती हैं। रत्नावली के अनेक नीतिपरक दोहों में हृदयावेगों को एकाग्र करने का उपदेश है :

"पाँच तुरंग तन रथ जुरे, चपल कुपथ लै जात।
रतनावलि मन सारथिहि, रोकि सके उतपात।।"

वस्तुतः सच्चा आत्मदान प्रेम के मिथ्याभिमान को नष्ट करता है, इसीलिए रत्नावली की अभिव्यक्ति में कही भी दुराग्रह, आक्रोश या उपालम्भ नही है, बल्कि गम्भीर व्यथा के साथ-साथ दीनता और हृदय की करुण पुकार है :

"प्रियतम एक बार गृह आओ।
अनुचित उचित कर्यो हौं कबहूँ, ताहि समुझि समझाओ।
तव वियोग अकुलात हीय अति, धीरज आइ बँधाओ;
सह्यो न जात दुसह दुख एतो, दरस दया दरसाओ।
दिन कितेक नाथ अब बीते, नाँहि मोरि सुधि लीनी
सुजन पाछिली प्रीति रावरी, अहह परी किम भीनी।
रूठि गये मो बैन सुनत जन कहत सुनत सकुचाऊँ
का अब करौं कहाँ अब खोजों, कितहूँ खोज न पाऊँ।
अमित प्रीति परतीत--माँग तब, पाई रही हौं मोई
सपने हूँ न कबहुँ हौं जानी, दसा मोरि अस होई।
भूलि जाऊ हौं सबै परेखो, बीति ताहि बिसारौं
भाग सराहौं रतन आपनो, जो तव चरन निहारौ।"

मीरा की भक्ति-साधना की तल्लीनता से प्रभावित होकर रामप्रिया और जुगलप्रिया, बाँकावती जी और सुन्दरकुँवरि, बणीठणी जी और छत्रकुँवरि, विष्णु-प्रसाद कुँवरि और प्रवीणराय, रत्नकुँवरि बीबी और प्रताप कुँवरि बाई, ताज़ और शेख, सहजोबाई और चम्पादे आदि भक्त महिलाओं का ध्यान भी कविता की ओर आकृष्ट हुआ और कृष्ण-भक्ति में विभोर इन्होंने अनेक गेय पदों की रचना की। इन सभी के कृतित्व में सच्ची अनुभूति और सरल भाव-व्यंजना है। रामप्रिया और जुगलप्रिया के गीतों में उपरामता और वैराग्य-जन्य आध्यात्मिक भाव हैं। महारानी बाँकावती उपनाम ब्रजदासी कृष्णगढ़ के महाराज राजसिंह की रानी थीं। प्रसिद्ध नागरीदास जी इनके पुत्र थे और सुन्दरकुँवरि जी इनकी पुत्री। इनके यहाँ कविता परम्परागत प्राप्त थी और स्त्री-पुरुष सभी काव्य-रचना करते थे। रानी बाँकावती जी ने ग्यारहों स्कन्ध श्रीमद्भागवत का छन्दोबद्ध अनुवाद किया जो 'ब्रजदासी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सुन्दरिकुँवरि महारानी बाँकावती की पुत्री थीं और इनका विवाह राघवगढ़ खीची महाराज बलभद्रसिंह के पुत्र बलवन्तसिंह के साथ हुआ था। कविता से इन्हें अत्यन्त अनुराग था। इन्होंने बारह ग्रन्थों की रचना की है। इनके छन्द बहुत ही सरस और सरल हैं।

'मन ! तू काहि पचत कहा चाहत ?
जड़ जंगम उद्यात बसत है तिनको कौन निबाहत ?
तोको कहा भार है भैया ! काहे को दुख माने ?
निर्भय ह्वै निश्चिन्त सहज में प्रभू कृपा किन जावै ?
जगत-राह के राहगीर ए बहुत बटाऊ लोग;
तिनमें तहू, आन फँस्यो है किहूँ करम संयोग।'

बणीठणी जो उपनाम रसिकविहारी महाराज नागरीदास की पासवान और स्वामी हरिदास के परम्परानुगत प्रसिद्ध महात्मा श्री रसिकदास जी की शिष्या थीं। सन्तों के सम्पर्क मे रहकर इन्होंने अनेक भक्ति एव श्रृंगार-प्रधान भावपूर्ण पद रचे, जिनमें ब्रजभाषा और राजस्थानी भाषा दोनों का मिश्रण है।

'बजै आज नन्दभवन बधाइयाँ।
गहमह आनन्द रंगरली अति गोपी सब मिली आइयाँ।
महरि यशोमति कै भयो सुत फूली अंग न माइयाँ।'
'रसिक विहारी' प्रान जीवन लखि देत अशीश सहाइयाँ।'

छत्रकुंवरिबाई श्री नागरीदासजी की पौत्री थी और उन्हीं के सहयोग से इनमें काव्य-रचना का अभिरुचि उत्पन्न हुई थी। इन्होंने अपने 'प्रेम विनोद' ग्रन्थ में श्रीराधा-कृष्ण और सखियों की विविध प्रेम लीलाएँ चित्रित की है। इनके पदों में तन्मयता और विदग्ध हृदय की कोमल कसक है।

'भक्तनपद-पकज-रज ध्याऊँ; जिन प्रभाव प्रेमासव पाऊँ।
ताते वरनों विपिन-विलासी; नन्द-सुवन राधा सुखरासी।
पिय प्यारी छकि परम सनेह; नितहि विहार करत अनछेह।
दुहूँ परसपर चित के चोर; दुहूँ मनोहर नवल किसोर।'

विष्णुप्रसाद कुँवरि महाराज रघुराजसिंह की पुत्री थी और समकालीन भक्त-कवयित्रियों मे ये ही प्रथम महिला थी जिन्होंने रामभक्ति से प्रभावित होकर अवधी भाषा मे 'अवध-विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की। ब्रजभाषा में भी 'कृष्ण-विलास' और 'राधा विलास' ये दो ग्रन्थ इन्होंने लिखे। इनकी पद-रचना अत्यन्त सरस है।

'निरमोही कैसो जिय तरसावे।
पहिले झलक दिखाय हमें कूँ, अब क्यों वेग न आवे
कब सौं तलफत मैं री सजनी, वाको दरद न जावे।
'विष्णु कुँवरि' दिल में आकर के ऐसी पीर मिटावे।'

प्रवीणराय कला-मर्मज्ञ रसिक महिला थीं। प्रसिद्ध कवि केशवदास इनके अत्यन्त प्रशंसक थे। अपना 'कविप्रिया' ग्रन्थ भी उन्होंने इन्हें ही भेंट किया है। इनकी प्रशंसा सुनकर एक बार बादशाह अकबर ने इन्हें अपने दरबार में बुला भेजा, किन्तु ये नहीं गईं और अपने स्वामी महाराज इन्द्रजीत सिंह से इसकी शिकायत की।

'आई हों बूझन मन्त्र तुम्हें निज स्वासन सों सिगरी मति गोई।
देह तजों कि तजों कुलकानि हिए न लजों लजि है सब कोई।।
स्वारथ औ परमारथ को पथ चित्त विचारि कहो तुम सोई।
जामें रहे प्रभु की प्रभुता और मोर पतिव्रत भंग न होई।।'

इस पर क्रुद्ध होकर अकबर ने महाराज इन्द्रजीत पर एक करोड़ रुपया जुर्माना कर दिया, पर इन्होंने उसे भी अपनी वाक्-पटुता से क्षमा करा लिया और दरबार में भी नहीं गईं। इनके अनेक स्फुट पद मिलते हैं।

'कमल कोक श्रीफल मंजीर कलधौत कलश हर।
उच्च मिलन अति कठिन दमक बहु वल्प नीलधर।।
सरबन शरबन हेम मेरु कैलास प्रकाशन।
निशि वासर तरुवरहिं काँस कुंदन दृढ़ आसन।।
इमि कहि प्रवीन जल थल अपक अविध भजित तिय गौरि सँग।
कलि खलित उरज उलटे सलिल इन्दु शीश इमि उरज ढंग।।'

रत्नकुँवरि बीबी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की दादी थीं और संस्कृत-फ़ारसी दोनों भाषाएँ अच्छी तरह जानती थी। साहित्य से इन्हें बड़ा अनुराग था। 'प्रेमरत्न' नामक पुस्तक में इनके सभी पद संग्रहीत हैं।

'तहँ राधा की कछु दशा, वर्णत आवे नाहिं।
मलिन वेष भूषण रहित, विवस रहित तन माँहि।।
कबहुँ झुरावत विरह वश, पीत वरण ह्वै जाय।
कबहुँ व्यापत अरुणता, प्रेम मगन मुद छाय।।'

प्रतापकुँवरि बाई मारवाड़ के महाराज मानसिंह की रानी थीं। राम इनके इष्ट थे और ये बड़ी ही उदार, दानशील प्रवृत्ति की महिला थी। इन्होंने करोड़ों की सम्पत्ति दान की और अनेक मन्दिर, तालाव आदि बनवाये। ७० वर्ष की आयु तक इन्होंने पन्द्रह ग्रन्थों की रचना की। इनके पदों में सरल भावभंगी और हार्दिक स्वाभाविकता द्रष्टव्य है।

'आस तो काहु नाहिं मिटी, जग में भये रावण से बड़ जोधा।
सावंत सूर सुयोधन से बल, से नल से रत वादि विरोधा।।
केते भये नहिं जाय बखानत, जूझ मुए सबहीं करि क्रोधा।
आस मिटे परताप कहै, हरिनाम जपेऊ विचारत जोधा।।'

कृष्ण-भक्ति से प्रेरित होकर अनेक भक्त कवयित्रियाँ जब इसी प्रकार की

प्रेमरस-परिप्लावित पद-रचना कर रही थीं तो कुछ मुस्लिम महिलाएँ भी प्रभावित हुईं और उन्होंने कृष्ण को ही अपना इष्ट बनाया। कृष्ण के मधुर रूप की उपासिका होने के कारण उनकी कविताएँ सौन्दर्य और प्रणय-रस से सिंचित होकर प्रकट हुईं। इस नये सलोने साँवलिया ने उन्हें तन्मय कर दिया था और वे विह्वल सी होरहीं थी। ताज के पदों में मीरा का सा मनोयोग और एकनिष्ठ भाव है। वे श्याम के विरह-वियोग में सब कुछ विस्मृत कर बैठी हैं।

'सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानी मैं नमाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं॥
स्यामला सलोना सिरताज़ सिर कुल्ले दिए,
तेरे नेह दाग़ में निदाग़ ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै,
हौं तो तुरकानी हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं॥'

ताज़ कृष्ण-प्रेम में दीवानी सी हो गईं थीं। ये नित्य सवेरे नहा-धोकर मन्दिर में पूजन और कीर्त्तन करने जाती थीं। इनके अनेक प्रसिद्ध पदों का संग्रह गोविन्द गिल्लाभाई ने किया है।

दूसरी मुस्लिम कवयित्री शेख जाति की रंगरेजिन होते हुए भी बड़ी ही भावुक और रसिक स्वभाव की महिला थीं। वे अविवाहितावस्था में ही पद-रचना किया करती थीं। उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक बार प्रसिद्ध कवि आलम ने अपनी पगड़ी रँगने के लिए इन्हें दी। दैवसंयोग से उसके छोर में दोहे की प्रथम पंक्ति लिखी हुई बँधी थी।

'कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन'

पगड़ी रँगकर जब वापस आई तो आलम को अपने दोहे की पूर्ति देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। शेख ने उसे यों लिखकर पूरा किया था:

'कटि को कंचन काटि विधि, कुचन मध्य धरि दीन।'

आलम और शेख दोनों में उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता गया और आलम, जो ब्राह्मण थे, उन्होंने मुस्लिम धर्म अपनाकर इनसे विवाह कर लिया। ये दोनों मिलकर एकसाथ पद-रचना किया करते थे। 'आलम केलि' में इनके पद संग्रहीत हैं। शेख के अधिकांश पदों में शृंगारिक भाव है।

'नैननि के तारे तुम न्यारे कैसे होऊ पीय,
पायन की धूरि हमैं दूर कै न जानिये।'

इन्होंने भक्तिपूर्ण अनेक पद रचे हैं। मुस्लिम होकर भी ये कृष्ण की मधुर

छवि पर मुग्ध थीं। उन्हीं को आलम्बन मान कर इन्होंने ब्रजभाषा में भक्ति-परक पद रचे।

'जब ते गुपाल मधुवन को सिधारे माई,
मधुवन भयो मधु दानव विषम सों
'सेख' कहे सारिका सिखण्ड खंजरीट सुक,
कमल कलेस किन्हीं कालिन्दी कदम सों॥'

चंपा दे रानी बीकानेर नरेश राजा पृथ्वीराज की रानी और लाला दे की सपत्नी थी। शेख की भाँति इनके स्फुट छद शृंगार-रस प्रधान है और भाषा राजस्थानी मिश्रित है।

सहजोबाई और **दयाबाई** ये दोनों गुरु-बहन थी और निर्गुणोपासिका थीं। दोनों ही उत्कट गुरु-भक्त थी और अपने गुरु चरणदास जी के साथ दिल्ली में रहती थीं। इन्होंने गिरधर और वृन्द के समान नीति, त्याग, वैराग्य से ओतप्रोत छन्द लिखे हैं। सहजाबाई के पदों का सग्रह 'सहज-प्रकाश' और दयाबाई के 'दयाबोध', 'विनय-मालिका' दो ग्रन्थ मिलते है। दयाबाई ने अनेक उत्कृष्ट, सरस पद लिखे है।

'बौरी ह्वै चितवत फिरूँ हरि आवे केहि ओर;
छिन उठूँ, छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर।
प्रेम-पुज प्रगटे जहाँ, तहाँ प्रगट हरि होय;
दया बारि करि देत है श्री हरि दर्शन सोय
दयाकुँवरि या जगत में नहीं रह्यौ थिर कोय;
जैसो बांस सरांय को तैसो यह जग होय।

सहजोबाई में अपेक्षाकृत वैराग्य है। उन्होने विश्व-प्रपच से परे निर्गुण ईश्वर की महत्ता परिचायक कविताएँ लिखी है।

'धन छोटापन सुख महा, धिरग बड़ाई बार।
सहजो बन्दा दूजिए, गुरु के बचन सम्हार॥
सहजो तारे सब सुखी, गहैं चन्द औ' सूर।
साधू चाहे दीनता, चहै बड़ाई कूर॥
अभिमानी नाहर बड़ो, भरमत फिरत उजाड़।
सहजो नन्ही बांकुरी, प्यार करे ससार॥'

इनके जीवन के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं, मगर फिर भी ये बड़ी ही पहुँची हुई विरक्त संत थी। इनके सम्बन्ध मे अनेक किम्बदतियाँ प्रसिद्ध है। हरिभक्ति के समानान्तर ही इनकी गुरु निष्टा भी बड़ी सच्ची और गहरी थी, वरन् भगवान् से भी अधिक गुरु मे इनका दृढ़ विश्वास था।

"राम तजूँ पै न गुरु न विसारूँ, गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ॥
हरि ने जन्म दियो जग माहीं, गरु ने आवागमन छुटाहीं॥

हरि ने पाँच चोर दिये साथा, गुरु न लई छुटाय अनाथा ॥
हरि ने कुटम्ब जाल में गेरी, गुरु ने काटी ममता बेरी ॥
हरि ने रोग भोग उरझायो, गुरु जोगी करि सबै छुटायौ ॥
हरि ने कर्म मर्म भरमायौ, गुरु ने आतम रूप लखायौ ॥
हरि ने मोसूँ आप छिपायौ, गुरु दीपक दै ताहि दिखायौ ॥
फिर हरि बंध मुक्ति गति लाये, गुरु न सब ही भर्म मिटाये ॥
चरन दास पर तन मन वारूँ, गुरु को न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ ॥"

नाम-जप की साधना में इन्होंने जीवन को जंजाल माना और शरीर को नश्वर।

"पानी का सा बलबूला, यह तन ऐसा होय ॥
पीय मिलन की ठानिये, रहिये ना पड़ि सोय ॥
रहिये ना पड़ि सोइ, बहुरि नहिं मनुखा देही ॥
आपन ही कु खोजु, मिलै तब राम सनेही ॥
हरि कूँ भूले जो फिरै, सहजो जीवन छार ॥
सुखिया जब ही होयगो, सुमिरैगो करतार ॥"

भगवान् में सर्वात्म समर्पण की चरम साधना ही इनकी भक्ति का मूल मंत्र है। संसार के बंधन मिथ्या हैं। यह दृश्य जगत् और इसमें बसने वाले समस्त चराचर जीव जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि के चक्कर में फँसे अपने 'स्व' को भूले हुए हैं।

"सहजो भज हरि नाम कूँ, तजो जगत् सूँ नेह।
अपना तो कोई है नहीं, अपनी सगी न देह ॥"

एक अन्य स्थल पर अपने आपको उद्‌बोधन करती हुई ये कहती हैं :

"सहजो फिर पछितायगी, स्वास निकसि जब जाय।
जब लगि रहे सरीर में, राम सुमिरि गुन गाय ॥"

प्रभु-प्रेम में जब मन अलमस्त हो जाता है तब उसे चिन्ता क्या है ? उसमें अहंकार की तो पैठ ही नहीं, वह तो प्रेमरस में छका रहता है, लगता है जैसे जीवन-सूत्र तो उस भगवान के हाथ में है और वह जैसा चाहता है वैसा ही नाच नचाता है। भगवान में लौ लगी है, वही उसका केन्द्रबिन्दु है तो डर क्या है, चिन्ता क्या है ?

"प्रेम-दिवाने जे भये, मन भयो चकनाचूर।
छके रहैं, घूमत रहैं, सहजो देखि हजूर ॥"

ऐसी ही प्रेम की दीवानी थीं **बाबरी साहिबा** जो मस्ती और प्रेमोन्माद में घर से निकल पड़ी और सांसारिक बन्धन एवं नाते-रिश्तों को तोड़ कर हर समय, हर जगह 'उसे' ही खोजती फिरीं। मोहांध और जड़ता के कारण जिस प्रेम से दुराव है और जो नज़रों से छिपा है वह इस आवरण के हटते ही रूबरू हो गया तो फिर रह क्या गया ? कौन सी बाधा, कौन सा अंतराय तब प्रेम-पथ पर अग्रसर होने से

रोक सकता है ? तिसपर जो प्रेम के भावावेगपूर्ण प्रवाह में निरंतर प्रवाहमान हो उस प्रेमरस में बौरी या मतवाली घूमती हो उसके लिए तो यह अद्भुत, अलौकिक प्रेम ही उसके जीवन-दर्शन का आधार और मूल भित्ति है।

इनके अधिक पद नहीं मिलते। यह एक सवैया बहुत प्रसिद्ध है जिसमें इनके त्याग-वैराग्य और आत्मबोध की झलक मिलती है :

"बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वै के पतंग भरै नित भाँवरी।
भाँवरी जानहिं संत सुजान जिन्हें हरि रूप हिये दरसाव री॥
साँवरी सूरत, मोहनी मूरत देकर ज्ञान अनंत लखाव री।
खाव री सौंह तिहारी प्रभु, गति रावरी देखि भई मति रावरी॥"

भारतेन्दु समकालीन कवयित्रियों में **बुन्देलबाला** और **तोरनदेवी शुक्ल 'लली'** के नाम उल्लेखनीय हैं। बुदेलबाला लाला भगवानदीन की धर्मपत्नी थी। इन्होंने देश-भक्ति और स्वदेश-महत्ता पर कविताएँ लिखी हैं। तोरन देवी शुक्ल 'लली' ने भी राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं और इनका 'जागृति' नामक कविता-संग्रह वर्त्तमान युग की क्रांतिकारी चेतना को लेकर प्रकाशित हुआ।

प्राचीन काल की अपेक्षा इस युग में काव्य-शैली का अत्यधिक प्रसार एवं विकास हुआ है। उसमें नवीन भावों की अभिव्यंजना तथा कमनीय कल्पना की मनोहर उड़ान का अवस्थान है। जब दुनियाँ के पर्दे पर बीसवी सदी के आँखों को लुभाने वाले विभिन्न चित्र अंकित हुए, उन्ही चित्रों के साथ विज्ञान की उलझने, उपयोगितावाद का विकास और भौतिक जीवन की कशमकश हमारे जीवन के केन्द्रबिन्दु के आसपास चक्कर लगाने लगे तो साहित्य-क्षेत्र में भी भारी उथल-पुथल हुई। व्यष्टिवाद की इमारत और सुदृढ़ प्राचीरे ढहने लगीं, सामूहिक चेतना जागी और स्त्रियों में भी प्रति-स्पर्द्धा के भावों का उद्वेलन हुआ। कविता की मोहक तान ने उनका ध्यान आकृष्ट किया और उन्होंने केवल भावभूमि मे ही नही, वरन् कविता के कला-पक्ष में भी पूर्ण योग दिया। हिन्दी-काव्य-गगन की उज्ज्वल तारिका सुश्री **महादेवी** जी को कौन नही जानता ? ये चिन्तनशील, विदग्ध तथा भावुक नारी हैं। छायावादी कवियों में सबसे अधिक अनुभूति एवं मार्मिक अभिव्यंजना इनकी रचनाओं में पाई जाती है।

कोमलता, मधुरता, पीडा इनके हृदय की अमूल्य निधि है। अंतर्व्यथा के तप्त उच्छ्वासों में अपने आकुल प्राणों को तपाते रहने मे ही इन्हें चरम सुख की अनुभूति होती है, उसी में इन्हें एक प्रकार का अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। वेदना आपकी चिरसखी है, उसके बिना ये रह नही सकतीं।

'पर शेष नहीं होगी यह, मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूंढ़ा, तुम में ढूँढ़ूँगी पीड़ा।'

इनका हृदय निरंतर किसी अभाव का अनुभव करता है, उसी के अन्वेषण में व्याकुल है। प्रथम मिलन के पश्चात् ही उस अज्ञात प्रियतम से इनका विरह हो

गया, वे प्रिय को आँख भर देख भी तो नहीं पाईं :

'इन ललचाई पलकों पर पहरा जब था व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला उस चितवन ने पीड़ा का।'

महादेवी जी प्रधानतः अंतर्वृत्तिनिरूपक कवयित्री हैं। वे अपने भीतर स्वयं को तथा वस्तु-जगत् को देखती हैं, साथ ही उस निराकार की भी उपासिका हैं, जो विश्व के कण-कण में, प्रकृति की अनन्त सौंदर्य-श्री में आभासित है।

'नीरवतम की छाया में छिप,
सौरभ की अलकों में।
गायक ! यह गान तुम्हारा,
आ मँडराया पलकों में।'

इनके 'मूक मिलन', 'मूक प्रणय' में सरस एवं भावुक हृदय में उठने वाली अनुभूति-लहरियों का हृदयग्राही चित्रण है। रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता में विभोर होकर इन्होंने जिन पद्यों का निर्माण किया है, छायावाद की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का, आत्मा की परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-वेदना का, दिव्य एवं अलौकिक चिन्मय शक्ति से अपने सूक्ष्म सम्बन्ध की चेष्टा का तथा स्थूल सौन्दर्य के प्रति मानसिक आकर्षण के उच्छ्वास भरे अनेक चित्रों का जो सजीव चित्रण इन्होंने अपनी कविताओं में किया है उसमें इनकी निराली भावभंगिमा के दर्शन होते है और जीवन का गम्भीर दार्शनिक तथ्य भी अंतर्निहित मिलता है।

'मुझे न जाना अलि ! उसने
जाना इन आँखों का पानी।
मैंने देखा उसे नहीं,
पदध्वनि उसकी पहिचानी।
मेरे जीवन में उसकी स्मृति—
भी तो विस्मृति बन आती॥
उसके निर्जन मन्दिर में,
काया भी छाया हो जाती।
क्यों यह निर्मम खेल सजनि !
उसने मुझ से खेला है॥'

कितनी मार्मिक पंक्तियाँ हैं ? सत्य के अन्वेषण मे आकुल प्राण, चहुँ ओर के दुःख-वाहुल्य से क्षुब्ध और कातर मन दीपक सदृश अहर्निश जला करता है। प्रकृति के अंचल में जब उसका औत्सुक्य जाग्रत हो जाता है तो गगन-पथ में बिखरे अगणित मोती उसे अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ होते हैं—वह उनके अनुपम सौन्दर्य को भूल जाता है।

'आलोक यहाँ लुटता है,
बुझ जाते हैं तारागण।

अविराम जला करता है,
पर मेरा दीपक सा मन।'

महादेवी जी की अन्तर्भेदिनी दृष्टि तीक्ष्ण और सूक्ष्म है, इनकी हृद्गत भावनाएँ कहीं-कहीं बडी गूढ़ होती है। जीवन तो सदैव समान नही रहता, विषमता में डूबता-उतराता रहता है, अतएव ये ईश से यही प्रार्थना करती हैं कि जीवन में सदैव अतृप्ति बनी रहे, क्योकि दुःख मे ही सुख अन्तर्निहित है और निराशा में ही आशा की किरण फूट पडती है।

'मेरे छोटे जीवन में,
देना न तृप्ति का कण भर
रहने दो प्यासी आँखें,
भरती आँसू के सागर।'

ये विषाद में ही हर्ष, ताप में ही शीतलता तथा पीड़ा में ही आत्मानन्द का अनुभव करती हैं।

'एक करुण अभाव में,
चिर तृप्ति का संसार संचित।
एक लघु क्षण दे रहा,
निर्माण के वरदान शत शत।
पा लिया मैंने किसे,
इस वेदना के मधुर क्रम में।
कौन तुम मेरे हृदय में?'

'दीपशिखा' और 'यामा' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके गीति-काव्य में मधुरता और संगीत का अभूतपूर्व आविर्भाव हुआ है। इनकी कोमल भावनाएँ यथार्थता में उलझी नही रह सकी, फलतः इनकी कविता वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ी है। इतने वर्षों से वाह्य जीवन एव सामाजिक परिस्थितियों से अधिकाधिक विषम होते जाने के साथ-साथ इनकी कविता भी उसी अनुपात में अन्तर्मुखी होती गई है। सत्काव्य के आधार-तत्त्व अनुभूति और कल्पना का अनुकूल सामंजस्य होते हुए भी अपनी दार्शनिक मान्यताओं को इन्होंने सामाजिक यथार्थों की रगड़ खाने से बचाया है।

श्रीमती **सुभद्राकुमारी चौहान** ने छायावाद की भूलभुलैया में न पड़ यथार्थवाद को अपनाया और इनकी रचनाएँ बहुत सरस, ओजस्वी और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई। इनकी काव्य-साधना महादेवी जी से भी पहले की है। अज्ञात प्रिय के लिए तड़प-तड़प कर मरने की अपेक्षा देश की पुकार पर मर मिटने वाले वीरों एव आदर्श रमणियों की पावन स्मृति में अश्रु बहाने में इन्हें अधिक सुखानुभूति हुई। इनकी सरल दृष्टि प्रारम्भ से ही समाज के जीवन की ओर रही। इन्होंने उससे पलायन

नहीं किया। अपनी छलछलाती, पैनी, सुगम शैली में भावनाओं को उभार-उभार कर रखने में ये सिद्धहस्त थीं। प्रणय-गीतों के दो-एक चित्र देखिए :

'बहुत दिनों तक हुई प्रतीक्षा,
अब रूखा व्यवहार न हो।
अजी! बोल तो लिया करो तुम,
चाहे मुझ पर प्यार न हो।
ज़रा ज़रा सी बातों पर,
मत रूठो मेरे अभिमानी!
लो, प्रसन्न हो जाओ, ग़ल्ती
मैंने अपनी ही मानी।'

एक और उदाहरण :

तुम मुझे पूछते हो जाऊँ
मैं क्या जबाब दूँ, तुम्ही कहो;
'जा' कहते रुकती है ज़बान
किस मुँह से तुमसे कहूँ 'रहो'।'

सारल्य एवं कला का मिश्रण इनकी रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित है। इनकी शैली में सदा ही प्रवाह और वेग है, अन्तर मे सुख और आशा की किरणें छिपी हैं, इनका जीवन युग-युग से छाये हुए विषाद और उलझन से परे है, ये आशावादी है, उत्साही हे जो अन्धकार के आवरण को चीरकर प्रकाश की कामना करती है।

स्वदेश-प्रेम भी इनकी कविताओं में कूट-कूट कर भरा हुआ है। ये क्षत्राणी थीं और क्षात्र तेज इनकी कविताओं मे पूर्ण रूप से प्रकट हुआ है। इनकी 'झाँसी की रानी' अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इनकी वात्सल्य रस की कविताएँ भी बहुत ही हृदयस्पर्शी हे। 'मेरा नया बचपन' की कुछ पक्तियाँ देखिए :

'मैं बचपन को बुला रही थी;
बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन वन सी फूल उठी,
यह छोटी सी कुटिया मेरी।'

वात्सल्य की रसाप्लावित धारा का उच्छल आवेग मन को भिजो देने वाला है, किन्तु इनकी प्रेमपरक और भक्तिपरक कविताओं में भी कुछ कम गहराई नहीं है। सहज-सरल होते हुए भी इनका कवित्व और विदग्धता उच्चकोटि की है।

"मुझे भुला दो या ठुकरादो,
करलो जो कुछ भावे।

लेकिन वह आशा का अंकुर
नहीं सूखने पावे ।।
करके कृपा कभी दे देना शीतल जल के छींटे ।
अवसर पाकर वृक्ष बने यह, दे फल शायद मीठे ।।"

'वीरों का कैसा हो बसन्त' इस कविता की कुछ पंक्तियाँ—

"आ रही हिमाचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार,
प्राची, पश्चिम भू नभ अपार,
सब पूछ रहे हैं दिग्-दिगन्त,
वीरों का कैसा हो बसन्त ?
फूली सरसों ने दिया रंग
मधु लेकर आ पहुँचा अनंग
वधु वसुधा पुलकित अंग-अंग
हैं वीर वेश में किन्तु कन्त,
वीरों का कैसा हो बसन्त ?
भर रही कोकिला मधुर तान,
मारू बाजे पर उधर गान,
है रंग और रण का विधान,
मिलने आये हैं आदि-अन्त
वीरों का कैसा हो बसन्त ?
गल बाँहें हों, या हो कृपाण,
चल चितवन हो, या धनुषवाण,
हो रस-विलास या दलित त्राण,
अब यही समस्या है दुरन्त,
वीरों का कैसा हो बसन्त ?"

एक दूसरी कविता में—

"उन्हें सहसा निहारा सामने संकोच हो आया ।
मुँदीं आँखें सहज ही लाज से नीचे झुकी थी मैं ।।
कहूँ क्या प्राणधन से यह हृदय में सोच हो आया ।
वही कुछ बोल दें पहले, प्रतीक्षा में रुकी थी मैं ।।"

इन्होंनें कल्पित प्रणय या आक्रान्त विरह-वेदना के चित्र खींचने में अपनी वाग्मिता की समूची शक्ति नहीं लगाई, अपितु व्यक्तिगत सीमाओं में सिमट कर भी अपनी गहरी अनुभूतियों को व्यापक एवं सर्वसंवेद्य बनाने की चेष्टा की।

"भूलो तो सर्वस्व ! भला वे
दर्शन की प्यासी घड़ियाँ।
भूलो मधुर मिलन को, भूलो
बातों की उलझी लड़ियाँ ॥

भूलो प्रीति - प्रतिज्ञाओं को,
आशाओं, विश्वासों को,
भूलो अगर भूल सकते हो,
आँसू और उसाँसों को ॥

मुझे छोड़कर तुम्हें प्राणधन !
सुख या शान्ति नहीं होगी।
यही बात तुम भी कहते थे
सोचो, भ्रान्ति नहीं होगी ॥

सुख को मधुर बनाने वाले,
दुख को भूल नहीं सकते
सुख में कसक उठूँगी मैं प्रिय !
मुझको भूल नहीं सकते ॥"

इनकी सभी कविताएँ बहुत ही सीधी-सादी हैं। कहीं भी कोई उलझन या दुरूहता भरी लच्छेदार भाषा नहीं है। पर उस सरल भावाभिव्यंजना के भीतर कुछ ऐसा आकर्षण और मार्मिकता है जो पाठक के ग्रहणशील एवं संवेदनशील हृदय पर छा जाती है। प्रकारान्तर से अन्य कवि-कवयित्रियों से इनकी कविताओं में यही अन्तर है कि ये अपनी रचना-सौष्ठव, उक्ति-वैचित्र्य या अलंकारों की छटा से चकाचौंधा नहीं करती, वरन् ऐसी सरल, अकृत्रिम भाषा में अपने विचारों को प्रकट करती हैं जो सब को ग्राह्य है और एक विशिष्ट सजीवता, शक्ति और सात्विक उत्साह—जो इन रचनाओं के पीछे सक्रिय है–वह सहज ही मुग्ध और अभिभूत कर लेने वाला है।

"मैं सदा रूठती ही आयी,
प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहचाना।
यह मान बाण सा चुभता है
अब देख तुम्हारा यह जाना ॥"

इनकी कविताओं में राष्ट्रप्रेम और जनवादी स्वर भी हैं। विदेशी शासन की शृंखला में जकड़ी जब भारत-भूमि छटपटा रही थी तो इन्होंने अपनी सशक्त वाणी से उसकी गौरव-श्री को मुखरित किया। इन कविताओं के भी कई पहलू हैं। 'झाँसी की रानी', 'जलियाँवाला बाग', 'स्वदेश के प्रति', 'मातृ-मन्दिर में', 'विदा', 'पुरस्कार कैसा' आदि कतिपय कविताएँ कर्त्तव्य-कर्म तथा राष्ट्रोत्थान की नित्य गतिशील यथार्थता को समन्वित कर आज भी युगधर्म का नेतृत्व कर रही हैं। 'झाँसी की रानी' की

सुप्रसिद्ध निम्न पंक्तियाँ—

"जाओ रानी याद रखेंगे हम कृतज्ञ भारत वासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय, मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी,
तेरा स्मारक तू ही होगी,
तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥"

'राखी की चुनौती', शीर्षक कविता में—

"आते हो भाई पुनः पूछती हूँ
कि माता के बंधन की है लाज तुमको ?
तो बन्दी बनो, देखो बन्धन है कैसा,
चुनौती यह राखी की है आज तुमको॥"

'ठुकरा दो या प्यार करो', 'प्रियतम से चलते समय', 'समर्पण', 'पुरस्कार का मूल्य' 'शिशिर समीर' आदि इनकी कविताएँ कोमल भावों को व्यंजित करती हैं। इनकी कविताओं का संग्रह 'मुकुल' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से सेक्सरिया पुरस्कार मिल चुका है। श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने इनके सम्बन्ध मे लिखा—"वह गीत नही; जीवन-संगीत लिखती, उसकी पाँतो पर कल्पना के कठोर मोती नहीं, अनुभूति के श्रम-कणों से गीले 'मुकुल' बिखरे होते। उन निधियों की आभा सेक्सरिया के चाँदी के टुकड़ों पर नहीं, माँ कहकर मचल पड़ने वाले कुमार हृदयों के ममता भरे आह्वानों पर प्रतिबिम्बित होती।" दुर्घटना के कारण इनके आकस्मिक निधन से हिन्दी साहित्य की बहुत क्षति हुई है।

तारा पाण्डेय भावुक कवयित्री हैं और कई वर्षों से अपने गीतों द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध कर रही हैं। इनके उद्‌गारों में पीड़ा और कसक है, हृदय निरन्तर रोता-सा रहता है।

'जीवन की सुख-दुःख की स्मृतियाँ
जग पड़ती गीतों में, मन में।'

बाल्यावस्था में सांघातिक रोग से पीड़ित होने के कारण इनका अन्तर मुरझा गया और ये अश्रुमयी हो गईं। माता के असामयिक निधन से भी इन पर गहरी ठेस लगी, जिसे ये ऊपरी हँसी में छिपाने की सदैव चेष्टा करती रहीं।

'शैशव में माता का वियोग

सहकर चुपके चुपके रोई,
पर सच कहती हूँ बाहर से सबने मुझ को हँसते देखा।'

इनके गीतों मे तरलता और अन्तर का क्रन्दन है। तारो की झलमलाहट म भी इन्हें विषाद झलकता नजर आता है .

'सखि, तारावलि का बिखरा दल !
नभ के प्रांगण मे जब हिल-हिल
करते हे ये झिलमिल झिलमिल।
मै व्याकुल सी भावकता वश
जाती हूँ इनमें ही हिल-मिल।
सखि, करते हे झिलमिल झिलमिल !'

इनकी भाषा सरल एवं बोधगम्य होती है। 'सीकर' 'उत्सर्ग' 'शुकपिक' और 'वेणुकी' आदि इनकी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है। कभी-कभी पीड़ा से तग आकर ये उल्लास और मंगल-ज्योति जगाना चाहती है। निम्न पक्तियों में मधुर भावाभिव्यजना के साथ-साथ अनुभूति और संवेदनशीलता का कैसा सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है।

'उर अन्तर का नैराश्य मिटा
मेरे प्राणों में ज्योति जला दो।
स्मृति-विस्मृति के तान-बाने
अनजाने औ' चिर पहचाने
सुधि-पथ से आते-जाते
सबको आज भुला दो।
बने साधनामय पथ सुन्दर
अमर रहें ये गीतों के स्वर,
हाथ बढ़ाकर जीवन का रथ
मेरा तुम्हीं चला दो।'

स्वर्गीया **पुरुषार्थवती देवी 'आर्य'** अपनी सृजनाकाक्षा की पूर्ति किए बिना ही इस असार ससार से विदा हो गई। अल्पकाल मे जा कुछ भी ये लिख सकी उसमें हृदय की गहराई, करुणा और सिसकते स्वर है। सरिता की प्रवहमान धारा में इन्हें व्यथा और रुदन उमड़ता दीख पडता है।

'किसके लिए सकरुण विहाग-सम
अविश्रांत यह रोदन।
नीरस प्रांतों में बिखेरती,
क्यों अपना भींगा मन ?'

इन्होने राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी है। 'अंतर्वेदना' कविता-संग्रह इनका प्रकाशित हो चुका है।

स्वर्गीया **रामेश्वरी देवी मिश्र 'चकोरी'** जी के कृतित्व में प्रकृति का अनूठा चित्रण और प्रणयोच्छ्वास है। स्निग्ध, प्रांजल भाषा और परिष्कृत शैली में इन्होंने सूक्ष्म चित्रांकन प्रस्तुत किया है :

'आते छिपे दृग मूँदते भानु के
मेघ के छौने बड़े उत्पाती ;
चंचला माँ तब दीपक लेकर,
रोष भरी उन्हें ढूँढ़ने आती।
झोली भरे सुर - सुन्दरियाँ
गजमोतियों की हैं झड़ी सी लगातीं;
ओलों के रूप में आते वही
उन्हें बल्लरियाँ हिय-हार बनातीं।'

इनकी कविताओं में राष्ट्रीय चेतना और स्वदेश-प्रेम भी है। 'किंजल्क' इनका कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

स्वर्गीया **रामेश्वरी गोयल** हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की धर्मपत्नी थीं। अपनी असामयिक मृत्यु के कारण ये हिन्दी की पर्याप्त सेवा न कर सकी, तो भी थोड़े अर्से में इन्होंने जो लिखा उसमें प्रौढ़ता और उद्बुद्ध प्रवाह है। वैयक्तिक परिधि से परे जीवन का सरल सामंजस्य और मार्मिक व्यंजना है।

'थोड़े से अश्रु पिन्हा के
नयनों में जीवन साधूँ।'

इनकी अनेक कविताओं में प्रणय की पिपासा और करुण स्वर हैं :

'भोले ए पथिक ! न तोड़ो
मेरे जीवन की लड़ियाँ।
उलझी ही अब रहने दो,
दुखिया जीवन की घड़ियाँ'

इनके सम्पूर्ण काव्य में कोमलता, कल्पना की कमनीयता और अनुभूति की सचाई है। 'जीवन का सपना' इनकी पुस्तक है जिसमें तीस कविताएँ और गद्यगीत संग्रहीत है।

स्वर्गीया **होमवती जी** प्रमुख रूप से कहानीकार हैं, किन्तु इन्होंने अपनी एकांत अनुभूति और संवेदना को कविता में भी ग्रथित किया है। असमय वैधव्य के कारण इनके समस्त कृतित्व में अवसाद और रागात्मक संस्पर्श है। अपने कविता संग्रह 'उद्गार' में उन्होंने प्रारम्भ में ही अपनी पीड़ा का परिचय दिया जो हृदय को छूता है :

'उर में उमड़ा पीड़ा वारिधि,
जीवन में बरसे अंगार !

जीवन-धन को खोकर मैंने
पाया कविता धन उपहार !!'

अल्प वय में पति के अभाव से जो एक सूनापन और करुणा का भाव उनमें जाग्रत हुआ, वह कविताओं में साकार हुआ है। इस चोट से उनमें हृदय की विशालता और औदार्य अधिक आ गया था। दूसरों के दुःख से वे तत्काल तादात्म्य स्थापित कर लेती थी और जीवन में गहरे पैठने की प्रवृत्ति भी उनमें अधिक थी। एक कविता—

"प्राण-पंछी, उड़ चला फिर !
आह ! परदेशी पथी को, मान कर पथ का सहारा।
चल दिया था साथ सहसा, खोजन जीवन किनारा।।
छोड़ कर वह चल दिया, अधबीच में वह धुन रहा सिर !
प्राण-पंछी, उड़ चला फिर !
लौट आना चाहता पर, खिंच रहा उस ओर क्षण-क्षण।
है स्पंदित आज मेरे मन-विहग का मर्म कण-कण ।।
जा रहा विक्षिप्त-सा फिर, रह न पाया निमिष भर थिर !
प्राण-पंछी, उड़ चला फिर !
एक पग आगे मचल कर, और दो पीछे ठहर कर।
निबिड़ तम में हृदय थामे, सोच लेता कुछ सिहर कर ।।
क्षितिज के उस पार क्या ? उत्थान है, अवसान या चिर ?
प्राण-पंछी, उड़ चला फिर !
जा रहे पंथी सजग सब, ध्यान में धर ध्येय अपना।
किन्तु मेरा प्राण-पाँखी, भर दृगों में मौन सपना ।।
देखता तूफान छाये, मेघ सुस्मृति के घुमड़ घिर !
प्राण-पंछी, उड़ चला फिर !"

शकुन्तला खरे श्री नर्मदा प्रसाद खरे की धर्मपत्नी हैं। इनमें तन्मयता और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति है। अनेक कविताओं में सुभद्राकुमारी चौहान की भाँति वात्सल्य और माँ की पुलक है। इन्होंने अपनी बेटी आशा के प्रति सखि को संबोधित करके लिखा :

'सजनि, एक से दो बन आई,
मेरी ही शिशुता तो फिर से
मेरी गोदी में मुस्काई।
यौवन ने शैशव को पाया—
खिला फूल फिर कली बना री,
मैं अन्तर-घट को ममता से
सजनि, आज फिर से भर लाई।'

शकुन्तला जी ने महादेवी वर्मा की आध्यात्मिक और पलायन वृति को भी

अपनाया है। कहीं-कहीं व्यंजना गहरी और अधिक मार्मिक होकर प्रकट हुई है।

'मैं हँसी मधुमास आया।
झर पड़ा अनुराग दिश-दिश और नव उल्लास छाया।'

और

'झरकर वेणी में श्वेत फूल
हँस उठे गगन में तारक बन।
मेरी आभा से व्योम हँसा
लहराया सतरंगी दुकूल,
छाया छू छू कर झूल उठे
तृण-तृण तरु-तरु मे मधुर फूल।'

श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा कुछ वर्षो से कविता-क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति कर रही हैं। इनकी भाषा सरल, किन्तु भावपूर्ण होती है। कोमल कल्पनाओं की उड़ान में ये कहीं-कहीं बहुत ऊँची उठ गई हैं:

"कमल नाल के तन्तु सरीखे
झीने सूत्र बने अब बंधन
पुष्प दलों सा जो मन तोड़ा
वही बन गया है अब पाहन,
तुमने समझा स्वप्न जिसे वह सत्यों का आकार बन गया।
एक पराजय ने जीता है
जीवन की गतिविधियों का क्रम
पग चिह्नों को सौंप दिया है
पथचारी ने पथ का विभ्रम
तुमने समझा जिसे किनारा आज वही मँझधार बन गया।"

जहाँ एक ओर आपकी कविताओं मे भावुकता झलकती है, वहाँ उनमें अभिव्यक्त प्रेम तथा रहस्यवादी तत्त्व भी सन्निहित है:

"शिशिर निशा में जग की मूँदी
पलकों पर सपने सोते थे
दिग्पथ पर तारों के दीपक
ज्योति भरे जगमग होते थे
तभी छलककर नभ से धरनी
पर बसंत मधु आया होगा
तुमने ही मुस्काया होगा।"

इनकी रचनाओं में कोमलता के साथ-साथ वेदना भी ग्रथित है। भावों की तन्मयता, कल्पना की उड़ान और सूक्ष्म भावजन्य मादकता से परिपक्वता पाकर यह

वेदना आशा और निराशा के खेल दिखाती हुई इनकी कविताओं में स्फूर्ति भरती है।

महादेवी के पश्चात् ये ही एक ऐसी कवयित्री हैं जिनकी कोमल एवं सुष्ठु कल्पना समस्त अलंकार-विधान और शब्दाडम्बर को पीछे छोड़कर अपने सहज आवेग में ही काव्य हो उठी है

"क्या कहूँ, तुझसे किशोरी
इस गृहस्थी-भूमि पर तू बीज विष के हा ! न बो री
दुख किसे है ? जो सदा ही भागता है दूर दुख से
सुख किसे है ? जो न सोचे "मैं रहूँ भरपूर सुख से"
अथिर है संसार के सुख-दुःख दोनों खेल, रानी !
अतः जीवन में चलो कर दो क्षणों का मेल, रानी !
यदि न हों आँसू यहाँ तो, हास का क्या मोल हो फिर
दो न पलड़े हों तुला के, किस तरह से तोल हो फिर
क्या नहीं है रात काली, जब कि ऊषा चमकती है
क्या नहीं हैं विरस काँटे, जब कि कलियाँ गमकती हैं
झेलना संघर्ष जग के, है इसी का नाम जीवन
सन्तुलन रखो, उठाओ तो तनिक ऊपर नयन-मन
जगत-तापों में गलाकर ही खरा कंचन सँजो री
क्या कहूँ, तुझसे किशोरी !"

उदात्त काव्य-शैली, सरल भाषा मिश्रित गाम्भीर्य और नारी-सुलभ भावनाओं के द्वन्द्व का सफल चित्रण ये ही सुमित्रा जी की कुछ विशेषताएँ हैं जो मन को अभिभूत कर लेने वाली हैं। 'सान्ध्य गीत' की कुछ पंक्तियाँ--

"आ गई साँझ,
अब दीपक मुझे जलाने दो !
मुझ को अब ज्योति जगाने दो !
नदियों, घाटी-वन-उपवन पर,
पर्वत - खेतों - घर-आंगन पर,
श्यामांचल की जो छाँह पड़ी—
उस में पल भर बिलमाने दो !
सुरमई उतरती गोधूली,
हाथों में ले सेन्दुर तूली,
इसका पथ ज्योतित कर मुझ को—
सपनों के चित्र बनाने दो !
नीलम महलों मोती बिखरे,
धरती पर दीपक लौ छहरे,

झिलमिल लौ से ही टेर टेर—
प्रातः को मुझे बलाने दो !
मझ को अब दीप जलाने दो !
आ गई साँझ,
अब मुझ को दीप जगाने दो !"

इन्होंने भक्तिपरक कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें हृदय की सचाई के साथ-साथ रचना-सौन्दर्य और वाग्वैदग्ध्य भी है—

"मैं हर मन्दिर के पट पर अर्घ्य चढ़ाती हूँ,
भगवान एक पर मेरा है !
मन्दिर-मन्दिर में भेद न कुछ मैं पाती
है सिद्धि जहाँ, साधना वहीं पर आती,
मन की गरिमा जिसके आगे झुक जाती
वाणी वर का अभिषेक वहीं पर पाती
मैं हर पूजन-अर्चन पर शीश झुकाती हूँ,
अभिमान एक पर मेरा है !
कलियों, फूलों पर किरनें प्यार लुटातीं
नभ से आतीं, माटी-कन में छा जातीं,
पर क्या कलियों, फूलों में ही बस जातीं ?
सूरज की किरनें सूरज के सँग जातीं।
मैं किरन-किरन की श्री पर प्यार लुटाती हूँ,
दिनमान एक पर मेरा है !
मन ही तो शाश्वत स्नेह प्रेम का बन्धन,
आगे तन की गति क्रिया व्यर्थ का क्रन्दन,
यह पूजा भक्ति-प्रार्थना-नत अभिनन्दन !
मन की महिमा-गरिमा का करते वन्दन !
मैं हर अशीष मन को स्वीकार कराती हूँ,
वरदान एक पर मेरा है !"

वैशाख-जेठ की दोपहरी कितनी भीषण होती है। उसके प्रखर ताप और असह्य उष्णता को याद कर मन काँप उठता है। कवयित्री ने लू के सन-सन करते आग उगलते झोकों में भी शब्दों का सम्मोहन भर दिया है :

"वैशाख-जेठ की दोपहरी !
लू के झोंके सन सन सन सन,
चलते हैं आग भरा ले मन,
अंगारों से मंडित है तन,

झुलसाते जाते अन्तर्मन,
उठती जातीं हूकें गहरी,
वैशाख-जेठ की दोपहरी !
विहँगों के मन्द पड़े स्वर भी,
सरितायें सूख रहीं सर भी,
अब तो विस्तृत अम्बर पर भी,
बिखरे न दिखें घन के पर भी,
मिलतीं न कहीं छाँहें छहरीं !
वैशाख-जेठ की दोपहरी !
यह धूप और दुपहर की तपती गरमी,
किन ज्वालामुखियों के अन्तर से जन्मीं,
किस शंकर के अभिशाप धरा पर छाये,
ऋतुपति के वासन्ती-उपवन मुरझाये,
फिर धूलि-कणों से ढका गगन का आनन,
सूखे ठूँठों से घिरा सुरभिमय कानन,
प्यासी प्यासी लगतीं धरती की आँखें,
सूनी सूनी रीते बादल की पाँखें,
अब मौन धरा औ' नभ के आकर्षण हैं,
झुलसे भू पर के कण-कण औ' तृण-तृण हैं,
जीवन की साधें दूर देश में सोईं
चेतना लता कुंजों की खोई खोई,
आलस औ' भारीपन में तन-मन डूबे,
लम्बे लम्बे दिन लगते ऊबे ऊबे ।"

'तुमने ही मुस्करा दिया' शीर्षक कविता में हृदय को रंजित करने वाला भावोन्मेष है । अर्थात् ज्यों ही वह मुस्कराया, समस्त सृष्टि में जैसे मादकता छा गई । अखिल दृश्य-जगत् का वह चितेरा ही तो विराट् चित्रपट पर कौतुक भरे चित्र आँका करता है जिससे माधुर्य मुकुलित हो उठता है और उसी की सौन्दर्य-श्री सर्वत्र बिखर जाती है :

"तुमने ही मुस्कुरा दिया क्या, जो वसन्त का मन बौराया ।
धरती ने झट पहन लिये हैं
रजत कनक फसलों के कंगन,
नदियों ने मुख धो कर देखा
धीर धार का निर्मल दर्पण ।
गरम रक्त दक्खिनी पवन की शिरा शिरा में यों लहराया ।
तुमने ही मुस्कुरा दिया क्या, जो वसन्त का मन बौराया ।

टेसू की आँखों की प्याली,
में उफनाई मद की लाली,
मरकत वन में लगे नाचने,
तोते, मोर बजा कर ताली,
ताल किनारे युगल सारसों ने फिर से अभिसार रचाया ।
तुमने ही मुस्कुरा दिया क्या, जो वसन्त का मन बौराया ।
आमों की सुगठित बाँहों को,
छू ही गई तुम्हारी चितवन,
तभी नये पातों से फूटा,
सोने सा बौरों का यौवन,
तभी दिगन्तों में कोयलिया ने मंगल का बिगुल बजाया ।
तुमने ही मुस्करा दिया क्या, जो वसन्त का मन बौराया ।
घूँघट खोले देतीं कलियाँ,
लगे किलकने पंछी सारे,
तभी सवेरा होते किरने,
लगीं नाचने द्वारे द्वारे,
धरती हुई कृतार्थ, पुलक कर अंगों में रंग रूप समाया ।
तुमने ही मुस्करा दिया क्या, जो वसन्त का मन बौराया ।।"

ये सार्वजनिक कार्यों एवं कवि सम्मेलनों मे सक्रिय भाग लेती है। इनकी 'अंचल सुहाग,' 'विहाग,' 'वर्षगाँठ,' 'आशापर्व,' 'पथिनी' आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है। सेक्सरिया पुरस्कार से भी ये पुरस्कृत हो चुकी है और एक लम्बे अर्से से काव्य-साधना कर रही है।

श्रीमती **विद्यावती 'कोकिल'** नितांत मौलिक कवयित्री है। इन्होंने चतुर्दिक् फैले जीवन के साधारण-असाधारण क्षणों को जिस दक्षता से पकड़ा है, उन्ही को भावनाओं के अनुरूप ढाल कर ऐसे आकार प्रदान किये हैं जो सम्पूर्ण रूप से गति के व्यंजक है। कोमल हृदय के स्पन्दन को जाग्रत करने के लिए कही वे अपने आप को मुक्त खगी सा अनुभव करती है :

"मै जड़ता की अन्ध गुफा में उड़ती एक खगी हूँ।
मैंने क्षण भर को भी तो विश्राम नहीं जाना है,
जाना कभी तो बृहत्तर जोखिम फिर से ठाना है,
इस सोते संसार के बीच मे ही बस तनिक जगी हूँ।

परिवर्तन की झंझाओं से गई सदा झकझोरी,
और परिस्थिति के दौड़ों में बे-सम्भार हूँ दौड़ी;
अपने ही आदर्शों से मै फिर-फिर गई ठगी हूँ।

कोई परछाही है उसके पीछे भाग रही हूँ,
आकारों से अपनी धरी धरोहर माँग रही हूँ,
प्रेम में किसी अनदेखे के मै भरपूर पगी हूँ।

दुख की अन्धी घाटी में गिरती पड़ती बढ़ती हूँ,
और राह पर निज प्रलयों को ठुकराती चलती हूँ;
जैसे कोई लक्ष्यबेध तीर-सी सवेग भगी हूँ।"

प्रेय-श्रेय के द्वन्द्वों से ऊपर, ज्ञात और अज्ञात से अभय नित-नए परिवर्त्तनों की झंझा को चीरती-फाड़ती उस ऊँचाई की राह मे दौडना सरल नही है, पर रास्ता बनाने वाला क्या कभी रुकता है ? हृदय की अनमोल निधियों को बिखेरती विहगी सी नीलाम्बर में उड़ती 'कोकिल' की कोमल कल्पना श्रान्त होना नही जानती। एक अन्य कविता में :

"मै जीवन के हृदय में उठी कोई दिव्य पीर हूँ।
जला दिया है बसा नीड़ निज जड़ पार्थिव डालों पर,
उड़ान में ही बस अब रचता जाता है जिसका घर,
अग्नि चोंच में लेकर उड़ने वाला एक कीर हूँ।

आनन्द स्वयं आकर जिसकी दृष्टि बना जगमग है,
और तीर्थ यात्रा मे जिसकी बनी प्रेरणा डग है,
बलि के हित स्वीकार हो चुका है जो वह शरीर हूँ।

मानव विरचित जनम जनम के अमृत भरे सपनों से,
संचित करके उच्चादर्शों के महान तीर्थों से,
लाया गया यज्ञ के स्त्रुवापात्र का अर्घ्य-नीर हूँ।

रुक न सकूँगा कितना भी अब लक्ष्य सरकता जाए।
थक न सकूँगा बाधाओं के पर्वत भी आ जाएँ,
मैं प्रभु के तरकश से छुटने वाला एक तीर हूँ।"

अपनी भक्तिपरक कविताओं मे इन्होंने भक्ति के विभिन्न पहलुओं को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। भक्ति का अर्थ है—हृदय की निष्कपट सरलता और सचाई। नारी का निष्काम, निरपेक्ष प्रेम और समर्पण की भावना ही सच्ची भक्ति है जिसमें किसी प्रकार का भी द्वन्द्व-संघर्ष या स्वार्थ नही है। निम्न कविता में हृदय का आर्द्र परिप्लावित भाव इनके भीतर के निश्शंक सत्य का उद्घोषक और विश्वास का प्रतीक बनकर प्रकट हुआ है :

"मेरा ज्ञान भजन बन जाता
सब इतिहास प्रकृति बन जाते,

सब भूगोल निरंजन काया;
मेरी सत्य लगन के आगे
सब दर्शन जीवन बन जाता।
मेरा ज्ञान—

भाषा तो अनुभूति विरानी—
कैसे अपने भाव सजाऊँ?
किस प्रतिभा को काव्य कहूँ मैं—
सारा चिन्तन ऋण बन जाता!
मेरा ज्ञान—

औरों के बलिदानों पर ही
मैंने अपना पथ सिरजा है—
किस मौलिकता पर इतराऊँ,
प्रति पग समानुकरण बन जाता
मेरा ज्ञान—
यों तो मैंने जग को अब तक
बहुत ज्ञान-विज्ञान दिया है:
कैसे उसका लेखा जोड़ूँ—
मेरा कार्य सृजन बन जाता!
मेरा ज्ञान—

पीड़ा में क्या शोर मचाऊँ,
और विजय में नाद करूँ क्या!
मेरा सकल विकास सफल बन
संसृति की पुलकन बन जाता।
मेरा ज्ञान भजन बन जाता।"

एक दूसरी कविता में—

"मैं तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी
शांत, सत्य इक ज्वाला अनुपम
चारिहु मुख उघरीं,
जाने अनजाने जहँ अपनी
रचना जाति जरी,
मेरे तन मन प्रणन की गति यज्ञ बनी सिगरी।
मैं तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी।

भाव भाव के जनम जनम अब

एक कथा सचरी,
और कर्म की गलिन गलिन में
एकहि स्वर लहरी,
एक छत्र बस राज तुम्हारो एहि तन की नगरी।
मैं तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी।

संकेतों पर बैठूँ, उठूँ कि
सोऊँ और जगूँ,
जोई बनाओ सोइ बन जाऊँ
जहाँ कहो बरसूँ,
चाकर होइ रहूँ विश्वासी ऐसी शपथ करी।
मैं तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी।"

श्रीमती 'कोकिल' में आज के भ्रम और अविश्वास की काली परछाइयाँ नहीं उभरी है। वादों के जंजाल से मुक्त जीवन रूपी महासागर का अवगाहन करके वे अपनी अमूल्य काव्य-मुक्ताओं की माला मानव-समाज को अर्पित कर रही हैं। निरन्तर मिट-मिट कर, कुछ खो-खोकर या पा-पाकर अपनी रिक्तता को वे किसी बेबसी, अभाव या दैन्य के रोदन से नहीं भरना चाहती, बल्कि अपनी ज़िन्दादिली और मधुमय गीतों की आनन्दमयी मस्ती में मुरली-धुन की अनुगूँज में थिरकना चाहती हैं।

"मुरली बाजि रही मधुबन में
एक गूँज गूँजी आत्मा में द्वार खुले कंचन के,
नाच रही राधा छबि देखी रूप-रंग-नन्दन में।
एक गूँज गूँजी मानस में द्वार खुले चन्दन के
उड़ी जा रही सबल कल्पना जीवन लिए गगन में।
एक गूँज गूँजी अन्तर में द्वार खुले चाँदी के
आनन्द बरसा मची खलबली दुनिया के क्रन्दन में।
एक गूँज गूँजी काया में द्वार खुले लोहे के
कठिन पर्त टूटी जड़ता की मधु उमगा जीवन में।"

श्रीमती **विद्यावती मिश्र** कविता के क्षेत्र में अनेक वर्षों से साधना कर रही हैं। एक आस्थावान नैष्ठिक नारी का सा आश्वासन और संतृप्ति के स्वर इनकी कविता में उद्बुद्ध हैं। भगवान के प्रति अत्यन्त दीन याचना और मूक समर्पण का भाव लेकर इन्होंने अपनी भक्ति की तन्मयता को शब्दों में साकार किया है :

"भय यह मुझको नहीं कि मेरी यह लघु सत्ता मिट जायेगी,
केवल यह दुख फिर न द्वार पर प्रतिदिन भक्त राशि आयेगी,
मैं वह ही, वह ही जग, वह ही मन्दिर, फिर वरदान न बदलो!
अब मेरे भगवान न बदलो!

वीणा मेरी एक, एक ही तरह सधी अंगुली पड़ती है,
फिर क्यों अविकल राग रागिनी टूट-टूट स्वर मे अड़ती है,
वही अधर है वही बाँसुरी गायक अपने गान न बदलो !
अब मेरे भगवान न बदलो।

चंचल मन को एक तुम्हारी दृढ़ता का आधार रहा है,
जिसके ध्यान-मात्र के बल पर जीवन भर संघर्ष सहा है,
निर्बल के आधार, लोक के प्राण, विश्व-कल्याण न बदलो !
अब मेरे भगवान न बदलो !"

अलंकार, साज-सज्जा, उक्ति-वैचित्र्य और मिथ्याडम्बर से ऊपर उठकर अपने अंतर्प्रदेश के अखण्ड मौन मे ही ये भगवान् की खोज करती रही। शनैः-शनैः यह भावना भी इनमे इतनी पुष्ट होती गई है कि मानवत्व की चरम परिणति को ही इन्होने देवत्व की संज्ञा दी। देवत्व आखिर है क्या ? क्या सचमुच जीवन की अमरता का वरदान उन उच्चात्माओं मे नही है जो पटबन्द उपासना गृहों या मठ-मन्दिरों मे नही वरन् त्याग-तपस्या, परहित और अपनी सभूत चैतन्य शक्ति द्वारा एक सच्चे मनुष्यत्व मे देवत्व को सार्थक करने की अनवरत साधना मे लगे रहते हैं। 'इंसान मेरा देवता' शीर्षक कविता मे इसी भाव को व्यजित करती हुई ये लिखती है :

"मै चाहती अगणित स्वरों में विश्व को यह दूँ बता,
इंसान मेरा देवता !

रवि के प्रबलतम ताप ने श्रम को पसीना कर दिया,
प्रत्येक जिसकी बूँद ने जीवन धरा पर भर दिया,
वह मूर्ति पौरुष की बने चिर-अर्चिता !
इंसान मेरा देवता !

घनघोर तीव्र प्रहार से जब बज्र-सा लोहा कटा,
तब आग की चिनगी उठी व्यापक युगों का तम फटा,
इस साधना की अब नियति भी अनुगता !
इंसान मेरा देवता !

पट बंद हो पूजा-गृहों के अब सदा को आज से,
भगवान अब बाहर न होगा लोक और समाज से,
देवत्व का ही नाम होगा मनुजता !
इंसान मेरा देवता !"

कही-कही छायावाद और रहस्यवाद से प्रभावित होकर इन्होंने उस अज्ञात स्पन्दन को भी अनुभव किया है जिसकी कि अभी तक न्यूनाधिक रूप में परिपाटी चली आ रही है। किन्तु इनकी मौन प्रतीक्षा का अन्त रुदन या पीड़ा के पतझर में नही बल्कि हँसते हुए बसन्त में है। उस तमिस्रा में ही इनके प्राणों के तारे या चेतना

नहीं कौधती, अपितु इनकी भावमयता सहजता और सादगी का परिधान धारण कर सरल वाणी की रसधारा में फूटी पड़ रही है :

"मेरे कवि की प्यास कि जैसे सीपी के अंतर की ज्वाला,
मेरे कवि की प्यास कि जैसे बादल में बिजली की माला,
जैसे ज्वालामुखी लिए रहता है अपने में अंगारे··,
जैसे तममय रात छिपाए रहते है प्राणों में तारे··,
रहता है अज्ञात सदा मानव-मन का इतिहास !
एक उसी की ही छाया है मेरे कवि की प्यास !!

है मिट्टी की प्यास भूमि के सोने भरे हुए अंचल मे,
है सरिता का वेग नाव के हिलते हुए सबल संबल में,
फूलों की मुसकान सुरभि की मस्ती भरी हुई लहरों मे,
जीवन के मकरन्द किसी के पागल प्यार-भरे प्रहरों में,
मन की लोलुपता का ही है एक रूप संन्यास !
और उसी की एक चेतना मेरे कवि की प्यास !!

मेरी मौन प्रतीक्षा का कब हो पाया है अंत,
रोता पतझर बन पाया कब हँसता हुआ बसन्त,
तुष्टि न मन को दे पाया है आने का सन्देश,
फल की प्राप्ति न हो पाती है चलने का आदेश,
चाह रहा भूतल पर आना एकाकी आकाश !
किन्तु चाँद पाने को व्याकुल मेरे कवि की प्यास !!"

श्रीमती **कमला चौधरी** मुख्यत: कहानीकार है, पर काफी कविताएँ भी लिखी हैं। इनके उद्गारो मे सच्ची सरल निष्ठा व्यंजित हुई है। प्रेम-विरह, आशा-निराशा, मिलन-विछोह के उन्मादक गीत इन्होने नही गाए, बल्कि जीवन की दौड़ मे अनायास ही, जो सम्पर्क में आते रहते है, उनसे ही तादात्म्य स्थापित कर इन्होंने अपनी संवेदनाओं का बड़े सहज, सच्च ढंग से विस्तार किया है। बाहरी दुनिया के सामान्य-असामान्य परिवेश से परिचित होने पर ही ऐसा तादात्म्य सम्भव है। व्यापक अर्थ में राग-विराग, हर्ष-विषाद और मानव-संवेदनाओं से प्रभावित होकर विशेष सामजस्यपूर्ण स्थिति मे ऊपरी तौर पर एक दूसरे से भिन्न जान पड़ने के बावजूद भी समय के अनगिन संघर्षों से टकराकर उक्त प्रयत्न-परम्परा की महत्ता में उदात्त भावनाएँ गहराई मे आकर एक हो जाती है। तलस्पर्शी दृष्टि वैविध्य में भी एकत्व खोज लेती है। इनकी नजर आकाशचारी नही, बल्कि चरणतल में बिछी सजल श्यामल धरती पर ही टिकी है :

"धीरे-धीरे चरण बढ़ाना, पवन ! तनिक संयत हो आना,
चपल लहरियों के नर्तन पर, रीझ-रीझ मत होश गँवाना !

नील गगन में चांद उगा है,
सागर का उन्माद जगा है,
लहर-लहर का अर्चन-नर्त्तन,
मिलन-लालसा, पीड़ा-क्रन्दन—

बढ़ने दो, व्यवधान न लाना, उचित नहीं उत्पात मचाना,
युग-युग के साधक सागर ने, प्रेम जोग का तप है ठाना !

धरा गगन में है अति दूरी,
महाविषादमयी मजबूरी,
मन की साध न होती पूरी,
प्रेम-कथा नित रही अधूरी,

सम्भव नहीं चन्द्र का आना, और सिन्धु का नभ तक जाना,
विफल तपस्वी अचल प्रीति का, चपल ! न इस का ध्यान डिगाना !

कभी नहीं होता परिवर्तन,
अटल अटूट नेह का बन्धन,
आदि अन्त का यह आकर्षण,
सुखद चिरन्तन का दिग्दर्शन !

विकल विरहरत रोना गाना, ताप, जलन, प्रतिपल अकुलाना,
सतत निराशा का वर पाकर, फिर भी अविचल प्रीति निभाना !

करने दो तन्मय हो दर्शन,
होने दो उच्छ्वास समर्पण,
सत्य शाश्वत का यह दर्पण,
आलोकित करता है कण-कण !

ठहर पवन, तूफ़ान न लाना, आ असमय मत क्षोभ बढ़ाना,
विषम वेदना आकुल अन्तर, लक्ष्य प्रीति की रीति जगाना !"

इस महायात्रा के असंख्य आयामों में कभी-कभी ऐसे एकाकी, अनदेखे क्षण भी आते हैं जो हर अप्रत्यावर्तित अतीत और हर अनागत भविष्य का रहस्यमय संकेत देते हैं।

"जल बरसा था रात अपरिमित !
उसी बीच में मधुर घात कर,
कोई मन छू गया अपरिचित !
पावस का उत्पात नहीं था,
पागल झंझावात नहीं था,
हलका-सा आघात लगा था,

घन-रव उल्कापात नहीं था !
छिप-छिप आया बूँद-ओट में,
तुरत हृदय में हुआ समाहित !
जल बरसा था रात अपरिमित !

प्यासी आँखें देख न पाईं,
जलघट-सी दोनों भर आईं,
बन्द हुए कानों के परदे,
पतली भी मानो पथराई !
केवल सीमा का पट उघरा
मानस में वह हुआ चमत्कृत !
जल बरसा था रात अपरिमित !

कोर चुभा दी किसी किरन ने,
या मनहर बंकिम चितवन ने,
चोट लगी ज्यों स्निग्ध कली पर,
शबनम झटकी प्रात पवन ने !
चौंक पड़ी थी बेसुध धड़कन,
पाहुन आया सहसा विस्मृत !
जल बरसा था रात अपरिमित !

चुप-चुप करता मन पहुनाई,
अनुराग मयी छिटकी जुन्हाई,
रूप रंग साकार न देखा,
किन्तु पलक सिहरन भर आई !
चित्त चितेरा चित्र खींचता,
अंतर पट पर छबि प्रतिबिम्बित !
जल बरसा था रात अपरिमित !"

'अपनी अपनी मंज़िल' में ये उस गन्तव्य की ओर अग्रसर होना चाहती हैं जहाँ राह गुमराह है, किन्तु स्वतः प्रेरणा से खोज लेने के अभियान में हैं । यह तो पता नहीं कि मंज़िल का ओर-छोर किधर है, मगर दिल को साहिल बनाकर और हरदम बजती सरग़म से क़दम से क़दम मिलाकर आगे बढ़ने की ख्वाहिश रखती हैं ।

कहीं-कहीं उर्दू शब्दों के प्रयोग ने कविता मे जान फूँक दी है ।

"मुझे राह में रोशनी मत दिखाना—
मै अपना ही दीपक जलाती चलूँगी ।
किधर मेरी मंजिल किधर है किनारा,
नहीं मुझको लेना किसी का सहारा ।

तड़प कर मेरे दिल ने मुझको पुकारा,
बताया है चुपके से कोई इशारा ।
बताये नहीं मुझको कोई किनारा—
मैं दिल को ही साहिल बनाती चलूँगी ।

नहीं भाती आँखों को सजधज ये रौनक,
चकाचौंध जगमग जमाने की हू हक ।
कि जो कुछ है बातिल है कुछ भी नहीं हक,
ये नक्शे नहीं मुझको भाते हैं मुतलक़
मेरे दिल में बजती है सरग़म जो हरदम—
मैं उससे क़दम को मिलाती चलूँगी ।

मचलती हैं लहरें ये उनकी है ख़सलत,
कि जाना और आना बहारों की आदत ।
जमाने ने दी क्या गुलों को ये रंगत ?
चकारों ने पाई कहाँ से है रग़बत ?
सभी में भरी है अजब एक वहशत—
मैं वहशत को राहत बनाती चलूँगी ।

ये गुलशन में गुंचे हैं हँसते चटकते,
गुलाबों की रविशें हजारों लहकते ।
हजारों हैं खिलते हजारों महकते,
कभी खुश्क होते कभी हैं फफकते ।
ये हँसते महकते हैं बनते बिगड़ते—
मैं गुलशन बनाती लुटाती चलूँगी ।

बनाये हैं दरिया ने खुद ही किनारे,
पपीहे ने पाये हैं दिल से ही नारे ।
बताओ फ़लक पर हैं किसने उभारे,
ये सलमें-सितारे से चमके जो तारे ।
ये चाँद और सूरज ये दिलकश नजारे—
मैं अपने नजारों पै छाती चलूँगी ।

अकेले ही आई अकेले है जाना,
अलग अपनी मंजिल अलग है ठिकाना ।
कि आने का जाने का लम्बा फ़साना,

बनाया है खुद ही अभी है बनाना ।
तुम इसमें नहीं कुछ बढ़ाना-घटाना—
मैं अपना फसाना बनाती चलूँगी ।"

गद्य-काव्य की प्रमुख लेखिका श्रीमती **दिनेशनन्दिनी** जी अब कविता की ओर भी अग्रसर हुई हैं । 'उर्वाती' इनका प्रथम प्रयास और 'मनुहार' इनकी सफलता का द्योतक है, जिसको श्रीदिलीप कुमार राय जैसे महान कलाकार ने अपने कलकंठ में उतार गीतों की तन्मयता से स्फूर्ति का अलस स्पन्दन भर दिया है । 'सारंग' में इनकी अनेक सुन्दर कविताओं का सकलन है । इनकी भाषा सरस एव लचीली है, किन्तु संस्कृत शब्दों के साथ-साथ उर्दू-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी किया गया है ।

इनकी कविता श्रृंगारी है और उसमें छायावादी रूमानी प्रेम की भी यत्र-तत्र गन्ध आती है । रहस्योद्भावना के चाव में इन्होंने रूक्ष निराशावाद को भी कहीं-कहीं प्रोत्साहन दिया है ।

निम्नलिखित पंक्तियों में हृदय की भावनाओं का कैसा सुन्दर निदर्शन हुआ है :

"पर्नमिलन के मधु क्षण में
सखि ! उनसे क्या पूछूँगी मैं ।
भूल सभी संघर्षों को
कुछ रोकर ही हँस दूँगी मैं ।'

दिनेशनंदिनी जी जहाँ गद्यकाव्य में सिद्धहस्त हैं, कविता में कोई निश्चित धारा नही पकड़ सकी । फिर भी जिस अनुभूत को इन्होने समक्ष रखना चाहा है उसे अपनी सहज संवेदनीयता से मूर्त करने का प्रयास किया है ।

"सजन पूछते हैं मैं आली घूँघट में शर्माती क्यों हूँ ?
गरल समझ उनका प्रीति-घट, घट में ही घल जाती क्यों हूँ ?
जब वे छूते छुईमुई सी छिन छिन में मुर्झाती क्यों हूँ ?
सजन पूछते मुझसे आली, छाया से घबराती क्यों हूँ ?
कनक-कलश मादक मदिरा का पथ में ही ढुलकाती क्यों हूँ ?
रूप - निशा पी साक़ी बेसुध मैं पीछे हट जाती क्यों हूँ ?
विशद विश्व भुज आलिंगन में बँधकर मिटती जाती क्यों हूँ ?
सजन पूछते यही सखी मैं घूँघट में शर्माती क्यों हूँ ?"

एक दूसरी कविता में—

"प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ
दुःख जल है, कर्म फल है,
क्रूर भावी अन्ध तल है,

प्राण बन्धक प्रेम छल है
फटे दिल को सी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे साथ ही मैं जी रही हूँ

कठिन पल है दूर कल है
साधना मेरी विफल है,
कमल दल में आत्म बल है
गीति गंगा पी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ

सत कथा है चिर व्यथा है
एक ही जीवन प्रथा है,
प्रणय सौरभ मन गुंथा है
बिन सुहृद के भी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ

इति चरन है, खिन्न मन है,
गहन बन सा शिथिल तन है
साँस रग रग में घुटन है
पुण्य स्वप्निल छी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ

प्राण पण है, अश्रु कण है
गुह्य चिन्तन ही मरण है
यह कहाँ से अकथ ऋण है
ज्योति तम अन्धी रही हूँ
प्रिय ! तम्हारे ही सहारे जी रही हूँ

आँखें तरल है, अमी गरल है
करुण मेरा पथ सरल है
निबल निधि, पर विधि प्रबल है
रार की सन्धि रही हूँ ।"

यों तो छायावाद-रहस्यवाद की मूलवर्ती भावना से प्रभावित इनमें कुछ वैसा सा हो विस्मय, कौतूहल और असीम चेतन का क्रन्दन है, किन्तु जहाँ भी छायावादी शैली और व्यक्तिवाद से मुक्त होकर इन्होंने लिखा है वहाँ इनके उद्‌गार अधिक स्वाभाविक बन पड़े हैं—

"मेरी आँखें मत मूँदो
खुद बन्दी हो जाओगे

सान्ध्य प्रभा के अश्रु
तब कैसे लख पाओगे ?"

'परिछाया' में इन्होंने अजात शिशु के प्रति अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। उदरस्थ अजन्मे बालक के प्रति जो अपरिमित स्नेह, ममत्व और वात्सल्य भरी उत्सुकता होती है उसे उस 'माँ' के सिवा कौन समझ सकता है जो कितनी ही रम्य कल्पनाओं के सहारे उस अकल्पनीय नूतन जीव का निर्माण करती है। लाज और संकोच में सिमटी उस घनीभूत अनुभूति में वह रमती तो रहती है, पर उस अंतरंग आह्लाद के शब्दचित्र नहीं बना पाती। दिनेशनंदिनी जी ने इसी अछूते विषय को 'परिछाया' में बखूबी निभाया है—

"स्पन्द में जीवित कहीं तुम
खो चुकी हूँ धैर्य अपना
कान बिन ही सुन रहे हो
चिर अचंचल स्वप्न अपना।

खेलता विधि एक मुझसे
या सभी से खेलता है
हृदय का विश्वास आदिम
तर्क उसको ठेलता है।

वर्तमान की पूजा मेरी
एकनिष्ठ अविचलित ध्यान
जागरूक निद्रा के प्रहरी
तुम स्वप्नों के स्वप्न महान्।"

स्नेह-विह्वल वे उस अजात से पूछती हैं—

"यात्रा के कितने पग बाकी
दीपक में कब नेह भरा
ज्योति पुंज साकार कल्पना
किसका किससे स्नेह खरा।"

निम्न पंक्तियों में गर्भिणी नारी का कितना सजीव चित्रण है—

"धरती कँपती या पग कँपते
नहीं समझ पाती हूँ
धुंधले से इस अंतराल पर
खिंच रेखा सी जाती हूँ।"

उदरस्थ शिशु की ओर संकेत करती हुई एक अन्य स्थल पर वे लिखती हैं—

"जीवन की कितनी हारे
उस अंचल में एकत्रित
पीड़ा की मूर्च्छित छाया
मेरे अन्तर में चित्रित।"

किन्तु बालक का जीवन के घात-प्रतिघात, आशा निराशा और दुःख व संघर्षों की निरन्तर तपती तीखी धूप और अवसादमयी छायाओ से दूर रहने का आदेश देती हुई वे लिखती हैं--

"जीवन की करुण कथाएँ
अंकित मेरे गानों में
वे छलनामय मनुहारें
सुन पड़ती अब कानों में।
मेरे अनन्त बालकपन
यह जर्जर मन मत छूना
जब तक यह घड़ी जगाये
निशि - वासर बढ़ना दूना।"

जननी की माया-ममता समेटे वे अपनी चिन्ता व्यक्त करती हुई लिखती है--

'मंजु मुख मुरझा न जाये
शुष्क अधरों में शिकन
ध्यान इतना कब लगा था
दृष्टि में उद्विग्न मन।'

एक दूसरे स्थल पर--

'व्यथित मत होना
अगर वातावरण प्रतिकूल हो।'

कहीं वे कहती है--

'थक सोया जो बालापन
मेरी नाड़ी में खेले।'

इस लघु काव्यकृति मे **दिनेशनंदिनी जी** ने अपनी नितान्त कोमल भावनाओं को व्यंजित किया है। **'परिछाया'** की भूमिका में ये. लिखती है--"उस समय बधू के कर्त्तव्यो से लाज भरा संघर्ष था और नवीन जीवन की कटुता अथवा मिठास को बारी-बारी से देखकर घबरा जाती थी। परीक्षा में उड़ते-उड़ते बेमालूम धरती पर गिर पडने का धक्का सा लगता था। अपने आप संभलने की आदत न होनें से वापस उठने का प्रयास तक बड़ा कष्टप्रद था। भूली सी, विक्षिप्त सी बेजान इधर-उधर छटपटाती रही और समय वह भी बीत चला द्रुत गति से। आज 'जाया' होकर भी वात्सल्य की धृति से दूर हूँ--बहुत दूर।"

हीरादेवी चतुर्वेदी के 'मधुवन', 'मंजरी' 'नीलम' काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें सरल अनुभू त और कोमल व्यजना है।

"नैया डगमग होती जाती
मेरी आशा सोती जाती
बादल झमझम आज बरसते
किन्तु लक्ष्य तक पहुँचूँगी मै।"

शैल रस्तोगी का 'पराग' कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनके कृतित्व में वेदना और करुणा-परिप्लावित भाव है। कविताओं में अश्रु से झरते रहते हैं :

"आँसू रे भर दो
मेरी चिर खाली गागर में
युग-युग के अनियन्त्रित स्वर में,
पीड़ा का स्वर, सागर का - ल अपना ही भर दो
आँसू रे भर दो।"

निम्न कविता में इनकी हृत्तन्त्री की वेदना झंकृत हो उठी है :

"कल की बीती बात आज बन गई कहानी
चलते-चलते शूल चुभे थे जो पाँवों में,
बाँट लिया सुधि ने उनको अपने गाँवों में,
चलते-चलते फूल खिले थे जो राहों में—
बाँध समय ने लिया उन्हें अपनी बाहों में;
पतझर के ग़म में, बोझिल कल पुरवाई थी,
आज वही पर बसन्त करता है, मनमानी।
कल की धारा बनी नदी का आज किनारा,
कल का फूल, आज प्राणों की बाजी हारा;
कल जो था प्रारम्भ आज बन गया अन्त है—
शून्य बन गया सुबह, साँझ का नन्हा तारा,
कल पुरवाई ने डालों पर झूला डाला,
भोली-भाली कली आज बन गई जवानी।
कल की रात और कल का ग़मग़ीन अन्धेरा!
आज बनी मस्ती में डूबा हुआ उजेरा;
कल चन्दा की जहाँ बज रही थी शहनाई—
वहाँ अमा के महामौन ने डाला डेरा;
कल तक जो कुछ भी नवीनता थी जीवन में,
आज लग रही है कितनी अनजान पुरानी।
बहुत पास है जिस मंज़िल को समझ लिया था,
जिस पर मन के अरमानों का जला दिया था;

बनी भोर का सपना वह सारी खुशहाली
होली बन कर जली ज़िन्दगी की दीवाली;
कल अधरों को जो हँसने का दान मिला था,
आज बन गया है सूनी आँखों का पानी।"

श्रीमती शैलबाला खड़ीबोली में गीतों की रचनाएँ करती हैं। हैदराबाद जैसे उर्दू के गढ़ में आप अपनी कविताओं, कहानियों, एकांकी नाटकों, गद्य-काव्य एवं समीक्षात्मक निबन्धों द्वारा हिन्दी का काफ़ी प्रसार कर रही हैं। आपकी कविताएँ सरल एवं भावपूर्ण होती हैं :

'देखो फूलों का लघु जीवन पलभर को खिलते मिट जाते,
पर पत्थर की कठोरता में युग के युग भी सिमिट समाते।
पर क्या लघुता असफलता है और दीर्घता क्या अनन्त है,
ग्रीष्म और हिम से रुँधकर भी भूला जाता क्या बसन्त है!
जग में असफल है फूलों का, लघु जीवन व्यापार, न कहना,
उसके क्षण भर के सौरभ पर, विजयी प्रस्तर भार, न कहना।'

सुश्री शान्ति एम० ए० की प्रथम काव्यकृति 'निष्कृति' है। 'रेखा' पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने आपको सेक्सरिया पुरस्कार से पुरस्कृत किया है। आपकी स्फुट कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं :

'नभ के नीलेपन में भर कर,
निशि लखती तारों के अक्षर,
चुपके चुपके, पर अधरों की मृदु मधु बात न चुप रहती है।
साथी! रात न चुप रहती है।'

रुपहली चाँदनी का मादक सम्मोहन जब धरती-आकाश और दिशा-विदिशाओं में छा जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो यह झिलमिल आलोक चाँदनी को तार-तार करके छिटका देता है। चंचल वायु भी मुग्ध सी मौन ठिठक जाती है और स्वप्न की मनुहारें मचल-मचल उठती हैं :

"चमचमाते हैं रुपहले चाँदनी के तार!
ढल गया दिन, साँझ आई,
सूर्य को देने विदाई,
दिश - दिशाएँ मुस्कराई,
सो गये मुखरित बिहग के राग मृदु सुकुमार!
चमचमाते हैं रुपहले चाँदी के तार!
हो गई है शान्त हलचल,
मुग्ध सा है वायु चंचल,
बढ़ रही है नींद प्रतिपल,
दे रही विश्राम को है स्वप्न की मनुहार!

चमचमाते हैं रुपहले चाँदनी के तार !
व्योम सुमनों से भरा है,
भूमि का अंचल हरा है,
प्रात सकुचाया डरा है,
अब न छिप पाया निशा का चाँद के प्रति प्यार !
चमचमाते हैं रुपहले चाँदनी के तार !"

एक दूसरी कविता में जीवन के अगणित सपने और दुःख-सुख की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की गई है :

"कितने सपने ?
उतने ही; जितने जीवन में
सगे-सहोदर, साथी
अपने !
कितना दुःख ?
उतना ही; जितना इस मन ने
माँगा है इस जगती से
सुख !
कितनी आशा ?
जितनी मन में मौन निराशा
की उलझी, लिपटी
परिभाषा !"

प्यार इनकी दृष्टि में मन की दुर्बलता नहीं, बल्कि पूर्व जन्मों का संयोग है :

"पूर्व जन्मों का यह संयोग,
न मन की दुर्बलता है प्यार !
नेत्र-माली के हित
सौन्दर्य-कुसुम सब होते नहीं समान
किसी को वह देता है मोह,
किसी को अरुचि घृणा का दान
बिना कारण ही यह वैषम्य
बताओ होता कौन प्रकार ?
पूर्व जन्मों का यह संयोग,
न मन की दुर्बलता है प्यार !

किसी को शशि से प्रिय उद्योत,
दिवाकर से प्रिय है तम जाल
किसी के हित बनती गलहार
भयंकरतम लपटों की माल

पुण्यलग्न अमृत के सम मौन
किसी की पलकों पर नीहार !
पूर्व जन्मों का यह संयोग,
न मन की दुर्बलता है प्यार !

बुद्धि है जिसको सकी न माप,
भक्ति पायी न जिसे अवगाह
कल्पना जिसको सकी न जान,
भावना ने कब पायी थाह
रही जिसका है करती किन्तु
सजल सुस्मृतियाँ ही शृंगार !
पूर्व जन्मों का यह संयोग
न मन की दुर्बलता है प्यार !"

एक अन्य कविता मे कवयित्री अपने प्रणयी से दूरी की विडम्बना त्यागकर मिलन के वरदान की याचना करती है :

"आज दूरी दूर कर दो प्राण !
स्वप्न की पलकों सदृश शशि-रश्मियाँ रंगीन
पहन आयी रात्रि तम का वस्त्र आज नवीन
कुमुदिनी मुसका रही है, किन्तु तुम अनजान
आज दूरी दूर कर दो प्राण !

पात हो कर मुग्ध सुनते पवन का संगीत
चाहती प्राची मिलन के क्षण न जाएँ बीत
यामिनी पावन हुई, पा मिलन का वरदान !
आज दूरी दूर कर दो प्राण !

लौटकर आते नहीं हैं मधुर क्षण सुकुमार
लौटकर आता नहीं रूठा हुआ है प्यार
पूर्व इसके हो कि मुखरित प्रिय उदय का गान।
आज दूरी दूर करदो प्राण !"

शान्ति जी ने कविता में प्रयोग भी बरते हैं। प्रयोग के क़रिश्मे प्रेम के रंगीन सपनों को नहीं पालते, वरन् हथौड़ी की चोट से उन्हे यत्र-तत्र छितरा देते हैं। निम्न कविता ज़रा देखिए :

"वह सामने से निकला;
झन ! झन ! झन !
एक विद्युत लहर
न जाने आई कहाँ से
और गई किधर

छोड़ गई;
मन में सिहरन
कपोलों पर लाली
अधमुँदे नेत्र
आकुल अन्तर !

पाँव बढ़े आगे
पूछा विवेक ने—
"किधर चले" ?
"कहीं नहीं, यूँ ही टहलने"
(नत्र खोजते रहे उन्हें)
मस्तिष्क ने पूछा
"चाहते हो क्या" ?
"कुछ नहीं ! कुछ नहीं"
सामने मुंडेर पर
बोलता है कागा
क्या कोई आयेगा ?
हृदय करने लगा
वेग से धक ! धक !
ज्ञान ने पूछा——
'क्या हुआ तुम्हें ?'
"होता क्या ?
तुम क्या कभी
संशय रहित और मौन
रह सकते नहीं !
हर पल
प्रश्नों की झड़ी ?
हर क्षण
अविश्वास ?
मुझ निर्दोष को
इतना क्यों सताते हो !"
(और तभी खोज लिया
जिसके लिये व्याकुल हिया)
इस बार पूछा हृदय ने
मस्तिष्क से
"कुछ दोष तो नहीं
मिलने में उनसे" ?
विवेक रहा मौन
पुनः प्रश्न
किंतु निरुत्तर।

तब तक नेत्र नेत्रों से
मंत्रणा कुछ कर चुके
और वे विजयी हुए !
परास्त कर दिया
उस दक़ियानूसी वृद्ध को
जो उन्हें रोककर
परिणत करने
को था तत्पर
मिलन को विरह में।
और कहीं नेत्र से
धड़कते हृदय ने
"कैसा पुन्य-पाप !
जीवन है
यौवन है
मधुमय क्षण हैं
तुम हो, हम हैं।
कैसी परंपरा !
कैसा धर्म !
कैसी लोक लाज !
भूल जाओ आज
वे पुरानी व्यर्थ की बातें !"
और उसके मादक स्वर से
अर्ध मूर्छित सा विवेक
देखता रहा
सुनता रहा
समझता रहा
कि छन में हृदय
अपने उन्माद पर
रोएगा
पछतायेगा
और झुँझला कर
उसी से कहेगा
"तुमने मुझको
क्यों नहीं रोक लिया !"

श्रीमती शान्ति सिंहल के 'उर्मिमाला' और 'अलका' दो काव्य-संग्रह प्रकाशित

हो चुके हैं। छायावादी कवियों की भाँति ये भी उन्हीं रागात्मक सम्बन्धों को प्रमुखता देती हैं जहाँ कोमल भावराशि और प्रबल आवेग किसी अज्ञात के लिए सतत छटपटाते हैं, प्राणों में न बुझने वाली प्यास जगती है, आँखें उस वस्तु के लिए भटकती रहती हैं जिसे वे कभी पकड़ नहीं पातीं और भीतरी निष्ठा उसी की तन्मयता में जागरूक हो जाती है—

"जिन दृगों की नीड़ में
लेते रहे सपने बसेरा
अब वहाँ पर है विहँसती
सजगता, विश्वास बनकर,
कौन प्राणों में समाया जा रहा उल्लास बनकर ?"

एक दूसरी कविता में :

"जाग ओ अनुरक्ति के पल
जाग ओ अभिव्यक्ति के पल
जाग मेरी साधना, वरदान जागे,
रात की गहराइयों में गान जागे।"

कवयित्री का मन उस सत्य को पाने के लिए लालायित है जो जीवन की न जाने कितनी ही उलझी परिभाषाओं में खो गया है। इस छलना में क्या मन कभी आश्वस्त हो पाता है ?

"कौन यहाँ पर समझ सका है,
कैसे छलती मन को आशा।
कौन किसी को बता सका है,
जीवन की उलझी परिभाषा।
जब तक जीवन है तब तक तो,
हँसते - हँसते जीते जाना !
अपने मन का क्या बहलाना !"

इनके भीतर का सौन्दर्य और उसमें भी गहरी अंतर्मुखी वृत्ति उस चेतना को अपने केन्द्र में वहन करती है जिसने इनके भावोद्वेग को विभिन्न प्रकार से मूर्तिमान या अभिव्यक्त करने की क्षमता प्रदान की है :

"दूर क्षितिज के आँगन में छिप,
मुसकाते - से तुम रहते हो।
मधुर मिलन की आशा लेकर,
बहता जीवन - यान हमारा।
दूर कभी तो होगा कह दो

युग - युग का व्यवधान हमारा।
ज्ञान नहीं है स्नेह मार्ग का
ओर कहाँ था, छोर कहाँ है।
कहता है हर एक यही बस
ओ राही है दूर किनारा।
दूर कभी तो होगा कह दो,
युग-युग का व्यवधान हमारा।"

'जब तुम्हीं अनजान बन कर रह गए' शीर्षक कविता में नारी हृदय के सच्चे उद्‌गार प्रकट हुए हैं :

"जब न तुमसे स्नेह के दो कण मिले,
व्यथा कहने के लिए दो क्षण मिले।
जब तम्हीं ने की सतत अवहेलना,
विश्व का सम्मान लेकर क्या करूँ?
जब तुम्हीं अनजान बनकर रह गए,
विश्व की पहचान लेकर क्या करूँ?"

एक दूसरी कविता में :

"बंधनों में बँध गया है,
स्वयं ही उन्मुक्त जीवन।
मुक्ति से प्यारा मुझे है,
कल्पना का मधुर बन्धन।
वेदना उर की अमर संगीत होती जा रही है!
हार ही अब तो हृदय की,
जीत होती जा रही है!"

प्रिय से इतना तादात्म्य हो गया है कि उसकी हार पर वह अपनी जीत को वार देना चाहती है। वस्तुतः यह एकमेक चेतना स्वतःपूर्ण है, इसमें विलगाव या पृथकत्व की भावना नहीं जागने पाती। ऐसी स्थिति में एक दूसरे की सफलता-असफलता या जय-पराजय अविभाज्य इकाई बन जाती है :

"कब चकोरी चाँद से मधु प्रीति का वरदान पाती!
पर कभी क्या स्वप्न में भी लक्ष्य को अपने भुलाती
तुम अपरिचित लक्ष्य ही बनकर रहो पर,
मैं तुम्हारी राह के ध्रुव चिह्न सतत निहारती हूँ!
मैं तुम्हारी हार पर प्रिय! जीत अपनी वारती हूँ!

चाहने से हो सकी कब कामना पूरी किसी की!
नापने से कम हुई क्या राह की दूरी किसी की!

प्रीति मेरी छू न पाए तव चरण पर,
मैं उसी लघु प्रीति पर शत जन्म अपने वारती हूँ !
मैं तुम्हारी हार पर प्रिय ! जीत अपनी वारती हूँ !"

शांति जी की अभिव्यक्ति में कष्ट कल्पना नहीं है, अपनी बात बहुत सीधे-सादे ढंग से आकर्षक शैली मे कहती हैं। उनकी कविता का आधार वे छायावादी-रहस्यवादी परम्पराएँ हैं जो सघन अनुभूति के रूप में हृदय की प्रेरणा और उमंग को उद्दीप्त करती रहती है। 'रात सपनों मे ढली थी', 'मन का गीत सुनाऊँ कैसे', 'हैं नयन में अश्रु भी', 'तुम मुझे अनजान क्यों हो', 'सत्य और स्वप्न', 'ज्यों-ज्यों तुम्हें बनाया अपना', 'मौन निशा में आज अचानक', 'काश ! किसी से इस जीवन मे', 'प्यार का विश्वास तो दो', 'स्वप्निल संसार' आदि कविताओं में नारी हृदय की धडकनें सुन पड़ती हैं। छाया-प्रकाश की इन्द्रधनुषी रगीनियों में श्वासों के झीने तारों में पिरोयी भाव-लड़ियाँ जब छिन्नभिन्न होकर बिखरती है तो धरती पर ही आकर टिकती हैं। अतएव इनके प्रिय की प्रेम-साधना मे स्वाभाविकता और एकनिष्ठ आह्वान है। एक स्थल पर ये लिखती है :

"मेरी इस निरीहता की निज,
क्षमता से तुलना मत करना
मेरे अन्तर की साधों को
निज पर अवलम्बित रहने दो !
मेरा स्वर सीमित रहने दो !"

एक अन्य स्थल पर :

"जब प्राणों की सोई पीड़ा,
रह रह कर मुसकाती जाती !
जब मन - गिरि से टकराने को,
पीड़ा की बदली घिर आती
टूटी सी यह वीणा जाने
कैसे जीवन राग सुनाती !
भावों के उमड़े सागर की,
शब्दों में सीमा बँध जाती !
यह क्या जानूँ मन - सरसिज में, सागर आ लहराया कैसे ?
मौन निशा में आज अचानक, मेरा जी भर आया कैसे ?"

श्रीमती शकुन्त माथुर हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि एवं नाट्यकार श्री गिरिजा-कुमार माथुर की पत्नी है। 'तार सप्तक' के नव दृष्टि प्राप्त कवियों की पाँत में सफलतापूर्वक निभ जाने वाली प्रयोगवादी कवयित्री के रूप में ये अधिक प्रख्यात हैं। परिपक्व प्रतिभा मंगलमयी और विधात्री होती है, तिस पर निरुद्वेग गतिशील रहे

की रचना में उत्तरोत्तर मौलिकता एवं सशक्त सप्राणता आती जाती है। इनकी वैयक्तिक अनुभूति और मनोदशा का एक सुन्दर शब्दचित्र देखिए :

"कहाँ से कहाँ तक की
उठाई बात
सकुच कुछ और भी
गई ये रात,
तहों में लिपट चली बातें
छोटी हो गई रातें
खिंच चलीं सूत सी लम्बी
बन गई पूनी
हल्के बादलों की;
कली फूल डाल
बुन दिया सलौना वस्त्र
तारक छाँह सजाई
रँगरेज ने धनु रग घोल सारे
चूनर भिगाई.
और लगती अधिक मीठी
पिछले दिनों से
आज की ये चाँदनी रातें
बढ़ चली बातें।
ये दीप
इसी से युगों की चाँदनी है,
ये मन्द जलता दीप अपने आप
रवि कांति
अंधकार की गहराई
नहीं इस दीप की चिरस्वामिनी है
मधु जुन्हाई में मिला दो
ये मिला अवकाश
जो ठहर गया देकर अनोखी प्यास
गत, भविष्यत, वर्तमान का
अमिय रस उँड़ेल सारा
इस दीप में
आस्था से भर गया ये दीप
उजली रात
इस मन्द जलते दीप के आलोक में
है छिपा निबिड़ अंधकार
मन्द जलते दीप से हारा
युगों युगों का प्रकाशः
सहज ही पी लिए इसने
न जाने कितने निकलते प्रात
कितनी समाई रात
कितने अंधड़ों का इसने
भिगोया गात
न समझो व्यर्थ की ये बात
व्यर्थ ही निकल गई ये
सुनहली रात,
आज की ये बात ही अब
वर्तिका-सी दीप में
जिन्दगी भर
जिन्दगी से वियोगित होकर भी जलेगी
जब ज्यों समय चलेगा।
पाँव धर ये भी साथ में
सुरभि सी बहेगी ये हमारी बात
सही तुम मान लो
इस स्वयं-आलोक-कण दीप को पहचान लो
अश्व रवि के से रथ सुगति पर,
विद्युत मण्डल लिए ये दीप हैं
किन्तु न प्रखर प्रकाश
मन्द केतन उड़ता हुआ
धरा से आकाश तक की
लहरियों से घुला मिला
बिछा रहा आलोक कण किस दीप के
सोया हुआ आलोक
विकम्पित हो
किसके यश सरोवर में कमल लगा रहा
इसे पहिचान लो
कही हमारी बात
सही तुम मान लो

सभी रंग विकसित शब्द से
यदि न कर सके ये बात
इस सलौने चित्र का मधु चांद सा प्रतिबिंब
हृदय में
आँक न दे यदि ये बात
तो क्या
इस रसीली भावना का भी
इस कठोर संगमरमर शिला पर
कहीं नहीं स्थान ?
ये दीप
पुष्प है
यही केन्द्र पराग
जिससे मिल रहे अजीवित भावनाओं को
समुज्ज्वल प्राण
जिससे उठ रही
धीमे
सुरभि सिक्त बयार
ये अचला मन्द जलती लौ
और ये निकलती रात
मुझमें भर रही आज
अटल विश्वास
कहाँ से कहाँ तक की उठाई बात
लो हारी ये
सकुच कुछ और भी गई ये रात !"

अपनी कविता-पुस्तक 'चाँदनी चूनर' की भूमिका मे ये लिखती है--"आज के कवि ने भारी शब्दों, काल्पनिक उड़ानों और अभेद्य शैली के कृत्रिम बोझ का लबादा उतार फेंका है। कल्पनाओं का स्थान दैनिक सत्यों ने ले लिया है।" सचमुच, ये दैनिक सत्य ही इनकी कल्पना को साकार करते हैं, इनकी संवेदना और जिज्ञासा को उभारते हैं। प्रयोगवाद भले ही कुछ अतिरंजित परम्पराओं का हामी है, पर उसके शौक़ ने कुछ ऐसे अछूते पहलुओं पर भी दृक्पात किया है जो अब तक कल्पनातीत और अनदेखे पड़े थे। एक कविता में ये प्रश्न करती हैं :

"क्यों चुप हुई अचानक आज, बोलो
इस युग पर जो कसी ग्रन्थि उसे भी खोलो
बूटी शीघ्र नहीं लगातीं घिसकर
अनुभूति की भभूति--
ये युग
पथ खोए बच्चे सा इसी तिराहे पर
बैठ गया है
इस युग आलोड़न में
चूने की मूठी बैठ गई क्यों मौन
आँखें क्यों बनीं बड़ी-बड़ी बावड़ी झीले
डबडबा आईं
अधिक प्यार से या
मनस्ताप से।"

पनघट की चहल पहल, रंगीनी और मादक वातावरण का अनेक कवियों ने वर्णन किया है, पर अब नलों के इर्दगिर्द जो जमघट होता है और भीड़ की रेल-

पेल में जो गरीबी के नक्श उभरते हैं उसका एक चित्र जरा देखिए :

"अब खड़े हुए आ पाँत में
पतझर के पत्ते से
टूटे कनस्तर या पिचके डालडा के टीन
उठाने वाले जिन्हें
मरियल घोड़े से
कसे जीन
सजल मटकियाँ
चमकती कलसियाँ
काई का ओढ़ ओढ़े
कुछ नंगे बच्चे नाले से निकल
चूहे से उस तरफ दौड़े
सुबह की टैम थी
भीड़ बेहाल थी
ज्यों किसी युवा की मौत पर
इकट्ठे हों
निराशा और प्राथमिक जरूरत का अभाव
मुँह बेरुअत
रुआँसे से
कपड़े मैले फटे, कोढ़ के चकत्ते से
नागिन सी फुफकारती थी
नल कल
सूँ ऊँ····पुनि बार
न पानी की धार उतरती थी
न भीड़ ही सिमटती थी
कोई कहता था नलकल में
छिपकली चिपटी थी।
देख यूँ हुज्जत झगड़े
पटे कुएँ की घास
तिलमिलाती थी
श्रम से बुझती प्यास
मानव जीवन
नहीं बास।"

एक दूसरा चित्र :

"बिछौना बिछा नीचे दूब

हरा लाल पल्ला सलौनी का खूब
नीम के फूलों से भरभर जावे
कड़ुई निबौली बड़ी झर झर जावे
सासू जी के दबा दूँ मैं पाँव
खूँटी पर बैठ कऊआ करे काँव
छोटी ननद ने कहे जो हमें बोल
बेसरम घूँघट रही काहे खोल
सामने जेठ जी ठाढ़े
कड़ुई पाती से लागे
गोरी जिठनियाँ बैठी नयन चलावे
जी जल जल जावे।''

'बरस बीत गया' शीर्षक कविता में घर-गृहस्थी के बोझ से श्रांत गृहणी की उलहना भरी खीझ का एक उदाहरण :

''गर्मी भर
पापड़ बेले
मँगौड़ी बड़ी बना
वर्ष भर को छुट्टी पाली
नींबू का शरबत
दही की लस्सी
आइसक्रीम मशीन की
कुलफी
मन भर भर कर खिलाई
जाड़ों में साथ साथ
अँगीठी से हाथ तापे
ओले गिरे
काँटे सी हवा चली
कड़कती सर्दी में
गरम आलू के परांठें, मूँग के बड़े
कचौरी पिट्ठी की खिलाई
अब मैं भर पाई
मैके की याद आई
पहुँचा दो
भाई मेरा दो बार लौट गया
पूरा बरस बीत गया।''

कहीं-कहीं इन्होंने सूत्र रूप में भी प्रयोग किये हैं। 'एक अनुभूति' में जी की

लन को घाव की व्यथा से भी बढ़कर बताया है :

"जी की जलन
घाव की कुलन
दोनों समान हैं
खिंची कमान है
जो छेड़ेगा वो बिंधेगा
ये ऐसा दुःख
बिन छेड़े भी दुखेगा।"

किशोर अवस्था मे जब बाल्यकाल से यौवन का प्रथम चरण होता है और तनी ही तरंगें व आवेग मन को झकझोरते रहते हैं तब कितनी ही बातें मन में ठती हैं, पर उनका समाधान नही हो पाता :

"क्या जानूँ यह निरी अकेली मस्ती है
क्या जानूँ टेढ़ी, बलखाती, सीधी, फैली, बिखरी है
कह दूँ पूरा चाँद
चौदहवाँ साल
आँखें झुकतीं
नयी कटीली
किन्तु अधूरी
आभा खिलती
चमक सुनहरी
उठता है तूफ़ान
खुलते अंगों में भरती है
नित नूतन मुस्कान
विद्युत-सी छितराती. बात-बात में
बात न आती
एक अचानक बिखरी लहरी, जान न पाती
ऐसा ये सुन्दर गुलाब उठते खुमार का
चिन्ह कहाँ भर पाया
अभी सुखद प्यार का
खतम चौदहवाँ साल
ज्यों चौदस की रात
केवल हँसता चाँद
नहीं कह सकते पूरनमासी।"

एक दूसरी कविता में एकाकी कमरे में क्वारी लड़की की मनःस्थिति का ीव चित्र उभारा गया है :

"एकाकी कमरा
पास में क्यारी
डाली पर एक गुलाब
उस पर मधुमाखी
कमरे का कोना
मकड़ी का जाला
मक्खी का फँसना
हरे ढाक के पत्तों का दोना
उसमें भरे फूल
कुछ शूल
अंजलि गोरी
नजरें भोली
तराजू के पलड़ों सी इधर उधर डोलीं
तोलीं
पत्तों का दोना
अंजलि गोरी
सपने का सोना
उस ताक में
हैजलीन स्नो की शीशी
तेल की खुशबू तीखी
छोटी डिबिया
वैसलीन भरी
नीली बोतल में
कटी सुपारी गरा
दिवाल की घड़ी
किन्हीं उँगलियों ने छुई
घुमा दी सुई
क्या बजा !
मन को कुछ अच्छा सा लग रहा
जाल और फंसना
गुलाब-मधुमाखी।
बड़ी मेज पर
सुन्दर सा लैम्प
रोशनी तिरछी तेज
शैल्फ़ में रखीं किताबें

एक का हैंडिंग
गरम काफी की भाप
मन मचला
हूँ !
अच्छा ?
एकाकी कमरा—"

श्रीमती शकुन्तला शर्मा ने सुकुमार भाव-विन्यास को नई रूपरेखा दी है। सभी कवयित्रियों की भाँति अनन्त का साथी इनके साथ भी है और मूर्च्छना का आलाप भी कहीं कहीं कुछ-कुछ वैसा-सा ही सुन पड़ता है। फिर भी उसके प्रस्तुत करने का निजी ढंग और उसमें नव्यता है। 'रात भर जलती रही' शीर्षक कविता में :

"अब न कुछ भी बोल साथी !
देख ली वह जिन्दगी जो मृत्य को हँस कर रिझाती।
रात भर जलती रही, निज नेह में गलती रही।
उज्ज्वल शिखा उल्लास से,
अवसाद को छलती रही
पर, तिमिर के गहन पट पर अमिट लेखा खिंच न पाती।
अमर हैं सुख-दुख झकोरे,
धूप-छाँहीं प्रणय डोरे।
आज की सूनी डगर पर,
कल चलेंगे दौर दौरे।
पर, झनक कर चूर नीलम के चषक की सुधि न जाती ॥
मरु जला सा हृदय लेकर,
गिन रहा नक्षत्र नभ के।
'आह ! कब तक में समेटे
ही रहूँगा' गीत, लब पे
कारवाँ भी रौंद जाता आह से बरबाद छाती।
गीत मेरी थपकियों से,
सो रहे ज्यों जल कमल पर।
वात चलती काँप उठते,
सिहरते गिरते अतल पर !
लीन हो जाते वहीं में रिक्त अंचल भर न पाती।
खोजने आई अभय वरदान
का भी हो गया क्षय।
बटखरों से झूठ के
होता रहा है सत्य का Post

आज यदि विश्वास लुटता कल लुटेगी प्यार थाती।
पल रहा है श्वास का धन
ज्यों पवन प्रेरित सजल घन
एक ठोकर पर बरस, बस
भाग जाये ज्यों तुरग-मन।
बुझ गयी है चेतना पर जल रही है प्राण बाती
अब न कुछ भी बोल साथी !"

'प्रेरणा' में इन्होंने एक दूसरे ही ढंग से नूतन अभिव्यंजना की है :

"कौन वह पुकार गई ?
अंधियारे आँगन में बिखरा सा बार गई
सूखे दो तिनकों में गुमसुम सा बौर है—
पाँखों में ढाँपे मख जीवन से रूठा है—
नीड़ विटप ठूंठा है
ऐसे मन सुगना को चुगना सा डार गई
बिखरा·········।
पेड़ों की फुनगी पर सिहरन अंधियारे की।
टहनी पर सजबुज है पंछी बनजोर की।
पन्थी मन हारे की।
सबकी मनचीती भिनसार को गुहार गई।।
कौन·············।
आँखों की शाखों पर आँसू का झूला है।
होठों के दोले पर प्राण बहुत झूला है।
पेंगों में भूला है।
साँसों की छिटकी लट प्यार से सँवार गई।
बिखरा ·········।
बेला के गजरे ले सागर भी दौड़ा था।
तट की चट्टानों ने फूल फूल तोड़ा था।
गति ने मुख मोड़ा था।
रेत की गलबाही दे चुप चुप दुलार गई।।
सपनों के मड़वे पर भावों के चौरे पर।
आशा के बिरवे पर प्यार के टिकोरे पर।
बौर के निहोरे पर।
सरस रूप गन्ध के फुहारे फुहार गई।
कौन············।
रह रह कर गिरतें हैं जाले उदासी के।

दुख से धुँधुआए से भाप की उसासी से।
मैले से बासी से—
अन्तस के मटियाले बासन खंगार गई।
कौन......... ।
ऐसी फुलचुग्गी को पाना भर जीवन है।
बैठे जिस डाली पर उसमें ही कम्पन है।
गीतों का नन्दन है।
मुट्ठी में बाँधो तो पारे सी पार गई।।
कौन......... ।।"

'याद आई रे' कविता में भी इसी प्रकार की शैली और नूतन ढंग अपनाया गया है। उन्मुक्त चिन्तन के साथ-साथ जीवन के किसी अछूते पक्ष की अनुभूतिजन्य रसात्मक व्याख्या मिलती है :

"चैत की बयार बहे नाचे अमराई रे
मन मृदंग पर सुधि ने थाप सी लगाई रे
प्रान के मंजीर बँधे साँसों की डोर में
मान मनुहारों की ग्रन्थियाँ हैं छोर में
धड़कनों की राधिका मुरली सुन आई रे।।
कल्पना की अल्पना चाहों के आँगन में
चित के चौबारे पर नयन दीप साधन में
आस की अंगुरियों ने बाती उकसाई रे ।।
पलकों से छान कोई सोम सुधा पी आए
अलसा के गीतों की बगिया में सो जाए
जैसे दबी बाँहों पर रेख उभर आई रे।।
रंग भरी सहालग में भावना की लगन चढ़ी
पन्ने की थाली में धरती ले पियरी खड़ी
न्हाई धोई दुलहिन सी याद निखर आई रे।।
मन मृदंग पर सुधि ने थाप सी लगाई रे।।"

जाड़े की धूप सर्दी में ठिठुरते प्राणियों के लिए कितनी सुखकर और आश्रय दायिनी होती है, पर इसके साथ ही कितनी अस्थायिता लिये। ढलते दिन के साथ वह सिमटी, लुकी-छिपी सी मनुष्यों की पकड़ से बाहर भागती नज़र आती है। निम्न कविता में जाड़े की धूप कवयित्री को 'सोन चिरैया' सी प्रतीत होती है जो कुछ देर अपनी कौंध दिखाकर मानों नीलाम्बर में अंतर्ध्यान हो जायगी। 'धूप परी' की कल्पना की तरंग में बहकर इन्होंने जाड़े की धूप का सुन्दर-से-सुन्दर चित्र खड़ा करने में कमाल हासिल किया है :

"ओ जाग सुहागिन मान भरी !
सोन चिरैया नभ पिंजरे की, धरती की ओ धूप परी !
शय्या पर बैठी अलसाई,
चुटकी बजा तनिक जमुहाई,
जागीं परिचारिका झटाझट,
सिमटा कुहरे का अन्तर्पट,
दाड़िम भर कर लाई जल घट,
वैजन्ती लाई पीला पट,
सूर्यमुखी के स्वर्ण कटोरे में कस्तूरी भरी भरी !
झुक झुक कर देखे मतवारी—
भू चूमें अलकें सोनवारी,
झटका दे जब पीछे डारे
नभ में विगसे केसर क्यारी
छाँह समेटती नीला लहंगा, दुबकी दुबकी झाँवरी !
खूँट खिसक आँचल का आया,
पकड़ उसे सागर मुसकाया,
औचक खींचा गिरी गोद में--
झट ले जा तट पर बैठाया।
कमल कली दौड़ी ले पाँवरि गड़े न कहीं कुस काँस री !
मीठी मीठी लौनी लौनी,
हलकी नरम गुलाबी रंग की,
रुई फुई की ज्यों मृग छौनी ।
अभी चपल छू गई यहाँ तृण,
कहाँ कुलाँची जा दूजे क्षण,
फिर बगिया के पास खड़ी कुछ निरख रही है डरी-डरी !
हंसनि पाँख सुखाती फैला,
लाल चोंच से बिथरा बिथरा,
रोम रोम थरथरा फुरफुरा,
छीटों से भर देती वसुधा--
कभी चमचमा कर छिप जाती ज्यों जल के बाहर शफरी।
माघ मास और आँधी पानी,
अरी बन्द कर यह नादानी !
जाड़े पाले में ठिठुरेंगे,
खेत पात के बख्यर बानी ।

गुदबुद गेंदा के गालों को छू कर तू भी तो सिहरी !
ओ जाग सुहागिन मान भरी ।"

इनकी प्रतिभा कोरी कल्पनाविलासी नहीं है, अपितु यथार्थ से भी उसका सहज लगाव है। जहाँ एक ओर अमीरों के इठलाते बंगले तो वहाँ दूसरी ओर दुखती ज़िन्दगी के बंजर में सिसकने वाले कंगलों की तस्वीर भी कवयित्री के मानस में उभर आई है। दोनों की ज़िन्दगियों में कितना अन्तर है और कितना वैषम्य। सच पूछा जाय तो अभिजात्य के अहंभाव ने सर्वग्राह्य चेतना से पृथक् अपने आप को अपनी ही सीमाओं में इस प्रकार बन्दी बना लिया है कि वह दूसरे पहलू से बहुत दूर जा पड़ा है। इतना ही नहीं दोनों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि गरीब की आत्मा अमीर से बेहतर है। अपनी दुःखों की परिधि में रहते-रहते अपेक्षाकृत उसमें उदारता, परहित भावना और सहनशीलता अधिक विकसित होती है।

"धुली मक्खन जीन से सफेद—
घने ऊँचे पेड़ों की बाँहों में पले,
नये नक्शों में ढले,
इन्हें मामूली इमारत न समझो—
ये हैं भुवन मोहन बंगले।
यह है सुख की धरोहर सा लाड़ला बेबी
ये है शो केस में रक्खी मृण्मयी मेम सी
बेबी की मम्मी
और ये पापा—
जैसे सुख की नयी परिभाषा।
सामने साँवली गंगा का चौड़ा पाट
किनारे को कुतरती हठीली लहरें
जिन्हें देख बरबस याद आती है
बेबी की बात।
पतित पावनी के कगारों पर,
भुवन मोहन की काली छाया में,
कुहरे और धुएँ से ढके,
नाबदानों से घिरे—
दुखती जिन्दगी के बंजर में—
सपनों के बाज बोते,
सहमते, सिकुड़ते—
ये आउट-हाउस,
सुख सीमा से आउट।
इनमें सिसकते हैं कंगले,

उधर हँसते हैं बंगले।
परसों की बात—
बूढ़े की देह पकी,
नीम के पानी से घाव धोती।
जवान रतिया,
सिर धुनती, रोती
पिटती फिर हंसती
भूखे बच्चे को छाती से लगाए
कान पर हाथ रख कर कहती—
"बुढ़ऊ के न छोड़ब बीबी जी,
अई मो अल्ला पाक पासौं की बात।"
लाल चीटीं, ढेरों जाला छिपकली,
सामने बदबू धरती एकदम गीली।
कत्थे चूने की कुलिया सी मिली—
दीवार एक, घर दो,
इसमें रहती सूरसत्ती।
'बीबी जी एक कोठरिया'
'उसमें सामान है—
दो क्रेटिंग के बक्से चार पीपे छः बल्ली
खाली कहां री ?'
'बीबी जी मोर मरद आवा है।'
दुसरी लिए रहा—
बहुत दिन पर आवा है।
फिर चला जाई बीबी जी'
'ए बीबी जी—
कोठरिया बीबी जी'
'हट पगली।'
और कल—
नवनीत के पुतले को
पटक दिया घुने आबनूस ने।
कारण ट्राइसिकल थी
मालकिन क्रोध विह्वल थी।
माँ चिल्लाई, पीटा
फिर मोटी हरी मक्खी सी भनभनाई
"मरौ नाहिं जात्या तैं अनि ...।

पेटवा में कस रहा ।।"
झाड़ियों से बेतरतीव,
केंचुए से बेहाये—
काट दो तो और बढ़ें,
कोसने से नहीं मिटते ये--
उपेक्षा से लेकर जिन्दगी
पलते हैं
बढ़ते हैं
विलायती फूल नहीं--
ये झुरमुट हैं सदा बहार के ।

शकुन्तला जी ने कुछ कविताओं में सामान्य से सामान्य वस्तुओं पर भी दृष्टि-पात किया है । मूलतः कवि की चेतना उस चेतना के साथ सरलता से तदाकार हो सकती है जिस पर वह मनन करते-करते अकस्मात् ही इतना संवेदनशील हो उठता है कि वह उसके दिमाग़ में गहरी धँस जाती है । उसके हर मुद्दे पर वह जितना ही मनन पूर्वक सोचता है वह उतनी ही सजीव रूप में उभरती है । निम्न प्रयोगवादी कविता में उतारा गया स्टेशन का एक चित्र :

"स्टेशन से दूर,
बिलकुल पटरी के किनारे—
जहाँ इंजन के पानी का ऊँचा सा बम्बा है ।
लम्बी सी पतली एक बालटी सी लटकी है,
बूँद-बूँद पानी अपने आप जिससे रिसता है ।
वहीं नीचे स्थित है, एक कृष्ण शिला खण्ड—
ठीक शिव लिंग सा ।
मन्दिर नहीं है किन्तु देवता तो पूरा है ।
टेढ़े मेढ़े पत्थरों की अनगढ़ जलहरी है,
लोहे का जंग खाया तथा अभिषेक घट
टप् टप् टपकता है जिससे लोहाया जल ।
धूल का त्रिपुण्ड कीच अवलेपन चन्दन है ।
झूठे चाट पत्तों की हरी बिल्व-पत्र है ।
बली हुई सिगरेट के, बीड़ी के टुकड़ों के—
'चम्पा' 'परजाता' के फूल भी एकत्र हैं ।
यात्री भी आते हैं,
जाते हैं ।
डिब्बों से गर्दन निकाल कुछ झाँकते हैं
अगर धूम्र इंजन का ।

घर्राहट पहियों की डमरू की डमडम है।
बारह मासी वेद पाठी।
पटरी पर खटपट ही—
स्तोत्र पाठ मंगलमय, हर हर बम बम है।
पीक पड़ी पान की ज्यों पिचकारी चल उठी
रंग भरी एकादशी है भोला शिवशंकर की।
गाड़ी की बत्तियाँ ही आरती की माला है
सिगनल की रोशनी ज्यों दीवट पर रात्रि दीप—
पवन किसी दुखिया सा देहरी भी गया लीप।
मुस्करा रहा है विश्वनाथ पूरे औघड़ सा
थूक, पीक, पाप अपराध ओढ़ जन भव का।
झूठ उच्छिष्ठ सिर धार इस रौरव का।
अडिग वहाँ बैठा है जोगी चिद् आनन्द सा।
मैंने भी देखा.......
अनायास नतमस्तक थी।
सब कुछ ज्यों भूल गई,
शंकर की महिमा, इस औघड़ की गरिमा—
में काशी और कांची की
लघिमा भी भूल गई।
हाथ मेरे जुड़े रहे—
नेत्र भी मुँदे रहे।
शिव तो बहुत देखे, शिव-तत्त्व यही देखा है।"

कोना बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बड़े-बड़े भवनों, राजमहलों, इमारतों, उच्च अट्टालिकाओं, सुन्दरियों, कोमल कामिनियों, राजरानियों-महारानियों के कक्षों, अंतःपुरों से लेकर गरीब लोगों और मज़दूरों की झोंपड़ियों तक का अविभाज्य अंग है, पर आज तक उस पर किसी की दृष्टि ही नहीं गई। कोना कितनी स्मृति-विस्मृतियों, आशा-निराशाओं, आँसू और मुस्कानों, नई नवेलियों की लज्जा-संकोच, कीड़े-मकोड़ों और न जाने कितनी कुत्साओं और घृण्य वस्तुओं को समेटे अपनी लघुता में भी बिराट् है। इसकी झाँकी निम्न कविता में मिलती है—

"सींक सी छाती में
कलेजा है गज भर का।
बड़े-बड़े महलों का दाता है
और भिखारी है दर दर का।
तभी तो दोनों बाहों में समेट रक्खे हैं—
लाखों आँसू करोड़ों मुसकानें।

कितने अपने कितने बेगाने ।
कितनी चाहों की राख से
कितनी ही बार--
प्यार की करनी से थापी गई है बलुई आस ।
मकड़ी ने जालों के तारों से,
बुन दी उसके सिर पर
एक महीन रेशमी पगिया ।
वहीं नीचे छिपकली चट् चट् निगल लेती--
नन्हें नन्हें कीड़ों की दुनिया ।
और जरा नीचे, छाती में गुबी हुई कील पर
टँगती है एक अंगिया--
कभी गुलाबी, कभी धानी--
कभी श्रम सीकर लेकर,
तो कभी आँसुओं से तर होकर ।
वहीं कहीं नन्हीं नन्हीं तेल घी
मक्खन की सुगन्ध वाली—
हथेलियों के निशान हैं ।
'कू ऊ-ऊ की···ई···ई···ई' की प्रतिध्वनि के,
लुका छिपी के,
दाई पटके के,
अंगुली की सन्धों से टेढ़ी आँख करके
झाँकने के,
बोलते हुए दाग हैं ।
यहीं दुखिया रीती गागर टेक गई थी,
चूड़ियों में रोने की सी आवाज थी ।
यहीं चुभी थी तानपुरे की खूंटी
रखने वाली की अंगुलियों में गीतों
की झंकार थी ।
एक दिन इसी जोड़ में विधवा
सिंगार धोकर बैठ गई थी
एक दिन इसी छाती में सुहागिन
मान भरा प्यार लेकर सिमट गई थी ।
यहीं बर्रें ने छत्ता लगाया तो
जलती जलती लकड़ी से घोंप दिया ।
और भिलनी ने बिना दर का घर बनाया

तो--
दादी ने झट आड़ करके तोप दिया।
बोलीं--
टोक न लग जाय।
शुभ लक्षण जो है
मंगल का, पुत्र का,
सुख का, सौभाग्य का।
कैसा है यह मोड़
जिस पर महलों के दोराहे बनाता-बनाता
मनुष्य अपने साथी को
चौराहे पर भटकाना सीख गया।
पर यह ज्यों का त्यों है,
सदियों से।
तब भी लोग कहते हैं
क्या कोने में मनहूस से बैठे हो?
लेकिन सच तो यह है कि--
जिस ईंट गारे और मिट्टी की दीवार में
यह दर्द भरी दरार नहीं
जिन्दगी की चोटों से
बचने को यह ढाल नहीं
यह कोना नहीं—
वह जगह कुआँ है।
गोल !
चक्करदार !!
ईंट-ईंट पर घुमावदार !!!
जिसके घेरे में प्यास नाचती है
मौत जिन्दगी को जाँचती है।
जहाँ तलहटी तक काला पानी है—
और नीचे कभी न मिटने वाली सियाही है
ऐसे ही कुएँ सा है वह काला मन
जिसमें सब कुछ समा लेने को,
सबको दुलारने को,
पुचकारने को,
जड़ और चेतन के--
प्यार को, वार को,

झेलने का—
एक कोना नहीं।
दम्भी मनुज तब भी—
नापता है अपनी छाती बित्तों में
जहाँ सींक सा पतला
एक कोना भी नहीं।"

कुमारी रमासिंह नवोदित कवयित्री हैं, पर इधर थोड़े अर्से में ही अपनी सहज संवेदनशीलता और भावप्रवण व्यंजना द्वारा रास्ता बना चुकी हैं। मौजूदा कविता में प्रयोगवादी खब्त के साथ-साथ कृत्रिमता, छिछली भावुकता और वृथा प्रदर्शन एवं आडम्बर की जो प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है, फलतः नये कवि-कवयित्रियों में हृदय पक्ष गौण और बौद्धिक खींचतान अधिक दीख पड़ती है। किन्तु प्रसन्नता की बात है कि इनकी नव्य कृति 'समुद्रफेन' की कविताएँ आंतरिक संवेगों को उभाड़ती हैं, मन को छूती है और कहीं-कहीं तो बड़े ही सहज ढंग से बड़ी ऊँची बात कह दी गई है।

'समुद्र फेन' पर लिखी पंक्तियाँ ही बहुत सुन्दर हैं—

"बात सच है सिन्धु को अब तक न कोई थाह पाया,
है न गोताखोर जिसने ढूँढ़ रत्नों को चुकाया!
है बहुत गहरा, बड़ा सम्पन्न, विस्तृत भी बहुत है—
यह समुद्री फेन लेकिन व्यंग बनकर उभर आया।
थी कमी वह कौन, जिसने मथ दिया लहरें उठाईं
एक छोटा प्रश्न यह गहराइयों को नाप लाया।"

'परिभाषा' शीर्षक कविता में ज़िन्दगी का अकेलापन ही उसकी असली सच्चाई है। कौन किसका साथ देता है? जीवन के मोड़ों पर यदि कोई सहारा देता भी है तो सरपट दौड़ में, तीव्र कशाघातों और तेज़ रफ्तार में यह साथ छूट जाता है :

"सही है, राह में चलते बटोही साथ के—
ढाढ़स बँधाते हैं
मगर कुछ मोड़ ऐसे हैं
कि सहसा हाथ से वे हाथ बरबस छूट जाते हैं।
अकेलापन, अकेलापन, अकेलापन
यही है ठीक शायद
जिन्दगी की एक परिभाषा।
यहाँ का मोह-ममता से भरा आँगन
मगन यह साँस की पुतली,
मगर कब साथ दे पाते, सगे-स्नेही

बुलाती जब किसी अज्ञात की ऊँगली !
अकेलापन, अकेलापन, अकेलापन
यही है ठीक शायद
जिन्दगी की एक परिभाषा"

एक दूसरी कविता में—

"ज्योति की महिमा असीमित
तिमिर की जड़ता अपरिमित
किन्तु धुँधली दृष्टि को जो भी किरन देती सहारा
मैं उसी के सामने नत हूँ।
जीत में आरोह कितना
हार में अवरोह उतना
चूर होती आस्था को जिस हृदय ने भी पुकारा
मैं उसी के सामने नत हूँ।"

तारे, बादल, इन्द्रधनुष, सांध्यगीत आदि विषय पर न जाने कितनी कविताएँ लिखी गई हैं, पर इस पुस्तक की कविताएँ मुझे विशेष प्रिय लगी हैं और हर पंक्ति व हर शब्द में मुझे ताज़गी और नयेपन का एहसास हुआ है। 'सुरमई बेला' की कुछ पंक्तियाँ—

"छिपा कोई चितेरा है
न जिसकी तूलिका दिखती
न रंगों के सकोरे ही
सलेटी रंग का यह 'वाश' भर फैला हुआ है।
कौन सी वह भावमुद्रा आँक देगा
कौन सा सौन्दर्य या वह टाँक देगा
है नहीं कुछ ज्ञात
कैसी कल्पना इस पर उतारेगा
कैसी भावना या वह सँवारेगा
वह अभी तो
यह सलेटी रंग गहरा, और गहरा—
और गहरा कर रहा है।
कुछ ठहर कर
इस कला के सिद्ध साधक ने
सुनहरे रंग में कूँची डुबोकर
कालिमा के बीच में धब्बा लगाया,
और यह धब्बा सुनहला

रात का पहला नखत बन सामने आया
भटकती सी दृष्टि को
उजला सहारा मिल गया,
कालिमा के बीच--
यह लो ! केन्द्र पैना खिल गया।"

रमासिंह ने जीवन की मूल प्रवृत्तियों पर ही अधिकतर दृष्टिपात किया है। जीवन के भीतर और बाहर सौन्दर्य-असौन्दर्य समान रूप से बिखरा पड़ा है, पर उस की प्राण-प्रतिष्ठा मनुष्य के हाथ में है। जीवन का हर दिन, हर क्षण बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है। इन क्षणिक आयामों में हम कितना खोते और कितना पाते हैं--इसका लेखा-जोखा कैसे किया जाय—बस, यही सोच-सोचकर मन घबराने लगता है--

"एक दिन यह और बीता सोच मन घबरा रहा है
जिन्दगी का नाम चलना
चल रही दुनिया बराबर
श्वास की बूँदें लुटाकर
चरण गति की डोर में बँध
पंथ की लीकें बनाते
छोर मंजिल के कुहासे—
में लिपटते दूर जाते,
किस नदी का जल यहाँ रुककर भला ठहरा रहा है ?
एक दिन यह और बीता सोच मन घबरा रहा है !
मेघ काले घिर रहे हैं
छा रही कैसी खुमारी,
आँख में भरती उदासी
यह क्षितिज की स्याह धारी,
रेत की तह पर लकीरें
जो खिची उभरी रहीं वे
पर्त स्मृति के खुले हैं
अश्रु की बूँदें नहीं ये,
मन चपल नादान शिशु सा गिन्तियाँ दुहरा रहा है।
एक दिन यह और बीता सोच मन घबरा रहा है।"

'हे संकल्प के क्षण' में अनुभूति की अन्विति इस रूप में है कि ऐसे क्षण जीवन में बहुत कम आते हैं और उस समय यदि विश्वास या मन की धारणा सुरक्षित है तो मनःप्राण में उद्दीप्त भावनाएँ नये रूप-रंग में ढलती हैं अर्थात् यह नियन्ता संकल्प शक्ति ही आंतरिक निष्ठा को जागरूक करती है—

"हे, संकल्प के क्षण !
तुम्हें समर्पित है
विश्वासों की थाती
इसे सहेज लो !
हे, संकल्प के क्षण !
तुम्हें समर्पित है
शक्ति की मंजूषा
इसे मान दो।
हे, संकल्प के क्षण !
तुम्हें समर्पित है
सीमा की लघुता
इसे स्वीकारो !
हे, संकल्प के क्षण !
तुम्हीं सत्ता हो
तुम्हीं नियन्ता हो।
तुम्हीं को समर्पित है
मिट्टी की कच्ची राशि,
इसे तुम रूप दो,
रङ्ग दो,
प्राण दो।"

'शहरी सुबह' में जैसा कि प्रायः होता है मिल का भोंपू सुनकर बहुत से लोग अपने कामों की शुरूआत करते हैं। प्रगतिशील कहलाने वाले कवियों के लिए मिल का भोंपू बड़ा माने रखता है। इस स्पर्द्धा में रमासिंह भी किसी से पीछे नहीं है, ज़रा देखिए--

"ऊँची ऊँची पक्की छतों के रास्ते से
सूरज आया।
किसी संगीत का समा बँधा।
मिल के भोंपू ने
स्वागत का गीत गुनगुनाया,
दूकानों के खुलते हुए शटर--
और लोहे के दरवाजों न
लहरा बजाया,
बाहर के शो-केस और
काँच की अल्मारियों ने
अपना अपना मेक-अप सँवारा,

घूमती हुई सड़कों ने थाप दी,
चाँदी और सोने के नूपुरों में—
ध्वनि आई
पूरा का पूरा बाजार गर्म हुआ—
दिन के राजा का स्वागत था।"

इसके विपरीत पद्मा 'सुधि' की कविताएँ अधिक आत्मपरक हैं। कवयित्री के मत में—"जीवन में संयम ही सबसे बड़ा सुन्दरम् है और उसी सुन्दरम् में 'सत्यं-शिवम्' पूर्ण प्रतिष्ठित है।" इनकी कविता-पुस्तक 'भावलेखा' की अनेक कविताएँ पढ़कर मुझे लगा कि न्यूनाधिक रूप में महादेवी जी के चरण-चिह्नों पर चलने का ही प्रयत्न किया गया है :

"प्रिय ! आरती मन की सजाऊँ
बाती सम हर श्वास जलाऊँ
पुलकों की कलियों को चुनती
प्रियतम के सूने स्वर सुनती
आँसू के तुलसी दल भेंटूँ
अपने रूठे देव मनाऊँ।"

एक अन्य कविता में—

"सतत दीपिका-सी हूँ जलती,
दूर शून्य में जो घर खाली।"

पद्माजी छायावाद की कुहेलिका से भ्रान्त तो नहीं है, पर एक आरोपित अन्तर्मुखता द्वारा उस समय की मान्यताओं से प्रभावित अवश्य हैं। कितनी ही कविताओं में वही मोहक स्निग्धता और उपरामता के साथ-साथ मीठी कसक द्रष्टव्य है—

"जग जाए जिससे सारा जग,
छूट जाए नीरव भीषणता,
कोलाहल में मिलजुल में भी
खो दूँ अपनी प्रेम दीनता
हे शिशु मन वैरागी हो जा।
सहता जा अवसाद जगत के
राजदुलारे, शान्त सरल बन,
मेरे प्रति इंगित के सम्मुख
करता जा तू मौन समर्पण।"

अश्रु कवियों का प्रिय विषय रहा है, खासकर नारियों की विरह-वेदना तो आँसुओं की लड़ियों में ही गूँथी गई हैं, पर 'सुधि' जी ने एक नये ढंग से ही उसे

"आँसू बिना सूत की माला।
बिन सागर बिन सीपी उपजे,
मुक्ता बिना आब हो चमके
बिना कूल बहती धारा-सी,
यह गिरि अवरोहित जलमाला।
बिना डोर के, बिना ग्रन्थि के,
इस मन को उस मन से बाँधे,
बन्दनवार नयन-मंडप की—
मेरी यह माला वरमाला !"

अंतस्तल की मौलिक संवेदनाओं को उभाड़कर इन्होंने अपनी कतिपय कविताओं में वे ही छायावादियों के से उपमान और बिम्ब खोजे हैं जो मनोरम, मृदु कल्पना को उद्बुद्ध करते हैं। दुःख-सरिता में बहती प्राण की नौका का एक चित्र:

"चली प्राण की नौका बहती--
दुख-सरि में, दुख से अनजानी।
अमर श्वास पतवार बने हैं,
झंझा उसको खेने आती।
पथिक बनी है विश्व वेदना,
ऊर्मिल विप्लव गान सुनाती।"

एक दूसरी कविता में इतस्ततः फैली ज्योति-किरण कवयित्री को किसी दैत्य की दन्त प्रभा-सी भयावनी लगती है—

"नहीं जानती आली री मैं,
अंधकार क्यों मुझको भाता !
लगता ज्योति किरण जो फैली,
किसी दैत्य की दन्त प्रभा है,
अट्टहास जीवन पर करती
कोलाहल से भरी सभा है।
घूँघटमयी पलक में मुझको--
इसीलिए बैठा जग पाता।
लगता कोई दिव्य बल्लभा—
दीप बाल कर प्राच्य गगन पर
प्राप्त हुई पंचत्व, देव की--
जोह जोह बाट जनम भर।
सांध्य दीप में नित्य जगाती,
देव न आते, मन भर आता।"

और 'सूत्रधार' में सूर्य मानों घन-बदली को किरण-सूत्र में बाँधकर कठपुतली

की तरह नचा रहा है—

"सूत्र धार रवि, किरण सूत्र में
बाँध बाँध कर घन-बदली को
कठपुतली-सा नचा रहा है
ऊपर निर्मित धूम्र-यवनिका
पृष्ठ भाग पर, बैठा दिनकर
इन्द्र धनुष के रंग-विरंगे
नूतन पट को झट पहनाकर
मेघावलि की कठपुतली को
रंगमंच पर गिरा रहा है ।"

'भोग-योग' शीर्षक कविता में इन्होंने पुरानी लीक छोड़कर नई पद्धति अख्तियार की है और निजी भावों को सर्वथा नये ढंग से रखा है—

"खिला फूल
झर गया
उठा लिया
लगा लिया
अलकों की
डाली पर
मन मलीन
और टुक हो गया
क्यों ?
चाव-चाव में
उठा लिया था
क्षरित फूल
लगा न पाई थी
कि चाव खो गया
डाल से झर गया ।
आई स्मृति
कोई
लगी फूल को
सूँघने
पीने लगी फिर
उसका रस
धीरे-धीरे
स्मृतियाँ

कितनी ही
स्मृतियाँ
ऐसी दौड़ी-दौड़ी
आईं
जैसे टूटे मधुछत्त की
मक्खियाँ
टूटा सहारा देखकर
आ जुड़ती हैं
सिर भन्ना गया
गिरा दिया
फूल धूल पर
लगा लिया
तोड़ डाल से
एक शूल
चुभता रहा
चुभता रहा
जो,
स्मृति
फिर कभी न
आई !"

'भाषा निर्माता', 'तितली', 'एक अनुभव' आदि कविताओं में इन्होंने वात्सल्य रस को लाने की चेष्टा की है, पर उसमें रसभींजी या आप्लाबित करने वाली अभिव्यक्ति नहीं है, वरन् उक्ति-चमत्कार और तर्क-वितर्क में ही उसकी सहजता खो गई है :

"मा ! मामा मुझको कहते हैं
तू तितली है री तितली है
मैं भी क्या मोती से निकली ?
मेरे भी क्या दो पर थे ?
गंभीर हुई मा यह सब सुनकर
बोली— सोने के अंडे से
मैं, तू, बापू सब ही जन्मे
करो प्रणत सूरज की पूजा ।"

जहाँ इन्होंने मूल तत्त्वों को पहचाना है वहीं इनकी अभिव्यक्ति को ठीक मार्ग मिला है और वे अधिक मार्मिक बन पड़ी हैं :

"दुख पीती आँसू की बाती

हाँ ! फिर मैं प्यासी की प्यासी।
कभी कभी निज विपुल व्यथा की
घूँट पिलाती थी झंझा की
लौट रहे संघर्ष वृन्द अब
भूखे-प्यासे इस जीवन से।
दुख भी खोया सुख को खोकर
अब मत आना लौट प्रवासी !"

'मुक्ति हुई पागल रे' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

"खोज रही उस पगली को मैं
अपने वैरागी प्राणों में
जड़ चित् के पंखों से उड़कर
जड़ चित् के ही भू अम्बर में—
कितनी हूँ विह्वल रे !"

सुश्री **कीर्ति चौधरी** हृदय के कोमल स्पन्दनों को ही केवल मुखरित नहीं करती वरन् आज की कशमकश और संघर्षशीलता में वे भावुक से बौद्धिक अधिक हो उठी है। जीवन के नैसर्गिक सहज प्रवाही बिम्ब क्या वे ही है जो कल्पना की स्वप्निल मादकता के अतिरेक में रंगीन रेखाएँ आँकते हैं। इस स्वर्णजाल से इतर कुछ और भी तो है जो यथार्थ और वास्तविक है। अम्बर की शत-शत उल्काएँ कवयित्री की चेतना को चकाचौंध नही करतीं, वह तो ठोस धरती की मौन मुग्ध परिछाया में—शान्त और स्थिर--अपनी भावनाओं को उस जीवन-दर्शन की श्रेणियो में विभक्त कर देती है जहाँ तदनुरूप भावोन्मेष होता है। 'मुझे मना है' शीर्षक कविता में :

"बिखरा है रंग रूप गंध रस
मेरे आगे
मुझे मना है किन्तु
गंध को अंग लगाना
खुशियों के चमकीले दामन को
आगे बढ़कर छू आना
रस पीना छक जाना
लुब्ध भँवर सा सुषमा पर मँडराना
मुझे मना है !
दौड़ूँ भी तो अपराधी सी दृष्टि
झिझक झुक जाती है
वैभव के आगे

हाथ काँप उठता है
अंजलि में भरते ही मधुर चाँदनी
सुख की सीमा पर अनजाने भी जा पहुँचूँ
तेरा मुख वर्जित करता मुझको बढ़ने से !
जैसे कौंध लपक जाती बिजली की रेखा
दिख जाता सब असंपृक्त अविदित अनदेखा
तेरा ध्यान मुझे झकझोर चला जाता है
बढ़ा हुआ मेरा पग सहम लौट आता है
मुझे चाहिए नहीं अकेले गंध राग रस
मुझे चाहिए नहीं अकेले प्रीति प्रेम यश !
तेरा झुका हुआ मस्तक
जब तक ऊपर को नहीं उठेगा
तेरे भटके चरणों को
जब तक पथ इंगित नहीं मिलेगा
तब तक मुझको वर्जित होंगे
सुख वैभव के सारे साधन
तब तक मुझे लौटना होगा
बार बार यों ही बन निर्धन !"

प्रिय की याद कवयित्री को पहले गोपन कक्ष में आती थी, पर अब समय-असमय कभी भी, किसी भी क्षण और किसी भी परिस्थिति में आ जाती है। वह लुकी-छिपी, शर्मीली या प्रेम की मूक मौन नीरवता में डूबकर आत्म-पीड़ा को भीतर ही भीतर समोए रखकर खामोश रह जाने वाली नहीं है बल्कि अपनी हृदय की रिक्तता का अभाव वह कैसे भरेगी—यह वह स्वयं नही जानती। साथ ही इस दौरान उसने याद सँजोयी या विसरायी--इससे भी वह बेखबर है :

"याद तुम्हारी
पहले आती थी
गोपन एकांत कक्ष में
अब आती है
राह घाट पर
समय बेसमय
हरे गझिन पत्तों वाले
पेड़ों को देखूँ
देखूँ : पंख मार उड़ जाती
विहग पाँत को
भीगूँ पल भर

पानी की फुहार के नीचे
छू जाए
नभ गंध भरा हल्का सा झोंका
अकुलाहट वैसी ही मन में भर जाती है
मैंने याद सँजोयी है
या बिसरायी है।"

एक दूसरी कविता में कवयित्री खोखली टेक, झूठे आश्वासनों और वेदम बोलों की भर्त्सना करती हुई विनय या प्रार्थना द्वारा आश्वस्त करने की ही बात कहती है।

"रहने दो झूठे आश्वासन,
बेदम बोल !
रहने दो खोखली टेक,
आशा अनमोल !
कर सकते हो बन्धु अगर
विनती करो—
थक कर गिरूँ कहीं तो
रौंदूँ नहीं कली
वरन गिरूं उस बाँध पास
जो कल बारिश में टूट फूट
जलमग्न करेगा गाँव !
दम तोड़ूँ तो–
कहीं खेत में,
सड़कर गलकर
फसल बढ़ाऊँ !
बीज उगाऊँ !
और नहीं तो
मरना ही है अगर निपट असहाय
मरूँ उस घुप पाताली अन्धकार में
जहाँ न कोई
सद्यःजात शिशु की आत्मा हो।
स्वप्निल आँखें
आतुर पाँखें
कुछ-कुछ भी जो सब
उगना बढ़ना और पनपना चाह रहा
वह वहाँ न हो !
तुम करो प्रार्थना बन्धु !

सच मानो-
यों अंधियारे में मरजाने की हविस न थी !
लेकिन यह असहाय मृत्य
अनुकरण बने,
या थोड़ी सी भी आस्था को कुचले
मुझको स्वीकार नहीं
कर सकते हो बन्धु अगर
इतना करो—
और नहीं कुछ,
बस केवल
विनती करो !"

इसके अतिरिक्त वह भी क्या कम अपराध है जो दूसरों से नफ़रत करना सिखाता है और हर अवगुण एवं स्वार्थ को प्रश्रय देकर जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों का गला घोंटता है।

"हर एक व्यक्ति से घृणा, द्वेष, प्रतिहिंसा।
घबराना श्रम से,
कामों से जा छुपना।
बे मतलब सबसे,
तना-तना-सा रहना।
हर जगह कपट, छलना की मन में मंशा।
नीवों की ईटों को,
चुपके खिसकाना।
सूरज के घर पर,
कालिख ले चढ़ जाना।
धोखेबाजी चोरी का हरदम बाना।
स्याही के कांटे,
घर-घर बोते फिरना।
खुद आग लगाकर,
दूर तमाशा तकना।
मकड़ी-सा सब पर जाला ताने जाना।
सोते में ही गर्दन पर,
हाथ बढ़ाना।
रास्ता चलतों पर,
ढेले तान चलाना।

अपने स्वार्थों में जीवन सबका जीता ।
सब चाँद सितारे,
अपने लिए सहेजे ।
औरों को यम के,
घर से हल्दी भेजे ।
मीठा मीठा गप थू थू थू सब तीता ।"

'छूटा जाता है' शीर्षक कविता में जीवन की संचित स्मृतियों का कोष जैसे हाथ से छूट कर यत्र-तत्र बिखरा पड़ रहा है । कवयित्री ने नितान्त नई पद्धति से विषय को प्रस्तुत किया है :

"वह गुनगुन करती हवा
धूप के चमकीले धागे
खुशियाली पौधों की
जगमग हीरे के टुकड़े-सी आँखें
उन सोती कलियों की
बौछार गंध की
खुली खिड़कियों में आ कर
जो तर कर जाती
कुछ भी पाती
थके पंख की आहट
भोली चिड़ियों की
जो काट-काट चक्कर
नीले नभ के
विस्मित रोशनदानों से
अंदर आतीं
घबरातीं
सुनसान ऊँघते
पेड़ों की गुपचुप बातें
टपके फल पर
कितनी नज़रों, कितने हाथों
की वे घातें
वे स्मृतियाँ सारी की सारी
छूटी जाती हैं
हाथों से धीरे-धीरे
इन लंबी-चौड़ी सड़कों के हर फेरे में

अजनबी भीड़ के घेरे में
हर एक शक्ल पढ़ते-बढ़ते ।"

वह प्रश्न करती है :

"जीवन से शोभा क्या यों ही हट जाती है
मैं उसे जियूँ या नहीं जियूँ
मन के आगे फैली अगाध
रस की सरिता
मध्याह्न काल की किरणों से
घट जाती है
मैं उसे पियूँ या नहीं पियूँ
पर मेरी प्यास कहाँ बुझती
पर मेरे पैर कहाँ थमते
संचित सुधियों के कोष
हाथ से अगर गये
जगते आँखों में कौतूहल-से प्रश्न नये ।"

सहसा ही हवा चली तो फूलों और कलियों ने सुगन्ध को यत्र-तत्र बिखेर कर समूचे वातावरण को सुवासित बना दिया । निम्न पंक्तियाँ देखिए :

"सहसा ही हवा बही
फूलों औ' कलियों ने बिखरा दी खुशबू
जो अब तक सही ।
खुल गये कपाट बन्द लोचन के साँवरे
मलयज के संग डोल प्रान हुए बावरे
चुपके से कानों में गुनगुन कर बात
आन किसने कही ।
थमी हुई लहरों में पाल खुला जल हिला
दूर देश का परस सोया शतदल खिला
सिहरी जब लतर, पास शाखों ने हौले
बाँह आन गही ।
सहसा ही हवा बही ।"

सुश्री इन्दु जैन नई कवयित्री के रूप में उन्मुक्त भावोन्मेष और नव्य कल्पना को लेकर आगे बढ़ी हैं । जैसा कि प्राय: नई कविता की प्रतिक्रिया उसकी निस्संगता अथवा अतिशय बौद्धिकता में है, सो यह बात इन पर लागू नहीं होती । इसके विपरीत नए शिल्प को नई जीवन-दृष्टि के साथ समायोजित करने की चाह है । आज का प्रयोग

प्रेमी कवि किन्हीं भी वर्जनाओं की बेड़ियों मे बँधना पसंद नहीं करता। कारण—कविता की रूह उससे मर जाती है। अतएव नये बुद्धिरस की प्रतिष्ठा के कारण काव्य के मौलिक आस्वाद में भी अन्तर आ गया है। सदियों से चली आती थकान, ऊब और घुटन बरक़रार है, पीड़ा और दर्द भी ज्यों का त्यों है, बल्कि उसमें कमी नहीं बढ़ोतरी ही हुई है। मगर उसकी अनुभूति में फ़र्क़ आ गया है। कवयित्री के शब्दों में :

"दर्द की कुछ और कड़ियाँ बढ़ गई हैं।
शाम ज्यादा जर्द, रातें सर्द
वीरानी सुबह, सूनी दुपहरी—
ज़िंदगी अजगर सरीखी
सिमट खुलकर रेंगती।
सौ बरस की नींद सा सपना
कहाँ तक और फैलेगा
न जाने !
और कितने युग खुदेगी नींव मन में !
बन्द कब होंगे हथौड़े छेनियाँ !
पत्थरों की यह ढुलाई
कौन जाने
कब रुकेगी !
मकबरा बन जाए, राहत मिल सके मुझको;
असेंधे दुर्ग में कब
बिना छूई, बिना रोई सो रहूँगी ?"

जीवन इतना जटिल होता जा रहा है कि चेष्टा और चातुर्य के बावजूद भी लगता है जैसे उसका कोई कूल किनारा नही। अपने सीमित दायरों में बँधे रहने के कारण उसे कौन किस मात्रा में ग्रहण करता है और औपचारिक सीमाएँ उसे कहाँ तक बाँधती हैं ? वाह्य अस्तव्यस्तता और नित-नये संघर्षों से आहत वह पलायन खोजता है अथवा अन्तर्मुखी बनकर कल्पना-लोक में विचरता है, दिव्य स्वप्नों का निर्माण करता है, प्रणय-वेदना के स्वर जगाता है, पर फिर भी उसे राहत नहीं, ऊहापोह और द्वन्द्व-संघर्ष सदैव चलता ही रहता है। नए कवि का दर्द कुछ इन्ही अदृष्ट परिस्थितियों से आकार ग्रहण करता है। यथार्थ से टकरा कर उसकी सुष्ठु कल्पना और सौन्दर्योपासना जैसे ठेस खाकर धराशायी हो गई है और दर्द की अनुभूति भी जैसे बिखर कर छितरा गई है।

"गीत की असह्य साधारणता
और
उभरा हुआ दर्द।
उस दर्द की परिणति

यहीं है
बस यहीं ।
चम्पा की जड़ का मधुहीन रस--
फुनगी तक पहुँच नहीं पाया ।
अस्थिहीन शब्दों के इन त्यक्त केंचुल में
मुझे मत भरो।
एक व्याकृति तुमने दी
एक व्याकृति तुम हो--
सब मेरी आस्था
सब मान्यताओं की ।
कभी-कभी लगता है--
'लो, बस अब उतर गया--
असावधानी की खूँटी पर टँग गया
भ्रम का लबादा ।'
लेकिन फिर
वही;
वही भूल ।
तुम तो यही हो--आवरण से अभिन्न ।
व्यथा के शीत से सिहर कहाँ पाओगे ?
एक दिन बेला के फूलों की दृष्टि खुली :
आसमान ताँबे-सा तपा हुआ
झूठे सलमे के तारे और
चाँद
टूट कर टपक रहे ।"

'सर्द सा झोंका' कविता एक लघु चित्र है जो अपनी व्यंजकता के कारण मन एवं प्राणों को सहला देता है।

"यह हवा का सर्द-सा झोंका
बहुत नीला
बड़ा मीठा
उड़े, प्यारे गुलाबी बादलों पर
पेंग लेता,
झूलता,
आ कूद धानी टहनियों को
चूमता,

चुपके झरोखे से फिसल
अनजान ही में हाथ दोनों थाम कर
मन-प्राण सब सहला गया
है
यह हवा का सर्द-सा झोंका !"

हल्की-फुल्की अनुभूति--चिंतन और तर्क से परे--मन को छूती है। पूर्वाग्रहों से प्रभावित न होकर इन्दु जी ने जीवन में सार्थक उपलब्धियों को मर्म ही नहीं दिया, अपितु अधुनातम परिवेश और अभिव्यंजना भी दी है। एक लघु निम्न कविता में :

"दूर बहुत दूर–वहाँ–
सुनसान !
प्यास फटा रेगिस्तान !
पैर धँसे
होंठ खुले।
बाँह कहीं गही नहीं गई—
वहाँ
बाँह कहीं मिली ही नहीं !"

मेघों के घटाटोप में से चाँद का झाँकना, लगता है--जैसे पटबन्द खिड़की खुल कर सहसा चाँद को दिखा रही है, किन्तु यह क्या ? दूसरे ही क्षण फिर पट बन्द ! मेघों की सघन कालिमा ने पुनः चाँद को आच्छन्न कर लिया। अरे ज़रा दौड़ो, फिर चाँद कहीं इस लौह-पाश में आबद्ध न हो जाय। कोई सीढ़ी लगा कर उसे ले क्यों नहीं आता ?

"एक परत, एक लहर,
खिड़की भर चाँद खुला।
झाँक लें नज़र भर कर
एक बार--
घनी रोशनी जहाँ !
घटाटोप
बादल के लोहे के द्वार बन्द।
खिड़की भर चाँद खुला !
दौड़ो तो--
आकर नसैनी लगा लो ना !!"

कहीं-कहीं सामान्य सी बात को भी बड़ी ही गहराई और मार्मिकता से कहा गया है। सेम के फूलों का अम्बार कवयित्री के मन में बड़ा ही विचित्र और अद्भुत सादृश्य उभारता है :

"सेम में फूल आ गए
सहेली !
देख—आ !
या कहूँ—
जाड़े में शीशे की झील पर
तैरी कपास
या—
—छोड़ झील—
धूप के सुनहरे हरे खेत
लहरा गए।
देख—आ !
छुटे बाल–गाल छुए
हवा ने बताया था
'रात को बसंती रंग
आँगन में छाया था।'
छाया था
रात को बसंती रंग ?
उगी थी केसर पहाड़ों पर ?
उगी ही होगी तब—
रात झूठ बोल कर
बचेगी क्या ?
देखा था भोरे ही
कुहरा तो खुद मैंने।
बूँदें भी परसी थीं।
—और फिर—
सबसे बड़ी बात—
यहाँ
सेम जो फूली है !"

कुमारी **कमलेश सक्सेना** की सरल, प्रसाद गुणमयी, ऋजु पद्य-रचना में मार्मिक और हृदय को आलोड़ित कर देने वाले अभाव और एकाकीपन का एक करुण अन्तःस्वर गूँजता रहता है। आज की तरह इनकी रुचि निराकरण की नहीं, बल्कि इनका मौलिक दृष्टिकोण समन्वयकारी और सहिष्णु ही अधिक है। प्रगति में विश्वास रखती हुई भी ये प्रतिक्रियावादी नहीं हैं, बल्कि किसी भी प्रकार के मिथ्याचार और आडम्बर से परे देशकाल एवं परिस्थितियों के अनुरूप ढलना जानती हैं। कविता में जबकि तर्क, युक्तियाँ और दलीलबाजी चल रही है इनकी अभिव्यक्ति कितनी सीधी-

सच्ची है :

"तुम्हारी याद की
मृदु लेखनी लेकर
बनाये गीत हैं
मसि आँख में भरकर
नखत अक्षर बने
भर स्वर पपीहे के
लिखे मैंने उपल पल
गीत जग जग कर
रुँधे स्वर, गान रोदन बन गए सारे
मगर निष्ठुर न तुम आए।
नयन के आँसूओं का
स्नेह भर निर्मल
सजा कर प्राण की
बाती विकल उज्ज्वल
उठा सुधि-लौ विरह
के काँपते कर से
जलाती मैं प्रणय
दीपक रही जल जल
मरण की एक अन्तिम फूँक ही देने
मगर निष्ठुर न तुम आये।
न तुम आये न आया
प्रात जीवन में,
खिला शशि फूल पूनम
का न घन-वन में
न उर तरु पर
मिलन की कोकिला बोली
सदा को लग गई
बरसात आँगन में
हजारों बार सुधि
आई तूम्हारी तो
मगर निष्ठुर न तुम आये।"

एक अन्य कविता में वह प्रणय कातर हो कहती हैं :

"अधूरी रही प्रीत की यह कहानी
कभी द्वार प्रीतम सबेरा न आया

बड़ी ही कठिन ज़िंदगी की डगर है।
कहाँ तक चलूँ पग थके सांस हारी।
न भूली तुम्हें जो कभी एक क्षण को
निठुर आज तुमने उसी को भुलाया।"

प्रणय और विरह-वेदना से आहत मन अन्तर्मुखी हो जाता है। निराशा प्राणों को कचोटती है और अधिकाधिक दैन्य अन्ततः उपरामता जगाता है :

"मैंने कब माँगा तीनों लोकों का वैभव ?
मैंने कब माँगा मधुऋतु का यौवन अभिनव ?
मैंने कब माँगी अनुपम निधि सुन्दरता की ?
मैंने कब माँगी श्री-शोभा मोहकता की ?

मैं भिखारिनी, टूटी-फूटी कुटिया मेरी,
उस असीम में अति सीमित सत्ता मेरी
मुँह माँगा मिल भी जाता तो रखती कैसे ?
गन्ध मात्र से मत्त बनी, मधु चखती कैसे ?

मैं तो उन सुधियों पर ही सर्वस्व लुटाती,
मैं तो उन पद-चिन्हों पर ही बलि-बलि जाती,
खींच गए जो सूनेपन पर रेख सुनहरी,
होती गई समय के सँग जो दिन-दिन गहरी।

जो माँगें से मिले न वर, बिन माँगे पाए।
पीड़ा बन कर आज हृदय में प्राण समाए।"

'अवशेष पथ' में कवयित्री दिशाहारी नहीं, वरन् दृढ़ कदमों से स्वयं राह बनाती हुई प्रगति-पथ पर अग्रसर होने की आकांक्षा रखती है। अनेक मान्यताहीन सिद्धांतों में नकारात्मक आस्था जगाकर वह गुमराह नहीं होना चाहती, अपितु स्वयमेव प्रवाह की ओर उन्मुख होकर उक्त आस्था का उत्स खोज लेना चाहती है। डगमग स्थिति में भी यदि हृदय में साहस और सामर्थ्य है तो बिना किसी अवरोध के निष्कंटक आगे बढ़ा जा सकता है :

"साधना का पथ अभी अवशेष है
और तरणी से पुलिन भी दूर है।
तेज कर कुछ और गति को तेज कर
क्यों नशे में आज माँझी चूर है।
हो रहा अवसान रवि का खेलती—
सिन्धु से किरणें चपल अठखेलियाँ
माँग भर कर आ रही सन्ध्या परी

चाँद से निशि चाहती रंग रेलियाँ
कर रही इंगित मुझे लौ दीप की
वह खड़ा कोई लिये सिन्दूर है।
रात बिन खोई हुई उन्माद में
मैं बढ़ाती जा रही अपने चरण
साधना का लक्ष्य ध्रुव तारा मुझे
मैं नहीं कुछ जानती जीवन मरण
मैं निरंजन को करों से छू रही
क्या हुआ यदि भूमि से नभ दूर है ?
विश्व का रुचता न कोई पन्थ है
इसलिए खुद ही बनाती राह हूँ
बाहरी आलोक क्यों खोजूं स्वयं
मैं प्रणय पूरित सुलगती चाह हूँ
नाव लहरों पर रहे चिंता नहीं
शक्ति साहस से हृदय भरपूर है।"

अविश्रांत पथ है, पर पथिक का काम तो बिना हिम्मत हारे आगे बढ़ते ही जाना है। भले ही मंजिल दूर हो, किन्तु क्या मन की प्रेरणा और आगे बढ़ने का अडिग विश्वास उस मंजिल तक न पहुँचा देगा ?

"स्वप्न छलता रहा, छलता ही रहेगा।
पास आएगी नहीं मंज़िल स्वयं ही,
खींच लाएँगे उसे इस पार हम ही,
गति बनेगी प्रगति हर अवरोध सह कर,
पथिक चलता रहा, चलता ही रहेगा !
सूर्य झाँकेगा कुहासे की गली में,
धूप थिरकेगी महक बन कर कली में,
अप्रभावित रूप किरणों का रुपहला,
तिमिर ढलता रहा, ढलता ही रहेगा !
दुःख शतशत, आस्था है एक अविचल,
काल निशि में ज्यों उषा की रेख उज्ज्वल,
अन्धड़ों से हिल न पाएगा हिमाचल,
दीप जलता रहा, जलता ही रहेगा !"

किन्तु यह विश्वास कहीं-कहीं करुण क्रन्दन बन जाता है। ओरछोर-हीन ये स्वप्निल मंज़िलें भ्रम या छलना नहीं वरन् उसके थके-हारे मन के अमर आश्वासन का मानो चरम बिन्दु है :

"मैं न रोती, रो रहा विश्वास मेरा।
व्योम भरता मोतियों से रात ही में,
मेघ झरते घिर घुमड़ बरसात ही में,
क्या सुनाऊँ मैं कथा अपनी व्यथा की,
सजल निश दिन आँख का आकाश मेरा,
मैं न रोती, रो रहा विश्वास मेरा।
जन्म जल से हुआ किन्तु जलज बनी ना
प्राण प्रिय परसे मगर पदरज बनी ना
क्या भविष्यत भाव वश भूली सभी कुछ
कौन सुनता अब करुण इतिहास मेरा?
प्राण कर दिन रात आराधन किसी का,
पा गए अमरत्व आश्वासन किसी का,
क्या पता था 'पात्र में मधु के गरल है?
जल उठेगा एक दिन हर श्वास मेरा॥
मैं न रोती, रो रहा विश्वास मेरा?
सत्य कल का बन चुका है आज छलना,
चल चुकी जितनी, अभी है और चलना,
अब न स्वप्निल मंज़िलें भरमा सकेंगी,
पूर्ण मुझ में ही अनन्त प्रवास मेरा॥"

प्रणय की असफलता में कवयित्री दुराशा, व्यंग्य अथवा उपालम्भ का सहारा नहीं लेती, बल्कि अपनी इस लाचारी पर उसकी पूर्ण आस्था और आप्लावित भाव है। सहज विवेक के साथ प्रेमाकुल मन को वह निरन्तर आश्वासन देती रहती है:

"क्यों विकल अब हो रहा मन।
जो गया जाना उसे था,
शेष जो आना उसे था,
इस गमन औ' आगमन का दूसरा है नाम जीवन!
मृत्यु का सिरजन प्रलय क्रम,
चल रहा है, चल रहे हम,
आ रही है पास मंज़िल, आ रहा चिर मौन का क्षण!
प्राण के इस श्वास-रथ पर,
प्रणय ही केवल सदा थिर,
धूल हर फूल, मरघट एक सारा विश्व उपवन!
क्यों विकल अब हो रहा मन!"

छायावाद की रूमानी प्रेरणा ने नारी में अब तक अमूर्त्त प्रणयोच्छ्वास ही अधिक जगाया था, पर आज के संघर्षों ने उसके मूल तन्तुओं को हिला दिया है और उसकी दर्द की पटभूमि बहुत व्यापक हो गई है। जीवन के मुक्त और स्वच्छन्द उन्माद की नग्नता को ढकने के लिए मांसल और दुनियावी प्रेम तक को आध्यात्मिक और रहस्यमयी अनुभूति की गोपनीयता में आवृत्त किया गया। पर चूँकि नित-नई परिवर्तित जीवनानुभूति के इस दर्शन ने भ्रामक धारणाओं का पर्दाफ़ाश कर दिया है, अतएव इस गरिमामय द्वन्द्व की कचोट से तिलमिला कर नये रूपविधान और पृथक् परम्पराओं को प्रश्रय दिया जा रहा है। लगता है--जैसे कविता-कामिनी जो सलज्जा बधू सी मुख पर अवगुंठन डाले अपने झिलमिल दामन के शत-शहस्र आवरणों में लिपटी-चिपटी मुग्ध चितवन और भावभंगी से रस-सृष्टि करती आ रही थी अब सहसा प्रौढ़ा नायिका सी मुँह उघाड़ कर सामने आ खड़ी हुई है। इस रंगीन स्वप्नमयी सुहागिन के इर्दगिर्द मादक वातावरण में गूँजते मधुगान और पीड़ा व अतृप्त आकाक्षांओं की गहराइयों से उभरती बुलन्दियाँ—जैसे यकायक इस अलबेली को जीवन की समतल डगर पर कोई मोड़ मिल गया हो अथवा गहरी ठेस से तमन्नाओं का चमन मुरझा गया हो, सपने और अरमान चकनाचूर हो गए हों और अन्धकार में डूबी गहरी खाइयाँ व चटियल चट्टानें पथ रोके खड़ी हों। उसके प्यार का सतरंगी इन्द्रधनुष समय की धकापेल और विषम परिस्थितियों के बवण्डर से टकराकर छिन्न भिन्न हो गया हो। यही कारण है—कविता नें चल रही अराजकता कुंठित संवेदनाओं से जुड़कर कुछ छूँछे 'फ्लैशेज़' ही उभार सकी है जिनका न कोई स्वरूप है न अस्तित्व।

आज के कवि का मानसिक द्वन्द्व अपेक्षाकृत तीखा और नाटकीय है, अतएव कविता में रस-निष्पत्ति उसके हृदय की अनुभूति या स्पन्दनों पर नहीं अपितु 'मूडों' या मस्तिष्कीय प्रतिक्रियाओं पर निर्भर है, दूसरे शब्दों में कविता पहले की तरह आत्मप्रसूत नही बल्कि बुद्धिपरक अर्थात सूझ (Wit) की करामात है। वैयक्तिक होने के कारण नारियों की छायावादी सर्जना अपने ही रुदन, क्रन्दन और कुंठाओं तक सीमित रही, पर इधर वाह्य जीवन की जटिलताओं के कारण भय, भ्रम, आशंका, साथ ही आधुनिकता के चक्कर में निराशा और अनास्था भी आ जुड़ी है। फलतः उसकी दर्शन-पीठिका व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नये आयामों में सर्वथा नए रूप में सामने आ रही है।

मानव-अस्तित्व के बुनियादी प्रतिमानों के अनुपात में परिवर्त्तित परिस्थितियों के साथ ही बौद्धिक विकास होता रहता है जो अनिवार्यतः साहित्य और शिल्प पर भी अप्रत्यक्ष रूप में प्रभाव डालता है। वर्त्तमान जीवन के वैविध्य ने अनुभूतियों का अक्षय भण्डार दिया है, पर साथ ही भाव और भाषा के नवसंस्कार ने कितने ही अंतर्विरोधों को जन्म दिया है। कृत्रिमता, प्रवंचना और मिथ्याडम्बर ने कविता की शब्द शक्ति, उसकी गरिमा, उसके रागात्मक लालित्य और उदात्त भावोन्मेष को ग्रस लिया है। इसके विपरीत सत्य को, यथार्थ को झुठला कर विरोधी सिद्धातों ओर

सदियों पुराने आदर्श और बद्धमूल स्थापनाएँ प्रश्नचिन्ह लगाकर खड़े हैं। प्रत्येक नई पीढ़ी पुरानी बातों से आतंकित और संशयालु रहती है। चुनौती और प्रतिक्रिया ने अनुभूतियों और संवेगों से भी अधिक तथाकथित बौद्धिकता से होड़ ठान ली है। सृजन-प्रतिभा बुद्धि के बोझ से इतनी दब गई है कि रुचि वैचित्र्यवादी और भाव-शून्य प्रकृतवादी कविताएँ, जिन्हें चटखारे ले-लेकर पढ़ा जा सके, गढ़ी जा रही हैं। नया कवि या नई कवयित्री वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के नाम पर उस रुग्ण मनोवृत्ति से आक्रान्त है जिसमें उसकी स्वसत्ता अर्थात् अहं और द्वन्द्व के घोर कशमकश के कारण उसकी कोमल कल्पना के तार विच्छिन्न हो गए हैं। अनगढ़, टेढ़-मेढ़े, चन्द सतरों में जैसे इधर-उधर के कुछ जुटे अक्षर और अधूरे वाक्य। सीमाएँ और घेरे—उसी की चक्राकार परिधि में डूबता-उतराता मन-जैसे किसी की तलाश में थककर भटक गया हो, कृत्रिम उच्छ्‌वासों की निरीहता हाँफ रही हो और बेहद हड़बड़ी व त्वरा में जैसे कुछ छूट गया हो जिसका कुछ-कुछ अंदाज़ ही लगाया जा सकता है पूरा ख़ाका नहीं उतारा जा सकता। सावयव संघटन, ध्वनि, लय, वर्ण-संयोग और एकान्विति के खंडचित्र मानस-पटल पर उभरते तो हैं, पर उनकी अनुभूति संश्लिष्ट नहीं हो पाती कि वे खंड-खंड हो बिखर जाते हैं। कहीं कविता बिलकुल गद्य सी लय और स्वर के तारतम्य और वस्तु-सापेक्षता से दूर···बहुत दूर जा छिटकी है।

"आज तुम आये हो
मैंने जूड़े में है फूल टाँगा।
आज मैंने कानों को छूती हुई
काजल की बारीक सी रेखाओं में
फिर नई कविता लिखी है।
फिर मैं बहार की इक ऋतु बनी हूँ,
मेरे चारों ओर खुशियों के हैं फूल।
मेरी इस साड़ी पे भी हँसते हुए फूलों की दुनिया।
धरती की लहराती हुई फ़सलों का नाच
मेरे इन क़दमों में है
मेरे इन अंगों में है सैकड़ों गीतों की लय।
मैंने फिर से
कमरे की दीवार पर का चित्र बदला
चित्र यह कुछ बोलता सा जान पड़ता है।
आज फिर मैं 'कीट्स' को पढ़ने हूँ बैठी
आज फिर मेरी नज़र में
ग्रीस का सौन्दर्य संगमरमर की अमरता में ढला है।
क्या यह मेरा ही है घर
जिसकी दीवारों के होंठ

चुप थ, बस चुप थे।
आज पर
इस कमरे की हर एक चीज़ ही बोलती है।
मैं बहुत खुश हूँ
कि तुम आये हो आज
मैंने जूड़े में है फिर से फूल टाँगा।"

(अनिता कपूर)

इसी कवयित्री की 'तुम्हारे अभाव के कुछ क्षण' शीर्षक कविता में एक दूसरे ही प्रकार की कलात्मक क्रीड़ावृत्ति देखिए :

"बस यूँही बैठी
तुम्हारे नाम को मैं लिख रही हूँ।
आज इस धुँधली उदासी में
कहीं तारे नहीं
चाँद का वह फूल भी सोया हुआ है
ओढ़ कर चद्दर अंधेरे की
रात है, लोहे की ज्यों दीवार हो।
वृक्ष चुप हैं
घोंसलों के चुप हैं स्वर
पृथ्वी पर ऊँघती आँखों का ग़म है
खेत बंजर
शून्यता है, भँवर बनकर घूमती हुई याद है।
आज इन आँखों में दो आँखें किसी की
तैरती हैं, डूबती हैं
घुल रहे कागज में आँसू
चमकते हैं, पिघलते हैं
और यह दो ओंठ जैसे आग को आज पी रहे हैं।
कहाँ है गीतों की दुनिया
आज चारों ओर खंडहर ही है खंडहर
आज तो इन अँगुलियों के
स्वर भी बन गये हैं पत्थर
कहाँ हो तुम इस विजन बेला के इन अन्धे क्षणों में ?
आज जब कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं है
दर्द के काँटों को चुनती
बस यूँही बैठी
तुम्हारे नाम को मैं लिख रही हूँ।"

लगता है--जैसे संवेदनशील हृदय पृथक्-पृथक् भावधाराओं में विभाजित हो गया है जो काव्यात्मक अनुभूति के स्थान पर चिन्तन की तार्किक निष्पत्ति अथवा एक ख़ास 'मैनरिज्म' की ओर अधिक ले जाता है। नीचे उद्धृत 'धुआँ और लपट' कविता में कवयित्री की तर्कशील जिज्ञासा तो प्रकट होती है, पर चूँकि उसमें निहित चिन्तन अपने विशिष्ट लय और आकार में गद्य की योजनाबद्धता में चलता है, अतएव अन्त तक संवेदना की सघनता व्यंजित नहीं हो पाती।

"मैं
तीर्थ यात्रा पर जाने वाली
स्पेशल ट्रेन की
यात्री
बनना नहीं चाहती।
यह भी क्या मज़ाक है?
तीन मास तक
उन्हीं यात्रियों के साथ
रहना पड़े,
सुबह को
नई किरन की थपथपाहट सुन
आँखें खोलूँ
सामने बासी चेहरे हों,
रात को नींद की बाँह गहूँ
वृद्धा परछाइयों के साथ,
भ्रमण करूँ
तो—
बँधे हुए कदम हों,
परिचित स्वर हों,
भारी हवा हो!!
नहीं! नहीं!!
मुझे पैसेन्जर ट्रेन में
सफ़र करने दो,
हम स्टेशन पर
नये यात्री चढ़ेंगे,
बैठेंगे
बोलेंगे
हँसेंगे,
कुछ उन्हें नया मिले॥

कुछ मुझे नया मिलेगा
जीवन में
नव स्फूर्ति नवोल्लास भर कर
किसी स्टेशन पर
वे
उतर जायेंगे
मैं भी कहीं उतर जाऊँगी।"

(मधु)

जीवन के अविराम डगर पर बेहद कशमकश और भागदौड़ है। अहर्निश चलते-चलते पैर थक गए हैं, पर अभी तक मंज़िल नहीं मिली। कितनी अलग-अलग राहें हैं और अलग-अलग दिशाएँ। प्राणों की समूची शक्ति सब कुछ सद्-असद् व अच्छा-बुरा समेटने में लगी रहती है, पर कोई कूल-किनारा नहीं मिलता। हर ऊहापोह और संघर्षों से टक्कर लेता मनुष्य श्रांत हो जाता है, पर उसे विश्रांति नही मिलती। इसी कवयित्री ने 'मिली न अब तक छाँव है' शीर्षक कविता में जीवन के इस अन्तर्विरोध का बड़े सुन्दर ढंग से निदर्शन कराया है :

"चली यहाँ हर चरण रात-दिन, मिला न सबको गाँव है।
जीवन-पनघट पर साँसों की
पनिहारिन आती रही,
हिल मिल कर सुख दुख की सरग़म
झूम-झूम गाती रही।
किन्तु गगरिया भर लेने पर
रुकने वाली कौन है?
सबकी अपनी राह अलग, घर अलग, अलग हर पाँव है!
लहरें उठी अनेक, मिला पर
किसी किसी को कूल है,
एक फूल शृंगार रूप का
एक फूल पर धूल है।
बिछी विश्व-शतरंग, आदमी
मुहरा बन कर चल रहा,
मात किसी की, जीत किसी की, अपना अपना दाँव है?
एक बदरिया उमड़ी बरसी
मिटी धरा-हिय की तपन,
एक बदरिया झुकी कि मरु के
अधरों पर उभरी जलन।
तृषा, तृप्ति हे सहोदरा—

जैसे तरुवर की डाल दो,
इनके तले थके मानव को, मिली न अब तक छाँव है !"

आशा-आकांक्षाओं की मृगमरीचिका में मनुष्य भ्रान्त है। अन्ततः यह कवयित्री इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि दरअसल मनुष्य नहीं चलता, बल्कि तरह-तरह की आशा-आकांक्षाएँ जो मन में पलती रहती हैं वही उसे विचलित किये रहती हैं और उन्हीं के साथ वह बरबस खिंचता चलता है :

"हर क्षण
समय-सर में
उठता है बुदबुद सा
खो जाता है,
आकांक्षाएँ
हाथ बढ़ाती हैं,
पकड़ न पाती हैं।
फिर भी,
न बुदबुदों का अन्त है
न आकांक्षाओं का,
अतृप्ति के पाँव हैं
मनुष्य चल रहा,
मनुष्य नहीं चलता,
आशा--
जो मन में पलती है,
चलती है !"

निम्न कविता में वीरान बस्ती को बसाने के लिए, उसकी खण्डहर-सी उदासी को गुलज़ार करने के लिए और चिन्तित-परेशान मानवों के निमित्त चिरकांक्षित महल खड़े करने के लिए विश्राम नहीं श्रम चाहिए, सुस्ती या प्रमाद नहीं उत्साह व स्फूर्ति चाहिए :

"सूने खण्डहरों सी,
हमारी--
वीरान बस्ती है !
दिल की खुशी,
इतनी नहीं सस्ती है !
–कि, जल्दी हाथ में आए
हमें 'कुछ और' कर जाए;
खण्डहर की उदासी में,
महल की गुदगुदी रोती;

कफ़न सुनसान का ओढ़े,
ज़िन्दगी की अदा रोती।
तोड़ दो खण्डहरों को
छोड़ दो इन भुखमरों को;
फ़िक्र की जेल के,
इन बन्दियों को !
आज चुन लेने दो इनको,
ईंटें फिर से,
आज, फिर से करने दो,
तैय्यार गारा !
खण्डहरों को साफ़ कर,
इनको खड़ा करने दो फिर से,
मानवों का महल प्यारा !
विश्राम नहीं, श्रम चाहिए !
—इन्हें बस्ती बसाने के लिए !
सूने खण्डहरों सी,
हमारी—
वीरान बस्ती है।" (मल्लिका सचदेव)

'इतना शोर क्यों ?' शीर्षक कविता में इसी कवयित्री का स्वाभिमान एक-दूसरे रूप में मुखर हो उठा है–जैसे मन के भीतर जो सौंदर्य-चेतना अपना जाल बुनती रहती है वह मन के पर्दे पर न जाने कितनी छायाओं के अक्स उभारती है। इसी के समाधान के लिए जैसे उसका प्रश्न अब तक अटका खड़ा है :

"इतना शोर क्यों मचाते हो ?
जरा आहिस्ता बोलो,
भावों की खिड़की को,
धीरे से खोलो।
निर्जन है !
सब सुनसान है !
तूफ़ान को,
ख़ामोशी का,
नहीं ध्यान है !
शून्य की छाया है,–
क्यों रह गया है यहाँ,
फल दीखते हैं तुम्हें,
काँटे भी नहीं हैं जहाँ !

सुख भी है, दुख भी
कौन किससे कम है ?
सबसे अच्छा,
पतझर का मौसम है ।
'जलन' को ज्वाला का—
—कहो, क्या ग़म है !
अच्छा अब जाओ,
रोर शोर के लिये,
कोई राह देखती होगी !
दीपक की बाती में
मन की महक लेखती होगी !
इतना शोर क्यों मचाते हो ?"

'किसकी पुकार तोड़ती है निद्रा के पाश ?' शीर्षक कविता में आधुनिक प्रणाली के साथ-साथ सूक्ष्म और रहस्यवादी व्यंजना है जो अतीन्द्रिय में विश्वास रखती है :

"साँझ को घर का प्रवेश द्वार,
बन्द होने के पहले ही,
प्रवेश पाती है किसी की पुकार;
धुँधले, धूसर क्षितिज पार,
न जाने कितनी बार,
टकरा-टकरा कर,
उर-उर्मियों से मिलने
लौट आते है—मधुर-मधुर सी झंकारें !
लाँघ कर दीवारों को,
ऊँचे-ऊँचे द्वारों को,
कोई दिन रात रहता है मेरे पास,
पर जानती न हूँ,
कि किस की पुकार तोड़ती है निद्रा के पाश ?
हर काम में, हर बात में,
साथ देती है,
अनदेखी पर चिर पहचानी साध;
लगता है मन में,
कि तन में फूँके प्रभु ने श्वास,
दो प्राणों की बिछुड़न के बाद !
यह व्याकुलता,

रुँधे गले में घहराती है,
और रंध्र-रंध्र पर, पुलक लहर
जब लहराती है,
तब नयनों में ज्योति देकर,
जीवन बाती-सा सिहर-सिहर कर जलता है;
बनवासी पत्ती घास,
और धरती के आसपास
फैला हुआ प्रचण्ड विश्व,
जनम-जनम का रहस्य कहता है !
न जाने, किन पर्वत पहाड़ियों से,
जंगल घाटियों से, होकर—
मेरे हृदयस्थ विश्वास को छूने,
आ जाते हैं, अविरल गम्भीर उच्छ्वास
न जाने,
किसकी पुकार तोड़ती है निद्रा के पाश ?"

(मालती परूलकर)

'ओ मेरे चिर नूतन परम पुरुष !' में चिर विरहिन आत्मा का व्याकुल विमोहित आलोड़न है। भावों के नीलाभ क्षितिज में चिरन्तन सत्य को खोजती कवयित्री की सिहरती कल्पनाएँ प्यार के अनन्त, विह्वल सागर में लय हो जाना चाहती हैं। प्रेमोन्मत्त और पागल-सी वह इन असंख्य चंचल लहरों को पकड़ने दौड़ती है, किन्तु सीमा का व्यवधान तोड़कर कूल-किनारों को अतिक्रम कर वे आगे बढ़ जाती हैं :

"उस सुहानी झिलमिलाती रात में
आये थे तुम
स्नेह का चिर संचित, चिर पावन
अमर सौरभ दान करने।
ओ मेरे चिर नूतन, द्युतिमान परम पुरुष !
पल भर निज स्नेहिल रूप बिखरा कर ही
छिप गये बिजली से
कजरारी काली बदलियों में !
उस सरल भोली चितवन को
अबोली अँखियों की सुषमा को
याद कर, बार-बार उर कसमसाकर
खो जाता भावों के नीलाभ क्षितिज में।
खोजते हैं प्राण उस चिरन्तन सत्य को
असीम अम्बर के अवकाश में।

फिर तन के सीमित बन्धनों से
मुक्त हो चेतना भी
छिप जाना चाहती है,
खो जाना चाहती है,
तुम्हारी आत्मा के चिर गोपन कक्ष में——
सुबह के ढुलकते मोतियों-सी
कि तुम्हारा कोमल परस पा कर
पंछियों की पाँखों पर उड़ती
मेरी सिहरती कल्पनाएँ
स्तब्ध शरमाई-सी
आकाश की अनन्तता में
समा जाती ले अपना अरुण मुख।
तब आरपार सागर की लहरों से इंगित
बार-बार बुलाते हो तुम मुझे।
ओ मेरे चिर नूतन, द्युतिमान परम पुरुष !
सुरमई सरिता की लहरों में प्रवहमान,
तुम अपने अन्तर की ऊर्मिल भावनाओं की,
जीवनी-शक्ति की झलक दिखला जाते।
तन अजस्र स्नेह के भार से बोझिल
इन झुकी हुई पलकों से
मोतियों का हार उपहार बन
गिरता है प्रतिपल, प्रतिदिन,
तुम्हारे उन दूरान्त दिगन्तरगामी चरणों में।
तुम्हारी अनन्तकाल से फैली भुजाओं में
कि तुम्हारे विशाल वक्षस्थल में
मिल जाना चाहते हैं मेरे प्राण
चिर दिन से, जन्मान्तरों से !
ये चाँद सितारे, झिलमिलाते नक्षत्र
युगों से देख रहे हैं
कि हाय मैं बावली राधिका-सी
भटकती हूँ खोजने तुम्हें
झुरमुटों में, कूलों में, अलिन्दों में;
पर हार कर रह जाती हूँ !
कि मेरी चिर विरहिन आत्मा में
उठता है व्याकुल विमोहित-सा आलोड़न ;

तब सागर भी प्यार से विह्वल पागल हो,
अपनी अनगिन भुजाएँ फैलाकर
बुलाता है अपनी चन्दा-महल वासिनी प्रिया को :
जब असीम अनन्त प्रेम की धारा को
अपने में नहीं समा पाता,
तब उसकी असंख्य चंचल लहरें
सीमा को तोड़कर
कूलों को छोड़कर आगे बढ़ जाती हैं
धरा को आत्मसात करने।
ओ मेरे चिर नूतन, द्युतिमान परम पुरुष !
तुम्हारे उस अमित प्यार-सिन्धु को,
कि तुम्हारी आलिंगनाकुल अनगिन भुजाओं को
मैं निस्पंद, खड़ी, अपलक—
चकित-सी देखती ही रह जाती हूँ।"

(मधुमालती चौकसी)

नया कवि जीवन के यथार्थ को तटस्थ और असम्पृक्त दृष्टि से ग्रहण कर उसे इसी स्तर पर अनुभूत भी करता है। जो कुछ उसने देखा, सुना या अनुभव किया वह शृंखलाबद्ध कड़ियों में कभी तरतीब और कभी बेतरतीब उभरता चलता है जिसमें कवित्व की इकाई अलग से प्रमुख होकर नहीं बल्कि इस ढंग से संश्लिष्ट होती है कि उसके ना-ना प्रभाव बाहरी तौर पर अनेकानेक विसंगतियों और विविधताओं के साथ सम्पूर्णतया नियोजित हो सकें और वह अपनी सृजन-वृत्ति को और भी उन्मुक्त व निर्बाध छोड़ दे। नई कविताओं के कुछ नमूने देखिए :

"यह दिन भी बीत गया।
कोई नई बात आज हुई नहीं।
सूनी सी दोपहरी,
मेरे तन मन पर से–
अजगर सी रेंग गयी।
मटमैली धुँधली सी साँझ–
उसी अम्बर के आँगन में,
मुरझा गयी, फूली नहीं।
मन में—
कुछ और अधिक और अधिक होता गया।
तन का यह रीता घट,
और अधिक और अधिक रीत गया।
यह दिन भी बीत गया।"

(वीरा)

वीरा की विशेषता है कि छिन्न प्रवाह और गतिरुद्ध छन्द की इन्होंने प्रकारान्तर से भावनाओं की लय से पूर्ति करने की चेष्टा की है। नीचे उद्धृत 'सुधि आई' में द्रुत लय और तुक उसके धारावाही स्वर-प्रवाह में है :

"सुधि आई,
पलकों में, सपनों में, नयनों में, अँसुओं में
सुधि आई।
सपनों में पुलक गई,
पलकों में मचल गई,
नयनों में छलक गई,
अँसुओं में ढलक गई,
सुधि आई,
मचली-सी, छलकी-सी, ढलकी-सी, सुधि आई।
अँधियारी बगिया में कोयल-सी कूक गई,
सूनी दुपहरिया में पीड़ा-सी हूक गई,
कारी बदरिया में उमड़-उमड़ घुमड़ाई,
चाँदी की रातों में चितवन-सी मूक रही,
सुधि आई,
कोयल-सी, पीड़ा-सी, कारी बदरिया-सी—सुधि आई !
मन्दिर की देहरी पर,
पूजा-स्वर लहरी पर,
श्रद्धा-सी ठहर गई,
धूपित हो छहर गई,
सुधि आई,
देहरी पर, लहरी पर, ठहरी-सी, गहरी-सी—सुधि आई !
पतझड़ के पातों में,
अनसोई रातों में,
अनजाने घाटों पर,
अनभूली बातों में,
सुधि आई,
रातों में, घाटों पर, बातों में सुधि आई।
भोर की चिरैया-सी आँगन में चहक गई,
भटकी पुरवैया-सी आँचल में बहक गई,
बेले की लड़ियों-सी साँसों में महक गई,
चाँद की जुन्हैया-सी प्राणों में लहक गई,
सुधि आई,

आँगन में चहक गई,
आँचल में बहक गई,
साँसों में महक गई,
प्राणों में लहक गई !
सुधि आई, सुधि आई, सुधि आई !"

लय और अर्थ का यह नया द्वैतवाद भले ही अक्रम या विशृंखलता लाया हो, पर मस्ती का आलम और अजीबोग़रीब अदा के साथ अपने सहज प्रवाह में बहता चलता है। इसी कवयित्री के चार मुक्तक देखिए :

"आज इस रात के सन्नाटे में देखिए ज़हर बहुत गहरा है,
सृष्टि सहमी हुई है, चुप भी है और खयालों में समय ठहरा है,
ऐसे वीराने में आवाज़ दूँ तो दूँ किसको ?
ज़िन्दगी का मेरी आवाज़ पर भी पहरा है ।"

"रात आती है, रात जाती है,"
बात आती है, बात जाती है,
मैं किसी क्षण भी जी नहीं पाती
ज़िन्दगी यूँ ही बीती जाती है ।"

"गीत मेरे हैं स्वर तुम्हारा है,
फूल मेरे हैं दर तुम्हारा है,
मैं जो जी कर भी जी नहीं पाती—
यह भी जो है असर तुम्हारा है !"

"शबनमी रात को झुठलाओ मत,
यूँ सितारों से, भटक जाओ मत,
पथ में काँटें हैं तो चुभेंगे ही,
एक काँटे से अटक जाओ मत ।"

निम्न कविता में भोर का नया प्रतीक गढ़कर कवयित्री ने विशिष्ट शब्दों से अपनी अनुभूति विशेष को नये ढंग से प्रस्तुत किया है। निस्संग टुकड़े आपस में गुँथ कर एक काव्यात्मक गरिमा लिये मन और प्राणों को छूते हैं :

"झर गये
सब फूल सहसा
अशोक वन के।···
कौन सी फिर कली चटकी
ओस की गुंजार सुनकर
जागरण में मुद्रिका के स्वप्न से।···
अग्नि की प्राचीर में सब चुने से हैं
रंग रूपाकार

धधक उट्ठी
स्वर्ण लंका
वहाँ।...
कौन फिर
यह श्याम तन
सब कुछ विजय कर
चला आता
तप्त माथे पर लगाता
तिलक चुम्बन का।"

(प्रेमलता वर्मा)

इन्हीं की एक दूसरी कविता 'प्रसून के लिए' की कुछ पंक्तियाँ :

"दूब-सा तन
दूब-सा मन
होने दो
दूब-सा तन-मन-जीवन
सूर्य ने स्वयं सिन्दूर बन
ओस-सी सीमन्त में
जो खींच दी विश्वास की रेखा
उसके लिए तुम
दूब-सा तन
दूब-सा मन
होने दो
दूब-सा तन-मन-जीवन।"

'वसन्त' शीर्षक कविता में स्वर-पात और अविरामान्त का एक अनगढ़ प्रयोग बरता गया है :

"चारों ओर...
चारों ओर...चारों ओर मेरे
खत हैं वसन्त के
हर मोड़ पर
लचकती, झूमती है राह...
...मुझे है सेतु तेरी बाँह ।
हवा पर तैरती
फूलों की गन्ध
बौरे सहकार की

"'और कहीं'''हर कहीं टेरती
फागुनी दृष्टि
मेरे सुहाग की'''।" (निर्मला वर्मा)

और निम्न कविता में सौन्दर्य एवं श्रृंगार के जिस चित्र को कवयित्री अपने शब्दों में उतारने का प्रयास करती है वह एक विचित्र भंगिमा और असाधारण कल्पना द्वारा अभिसारिका के उस रूप के दर्शन कराता है जो आत्मविभोर करता हुआ मधुर स्वप्न-सा साकार हो जाता है :

"लो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने !
बज उठी पायल प्रकृति की सज उठे सब साज जग के,
देख यह सुषमा अनूठी हैं अचेतन भी सजग से,
छलकते रस गागरी साधे करों में अलस पग से,
उतरती वासन्त शोभा आ रही आकाश मग से,

प्यास ले मादक स्वरों में चेतना की धुन सुनाने,
लो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने।

हैं चकित से नव कुसुम, नव पल्लवों की छवि निराली,
झूमती अठखेलियाँ करती मचलती आज डाली,
बौर की भीनी महक पर है विमोहित स्वयं माली,
पवन में मृदु स्पर्श का सुख, ढल रही चहुँ ओर प्याली,

आज रतनारे नयन से अमिय रस पीने पिलाने,
लो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने।

मृदुल मलयज के झकोरों से पुलकती सँभलती-सी,
कूक सुन पिक की रसीली कमलनयनी सिहरती-सी,
पीत चुनरी में लजीली सिमटती औ' सकुचती-सी,
माँग किंशुक सी सजाये लहकती कुछ थिरकती-सी,

शून्य से नित छेड़ता जो आज उसकी झलक पाने,
लो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने।

उल्लसित हो शस्य श्यामल भूमि ने सोना बिखेरा,
मुग्ध होकर स्वर्ग न भी इस धरा की ओर हेरा,
नील नभ का थकित राही चल दिया लेने बसेरा,
किन्तु यह तो रत निरन्तर साँझ हो या हो सबेरा,

रूप की अभिमानिनी उस पुरुष को बन्दी बनाने,

लो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने ।

आज केसरमय अनिल है अवनि अम्बर है महकते,
चाँदनी में भीगता जग ऊँघते उडगण झलकते,
झर रहा झरना शिखर से हीर-कण तट पर बिखरते,
जौहरी बैठा जगत का निरखता मोती दमकते,

साधना में आत्मविस्मृत प्रिय पुरातन को रिझाने,
लो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने।"

(सुभाषिणी)

एक अन्य कवयित्री के कुछ नये मौलिक कल्पना-चित्र जो अपनी सजीव चित्रात्मकता के कारण सामने उभर कर साकार हो जाते हैं। 'प्रार्थना करो' शीर्षक कविता :

"तुम और मैं
और बीच में चौकी पर
पवित्र, गंभीर, नन्ही मोमबत्ती :
आँखों में,
करुणा प्यार की लहर : गहरी।
उभरती, डूबती,
डूबकर फिर उभरती ज़िंदगी,
सुख-दुख साथ-साथ भोगने का वह
विचित्र आह्लाद, बारीक है जो।
आ : इस झीने, नम अँधेरे में
सुंदर हो गयी यह रात।
प्रार्थना करो :
कभी ढले न, कभी ढले न।"

'एक और बसन्त' का चित्र—

"प्रीतिकर लगे कैसे
यह पुआल की मद्धिम आग के रंग-सा वसंत ?
किनारों को चूमता हुआ आकाश ?
—मेरी देह में भर रही है
एक और देह,
मुझसे लिपटे हुए मन में
एक और मन—
प्रीतिकर लगे कैसे ?

'हथेलियाँ' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ—

"दबी दबी सिसकियाँ—
चाहती हूँ, ये उभरें,
और, और, उभरें
अँधेरे का आतंक तोड़,
ताकि मैं उठूँ, और उठूँ, और उठूँ, और धर दूँ
बन्द बन्द पलकों पर
अपनी नर्म-नर्म हथेलियाँ।"

'डूबता ताल' से—

"खिड़की से छन छूती रही रात भर
हल्की-हल्की, उजली-सी बरसात।
पास के ताल में अब
डूब रहा है चाँद।
डूब रहा है ताल।"

और 'स्वानुभूति' का एक मोहक चित्र—

"आकाश जैसे आकाश में डूब गया है
पृथिवी जैसे पृथिवी से दूर हो गयी है
मुझमें मेरी आत्मीयता
धुआँ बन उड़ गयी है, उड़ गयी है ..!
प्रतिक्षण लगता,
मैं जैसे अपने से पृथक् हो गया हूँ!" (कान्ता)

'तुमने किया नहीं अनुभव' शीर्षक कविता में यही कवयित्री अनमेल वाक्य-खण्डों से ही एक विचित्र आभास उत्पन्न करती है:

"तुमने किया नहीं अनुभव क्योंकि
निविड़ अँधेरी रात में
किसी घिनौने कीड़े का पंख फड़फड़ाना,
सन्नाटे को तोड़ना, और घना करना;
तुमने जाना नहीं क्योंकि
मन्दिर की घंटियों का स्वर भी
किस क़दर सपनों को बिखेर देता
मन की भाव-शून्यता में जब
बहुत पहले सुने गीत की मार्मिकता भी
बिसर जाती;
और न तुमने समझा कभी
कि ममता बिलखती कैसे
मरघट से सुन पुकारें

अपने अशरीरी, तड़पते
वात्सल्य की—
इसी से हँस पाते हो
इस मेरे खालीपन पर।
कन्तु मैं
ालीपन में इसी
ामत्व सँजोये
ापनी वत्सलता समर्पित करती हूँ
ार यातना-छीजे, वेदना-त्रस्त
शिशु को,
ाीहड़ राहों में जो
मेरी उँगलियाँ पकड़ चलता है,
जिसके ओंठों को
खिलती धूप-सी हँसी
भेंटती है।"

एक अन्य कवयित्री की प्रयोगवादी कविता 'बूँद और शब्द' में:

"टिप टिप करती बूँदें
जो बराबर
दस्तक दे रही हैं
बन्द खिड़की के
काँच पर
ठीक तुम्हारे शब्दों की तरह
वे शब्द
जिन्होंने मेरे हृदय के
काँच को तोड़
कभी से भीतर प्रवेश ले
मुझे
समूचा भिगो दिया है" (अमृता भारती)

'तुम जो भी हो' में अपरोक्षानुभूति है। यह अनुभूति अपने में एक प्रबल आग्रह है, पर मात्र उसका सीमित संघर्ष बन कर रह गया है:

"तुम तो अनिश्चित हो!
जैसे अनागत भविष्य।
पर इसके बावजूद
तुम तक यदि आऊँगी

आसपास छितरा यह असहनीय जीवन
में
सारा सह जाऊँगी।
कौन सा पाप ?
आह ! कौन सा अपावन कार्य ?
जिधर भी निगाह उठे
कांटे ! समुद्र ! दीवार !
तुम तक जो आऊँगी,
सचमुच कह पाऊँगी
मुक्ति दो--
दर्शन से, लहरों, अवरोधों से
इस कातर जीवन को !
अंधकार या प्रकाश ?--
तुम
जो भी हो !"

(स्नेहमयी चौधरी)

'अनजाने' में इसी कवयित्री ने उक्त संघर्ष को कई स्तरों पर अनुभव किया है, किन्त उसके विघटित तत्वों में एक नई संतुलन भूमि खोजने का प्रयास सक्रिय है :

"आस पास में खोज रही हूँ
रंग-बिरंगे फूलों वाली
गदराई वह डाली,
जो मैंने कल या परसों ही
अस्त व्यस्त से उगे पड़ोसिन के पौधे से तोड़
यहीं द्वारे थी सहज लगा ली।
हाय, साव से कितनी, मैंने,
उगी घास के तिनके चुन-चुन,
झाड़ और झंखाड़ फेंक, थाला रखकर थी बोई !
गिरा वृक्ष आँधी में जो,
क्या उसके नीचे
नन्ही-मुन्नी कलियों और पत्तियों वाली डाली मेरी खोई ?
अब न खिलेगी ! मनभाए फूलों से ढक दीवार,
हवा के भोंकों में न हिलेगी !
इसी बीच में, थककर बैठी

गिरे वृक्ष के सूखे हुए तने पर
मैं मन मार कि अब वह फिर से नहीं मिलेगी।
एक काँपती-सी पखरी (भावों की !)
मुझमें तभी लगी लहराने,
जो खोई थी यहाँ,
मिली, देखो, कितने अनजाने !"

वैयक्तिक सीमा में सिमट कर अनुभुति की प्रखरता मन के क्षणिक स्पन्दनों में तीव्रतर हो उठी है जहाँ सब कुछ उसी से गूँज रहा है और अन्य कोई ध्वनि या अनुगूँज सुनाई नहीं पड़ती। यथार्थता के पहलू और स्तर भी भिन्न हैं, वरन् यथार्थ स्थिति की अर्थवत्ता को 'तुमने भिगो ही दिया' शीर्षक कविता में कवयित्री संवरण नहीं कर पा रही है :

"तुमने भिगो ही दिया मुझे, मुझ सद्यः स्नाता को
किरणों से
अब ये भीगे कपड़े पहने कैसे निकलूँगी घर से ?
नमी के साथ बरबस तिर आये इस अपरिचित-से
अनायास भाव का क्या करूँ ?
लगता है—
किरणों और इस अनजाने भाव को सँजोए हुए
किसी एकान्त में दौड़कर
पुलक को आत्म-समर्पण कर दूँ।
पर, देखो न, मैं यहीं की यहीं खड़ी हूँ !
मेरी सद्यःस्नाता मसृणता इन किरणों से सन्धि कर
मुझे आवृत्त किये जाती है,
और मैं ठगी सी खड़ी हूँ !
किरणों के वर्षा-जल से धुली कांति
देखते-ही-देखते अरुणिम लज्जा में डूबी जा रही है;
किन्तु मैं कैसे देखूँ उसका मोहक परिवेश ?
इस स्थिति की अर्थवत्ता का, ओ प्रिय, कैसे संवरण करूँ ?
कैसे ये भीगे कपड़े पहने घर से निकलूँ ?"

(*विमला राजेन्द्र*)

यही कवयित्री 'यह थिरकता मादक गान' में और भी निरपेक्ष हो जाती है, पर जड़वत् शांति के बावजूद भी उसके हृदय पर अनजाना, अपरिचित बोझ जमता जाता है :

"यह थिरकता मादक गान आज नहीं छूता मुझे,

छूती है केदल यह जड़वत शान्ति ।
अपनावे से हाथ अचानक खिचा जाता है,
हृदय पर जमता जाता है कोई अपरिचित बोझ ।
कहीं गहराइयों से आती कोयल की कूक,
दूर मैदान में खेलते बच्चों की किलकारियाँ,
सामने के वकीलों की मुवक्किलों से चख-चख,
रसोई घर में चल रही बर्तनों की खटापट, मसालों की सोंधी
गन्ध सब—
जैसे निकट आकर कतरा भर जाती है मुझे छूती नहीं ।
हाँ, गहराती संध्या की अक्रिय निर्वैयक्तिकता की सार्थकता
शत-सहस्र रूपों में उभर आती है ।
तब और यह थिरकता मादक गान आज नहीं छूता ।"

युग-युगान्तर से प्रियतम-प्रेयसी के प्रणय-स्रोत को काल की गति भी शुष्क नही कर पाई, वरन् निरवधि काल से टकराकर और हर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों के भँवर-जाल मे भी वह नित-नवीन है । 'अब छोड़ो भी, यह शृंगार कि,' शीर्षक कविता में प्रणय-निवेदन का एक सर्वथा नूतन ढंग देखिए :

"कसम मेरी—
अपनी छवि
दर्पण के
हृदय में
डाल के
न देखो...!
कहीं-
तुम्हारी आँखें
जाने-अनजाने
'तुम्हीं' पर
रीझ गईं,
तो मेरी—
दो बावरी
आँखों का—
क्या होगा ?
तुम्हारे—
रेशम से
काले-काले
कुन्तलों में

जैसे—
रात समाई,
और गेहुएँ
शरीर से
लिपटा—
श्वेत चीर,
जैसे कि
भीगी—
चाँदनी,
रूप के
दूधिया—
सागर में
डूब के,
आई
......मारे
लाज के
तुम में
सिमट गई !
अब छोड़ो भी-

यह शृंगार कि
कहीं.....
पूनम का
चाँद न,
तुम्हें देख
लाज से—
गड़ जाये ?
तब सोचा भी-
आकाश में
टिमटिमाते
सितारों का—
क्या होगा ?
उठो भी ।
देरी इतनी
अच्छी नहीं
कहीं द्वार पर
आया
बसन्त न
प्रतीक्षा कर,

अन्ततः
लौट जाये—
परदेश को !
तब तुम—
आसमानी
साड़ी में
अपने को—
ढाँक के
पायल की
खन-खन—
चौखट पर
मौत के-

स्वागत को
बिछा दो !
साथ ही--
पलकों में
काजल के
काले-काले
बादल ले.....
आओ ।
और तब--
जैसे बादल
कठोर पर्वत-
चूम के

मीठा दर्द ले
सिसक पड़ता है
तुम भी-
मात्र शून्य से
टकरा के
छलक पड़ो,
कि इतना
सोचने का--
अवसर भी
उसे न मिले,
कि बाद 'उसके'
तुम्हारा--
क्या होगा ?"

मनोवैज्ञानिक गुत्थियों और भावना-जगत् की अनेक उलझनों के साथ-साथ प्राचीन प्रेम-संस्कारों की सापेक्षता में पर्याप्त अन्तर आ गया है। नई कविता के छन्द, लय, शब्द योजना, प्रतीक-विधान तथा कथन भंगिमा के विविध पक्षों में कुछ न कुछ वैचित्र्य और नयापन होता है, वरन् कहें कि आन्तरिक शक्ति-संगठन की अपेक्षा उक्ति-वैचित्र्य और तदनुरूप भाव-भगिमा मौजूदा कविता का एक प्रधान गुण कहा जा सकता है। फिर भी कुछ कवयित्रियाँ उसी प्राचीन परिपाटी पर गीतों की आरती उतार रही हैं :

"गीतों की अनबुझी आरती,
स्वर-किरणों की अलख जगा कर
किस सपने का कथ गुहारती ?

चोटों की यह उमस सकुच कर
किस रीते पतझर पर रोती ?
क्षण की बीरानी ईहा में
कौन नमस्कृत ऋजुता खोती ?

अपने क्षितिज पलक फैला कर
यह अगोरती साँझ बिछी जो—
किस प्रभात का पथ निहारती ?

आज शब्द के पंख सुलगते-
बन पाँखी-से उड़ जाने को ?
आज भटकती राह न जाने
किन संकेतों के पाने को ?

आशीषित तट की प्रवासिनी
कौन अजन्मी देव कृपा के
सुधि-शकुनों के पद पखारती ?

चक्रव्यूह-सा रचती रेखा—
जो संगम से हार गई है,
बिलख-बिलख रोती है कारा,
जिस को साँस दुलार गई है,

आगत की यह प्रिया द्रवित हो
घुलते-से गीले बालों से
किस यायावर को पुकारती ?"

(सुजाता पाण्डेय)

'और जलता ही रहेगा ज़िन्दगी भर' कविता में कोमल और सुकुमार भाव-व्यंजना है। वेदना का अखण्ड दीप जल रहा है और उसमे प्राणों की लौ जगाए है। प्रियतम तो मिला, पर पहचान न पाया। इसलिए व्यथा और प्राणघातक कचोट समा गई। प्राणों का थका-हारा पथिक अविराम गति से जिन्दगी की डगर पर चलता ही जा रहा है। न कही मंजिल है, न कही विराम।

'दीप मेरी वेदना का जल रहा है, और जलता ही रहेगा जिन्दगी भर !
हाय ! यौवन का थकित रवि ढल रहा है, और ढलता ही रहेगा जिन्दगी भर !!

मैं अकेली शून्य पथ पर दीप लौ-सी जल रही थी,
उमड़ बदली-सी क्षितिज पर बूँद-सी ही ढल रही थी,

पर अकेलापन मुझे अब खल रहा है, और खलता ही रहेगा ज़िन्दगी भर !

तम मिले, मिलकर कभी मुझको न प्रिय ! पहचान पाए,
चिर व्यथा मेरे हृदय की तुम न कर अनुमान पाए,

प्रलय का सागर हृदय में पल रहा है, और पलता ही रहेगा ज़िन्दगी भर !

विश्व में हम जी रहे है प्रणय की निधियाँ लुटाकर,
मुस्कराना सीख बैठे, नयन में सावन छिपाकर !

मनुज को- अस्तित्व अपना छल रहा है, और छलता ही रहेगा ज़िन्दगी भर !

चुभ रहे हैं शूल पग में भर रहे पीड़ा से छाले,
मधुर जीवन के गगन में घिर रहे हैं मेघ काले,

किन्तु प्राणों का पथिक यह चल रहा है, और चलता ही रहेगा ज़िन्दगी भर !
दीप मेरी वेदना का जल रहा है, और जलता ही रहेगा ज़िन्दगी भर !!"

(सुदर्शन पुरी)

एक अन्य कविता 'प्यार का आधार पाकर' में इसी प्रकार के आर्द्र, मर्म-स्पर्शी प्रणय भाव की चिर आकुलता है जहाँ उसकी परिधि की इयत्ता दो हृदयों को एक स्नेह-सूत्र में बाँध देती है। मांसल सौन्दर्य के आकर्षण से परे वह एक ऐसी मधु-मती भूमिका है जो न केवल स्थूल वासनाओं का परिष्कार करती है, बल्कि जीवन की सूक्ष्म, सुन्दर, उदात्त भावनाओं को उद्बुद्ध कर प्राणवान बनाती है :

"झुक गईं पलकें किसी के प्यार का आधार पाकर !
हो उठे दृग सजल उर की भावना साकार पाकर !

मूक वाणी मे किसी की प्रेरणा का अंश पाकर !
चल पड़े प्रेमी-पथिक विश्वास का संसार पा कर !
झूमतीं अलकें किसी के स्पर्श का आभास पाकर !
जल उठे दीपक, कलश के स्नेह का आगार पाकर !

झुक गया अम्बर क्षितिज के वक्ष का आधार पाकर !
कल्पना मुखरित हुई है, नव विहग का गान पाकर !

आ गई फिर से अमा, चिर-तिमिर अपने साथ लाकर
भर गईं आँखे किसी के विरह की मधु-रात पाकर !
चेतना जागृत हुई, उर का अचेतन प्यार पाकर !
चातकी भूली घटा के नयन मे बरसात पाकर !
पवन-गति भी रुक गई, चिर-विरह का उच्छ्वास पाकर !

गल उठे पाषाण करुणा की हिमानी साँस पाकर !
झुक गये पर्वत-शिखर जलती चिता का प्यार पाकर !"

(*कु० सन्तोष सचदेव*)

'क्यों' शीर्षक कविता मे कवयित्री अपने से ही प्रश्न करती है कि मन चाँदनी में व्याकुल क्यों है ? इसका कारण हृदय मे प्यार की तड़पन है। फलतः कभी तो अंतर मे गीत उभरता है, कभी आँसू ढुलकने लगते हैं, और कभी मौन रह-रह कर प्रणय की रागिनी फूट पड़ती है :

"विकल मन क्यों चाँदनी में ?
पूर्णिमा का चन्द्र देखो
है गगन में जगमगाता।
आज उज्ज्वल चाँदनी में
विश्व है गोते लगाता।
क्या रहा अस्तित्व मेरा,
आज बेसुध चाँदनी में ?
विकल मन क्यों चाँदनी में ?

उठ कभी है गीत गाता,
चुप कभी आँसू बहाता ।
शान्त पर मन हो न पाता,
मौन रह रह गीत गाता;
व्यर्थ दोनों रुदन गायन

इस प्रणय की रागिनी से
विकल मन क्यों चाँदनी में ?

चाँदनी की मुस्कराहट
दूर पर छिटके सितारे ।
विरह में डूबा हुआ मन
हो रहा जल जल अँगारे;
व्यर्थ है अब मस्त होना

इस सुधा सी चाँदनी में ।
विकल क्यों मन चाँदनी में ?

गगन-गंगा में सुधाकर
चन्द्र मुख को धो रहा था ।
मगन मन की बीन पर तब
गीत तेरा हो रहा था;
खोज मुझको इस प्रणय की

आज छिटकी चाँदनी में ।
विकल क्यों मन चाँदनी में ?

जल रहा दीपक नहीं है,
तुम नहीं यह भी सही है ।
अश्रु मेरे बह रहे हैं
चन्द्र से यह कह रहे हैं;
आज जल जल कर बुझा है,

दीप मेरा चाँदनी में ।
विकल मन क्यों चाँदनी में ?

(लता खन्ना 'निशा')

'गीत नहीं सो पाए' में भी वही कातर प्रेम की विह्वलता है । स्निग्ध प्रेम और अनुराग को क़ायम रखने के लिए विश्वास का सहारा आवश्यक है, पर राग-विराग के फन्दों में झूलती हुई आत्माएँ जब खुद पर ही अविश्वास कर बैठती हैं तो जीवन कटु से कटुतर हो जाता है । तन सूखने लगता है, मन डूबने लगता है और

अन्तर के क्षितिज खोये-खोये से लगते हैं। करुण मनुहारें भी जब व्यर्थ साबित होती हैं, तो दर्द और व्यथा की छटपटाहट और भी गहरी होकर उमड़ती है :

"मेरी अन्तिम घड़ियों में भी निठुर! न क्षण भर तुम रो पाये!

अधरों तक आते-आते ही–
मेरी वाणी रुक जाती थी,
दृष्टि कहे कुछ इस से पहले—
पलक नयन पर झुक जाती थी!

जो कुछ मैंने कहा वही तो प्रिय! मेरा मन्तव्य नहीं था,
मौन अशक्त निमन्त्रण मेरे मन का भाव नहीं ढो पाए!

तुम को गीत सुनाती क्या जब—
खुद ही गीत बनी बैठी थी,
कैसे स्वर के दीप जलाती,
खुद संगीत बनी बैठी थी!

अर्थ शब्द से बहुत बड़ा है; यह मैंने उस दिन ही जाना;
क्या तुम को अपनाते मेरे शब्द न मेरे ही हो पाए!

सारा अर्थ समेट नयन से—
मात्र एक जलधार बही थी,
नीरस जीवन से थक कर मैं,
साँसों कर ऋण चुका रही थी।

मुझ को था मालूम कि तुम तक मेरे छन्द नहीं पहुँचेंगे,
जाने फिर भी किस आशा में, निशि-भर गीत नहीं सो पाये।"

(पुष्पा 'रश्मि')

अत्यधिक भावावेग की मार्मिक वेदना से आकुल यही कवयित्री 'विसर्जन गीत' में कहती है :

"अश्रु की बरसात से जब प्रीत की कालिख धुलेगी,
देवता! मेरे निमंत्रण का दिवस होगा वही!

भाव के आवेश में थे
बह गये ये प्राण इतने,
अनसुने मैंने दिए कर
आत्मा के प्रश्न कितने,

मुक्त हो कर साँस लूँगी दंश से अनुताप के जब,
देवता! मेरे निवेदन का दिवस होगा वही!

भावना से शून्य हैं ये
अर्चना के गीत सारे
तर्क ने हैं काट डाले
कल्पना के पंख प्यारे !

जब न दुनियाँ के नियम से प्रेम की धारा बँधेगी,
देवता ! मेरे समर्पण का दिवस होगा वही !

दर्द तो सहना पड़ेगा ;
प्यार की तक़दीर ऐसी,
अश्रु की राहत मिले, कब—
सूझती तदबीर ऐसी !

जब विरह-ज्वाला जला कर राख में परिणत करेगी,
देवता ! मेरे विसर्जन का दिवस होगा वही !

जर्जरित जीवन ! तुझे आ,
अंक में भर गीत गा लूँ,
घाव की तीखी व्यथा आ,
अश्रु का मरहम लगा दूँ !

जब शिला से चोट खा कर भी न मेरे पग रुकेंगे,
देवता ! निर्धूम अर्चन का दिवस होगा वही।"

'जीवन की राहों में' प्रणयोच्छ्वास के न जाने कितने नग़मे तैर रहे हैं जिनमें प्रियतम की निष्ठुरता का इतिहास अंकित है और मरुस्थल से भी बड़ी हृदय की प्यास समायी है :

"मैंने जग को जग ने मुझ को जाना है,
पर जीवन ने भेद नहीं कुछ माना है !

जीवन की राहों में सपने पलते हैं,
श्वासों की पलकों से नग़मे ढलते हैं,
दीपक और शलभ ने जलना जाना है,
किन्तु जलन ने भेद नहीं कुछ माना है !

सागर से ज्यादा गहरा आकाश है,
मरुथल से भी बड़ी हृदय की प्यास है,
पलकों ने, पावस ने ढलना जाना है,
पर शबनम ने भेद नहीं कुछ माना है !

कली और कोमलता का सहवास है,
और शूल निष्ठुरता का इतिहास है,

फूलों से शूलों ने बिंधना जाना है,
किन्तु सुरभि ने भेद नहीं कुछ माना है !
कंचन-सी काया थोड़े दिन चलती है,
धूप साँझ बनने को तिल तिल ढलती है,
दूर दूर कूलों ने चलना जाना है,
किन्तु लहर ने भेद नहीं कुछ माना है !"

(*स्नेहलता 'स्नेह'*)

दो वियोगी हृदय जब मिलते हैं तो जैसे टूटे तार जुड़ जाते हैं। इस शुभ मिलन की वेला में प्राण थिरक उठते हैं, आशा-लतिकाएँ लहलहा उठती हैं और आकुल-व्याकुल भाव आनन्दोल्लास में मुस्करा उठते हैं :

"आज फिर मधुगान गाये !
हो रहा मन उर तरंगित, आज जीवन प्राण आये।
जुड़ गये जो तार टूटे,
बज उठी फिर मूक वीणा।
मिट गये संताप हिय के,
साधना कर नित नवीना।
मिल गये दो उर वियोगी, नेह का वरदान पाये।
दूर कर घन-कालिमा को,
लालिमा छाई गगन में।
हो रहा अनुराग अनुभव,
आज कितना शुभ मिलन में,
नृत्य करते मोर भू पर, व्योम में घन श्याम छाये।
टिमटिमाते दीप की लौ--
जगमगाई स्नेह पाकर।
मुग्ध हो छाये शलभ फिर
प्यार की आशा लगाकर।
जो विकल थे भाव उर में, आज फिर वे मुस्कराये।
बन गई अभिसारिका सी
खिल उठीं आशा लतायें।
पवन बह बह प्रेम-निधि से
ले रहा अगणित बलायें।
मधुप ने मंजुल स्वरों में, राग फिर नूतन सुनाये।
आज फिर मधुगान गाये !"

(*विद्यावती वर्मा*)

'याद भरा मन खो जाता है' में प्रणयी की याद मचल मचल उठती है। शून्य गगन, झिलमिल तारे और दूर क्षितिज के व्यापक प्रसार को देखकर उस पर प्यार का उन्माद सा छा जाता है और मिलन-विरह के इस क्रीड़ा-कौतुक में जैसे सब कुछ सपना सा बन कर तिरोहित हो जाता है :

"बूझ बूझ मैं बूझ न पाई
ऐसा कुछ क्यों हो जाता है
याद भरा मन खो जाता है

शून्य गगन में अपलक लोचन
ताक ताक कुछ रह जाते हैं
उगता चन्दा--झिलमिल तारे
चुप-चुप तब कुछ कह जाते हैं
धवल नवल किरणों से कोई
मेरा तन पथ धो जाता है
याद भरा मन खो जाता है

अंग अंग में फागुन आकर
केसर के रंग भर जाता है
और सुरभि में मादकता दे
प्रतिक्षण मादक कर जाता है
कौन तभी जीवन मरु-भू में
सुख के अंकुर बो जाता है
याद भरा मन खो जाता है

कोई पार खड़ा क्षितिज के
मेरे गीतों को दुहराता
मिलन विरह के खेल खिलाकर
कुटी बनाता महल गिराता
जागृति में खो यह सपना बन
इन पलकों में सो जाता है
याद भरा मन खो जाता है।"

(सरला तिवारी)

'फूल न कहना' में कवयित्री के मन की भावुक परिणति है। वह शूलों की छाया में पनपी है, अतः उसे फूल कहना भूल है। रूढ़ भावधारा से प्रेरित होकर भी चारु वर्णन और नव्य कल्पना का पुट है :

"मैं शूलों की ही छाया हूँ, मुझ को कोई फूल न कहना।
बीज लगा कर तुम ने माली-

धीरे धीरे पनपाया है
माना सरदी, गरमी, वर्षा-
सह कर मधुवन बन पाया है !
फूल गई बस मैं इतने पर, इसको मेरी भूल न कहना !
ऋतुपति भी मुझ में मुसकाता,
पतझड़ भी मुझ में बस जाता,
मलय पवन मुझ को सहलाता—
और बवण्डर भीषण आता !
यदि य सब मुझ को खो दें तो, मेरे माली ! धूल न कहना !
शेष रहें शाखों पर काँटे--
तो करुणा जल देते रहना,
'शूलों ही में फूल खिलेंगे',
जग से यही बात तुम कहना !
मैं मँझधार नहीं सच मानो, फिर भी मुझ को फूल न कहना !"

(चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा')

एक अन्य गीत में यही कवयित्री बड़ी आर्द्र विह्वलता और गद्गद भाव से अपने आकुल प्राणों की अबूझ व्यथा को व्यंजित करती है। हँसना तो सपना है ही, पर रो भी न सके--जीवन की यह कितनी दारुण विवशता है :

"क्या जो गाए गीत शून्य में, उन्हें नहीं तुम सुन पाए हो ?
मेरे आकुल प्राण पुकारें,
ओ मेरे गीतों के दाता !
सब कुछ भूला जा सकता,
क्या भूल गए गीतों का नाता ?
क्या वह कोरा अभिनय ही था, जो कल रोए मुसकाए हो ?
क्या यह बात सही है जग में-
रहती सब की प्रीति अधूरी ?
हँसना तो सपना है, लेकिन-
रो न सकूँ कितनी मजबूरी !
क्या यह जान पराजय मेरी, अपनी जीत जता पाए हो ?
क्या नीरव रजनी में मेरी-
सिसकी तुम तक पहुँच न पाती ?
तिल-तिल जल मैं मिटूँ,
मौन तुम, निर्मित है काहे की छाती ?
क्या परिभाषा यही पुरुष की बता मुझे तुम हर्षाए हो ?"

और 'विवशता का गीत' की कुछ पंक्तियाँ :

"अब आँखें कर लो बन्द,
और माथा दो टेक !

तुमने तो बहुत किया,
भरसक तो बहुत दिया,
लेकिन कुछ हुआ नहीं,
बस भी कुछ चला नहीं,
सोचा था सहकर भी,
मिट-मिट कर, दबकर भी
राह नहीं छोड़ूँगा ।
आस नहीं तोड़ूँगा ।

मंज़िल का एक छोर लेकर ही आऊँगा ।
जीवन का एक मोड़ देकर ही जाऊँगा ।
लेकिन जब पैरों में कीलें जड़ दीं तुमने,
साँसों की राहों में नागफनी बो दी है ।
हाथों की हरक़त पर पहरा बैठाला है,
आँखों के आगे दीवारें जो चुन दी हैं ।
उनमें मैं बन्द, आज जोड़-जोड़ छन्द,

यही कह सकता नेक ;
अरे माथा दो टेक ।
और बन्द करो आँखें···"

(*रीति चौधरी*)

प्यार का उन्माद और विरह की हूक लिये एक अन्य कवयित्री की मर्मान्तक व्यथा की छटपटाहट देखिए :

"जीत समझूँ, हार समझूँ, या इसे मैं प्यार समझूँ ।
देख कर मुख चन्द्र सा मैं,
फूल जाती हूँ, किसी का ।
फूलें वे, न फूलें वे, मैं,
गीत गाती हूँ, किसी का ।

तू बतादे समझूँ क्या ?
इक प्रेम का उपहार समझूँ ।

जीत समझूँ, हार समझूँ, या इसे मैं प्यार समझूँ ?
पीर कितनी भी न क्यों हो,

गान करती हूँ, किसी का।
मान जायें वे, न मानें,
मान करती हूँ, किसी का।
तू बतादे समझूँ क्या ?
इक प्रेम का सिंगार समझूँ ।
जीत समझूँ, हार समझूँ, या इसे मैं प्यार समझूँ ?"

(राजकुमारी शिवपुरी)

निम्न कविता में 'प्रेम, प्रेम के लिए' (Love for love's sake) इस विषय पर बहस छिड़ी हुई थी। आज का अभिजात और शालीन प्रेम निरंकुश है। वह देश, काल, स्थान से बाधित होकर किसी आचार-मर्यादा के बन्धन में बँधना नहीं चाहता। इसी का नाम प्रेम है ? अथवा क्या कर्त्तव्याकर्त्तव्य, सुख-दुःख, संयोग-वियोग के अनेक उद्वेलनों के मध्य समभाव से प्रवहमान अन्त में शाश्वत मिलन-भूमि पर प्रेम की धारा प्रतिष्ठित होती है ? कवयित्री पूछती है--क्या इसका नाम प्रेम नहीं है ?

"बहस छिड़ी हुई थी
मित्रवर
गले की आवाज़ को
तार-सप्तक तक
ऊपर उठा
पूरे जोर-शोर से कह रहे थे—
"प्रेम, प्रेम के लिए।
सच्चे प्रेम में
आदर्श का पैबंद
शोभा नहीं देता।
प्रेम के प्रवाह पर
निराधार नौका को
लंगर-पतवार हीन
छोड़, चुप बैठना ही
प्रेम है।
और सब कनसिडरेशन
व्यर्थ हैं
बोगस हैं
उनकी चर्चा भी
प्रेम के पवित्र
और

उज्ज्वल रूप पर
कलंक है ।
चुप रहो, बको मत…"
पर, मन मेरा दूर
कहीं और ही उलझा था
आँखों के सामने
चित्र एक उभर चला—
प्रेम के प्रवाह को
हृदय में समेटे हुए
उसे दिशा देते हुए
खड़ा एक जोड़ा था ।
विदा के क्षणों की
स्निग्धता
आकुलता
मर्मव्यथा
अंकित थी चेहरे पर
किंतु
उससे भी प्रबलतर
रेखा थी अंकित
दृढ़ता की
कर्मठता की
और
कर्मनिष्ठा की ।
जीवन-संग्राम में जूझने
यथार्थ की कठोर भावभूमि पर
सरिता की धार-धार
चल पड़े दोनों वे
दूर…दूर
फिर भी
कितने अदूर ।
क्या वह प्रेम न था ??"

(प्रतिभा अग्रवाल)

और 'एक रात का सफ़र' में सितारों जड़े नीलाम्बर और चाँद की मदहोश खुमारी की सायाओं तले ख्वाबों का जो एक जहान उभर आया है उसकी एक

झलक जरा देखिए :

"रात सुन्दर थी,
दिल में छाये गुमनाम ग़मों के साये
नीले अम्बर के सितारों-जड़े गुम्बद के तले
गहरी छाया पै, चाँद का साया जो पड़ा
झिलमिल लहरों पै नयी दुइज के साथ
ख्वाबों का एक जहान उभर आया।
और फिर वो शीशा जो चढ़ा--
मोटर की घुरड्डर, घुड्डर, घुड्र, घुर में
धौली धरती औ' लम्बे खजूरों की महक
डूब गयी, खो ही गयी।
चाँद भी दिखता न था
पर उसकी जगह—
मोटी मलमल के एक कुरते और
काली टोपी से ढका, एक मोटे से
लाला का बदन दिखने लगा : दोहड़ का
एक चदरा, और गोल सी गाँधी टोपी,
चौधरी पच्छिम के एक गाँव का लगता था।
चंगेज़ की लम्बी, ढलकी, पतली मूँछें, बाल
माथे पै दिलीप के बिखरे हुए,
वो सैलानी सा खुशग़ाह जवान
अश्लील से गीत की धुन में फड़क उठा।
'वाह। वाह।' पड़ोसी ने कहा,
'देखते नहीं औरत की भी जात', डाँटते स्वर में
मेरे पास बैठा सफ़ेदपोश भी कह बैठा।
गीत थम गया फ़ौरन,
खिलखिलाहट भी उठी,
कानाफूसी का वह आलम,
मेरे मानस पै निशाँ छोड़ गया।
दूरी कितनी इक औरत औ' मर्दों के समूहों में ?
कविता साहित्य पै पोषित सुसंस्कृत चैतन्य,
दुनियादारी के ख्यालों पै पला जन-मानस।
बाहर वह रात सलोनी, और अन्दर ?
एकाकीपन, गहरा और गहरा होता ही गया।"

(आभा)

ज़िन्दगी की राह पर बढ़ते हैं तो कितने ही बिघ्न और अड़चनें मिलती हैं। हम समझते हैं कुछ और, पर निकलता है कुछ और। तब सचमुच ही अति विशाल और अति लघु की सीमाओं में घिरकर सब कुछ रहस्यमय-सा प्रतीत होता है, पर अन्तर्प्रेरणा और भीतरी विश्वास की मौन छायाएँ धैर्य और संयम को विचलित होने से रोके रहती हैं :

"तुम अपने हो कर भी रहते हो सपने-से !
दिन की नौका पर चढ़ कर मैं हर रोज,
सागर से कुछ मोती लाती हूँ खोज,
तब आँधी औ' धूप मुझे झुलसा देती--
जल-सी निढाल हो बेबस मैं कह ही देती--
"क्या नहीं करोगे छाँह बचा कर तपने से ?"

सूखे वन में मै ढूँढा करती फूल,
हाथों में कई बार आ जाती धूल,
तब काँटों की झाड़ी-सी खड़ी उदास,
सोचा करती तुम आ कर मेरे पास,
क्या नहीं सजाओगे फूलों के गहने से ?

मैं ने जो चाहा वह तो नहीं मिला,
जीवन को समझा कुछ, पर कुछ निकला,
तब पतझड़-सा विश्वास लिए यह कौन,
धुँधली छाया चुपचाप खड़ी हो मौन,
रोका करती मेरे संयम को डिगने से ?"

(पुष्पा अवस्थी)

पुरानी पद्धति पर वही उद्बोधक और आग्रहवादी स्वर निम्न कविता की विशेषता है। चारों ओर के आकर्षण एक मोह का स्वप्नजाल सा बुन देते हैं जो मन को अपने अहर्निश पाश में जकड़े रहते हैं। कवयित्री मन रूपी भँवरे को इन सबसे पृथक् मर्यादित आचरण पर अग्रसर होने की प्रेरणा देती है :

"काँटों में बिंध जाना भंवरे
द्वार न जाना कलियों के।

महकी महकी साँसें
बेहद ठगने वाली हैं,
ये सतरंगी चूनर
मन को ठगने वाली हैं,

प्यासे ही मर जाना भँवरे,
पास न जाना छलियों के !
घूँघट से हँस झाँक रही
जो, बड़ी ठगोरी है,
ये कजरारी अँखियन वाली
हाय न भोली है,
फन्दे में मत आना भँवरे,
जादू हैं सब परियों के।"

(शकुन्तला सिरोठिया)

'देवराज इन्द्र हूँ मैं' शीर्षक कविता में पुरुष के अहम् और विघटनकारी तत्त्वों के प्रति नारी का तीखा व्यंग मुखर हो उठा है। अपनी समस्त सहिष्णता और संघर्षों की एक लम्बी परम्परा में ज़िन्दगी के जहर को रसायन मान कर पीने वाली नारी को पुरुष की स्वेच्छाचारिता से सदैव भयंकर टक्कर लेनी पड़ी है। आदि काल से अब तक उसकी मूल प्रकृति में विशेष अन्तर नहीं हुआ, हालाँकि तहजीब के तकाजे ने पत्नी को उसकी बग़ल में तो ला बैठाया, किन्तु वहीं उन्ही परिस्थितियों में जहाँ उसकी औपचारिकता निभानी पड़ती है, अन्यथा आधुनिका तितलियाँ अब भी उसकी लिप्सा और भोग-विलास पर पलती है :

"देवराज इन्द्र हूँ मैं !
स्वर्ग का सुगढ़ सिंहासन
सदैव ही सुरक्षित है मेरे लिए
कितनी ही तपस्याओं की उपलब्धि पदवी यह,
धारण करता हूँ यंत्रणाओं के बल पर मैं
और वज्रघोष में डुबाता हूँ विरोधी स्वर
शाप भोगती हैं वे मेरी मेनका, रम्भा,
उर्वशी वशीकरण प्रवीणा अप्सराएँ,
और खंडित तपस्याओं का फल केवल मेरा है
वैभव विलास का विपुल साम्राज्य सदा,
शाश्वत युगों से मात्र मेरा है, मेरा है।
सारे लोकों की समस्त सुख-सुविधाएँ
मेरे चरणों में, मैं उनका उपभोक्ता हूँ
इन्द्राणी शची तो मेरी ही है किन्तु वे
रमणी मनहारी अप्सराएँ भी मेरी हैं
महलों में महिषी की शोभा, रंगमहल में
नूपुर की रुनझुन में मस्ती है,
सोम भरे पात्र प्यास बढ़ती है।

और यह प्यास अब लोभ बन चली है
चाहता यही हूँ कि कोई भी सत्प्रयास
सफलता न पा जाए,
और कहीं मेरे विलास-वैभव पर
हावी न हो जाए !
पहले ही दमन करूँ छल से या बल से,
योजनाओं यातनाओं से
अपने इसी रूप में
आज भी मैं जीवित हूँ,
आधुनिक पुरुष में
जो वैभव विलास में प्रवृत्त है प्रति पल
वसुधा का सारा सौन्दर्य, सुख—
समृद्धि जिसे ईप्सित है
पत्नी तो उसकी है ही घर की रानी,
गृहिणी, सहचारिणी समाज और उत्सव में,
किन्तु वे तमाम आधुनिका तितलियाँ भी तो
उसके विलासी स्वभाव की सुगंध पर
पलती चमकती हैं
जिन के विनियोजन से अपना प्रयोजन
बस पूरा कर लेता वह
भोगें वे भर्त्सना प्रवंचना समाज में
वह तो उपार्जित विलास का स्वामी है
फिर भी प्यासा मुझ-सा लोलुप भी,
और सदा शंकित, सतर्क
कहीं ठेस न लग जाए कोई
उसके विलास को।"

(लक्ष्मी त्रिपाठी)

'विस्मय' में हृदय की उमड़न है। स्नेहिल किरणों के संग जब नभ के शतदल मुस्काते हैं तो कवयित्री आश्चर्य चकित और स्तब्ध बिल्कुल ठगी सी रह जाती है :

"जो कुछ भी दोगे, ले लूँगी; पर तुम्हें नहीं कुछ भी दूँगी;
खो जाओगे इस घेरे में, मैं जाल अनोखा बूनूँगी;
धारा बन कर तुम आवोगे चट्टान नहीं बन पाऊँगी;
तूफ़ान हृदय में उठने दो, मैं सागर-सी लहराऊँगी;
लहरों में मिल लहराओ तो, आकाश निकट आ जायेगा,
अम्बर का तारक-दल प्रेमिल नयनों का गीत सुनायेगा;

क्यों व्यर्थ बहाते अश्रु, तुम्हारी आँखें यों ही रोती हैं;
मैं तो वह सीप नहीं, जिससे मिलते जीवन के मोती हैं,
मेरी स्नेहिल किरणों के संग, नभ के शतदल मुस्काते हैं,
मैं विस्मित-सी रह जाती हूँ, वे मुझे बुलाने आते हैं।"

(गीता श्रीवास्तव)

'शर्मिष्ठा' शीर्षक कविता में पौराणिक आख्यान के आधार पर नारी के पश्चात्ताप और व्यथा का चित्र आँका गया है :

"पिता ! तुम न मानो दुख
माँ ! ममता त्याग दो
जन-हित-यज्ञ में
अर्पित कर दो मुझको
चिन्ता क्या है यदि मैं—
दासी बन जाऊँगी
इच्छाओं के कच्चे घड़े
डूब जायेंगे
अपनी आकांक्षाएँ
छलना ही होती हैं
समभागी क्यों कोई
बने मेरी व्यथा का
मैंने अपराध किया
मुझे दण्ड सहने दो
करने दो प्रायश्चित्
जलने दो मुझे
देवयानी के गर्व में।"

(अपर्णा)

'झूँठी मनुहारें' की कुछ पंक्तियाँ :

"जीवन जलता है जलने दो
मैं डरता नहीं अँगारों से

कर सकता निर्मित नव-प्रभात
प्रतिदिन जीवन की हारों से

घन घोर शब्द करती उल्का—
[illegible]

प्रलयङ्कर के प्रलय नृत्य में
मधुमय स्वर को भर सकता हूँ

किन्तु हृदय हो जाता दुखित
जग की झूठी मनुहारों से

नव पल्लव–सा हृदय काँपता
दुनिया के झूठे प्यारों से।"

(कमला दीक्षित)

'कैसे दूँ पाती' में विरहिणी की कसक और प्यार की बेबसी है। उसका हृदय प्रणयावेग से ओतप्रोत है। दिल की असंख्य धड़कनें प्रिय की पाती में सिमट जाना चाहती हैं। अपने अन्तर के संगीत, लय और करुण-रसधारा को कागज़ की नावों में बहाकर वह उस प्रतीक्षा में है कि देखें– ये लहरें उसके लिए क्या लाती है, प्रेम का प्रतिदान अथवा निर्मम दुराशा ?

"कैसे दूँ पाती ?
कंचन-सी देह जले,
चंदन-सा नेह घुले
पलकों में नेह पले—
आँसू के मोती।
बाँधू किस अम्बर में
भावों की आँधी औ
शब्दों की पाँती ?
नीले नभ-कागद पर
अक्षर उड़ थर-थर
मैं बाँच नहीं पाती,
कैसे दूँ पाती ?
सारी वय रो-रो कर
भ्रम वश ही खो दी
खो गया बसंत, गंध
सावन की सोंधी।
मंजरी टिकोरे क्या
आँठी से झाँक नई—
कोंपल मुस्काती !
कैसे करूँ आदि, कहाँ
करूँ अंत भूल यहाँ
कोयल ना गाती !

कैसे दूँ पाती ?
प्रीति करी क्या ऐसी ?
अनदेखा उर वासी !
यह क्या अनजानी, सुधि---
मुरली, स्वर-फाँसी ?
टेर रहे घड़ी-घड़ी
बाँहें दो बढ़ा, तरी
तीर बाँध पाती ।
बाँधो दुर्लंघ्य जलधि
बीते ना अवधि, रूढ़ि
उपलें उतारतीं !
कैसे दूँ पाती ?
क्या शह, क्या मात चलें,
ये श्वासों की मुहरें,
हारूँ तो अपने को
जीत तुम्हें दुहरे !
अब तो भय भूल चुकी,
ढोकर यह शूल थकी,
गीतों की थाती !
धारा में कागज की
नावें बहा दी, देखूँ
लहरें क्या लातीं ?
कैसे दूँ पाती ?" (प्रकाशवती)

ऊपर की पाती प्रतीक्षातुर असफल प्रेयसी द्वारा किसी निष्ठुर प्रणयी को लिखी गई है जो अनिवार्यत: अपनी ही हीनांगपूर्ति की प्रभावोत्पादकता के वैचित्र्य का सजीव सूत्र है, किन्तु नीचे की चिट्ठी भगवान की सेवा में प्रेषित की जा रही है जिसका अतापता कुछ भी नहीं और भक्ति एवं प्रेम की आशा में विभोर उसकी करुणा और दया की याचना में बड़ी ही सीधी-सादी, अकृत्रिम भावाभिव्यंजना है :

"चिट्ठी में लिख रही हूँ, इसका जवाब दीजै ।
कब तक हमें मिलोगे, इसका पता तो दीजै ॥
चिट्ठी मैं अपनी लिखके, किस किस पते से भेजूँ ।
वह कौनसी जगह है, हमको बता तो दीजै ॥
अपना परिचय मैं दे रही हूँ, इसमें शर्म ही क्या है ।
गुनहगार मैं बहुत हूँ, इस पर भी ग़ौर कीजै ॥

अनुचित कर्म हैं मेरे, कुछ तो हिसाब कीजे ॥
मैं खुद ही झिझकती हूँ, कैसे मैं मुँह दिखाऊँ ।
हो तुम दयाल भगवन, अपनी शरण में लीजै ॥
दासी की दासता को, खुद ही समझ गए हो ।
मेरी कैसे अब गुजर हो, कुछ श्याम लिख तो दीजै ॥"

(सुन्दर देवी माथुर)

प्रेम की दर्दीली अनुभूति मे रमकर कवयित्री को लगता है जैसे उसके दिल में कुचले अरमानों का भीषण बवंडर-सा उठ रहा है। बाहरी आँधी उसके सामने बेमानी है, इसलिए आँधी से वह प्रश्न करती है :

"आँधी तुम आई हो;
हाँ, किसलिए ?
क्योंकि मैं प्यार भरी चाहों की धड़कन हूँ
दर्द भरी आहों का कम्पन हूँ
बन्दी है बोली में, मेरे स्वर दर्दीले
मेरे जहरीले अधरों का जो विष पीले
उसका तन डोल जाए।
उसका मन डोल जाए।"

(सुमन शर्मा)

नदी के उतार-चढ़ाव और उसकी समूची गतिभंगिमा की झाँकी निम्न कविता में प्रस्तुत की गई है। अल्हड़ सरिता मंथर गति से ज्यों-ज्यों आगे बढ़ी, अपने प्रवाह में कंकड़-पत्थर, कीचड़-धूल, सूखी-जर्जर टहनी या पत्ती जो कुछ मिला सब, मानो बहाकर, ले चली :

"वह सहज कुतूहल था उसका अथवा उन्माद ?
शान्त, सुरक्षित जीवन त्याग मचल कर चल दी थी सरिता—
मन में उमंग थी उसके, भावों में थी चंचलता,
स्वर में उल्लास भरे गीत ।
कुछ भय न था शंका न थी!
पर्वत-मालाएँ हाथ बढ़ाए रोक रही थीं; बुला रही थीं
फिर से अपनी गोदी में!
किन्तु हठीली तिरस्कार कर उनका
कोलाहल करती चल दी थी मदमाती ।
राह की चट्टानें भी रोक रही थीं;
पर वह मनमानी

टकरा-टकरा कर उनसे हँस पड़ती थी ।
मानो कहती हो
"क्या मुझे न जाने दोगी ?
तुम बेचारी स्थिर हो, निश्चल हो
नहीं तो साथ तुम्हें भी ले चलती
पर रुक न सकूँगी......"
द्रुत गति से लहराता यह गान नदी का
फिर वेग-सहित उत्साह-सहित बढ़ती जाती आगे ।

देखा जब विस्तार भूमि का, पशु-पक्षी नर-नारी,
वेग हुआ कुछ मन्द
अनायास ही दृष्टि मुड़ी,
पर छूट चुकी थी गोद पिता की ।

तब लिया आसरा कूलों का, कुछ दीन भाव से;
किन्तु चपल थी, अल्हड़ थी, चंचल थी, सरिता--सहमी अभिलाषा
मुसकायी फिर से वह बाल-सुलभ-विश्वास लिये मन में,
संगिनि बन कूलों की बह चली सहज आगे ।

जीवन कुछ हरा-भरा था
जग उठा स्नेह, औदार्य हृदय मे ।

पाया आलय कंकड़, कीचड़, सूखी डाली ने;
मुरझाए पल्लव तिरस्कार पा तरु का
आ छिपने उसके अंचल में ।

सरिता सुख से बहती जाती
सहसा झंझा ने प्रलय मचा दी, किया किनारा कूलों ने !

विस्मित भोली सरिता
हाथ बढ़ाए, भय से कातर
उन्हें पकड़ने दौड़ी !

शान्त हुआ वह आन्दोलन,
फिर दिया सहारा कूलों ने ।

अब समझ चली थी सरिता भी जीवन की गति ।

गिरि की गोदी से उतर पड़ी थी जो सवेग,
बहती है आज वही सरिता धीमे-धीमे
मन्थर गति से !"

(उमा पाठक)

और निम्न कविता में संघर्षशील मानव को ही सृष्टि का शृंगार बताया गया है। समय की अबाध गति और नित-नये संघर्षों से जूझता वह किनारे पर बैठा केवल लहरें ही नही गिन रहा है, बल्कि तूफानों से भी टक्कर ले रहा है। आदमी आदमी से दूर जा पड़ा है, उनके दिलों में दरार है और उनका दृष्टिपथ स्वार्थ से सीमित है। इन परिस्थितियों में परस्पर प्रेम और आस्था ही इनके पशुत्व को दबाकर इंसानियत जगा सकती है :

"देख जग की रीति को निश्चय हुआ,
आदमी ही सृष्टि का सिंगार है।

कुछ न कुछ कमियाँ लिए हर आदमी,
प्यार का भूखा रहा है हर समय;
डाल कर घेरे विवशताएँ खड़ीं—
खुल नहीं पाया कभी उस का हृदय;
भार जीवन का कि जो हल्का करे
वह मृत्युंजय मंत्र केवल प्यार है।

है न उसके पास केवल बुद्धि-बल,
मनुज में चिन्तन मनन भी, भक्ति भी;
ला रहा विज्ञान द्वारा काम में—
वायु की जल की अगिन की शक्ति भी;
तीर पर बैठा लहर गिनता नहीं,
कर रहा तूफ़ान से खिलवार है।

उठ पड़ा पशुबल दबा इंसान जब,
देव हारे, दनुज ने पाई विजय;
आदमी की आदमी से उठ गई—
आस्था ज्योंही, हुई जग में प्रलय;
कह उठा फिर आदमी आकर नया,
प्रेम ही अमृत, घृणा संहार है।

आज ऐसा लग रहा है विश्व में,
आदमी से दूर है कुछ आदमी;
स्वार्थ सीमित दृष्टिपथ उसका हुआ—
गर्व मद में चूर है कुछ आदमी;

भंग पूजा हो गई विश्वास की--
जीतने पर भी तभी तो हार है।"

(देवव्रती शर्मा)

दीपावली के उपलक्ष्य में ज्योति का वन्दन एवं अभिनन्दन करती हुई कवयित्री की उदात्त भावना देखिए :

"इस ज्योति का वन्दन करो !
सौ बार अभिनन्दन करो !
लो रश्मि-रथ पर बैठ कर है आ रही दीपावली

दुर्गम तिमिर-पथ पार कर,
हर गेह में हर द्वार पर,
जड़ मृत्तिका के दीप में बन ज्योति प्राणों की जली !

नक्षत्र बन नभ में खिली !
भू पर बहुत लगती भली !
फूली निशा की डाल पर अम्लान सोने की कली !

यह ज्योति का त्योहार है,
मानो तिमिर ने हार है।
सत से असत को जीत जग की कामना फूली फली !"

(श्यामा सलिल)

'शिला' में अहिल्या के मिस कवयित्री अपनी स्थिति का बोध कराती है :

"राम के चरणों को छू कर एक शिला
अहिल्या बनी
इसलिए चरण दुबारा वे
धो लिये गये
अच्छा होता मैंने भी
चरण तुम्हारे
यदि धो लिये होते
दुनिया की सारी मान्यताओं से दूर
एक स्पर्श के बाद
आज पत्थर तो न बनती।"

(शुभा)

इस प्रकार जीवन की बहुरूपता और वैविध्य के आकलन के लिए नारी भी उतनी ही सन्नद्ध और तत्पर है तथा पुरानी टेकनीक व रूप के प्रति अवज्ञा का रुख

अपनाकर वह भी नये कवियों की पाँत में नित-नई टेकनीक और तौर-तरीकों को रियाज़ दे रही हैं। जैसा कि स्वाभाविक है मानव-बुद्धि भी इस समय आध्यात्मिक से भौतिक तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त हो रही है। उसकी सुष्ठु कल्पना और मूर्तिमत्ता ने तर्क-वितर्क के रूप में काव्य के प्रसाद गुण के बजाय हठधर्मी और ज़ार-ज़बर्दस्ती को अख्तियार कर लिया है।

छायावाद के उन्मेष ने जो सहज प्रणयावेग और भावोच्छ्वास नारी में जगाया था, मौजूदा विधि-निषेधों के कारण उसका स्वप्ननीड़ ध्वस्त है। उसका विशृंखल और अनेक कुंठाओं एवं वर्जनाओं से ग्रस्त मन बेकार और बेतुके आलम्बनों में बहक रहा है। अनुभूति उसमें है, पर वह शायद अनुभूति के किसी तर्कसंगत कारण की खोज में हैं, आकर्षण के किसी वैज्ञानिक समाधान की खोज में शायद।

फलतः कविता की नव्य धारा जिस हद तक जागरूक और गतिशील है उतनी ही उसमें लाक्षणिक वक्रता, तथ्य-कथन और खरेपन की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ती जा रही है। कहीं-कहीं उनमें शंकाकुल अराजकता और अनगढ़ एकांगिता इतनी हद दर्जे की बढ़ गई है कि उसमें वैचित्र्यवाद की असामान्य स्पृहा जगी है। उसकी प्रेरणा के बहुमुखी स्रोत—एक सीमित दायरे में—उसके अन्तर्संघर्ष को इतस्ततः ठेल रहे हैं। अपनी भाव-प्रवण, कोमल संवेदनाओं के औचित्य की सचेतता जो नारी में है वह आज की कोरी बौद्धिकता के विरुद्ध पड़ रही है, अतएव उसकी सहज अभिव्यक्ति में गतिरोध है।

नारी ने क्या कुछ दिया, उसके काव्य का मूल्यांकन कहाँ तक, कितनी दूर तक पहुँचेगा—कहना कठिन है, किन्तु यह अवश्य है कि एकांगी दृष्टि के कारण उसकी अभिव्यक्ति में एक प्रकार की 'मोनोटोनी' आ गई है और उनकी काल्पनिक उड़ानें एक विशेष परिसीमा में ही घिरकर रह गई है। वह अपनी नई उपलब्धि से स्तब्ध-सी है और उसकी अनुभूति, उसका संवेद्य कुहरजाल की इस मरीचिका में अवश-सा ठगा रह गया है।

१७

प्रकृति का महान् चितेरा--महाकवि कालिदास

अनन्तव्यापी प्रकृति का निस्सीम प्रसार जिसके विराट् चित्र-फलक पर उक्त महाकवि के काव्य-सृजन की अमिट रेखाएँ खिंची और उदात्त प्रेरणा के वशीभूत हो जो अपने अंतस् की आकांक्षाओं के तुमुल अंतर्निनाद को लेकर उससे एकात्म्य हो उठा। अव्यक्त को स्पर्श करती उसकी सधानरत अनुभूति ज्यो-ज्यो अधिक गहरी और संवेदनशील होती गई उतना ही अन्तर्पट अनावृत्त होता गया और रहस्यमय स्तर भेदकर उसकी अमूल्य निधियाँ किसी दुर्वार अतःशक्ति से दृष्टि के सम्मुख बिखरती गईं। समूचे वातावरण मे रमकर उसकी कलाएँ विस्फारित हुईं। यकायक जैसे प्रकृति की रगीनियों से आँख-मिचौनी खेलते-खेलते वह खो गया हो और अभिन्न से घुल-मिलकर उसकी तन्मयता अधिक जागरूक हो उठी हो। यों महाकवि कालिदास के जीवन-दर्शन की विभिन्न श्रेणियाँ है और इन्हीं श्रेणियों के अनुसार उनका भावोन्मेष हुआ है।

प्रकृति अपने विस्तृत अर्थ में वह सब कुछ है जिसके प्रत्येक अणु-अणु का अपना इतिहास है। अतएव सौन्दर्य की इस लीलाभूमि के मनोमुग्धकारी रूप ने सदा इस महाकवि के अन्तर को झकझोरा। प्रकृति के नव-नव रूप और उसकी समष्टि के प्रतीकात्मक प्रसार—नीलाम्बर, धरती की मनोमोहक हरीतिमा, वन उपवन, नदी-नाले और पर्वत-समुद्र, यहाँ तक कि छोटे-छोटे पेड़-पौधे और फल-फूल तक ने रसानुभूति के माध्यम से उसकी वृहत् सत्ता का आभास कराया। मन की एकरसता, उसकी प्रगाढ़तम अनुभूति और चरम आनन्द की पराकाष्ठा को उस सुषमा और सौन्दर्य-वोध मे लय किया जो सत्य, शिवं, सुन्दरम् की ओर प्रवर्तित करने वाला है।

कवि की अतीन्द्रिय रससिक्त भावना का मादक स्पन्दन ही भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकृति के उन्मुक्त ऐश्वर्य को क्रियात्मक रूप में वरण करता आया है। कारण—प्रकृति के विविध रूपों को अपनी कल्पना-रस से संसिक्त करने में वह खो गया। जीवन के राग-विराग, प्रवृत्ति-निवृत्ति, भोग एवं संयम को, कभी अपने सुख को, कभी अपनी क्लांति मिटाने को, कभी सौन्दर्यबोध की श्रेष्ठतम कल्पना, पर कभी अपने हृदयावेग और सहज उत्सव-प्रियता को उजागर करने के निमित्त उन्होंने प्रकृति के तरोताजा, खुशहाल और समृद्ध उपादानों से रागात्मक सम्बन्ध जोड़ा, उसके प्रति

अपने नैसर्गिक आकर्षण को उसकी हर गतिविधि और रम्य छटाओं में तद्रूप किया। शुरू से अंत तक उसकी काव्य-परम्पराएँ इसी आधार को अनिवार्यत: मानकर चलती रहीं। अंत:प्रदेश के किसी कोने में जब एक मधुर गूँज सुन पड़ी या सहसा प्राणों के तार झनझना उठे अथवा भावावेगों की अजस्र निर्झरिणी सी बह चली तो ऐसी मनो-दशा में कवि के उद्‌गार, शाब्दिक अर्थ, अलंकार, छन्द, गति, प्रेरणा, अनुभव और उसकी उद्‌भासित अंतश्चेतना प्रकृति के चिरन्तन सौन्दर्य में प्रश्रय खोजती रही। बसन्त के आगमन पर जब सारा वातावरण एक अजीब सी मदहोशी और उन्माद से झूम-झूम उठा, मंजरी और सहकारी लताएँ मलय मारुत की ताल पर थिरक-थिरक कर नृत्य कर उठीं, विकसित श्वेत पुष्प चतुर्दिक् बिखरी हरीतिमा की गोद में मचल-मचल उठे और भौरों का मधुर गुजन सुखद संगीत सा जान पड़ा तब पेड़-पौधे, जलाशय, निर्झर, इठलाते बलखाते नदी-नाले, साथ ही मानों अपनी समूची गरिमा से लहलहाता प्रकृति का व्यापक प्रसार अपने चिरसंचित वैभव को मानो बिखेर उठा :

"द्रुमा: सपुष्पा: सलिलं सपद्मम्,
नभ: प्रसन्नं पवन: सुगन्धि:
सुखा: प्रदोषा दिवसाश्च रम्या:
सर्व सखे। चारुतरं बसन्ते।"

हे सखे। बसन्त का सौन्दर्य सर्वत्र कितना मोहक और अभिराम है। पुष्प-सज्जित वृक्ष, कमलों से सुशोभित जलाशय, उन्मुक्त आकाश और खुशनुमा नज़ारा और सुगन्धित पवन, सुखमयी सन्ध्या और दिन की रम्यता मानो समूचे वातावरण को अपने विविध उपक्रमों से अभिभूत सा कर रही है।

एक दूसरे पद में—

"श्रुति सुख भ्रमर स्वन गीतय: कुसुम कोमलदन्त रुचो बभु:।
उपवनान्तलता: पवना हतै: किसलयै: सलयैखि पाणिभि:॥"

अर्थात् उपवन-लताओं के हाव-भाव नर्तकी की भंगिमाओं से प्रतीत होते हैं, भ्रमरों का मधुर गुंजन कानों को सुख देने वाले गीत लगते हैं, खिले हुए कोमल पुष्पों में श्वेत दंत-पंक्ति की सी चमक है जिनमें खिलखिलाती हँसी की उत्फुल्लता व्यंजित होती है। वायु के हल्के स्पर्श से हिलती-डुलती उनकी डालियाँ और पत्ते ऐसे लगते है मानो अभिनय और लय-विभोर उनके कोमल करों का संचालन हो। राह में झुकी लताएँ अभिनय-मुद्राओं और चेष्टाओं की दिग्दर्शक हैं।

महाकवि कालिदास के उपर्युक्त दोनों श्लोकों में न केवल उनकी अपनी अनुभूतियों का रसाप्लावित भाव है बल्कि एक दूसरे के पूरक के रूप में उसका समस्त सत्य, शिवत्व और सौन्दर्य कवि के काव्य-सृजन की क्षमता और शक्तिमत्ता का द्योतक है। उनके सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ 'मेघदूत', 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव' और 'शकुंतला'

आदि नाटकों में ऋतु-विलास, प्रकृति-वर्णन और निसर्ग की मनोरम झाँकी बड़े ही भव्य और उदात्त रूप में मिलती है। न केवल बनस्थलियों के दृश्य, लता-गुल्म, फूल-पत्ते, वृक्ष-वाटिकाएँ, नदी-निर्झर, पर्वत-समुद्र और अनन्त बन-प्रान्त के व्यापक प्रसार का हमें वर्णन मिलता है बल्कि षड्ऋतुएँ—ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और बसन्त और उनके साथ ही अलग-अलग महीनों ज्येष्ठ, आसाढ़, सावन, भादों, क्वार, कार्तिक, अगहन, पूस, माघ, फाल्गुन, चैत, वैशाख आदि भिन्न-भिन्न अवस्थिति और कार्य-व्यापारों का भी विशद वर्णन है। अपने खण्ड-काव्य 'ऋतु संहार' में बदलती ऋतुएँ, उनका अंतरंग प्रभाव और भाव-संचरण से समूचे वातावरण में परिवर्त्तन तो है ही, वरन् इसके विपरीत मनुष्यों के आचरण और सूक्ष्म प्रक्रियाओं तक पर असर दिखाया गया है। जैसे—बसन्त ऋतुराज है और सहज सौन्दर्योल्लास जागता है तो ग्रीष्म प्रखर किरणों से सबको व्याकुल कर देता है। किन्तु ग्रीष्म के बाद पावस अर्थात् वर्षा ऋतु तपती धरा को अपनी शीतल फुरहरी से शान्त करती है, उसके झुलसे प्राणों में नवजीवन का संचार करती है। 'ऋतु संहार' का समूचा दूसरा सर्ग वर्षाऋतु के वर्णन में लिखा गया है। आषाढ़ के महीने में जब बादल उमड़ने-घुमड़ने लगते हैं, पपीहा, मयूर, कोकिल, सारस, चकोर, पारावत आदि पक्षी आशा-प्रत्याशा से मुँह बाए आकाश को ताकने लगते है, प्यासी धरती, पेड़-पौधे, फूल-पत्ती, पशु-पक्षियों के विषाद की भूमिका न बनकर उनके स्नेह-सिंचन के लिए तत्पर हो उठती है तभी उनके अपेक्षित गणों से साधर्म्य रखने वाली मानवी प्रेम गाथा का सृजन कर हंस जैसे पक्षी को कमल-नालों का पाथेय ले मानसरोवर की ओर उड़ाया गया है। पवन की प्रेरणा से गतिमान मेघ जब आकाश में उड़ते हैं तो हंसों की पंक्ति भी उनके साथ साथ तैरती सी चलती है। वर्षा से रससिक्त हो—

"विपत्र पुष्पां नलिनीं समुत्सुका
विहाय भृङ्गाः श्रुतिहारिनिस्वनाः।
पतन्ति मूढ़ाः शिखिनां प्रनृत्यतां
कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया॥"

अभिराम गुंजार करते उत्कण्ठित भ्रमर पत्ररहित कमलिनी का परित्याग कर भौरों के पुच्छ-मंडल को ही भ्रमवश नए-नए कमल मानकर उस पर टूट पड़ते हैं और विभोर हो नर्तन सा करते हुए घुमेर खाते है। वर्षा के प्रभाव से—

"प्रभिन्न वैदुर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः
समाचिता प्रोत्थित कन्दली दलैः।
विभाति शुक्लेतररत्न भूषिता
वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः॥"

अर्थात् वर्षा से धरती की छटा कैसी निराली हो गई है। वह सर्वत्र जल-परिपूरित है, वर्षा ने मानों उसे हर ओर से भर दिया है। बिल्लौर के घास के अंकुर

उस पर छा गये हैं, केलों के नव प्रस्फुटित पत्रों के भार से वह पलक उठी है, वीर-बहूटियों ने उसके अंग-प्रत्यंग को आच्छादित सा कर लिया है। प्रेमोन्मत्त नायिका सी भाँति-भाँति के रत्न-आभूषणों से सजी धरती बड़ी ही सुन्दर प्रतीत हो रही है।

अपनी हर परिस्थिति और हर पहलू में जिस रहस्यमय, निगूढ़ भाव का संचार और असीम सत्ता का आभास हमें इस दृश्य जगत् द्वारा होता है, उसके न केवल समस्त वाह्य, पर भीतरी छवि तक को भेद-भाव जनित पार्थक्य मिटाकर उस-से तादात्म्य स्थापित करने के लिए चाहिए यथार्थ और तीखी दृष्टि, अनुभूति की गहरी पैठ और हृदय की विशालता। गतानुगनिक भाषा-शैली में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ ही भावों की प्रेषणीयता में अधिक सूक्ष्म हो सकता है, यही कारण है कि महाकवि कालिदास ने प्रकृति-वर्णन में प्रतीकों का अधिक सहारा लिया है, पर सौंदर्य के प्रति उनके मन के सहज आकर्षण ने जो दिव्य भावापन्न एवं महत्तर स्वर सिरजे हैं उनमें अत्यधिक भावद्योतक मानवीयता और सार्वजनीनता के साथ-साथ एक सबसे बड़ी खूबी है उनकी अंतरंग मौन मुखर व्यंजना।

"निरुद्धवातायन मन्दिरोदरं
हुताशनो भानुमतो गभस्तय:।"

शिशिर ऋतु की कँपकँपाने वाली सर्दी के कारण लोग जब घर के भीतर के वातायन और झरोखे बन्द कर भीतर चले जाते हैं और आग व धूप अधिक सुहानी लगने लगती है :

"न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं
न हर्म्यपृष्ठं शरन्देन्दुनिर्मलम्।
न वायव: सान्द्रतुषार शीतला
जनस्य चित्तं रमयन्ति सांप्रतम्॥"

तब न तो चन्दन-प्रलेप की इच्छा रह जाती है और न ही चन्द्र किरणों से शीतलता प्राप्त करने की आवश्यकता। छत पर विकीर्ण शरद की शुभ्र चन्द्र-ज्योत्स्ना अब लोगों का मन आकृष्ट नहीं करती और बर्फ के छितरे कणों से स्निग्ध शीतल हवा भी क़तई अच्छी नहीं लगती।

कभी कभी जीवन-द्वन्द्वों के अतिरिक्त मानसिक संघातों का भी प्राकृतिक उपादानों में सुन्दर निदर्शन हुआ है, यथा—किसी विरही अथवा विरहिणी के हृदय की छटपटाहट से सारी प्रकृति और दृश्य वस्तुएँ विषण्ण और उदास सी लगती हैं, किन्तु प्रेमावेगों के आधिक्य से उन्ही में सहसा एक विचित्र सौंदर्य और उल्लास की प्रतीति होने लगती है। यों उक्त महाकवि की भावन्यस्त अनुभूतियां प्रकृति में सर्वथा सांश्लिष्ट हो रमी हैं। वह उसके लिए खुला पृष्ठ रही है और उसके विदग्ध मस्तिष्क की अन्त-र्निहित भाव-सम्पदा उसी के माध्यम से व्यंजित हुई है। मनुष्य की लघुता के परे सृष्टि की असीमता और फिर आकाश-तारे, चन्द्र-सूर्य, पेड़-पौधे, फूल-पत्ती, नदी-निर्झर,

पर्वत-समुद्र और न जाने कितनी अगणित वस्तुएँ जो महादान में मिली हैं उनके चिर-सहयोग से जीवन में स्फूर्ति और प्रेरणा भरने के लिए, उसे सत्य, सुन्दर, उदात्त और समृद्ध बनाने के लिए, यही नही अपितु हर कोण और हर पहलू से उसमें संपूर्ति खोजने के लिए महाकवि कालिदास ने प्रकृति वर्णन के रूप में जो महत्तर भावसृष्टि की है उसके कारण हम आज भी और आने वाले युगों तक अपने लघु वृत्त से ऊपर उठकर उसकी विराट् असीमता का आभास पा सकेंगे।

१८

प्रकृति का महान् चितेरा विलियम वर्ड्सवर्थ

अनादि काल से प्रकृति की मनोरम क्रोड़ में मानव की सहज अन्तर्वृत्तियाँ प्रश्रय लेती आई हैं। मानव के चारों ओर प्रकृति फैली हुई है। प्रकृति का रूपात्मक सौंदर्य मनुष्य के मानस पर प्रतिबिम्बित हो रहा है और प्रकृति की गति मानस-चेतना को ग्रहण कर रही है।

प्रकृति-उपासक महाकवि विलियम वर्ड्सवर्थ की कृतियों में प्रकृति मानो सजीव हो उठी है। उसकी कविता में न तो कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी और उसी के स्वरूप का मधुर चिंतन। प्रारम्भ से ही कवि का बाल-हृदय प्रकृति के विभिन्न रूपों के प्रति प्रश्नशील है और वह प्रकृति की गति और भंगिमा में किसी व्यापक रहस्यात्मक शक्ति का संकेत पाना चाहता है। वह समझना चाहता है और प्रकृति के समस्त प्रसाधनों एवं अलंकारों पर मुग्ध हो अपने से ही प्रश्न करता है—ये वस्तुएँ कैसे उत्पन्न हो गईं? ये गुलाब, चमेली, बेला इत्यादि पुष्प क्यों खिलते हैं? अगणित पुष्पों एवं श्यामल द्रुम-लताओं से मंडित सघन वन, अनन्त लहरियों से विलोड़ित गहन गम्भीर समुद्र, मन्द-मन्द गरजते मेघों का मेरु-रंजित शृंगों से लगा दिखाई देना और फिर उस पर्वत के नीचे स्वच्छ शिलाओं पर फैले हुए जल में आकाश और हरीतिमा के बिम्ब, लह-लहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के मध्य इठलाते नालों, विशाल चट्टानों पर चाँदी की भाँति ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों, झाड़ियों, चह-चहाते पक्षियों, ओस-कणों और जल-निर्झर के संघात से उठे हुए श्वेत जल-कण के मनोहर दृश्यों को वह मनोमुग्ध दृष्टि से देखता है। उसे जलसिक्त धरती तथा भोली चितवनवाली ग्राम-वनिताओं, बाल्यावस्था के साथी वृक्षों, रंग-बिरंगे मधु-मदिर सुगन्धिवाही पुष्पों, नीलम-सदृश हरित, कँटीले कटावदार पौधों, रसमय कच्चे या पक्के फलों, प्रियतम अम्बुधि की आकुल चाह में दौड़ी जाने वाली सरिताओं एवं समस्त प्राकृतिक उपादानों में आसाधारणत्व की प्रतीति तथा चिरपरिचित साहचर्य-सम्भूत-रस की अनुभूति होती है।

"स्मरणीय सौन्दर्य से दीप्त प्रातः का पुष्प सदैव की भाँति देदीप्यमान, जैसा कि मैंने देखा था,

सामने ही कुछ दूरी पर हँसते हुए समुद्र का व्यापक प्रसार,

पास ही बृहदाकार पर्वत, जो धूमिल रंग और दिव्य आभा की तरलता से सिक्त मेघों-सा चमक रहा था,

चरागाहों और नीची सतह वाली जमीन पर उषःकालीन सहज मधुरिमा का आच्छादन,

ओस, कुहरा और पक्षियों का संगीतमय स्वर तथा खेत बोने के लिये श्रमिकों का प्रस्थान आदि सब कुछ शानदार था।"

("Magnificent
The morning rose in memorable pomp
Glorious as ever I had beheld—in front
The sea lay laughing as a distance ; near
The solid mountain shone, bright at the clouds,
Grain-tinctured, drenched in emphrean light ;
And in the meadows and the lower grounds
Was all the sweetness of the common dawn
Dew, vapours, and the melody of birds
And labourers going forth to till the fields.")

ज्यों-ज्यों कवि की बुद्धि का विकास होता है, उसकी सहज भावना की सौंदर्यानुभूति में प्रकृति सचेतन और सप्राण हो उठती है, पुनः उसी के साथ तद्रूप होकर आनन्द से उल्लसित होती है। शनैः-शनैः इस आत्म-चेतना के प्रसार में प्रकृति सर्वचेतन हो उठती है और उस क्षण प्रकृति उसे अपनी ही चेतना का एकरूप और समगति प्रतीत होती है।

"पृथ्वी और समुद्र, समस्त दृश्य-जगत् और उसके समक्ष फैला हुआ अम्बुधि का निस्सीम जल-प्रसार एक विचित्र आनन्दानुभूति से ओतप्रोत हैं। इतस्ततः जल को स्पर्श करते हुए मेघ अव्यक्त प्रेम की सृष्टि करते हैं। आनन्द की अभिव्यक्ति में वाणी मूक है और शब्द मौन; उसकी आत्मा इस दृश्य के सौन्दर्य-रस का आस्वादन कर रही है। मन, शरीर, प्राण—सभी तो उसमें विलय हो गए हैं, उसका पार्थिव शरीर ही मानों उसमें जा समाया है। उन दृश्यों में ही वह खोया-सा खड़ा है, उन्हीं में उसकी चेतना और प्राण केन्द्रित हैं। ईश्वर-प्रदत्त सुखों में विभोर वह अपने अन्तर्मानस को विचारों से नितान्त शून्य पाता है, इनमें ही मानों वे खो गये हैं। धन्यवाद वह नहीं दे सकता। शोक प्रकट करने में भी वह असमर्थ है। अपनी मूक अन्तश्चेतना से एकरूप हो वह उस परम शक्ति की अभ्यर्थना में संलग्न है, जिसने उसका सृजन किया और जो उस दिव्य-प्रेम एवं ब्रह्मानन्द की अनुभूति कर रहा है, जो प्रशंसा और अनुनय से परे है।"

"(Ocean and earth, the solid frame of earth
And ocean's liquid mass in gladness lay

Beneath him.—Far and wide the clouds were touched
And in their silent faces could be read
Unutterable love. Sound needed none,
Nor any voice of joy ; his spirit drank
The spectacle ; sensation, soul and form
All melted into him ; they swallowed up
His animal being ; in them did he live,
And by them did he live ; they were his life.
In such access of mind, in such high hour
Of visitation from the living God,
Thought was not, in enjoyment it expired,
No thanks he breathed, he professed no regret ;
Rapt into still communion that transcends
The imperfect offices of prayer and praise
His mind was a thanksgiving to power
That made him ; it was blessedness and love.")

प्रकृति के इस सर्वचेतनवादी दृष्टिकोण में कवि की अनुभूति प्रकृति से ऐसी समन्वित हो जाती है कि उसे प्रकृति के प्रति आश्चर्य-चकित और प्रश्नशील होने का अवसर ही नहीं मिलता। यही कारण है कि वह सर्वचेतनवादी सृष्टि के स्रष्टा और सृजन के सूत्रधार के प्रति अपना आग्रह प्रकट नहीं करता। वह अपनी सीमाओं में अनीश्वरवादी ही रहता है। प्रकृति ही उसके जीवन का आधार और प्रेम की चरम साधना है। उसके प्रत्येक संकेत में, जिज्ञासा में, प्रार्थना में, ध्वनि में प्रकृति का अनुग्रह निहित है। वही उसकी प्राणाधिका सखी, जीवन-सहचरी, संरक्षिका, पथ-प्रदर्शिका, आनन्ददायिनी और पवित्र भावनाओं की संवाहक दिशा-निर्देश करने वाली जीवन-ज्योति है।

("Well-pleased to recognize
In Nature and the language of the sense
The anchor of my purest thoughts,
The guide, the guardian of my heart,
And soul of all my moral being.")

प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों ने कवि की भावनाओं को आलोड़ित किया है। अलंकारों से विभूषित हो वह बहुरंगिनी कभी उसकी भावनाओं को हँसाती-रुलाती है और कभी चेतन मानव के अगाध प्रेम एवं समादर की भावना पर मुग्ध हो उस पर अपना वरदान बिखेरती है। कभी वह सरल साधिका की भाँति ज्ञानोपदेश द्वारा उचित मार्ग-निर्देश करती है और कभी रहस्यमयी चुँदरी ओढ़ उसके लिए गूढ़ चिन्तन का विषय बन जाती है। यही नहीं, वह कभी चंचला स्वयं मानवीय रूप धारण करके छायावादी अवगुण्ठन से झाँक उसे विमोहित करती है और कभी आकर्षक, मनोहारी,

अल्हड़ भाव से अतीत की मधुर स्मृतियों को गुदगुदा देती है। प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में कवि अपने भावों को प्रकृति में प्रतिबिम्बित देखता है। प्रेम की वेदना का रूप यदि प्रकृति में है, तो प्रेम की तृप्ति भी उसी में दिखाई देती है। कभी-कभी प्रकृति की विराट् झोली में वह अपने भावों को भर सामने से हट जाता है।

"प्रशान्त

निश्चल, नीरव जल मेरे मस्तिष्क पर उल्लास का दुर्वह भार सा बनकर छा गया है; और आकाश, जो पहले कभी इतना सुन्दर न लगा था, मेरे हृदय में धँसकर मझे स्वप्न-विभोर सा बना रहा है।"

("The calm
And dead still water lay upon my mind
Even with a weight of pleasure, and the sky,
Never before so beautiful, sank down
Into my heart, and held me like a dream.")

सच तो यह है कि प्राकृतिक सौन्दर्य एवं सौकुमार्य की उपासना में अहर्निश निरत वर्ड्सवर्थ ने सुन्दर एवं सरस भावों की लड़ियाँ पिरो कर अपने काव्य को सजाया है। उसकी अन्तर्हित भावनाएँ प्रकृति से तद्रूप हो मानों साकार हो उठी हैं।

"अप्रैल का सुन्दर, स्वच्छ प्रभात है। क्षुद्र नदी अपनी लबालब उद्दामता से गर्वित यौवन की मदमाती चाल से प्रवाहित हो रही है। नदी के प्रवहमान जल की प्रतिध्वनि वासन्तिक वायु में जा विलीन होती है। सभी सजीव वस्तुओं से आनन्द और आकांक्षा, आशाएँ और इच्छाएँ अगणित ध्वनियों की भाँति फूटी पड़ रही है।"

("It was on April morning ; fresh and clear,
The rivulet, delighting in its strength,
Ran with a youngman's speed ; and yet the voice
Of waters which the river had supplied
Was softened down into a vernal tone
The spirit of enjoyment and desire
And hopes and wishes from all living things
Went circling, like a multitude of sounds.")

ग्रीष्म जैसी मनहूस ऋतु का वर्णन करते हुए कोई भी कवि प्रकृति के उन नाना रूपों एवं दृश्यों तक नहीं पहुँच पाया है, जिसका वर्णन वर्ड्सवर्थ की कविताओं में अनायास ही मिलता है।

"उत्तरी मैदान स्वच्छ हवा में तैरता हुआ दूर तक नजर आ रहा है। घुमड़ते बादलों की फिसलती छाया पृथ्वी की सतह को चितकबरा सा बना रही है।"

"(The northern downs
In clearest air ascending, showed far off

A surface dappled over with shadows fleecy
From brooding clouds.")

यहाँ देखिए—गर्मी की प्रचण्डता को भी वह छन्दोबद्ध कर सकता है :

"प्रचण्ड ग्रीष्म जबकि वह अपनी आत्मा को काँटेदार गुलाब के पुष्प में केन्द्रित कर देता है।"

("Flaunting summer when he throws
His soul into the briar rose.")

प्रारम्भ में फ्रांस की राज्य-क्रान्ति में वर्ड्सवर्थ ने मानवता, विश्व-बंधुत्व और जीवन का अभिनव संदेश पाया था, किन्तु शीघ्र ही क्रान्तिवादियों की हिंसक मनोवृत्ति और घातक चेष्टाओं ने उसे पुनः प्रकृति की ओर उन्मुख कर दिया। उसकी प्रारम्भिक कृतियाँ 'दि प्रिल्यूड' (The Prelude) और 'दि एक्सकर्शन' (The Excursion) में उसकी अंतरंग भावनाओं की मनोहर झाँकी मिलती है।

अन्ततः उसकी कलात्मक चेतना विकसित होते-होते प्रकृति की अन्तरात्मा में इतनी पैठ गई कि उसके प्रत्येक स्वरूप का स्पष्ट चित्र उसके हृदय-पटल पर अंकित हो गया और प्राकृतिक अनुभूति का अन्तर्वाह्य सूक्ष्म रेखाओं में उभर पड़ा।

उसकी प्रख्यात् कविता 'बाल्यावस्था की स्मृति द्वारा अमरत्व का संकेत' (Ode on Intimations of Immortality from Recollections of Early Childhood) में प्रकृति की व्यापक चेतना के साथ उसकी अपनी अन्तर्वृत्तियों का तादात्म्य होकर अद्भुत ज्योतिर्मय कणों में छिटक पड़ा है।

"हमारा उद्भव एक प्रकार की निद्रा और चिर-विस्मृति है।

आत्मा, जिसका प्राकट्य हमारे साथ होता है और जो जीवन की नक्षत्र है,

कहीं अन्यत्र से आती और दूर ही जाकर छिपती है।

हम पूर्ण विस्मृति और एकदम निरावरण होकर नहीं आते, वरन् ऐश्वर्य के धन-खण्डों पर थिरकते हुए अपने चिर-आश्रयस्थल प्रभु के यहाँ से आते हैं।

बाल्यावस्था में स्वर्ग सामने बिछा रहता है, किन्तु ज्यों-ज्यों बालक बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों कारागार की सघनता उसे आच्छन्न करती जाती है।

वह प्रकाश से साक्षात्कार करता है और उल्लास में भरा हुआ सोचता है—यह प्रकाश कहाँ से बहकर आता है?

युवावस्था की ओर बढ़ता हुआ वह अपनी उद्भव-दिशा से दूर भटकता जाता है, किन्तु प्रकृति का उपासक तब भी बना रहता है।

अपने मार्ग में दिव्य सौन्दर्य से दीप्त वह ज्यों-ज्यों मनुष्य बनता जाता हैं, साधारण जीवन की चकाचौंध में वह उसे तिरोहित होते देखता है।"

("Our birth is but a sleep and a forgetting;
The soul that rises with us, our life's Star,

Hath had elsewhere its setting,
And cometh from afar ;
Not in entire forgetfulness,
And not in utter nakedness,
But trailing clouds of glory do we come
From God, who is our home ;
Heaven lies about us in our infancy !
Shades of the prison house begin to close
Upon the growing Boy,
But He beholds the light, and whence it flows
He sees it in his joy ;
The youth, who daily farther from the East
Must travel, still is Nature's Priest,
And by the vision splendid
Is on his way attended ;
At length the Man perceives it die away,
And fade into the light of common day.")

अनन्त और शाश्वत अन्त:प्रकृति में रमकर वर्ड्सवर्थ की कल्पना का प्रसार इतना व्यापक हो गया है कि तुच्छ से तुच्छ उपकरणों में भी उसे विराट् छाया छटपटाती नजर आती है। 'लूसी ग्रे' (Lucy Gray) की निम्न पंक्तियों में कवि के कोमल हृदय की धड़कन सुन पड़ती है।

"सम-विषम पथों पर भटकती हुई वह बिना पीछे मुड़े एकाकी गीत गाती है, जो वायु के स्तरों में ध्वनित होता रहता है।"

("Over rough and smooth she trips along
And never looks behind;
And sings a solitary song
That whistles in the wind.")

कवि के लिये व्यक्त सत्य है—प्रकृति और मानव। इन्हीं के आध्यात्मिक प्रणय का रूप उसे सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इन्हीं से अन्तर्भूत रूप-व्यापार उसके हृदय पर मार्मिक प्रभाव डाल कर उसके भावों का प्रवर्त्तन करते हैं। इन्हीं रूप-व्यापारों के भीतर उसे भगवदीय कला का साक्षात्कार होता है, इन्हीं का सूत्र पकड़ कर उसकी भावना अव्यक्त सत्ता का अभास पाती है। प्रकृति के रोम-रोम में, कण-कण में एक दिव्य, अलौकिक शक्ति सन्निहित है। उसकी दृष्टि में प्रकृति निर्जीव नहीं, प्रत्युत् सजीव एवं सप्राण है। वह मनुष्य के दुःख-सुख में योग देती है। वह उसके साथ रोती है, हँसती है। वह उसकी महत्त्वाकांक्षाओं, दुर्बलताओं, इच्छाओं, वेदनाओं तथा सुखों में सदैव साथ रहती है। एक स्थल पर वह कहता है :

"मेरा विश्वास है कि प्रत्येक पुष्प वायु के श्वास-प्रश्वास का अनुभव करता है।"

("And it is my faith that every flower enjoys
the air it breathes.")

प्रकृति ही उसके जीवन की क्रीड़ा एवं मधुर मुस्कान है।

("It is her privilege through all the years of this our life to lead from joy to joy.")

प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में उसे निरन्तर अव्यक्त सत्ता का आभास होता है:

"सूक्ष्म गति और अव्यक्त सत्ता,

जो चिन्त्य वस्तुओं की प्रेरक है, समस्त मंतव्यों का सार और सभी वस्तुओं की संवाहिका शक्ति।"

(" A motion and a spirit that impels
All thinking things
All objects of all thoughts
And rolls through all things.")

कवि के कानों में निरन्तर यह प्रश्न गूँजता रहता है—वह कौन शक्ति है, जो यह सब चुपचाप करती है? अन्त में इस जिज्ञासा का समाधान होता है—प्रश्न का उत्तर भी कवि को स्वयं ही मिल जाता है कि निस्संदेह इस अनुपम सृष्टि की स्रष्टा कोई अव्यक्त शक्ति है, जिसने मनुष्य मात्र की रक्षा के लिए केवल अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा इसका सृजन किया है। तो क्या मानव-जीवन में ज्योति का अन्त-र्साक्ष्य कराने वाली प्रकृति ही है? कवि की वाणी मूक हो जाती है, भाव स्तब्ध हो जाते हैं। उसे प्रकृति के गर्भ में, सृष्टि के अन्तराल में अद्‌भुत, अलौकिक, दिव्य प्रकाश का आभास होता है, जो उसके रोम-रोम में परिव्याप्त होकर कविता द्वारा प्रस्फुटित होता है।

१९

महाकवि गेटे के दार्शनिक विचार

महाकवि गेटे के मत में व्यक्ति के आत्मविकास की सम्भावनाएँ परिस्थितियों की विवश स्वीकृति नहीं, वरन् उसकी अपनी पूर्णता की प्रक्रिया हैं, क्योंकि वह अपने कितने ही प्रयत्नों को अहर्निश पूर्णता की ओर उत्प्रेरित करता रहता है। उसकी विकल्पात्मक वृत्ति आंतरिक साक्षात्कार से गतिशील होती है और उसकी इस अभीप्सा और संसक्ति में ही विश्वसृष्टि का आदिम अंकुर छिपा हुआ है।

यों सांगोपांग रूप में अनेक कोण एवं आयामों में रख कर जाँचने-परखने से जीवन का वैविध्य कैसा असीम दीख पड़ता है? कितने अनबूझ प्रश्नचिन्ह सामने आ खड़े होते हैं? भावसत्ता के माध्यम से छिन्न आकांक्षाओं के तानेबाने के रूप में गुँथे हुए जीवन के वैभिन्न्य प्रकट होते हैं तो लगता है कि गेटे जैसे सधे कलाशिल्पी की अनुभूतियाँ कितनी संवेद्य, कितनी प्रेषणीय है। एक स्थल पर :

"मनुष्य का जीवन क्या है—एक भ्रामक, मिथ्या स्वप्न, कितने ही व्यक्तियों ने इस बात को समझा-बूझा है और मैं स्वयं इसे बखूबी अनुभव कर रहा हूँ। जब मैं सोचता हूँ कि हमारी सक्रिय जिज्ञासु प्रवृत्तियों की पैठ कितनी स्वल्प, कितनी संकुचित परिसीमा में है तथा साथ ही यह देखता हूँ कि हमारी कार्य-शक्तियाँ किस प्रकार व्यर्थ के प्रपंचों में रमी हैं कि जिनका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि वे उन्हीं की स्थायिता के प्रयास में खप जाती है, तब मैं मूक और जड़वत् हो जाता हूँ। मैं अपने 'स्व' का विश्लेषण करता हूँ और वहाँ एक ऐसी दुनियाँ पाता हूँ जिसमें सशक्त, जागरूक आह्वान के बदले धूमिल इच्छा-आकांक्षाएँ और कल्पना का गुबार उमड़-घुमड़ रहा है। तब, उस क्षण, मेरे नेत्रों के समक्ष मानो हर वस्तु तैरने लगती है और संसार के मिथ्यात्व में खोया हुआ मैं महज़ मुस्कराता और स्वप्न देखता रहता हूँ।"

मनुष्य की सबसे बड़ी कमज़ोरी है कि वह बौद्धिक तर्क के मोह में फँस जाता है और उसे नित-नई खोज और दिमागी कसरत में बड़ा रस आता है। चिन्तन-मनन द्वारा नहीं, बल्कि कभी-कभी नितांत उथली और हास्यास्पद जिज्ञासा का प्रश्रय ले वह ज़िन्दगी के ऐसे जटिल एवं गम्भीर प्रश्नों का समाधान खोजता है जिसे मनुष्य की बुद्धि अथवा तर्क से परे सामान्य व्यवहार के स्तर को भेदकर सत्य

की समग्रता या समूची सत्ता में गहरे पैठकर ही पा सकती है। उसकी सन्देहशील और द्विविधाग्रस्त दृष्टि,—ऐसी स्थिति में—यह समझ नहीं पाती कि वस्तुतः अन्तर कहाँ है, क्यों है। शनैः-शनैः भ्रम और संशय की यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि उसे स्वयं अपने ऊपर सन्देह होने लगता है। गेटे के शब्दों में :

"विद्वानों और विचारकों का अभिमत है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं के मूल-भूत कारण को स्वायत्त नहीं कर पाता, अपितु अज्ञानी बालक की भाँति इस धरा-धाम पर विचरता है—बिना समझे-बूझे कि कहाँ से वह आया है और कहाँ उसका गन्तव्य है। वह पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति का दावा तो करता है, पर अधिकतर उसे निरर्थक उद्देश्यों की पूर्ति करनी पड़ती है।

मुझे ज्ञात है कि आप इसके उत्तर में क्या कहेंगे? यही न कि खुशकिस्मत हैं वे लोग जो बच्चों कि तरह अपने आपको बहला सकते हैं। सचमुच, ऐसे व्यक्तियों को मैं भाग्यवान कहूँगा, किन्तु इसके विपरीत ऐसे व्यक्ति भी हैं जो यों तो सत्ताधारी और बड़ी-बड़ी उपाधियों से विभूषित हैं, पर शिथिल और श्रान्त निजी सफलताओं असफलताओं का असह्य भार लिये जिनके डगमगाते क़दम आगे बढ़ रहे हैं, क्या वे सूर्य के प्रकाश में कुछ क्षण नहीं ठहरना चाहते? भले ही वे ऊपर से खुश नज़र आवें, पर ऐसे व्यक्तियों को आप क्या कहेंगे?"

ज्यों-ज्यों अहंवादी बौद्धिकता जगती है त्यों-त्यों कुंठा, अनास्था और व्यक्ति-वादिता—उसी अनुपात में—उभरती जाती है। सत्य और सत्ता में प्रतिष्ठित सजग चिन्तन अपनी मूल प्रवृत्ति का परित्याग कर बहक जाता है और कितने ही सैद्धांतिक व क्रियात्मक पक्षों में बँटकर अपनी यथार्थता खो बैठता है। व्यक्ति का यह सहज स्वभाव है कि वह स्वयं को शून्य मान किसी भी 'मूड' की इकाई के आगे अथवा अपने व्यक्तित्व, रुचियों, महत्त्वाकांक्षाओं को किन्हीं भी सीमित दायरों में बन्दी नहीं बना सकता, अतएव कभी-कभी उसका 'अहम्' ईश्वर के अस्तित्व के प्रति भी विद्रोह कर उठता है। क्या सचमुच ईश्वर नाम की कोई चीज़ है? कैसा है उसका रूप? आखिर वह है क्या बला? क्या सचमुच इंसानी ज़िन्दगी को अपने विकास-क्रम में आगे बढ़ाने में वह सहायक हो सकता है? यों—प्रतिस्पर्धा और होड़ में ईश्वर की परिकल्पना वाद-विवादों के गोरखधन्धे में उलझ जाती है और अर्पण-समर्पण का भाव तो दूर तर्क-वितर्क और विपरीत प्रतिक्रियाएँ चित्त को अस्थिर बना देती हैं। गेटे के मत में ईश्वर की सत्ता विषयक ऐसे विकल्प मन की अंतःशक्ति को कुंठित कर देने वाले होते हैं। यह जिज्ञासा तो सत्य की उपलब्धि से ही तृप्त होती है।

"कौन उसकी व्याख्या करने का साहस कर सकता है और उसका स्पष्टी-करण भी कैसे किया जाय—यह कह कर कि मैं उसमें विश्वास करता हूँ। जो देखता, चलता और अनुभव करता है वह क्योंकर उसकी सत्ता को अस्वीकार कर सकता है

--यह कह कर कि मैं उसमें विश्वास नहीं करता। वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर क्या मेरे, तेरे और समस्त चराचर जगत् के रूप में व्यक्त नहीं होता ? क्या हमारे ऊपर आकाश नहीं है, क्या हमारी दृष्टि के समक्ष पृथ्वी का अनन्त प्रसार फैला हुआ नहीं है और क्या हमारे सिरों पर मित्र की भाँति मुस्कराते चाँद-सितारे नित्य ही उदित नहीं होते ? मुख से मुख, नेत्र से नेत्र, हृदय से हृदय और तेरा-मेरा साक्षात्कार होने पर क्या उसकी परोक्ष-अपरोक्ष सत्ता का आभास नहीं होता और क्या इस प्रकार तेरे-मेरे जीवन के चतुर्दिक् लिपटे हुए दृश्य-अदृश्य रहस्य का उद्घाटन नहीं हो जाता ? उसकी शक्ति अपरिमेय और अचिन्त्य है। उस अव्यक्त सत्ता की अचेतन अभिव्यक्ति को अपने हृदय में अनुभव कर। जब तेरा हृदय दिव्य रस से आप्लावित हो जाय तो उसी ब्रह्मानन्द अर्थात् प्रेम और ईश्वर की निनादित होती हुई अनुकम्पा समझ।"

ईश्वर कोई रुबरू या सहज ही इन्द्रियगोचर होने वाली वस्तु नहीं है, वह तो भीतर ही भीतर समग्र सत्ता या पूर्ण सत्ता का एक तरह साक्षात् उन्मेष है। इस गहरी दृष्टि का रहस्य है कि मूलगत तत्त्वों की तह तक पैठ सकें। बाहरी तौर पर इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं, बल्कि असीम और अनंत का सम्यक् ज्ञान--जो शक्ति है, प्रेरणा है और तलीय स्वरूप है—इसी की व्याख्या में गेटे ने लिखा :

"कौन वह शक्ति है जो हृदय को आन्दोलित करती है और जिससे समस्त तत्त्वों पर विजय प्राप्त कर ली जाती हैं ? क्या यह उस समस्वरता के अतिरिक्त कुछ और है जो हृदय में प्रकट होकर सारे संसार को उससे समन्वित कर देती है। जबकि प्रकृति चरखे पर अनवरत वर्द्धमान धागे को अनायास कातती जाती है और सम्पूर्ण सृष्टि की उलझनों का झंझावात परस्पर टकरा कर भीषण अट्टहास करता है, तब कौन उन्हें जीवनदायी प्रवहमान स्वरसरणियों में संविभक्त करता है जिससे वह सुस्वरता से सम्पन्न हो जाता है। पृथक्-पृथक्, विशृंखल, विभक्त सत्ताओं को सर्वव्यापी पावनता के लिए कौन आह्वान करता है जिससे कि वे अचिन्त्य समस्वरता के साथ ध्वनित हो उठती हैं। वह कौन है जो प्रबल मनोवेगों के अंधड़ में अथवा आत्मा की दुर्भेद्य गहनता में सांध्य अरुणिमा का आलोक भर देता है तथा सुखद बसन्त की अर्द्धस्फुट कलिकाओं को प्रेमपथ पर बिखेर देता है ?

आह ! मैं जगत् की उस निगूढ़ शक्ति को पहचान सकूँ और समग्र विधायक-शक्ति एवं मूल बीज को खोज सकूँ तथा कोरे शब्दाडम्बर से मुक्त हो जाऊँ।

अनन्त प्रकृति ! क्या मैं तुझे स्वायत्त कर पाऊँगा ?"

दरअसल, मनुष्य में स्वसत्ता का अहंकार इतना प्रबल और उद्दाम है कि वह अपने समक्ष किसी को नहीं आँकता। यहाँ तक कि वह भगवान तक को चुनौती देता है। इसी भाव से प्रेरित होकर गेटे ने लिखा :

"अपने को परमेश्वर का प्रतिरूप मानकर मैं यह समझ बैठा था कि मैं सनातन

सत्य रूपी दर्पण के नितान्त निकट हूँ। मैं मानवीय शक्ति की अवहेलना कर स्वर्गिक सुख एवं आनन्द का उपभोग कर रहा था; अपने आपको देव-पार्षदों से बड़ा समझ में अपनी स्वच्छन्द शक्ति को प्रकृति की धमनियों में प्रवाहित होने की होड़ तथा दिव्य उदात्त जीवन की रचना कर उसके उपभोग का दुस्साहस कर रहा था, पर एक ही धक्के ने मेरा गर्व, खर्व कर दिया।"

कभी-कभी जब अहंकार बहुत बढ़ जाता है तो ऐसे भी क्षण आते हैं जब कितनी ही बाहरी विसंगतियों और अलक्षित परिस्थितियों के कारण हमारे मिथ्याभिमान को गहरी ठेस लगती है। जिसकी चोट से सहसा आहत उसका अपना स्वरूप उसके सामने उसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब।

"नहीं, मैं तेरी बराबरी करने का साहस नहीं कर सकता। तुझे आकर्षित करने की शक्ति तो मुझ में है, पर रोक रखने की क्षमता नहीं। उस एक महान् क्षण में मैंने अपनी लघुता तथा तेरी महत्ता दोनों का अनुभव कर लिया! और तूने पुनः मुझे अनिश्चित् मानव-नियति के गर्त्त में ढकेल दिया। अब कौन मेरा पथ-प्रदर्शन करेगा? क्या मैं पुनः उसी प्रवृत्ति का अनुसरण करूँ? ओफ्! हमारे कर्म दुःखों के समान हमारे जीवन की प्रगति में बाधक होते हैं।

जो कुछ अच्छी वस्तु हमारी आत्मा ग्रहण करती है उसमें अनवरत अधिकाधिक बाह्य वस्तुओं का मिश्रण होता जाता है। जब हमको ऐहिक समृद्धि प्राप्त होती है तो हम श्रेष्ठ आध्यात्मिक वैभव को छलना एवं प्रवंचना मान लेते हैं। हमारी महत्त्वाकांक्षाएँ, हमारी आत्मा की सच्ची पुकार सांसारिक द्वन्द्वों के तुमुल घोष में जड़ हो जाती हैं। यदि पहले कभी, आशाभरी कल्पना ने अपने साहसी पंखों को सनातन तत्त्व की ओर फैलाया था तो आज समय के भँवर-चक्र में, सुखों के तिरोहित हो जाने पर वह अपने पंखों को समेट रही है। हृदय के अन्तराल में चिन्ता ने अपना नीड़ बना लिया है और वहीं चुपचाप वह पीड़ा उत्पन्न किया करती है। निद्रा से दूर रख कर वह सुख-शान्ति और विश्राम का अपहरण कर लेती है और मन को दोलायमान रखती है। नये-नये रूपों में चिन्ता हमारे सम्मुख आया करती है और हम उसके प्रहारों से काँपा करते हैं। हम सदैव मनगढ़ंत, कल्पित दुश्चिन्ताओं के शिकार बने रहते हैं।"

फिर भी, मनुष्य का आत्मज्ञान ही उसकी प्रयोजनभूत उपलब्धि है जिसके कारण उसका अहंता मन किसी के समक्ष घुटने नहीं टेक सकता—यहाँ तक कि वह ईश्वर से भी होड़ लेने को कटिबद्ध रहता है। यदि वह अपने तईं ऐसी हीनता को प्रश्रय देगा तो उसका पूर्णत्व कैसे विकसित होगा? कोरे नैराश्यवाद के मिथ्यावरण के मिस वह अपने आप को कब तक बहला सकता है? उसे हेय, उपादेय और ज्ञेय का विवेक-तत्त्व जगाना ही होगा। गेटे ने इसी तथ्य की व्याख्या में लिखा:

"फिर भी कर्म के द्वारा यह सिद्ध कर दें कि मनुष्य की क्षमता परमेश्वर की प्रभुता के समक्ष आत्मसमर्पण नहीं कर सकती। उस अंधकारमय गह्वर के सामने न

कांप, जिसमें कल्पना स्वरचित यन्त्रणाओं से पीड़ित होती है। आयासपूर्वक उस घाटी की ओर बढ़ चल जिसके संकुचित मुख के चतुर्दिक् नरक की लपटें प्रदीप्त हो रही हैं। चाहे विनाश का भय ही परिणाम क्यों न हो, तो भी उल्लासपूर्ण संकल्प से इस मार्ग को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो जा।

संतोष की प्रबल आकांक्षा होते हुए भी संतोष का स्रोत हृदय में बरबस फूट नहीं पड़ता। यह सरिता इतनी शीघ्र क्यों सूख जाती है कि हम प्यासे ही रह जाते हैं? लोकोत्तर रहस्य का महत्त्व ऐसी ही अवस्था में हमारी समक्ष में आता है और हम पावन आह्वान की ओर उत्कण्ठित हो जाते हैं, जो और कहीं भी इतनी क्षमता एवं सुषमा के साथ भासमान नहीं होता—जैसा कि नवीन साक्ष्य में। प्रभात काल में मैं भय से कांपता हुआ उठता हूँ और दिन का दर्शन करके मुझे रोना आता है, क्यों-कि वह अपने अनवरत चक्र में एक भी आकांक्षा को पूर्ण नहीं कर सकता। इतना ही नहीं वह आनन्द के पूर्वाभास तक को दुराग्रह द्वारा घटा देता है और क्रियाशील हृदय की उमड़ती हुई रचनात्मक प्रवृत्ति के मार्ग में व्यवधान उपस्थित कर विघ्न डाल देता है।

मैं तो अपना जीवन उद्दाम उद्वेग चक्र में, यन्त्रणामय उन्माद में, स्नेहपूर्ण घृणा में, स्फूर्तिदायक उपेक्षा में उत्सर्ग कर देना चाहता हूँ। ज्ञान की पिपासा से तृप्त हुआ मेरा हृदय भविष्य में किसी पीड़ा से पृथक् नहीं रहेगा—मानव मात्र के भागधेय को मैं अपने अन्तरतम में भोगना चाहता हूँ। महान् से महान् और क्षुद्र से क्षुद्र को मैं अपनी आत्मा द्वारा ग्रहण करना चाहता हूँ और सबके सुख-दुःख को अपने अंतर में राशिभूत कर लेना चाहता हूँ, ताकि मेरी आत्मा उन सबके समान विशाल होकर अन्त में उन्हीं के समान छिन्नभिन्न हो जाय।

साहसपूर्ण निर्णय संभाव्य को दृढ़तापूर्वक पकड़ लेता है, छूट कर जाने नहीं देता, तब, चूँकि संभव को करना अनिवार्य हो जाता है, वह उसको पूर्ण करके ही मानता है।"

'स्व' का विवेक होने पर [illegible] द्वारा यह महान् तथ्य हमारे समक्ष उभर आता है कि आत्मा क्या है। आत्माएँ तत्त्वतः एक हैं तो उनमें यह वैषम्य, यह पार्थक्य और भेदभाव कैसा? यदि बाह्य उपाधियों के कारण ये भेदभाव और पार्थक्य हैं तो वस्तुतः ये उपाधियाँ क्या हैं? क्यों अवांछित रूप से वे आत्मा से संश्लिष्ट हो जाती हैं और किन परिस्थितियों में उसे अपनी जकड़बन्दी में आबद्ध कर लेती हैं? कैसे उनसे छुटकारा मिलना संभव है? वह कौन सी महत् शक्ति है जो उसकी सीमाओं और विवशताओं के बावजूद दिशा-निर्देश कर उसे आगे बढ़ाती है? इन्हीं प्रश्नों का समाधान खोजने के लिए गेटे ने इस महत् शक्ति को सम्बोधन कर लिखा:

"ओ महत् शक्ति! मैंने जो कुछ पाने की तुझ से प्रार्थना की थी तूने मुझको वह सब प्रदान किया। तूने अग्नि की लपटों में अपनी आकृति का दर्शन यों ही व्यर्थ

नहीं दिया था। ओ विशाल तेजोमय प्रकृति ! तूने मुझे अनुशासन सिखाया और साथ ही उसका अनुभव एवं उपभोग करने की शक्ति भी प्रदान की। तूने न केवल आश्चर्य-चकित करने वाली पहचान मात्र दी, अपितु वह शक्ति भी प्रदान की जिसके द्वारा मैं गम्भीरता को भाँप सकता हूँ और उसकी भीतरी थाह पा सकता हूँ। अगणित जीवों की पृथक्-पृथक् श्रेणियों को तू मेरे समक्ष उपस्थित करती है तथा जल, उपवन और वायु में विचरण करने वाले प्राणिवर्ग को पहचानना सिखलाती है और जब प्रभंजन गरजता और कड़कता है, गिरते हुए देवदारु के वृक्ष निकटवर्ती शाखाओं और वृक्ष-स्तम्भों को कुचल धराशायी कर देते हैं और उनके निपात की गहन ध्वनि गिरिकोटरों में गूँज उठती है तब तू मुझे सुरक्षित गिरिगुहा में ले जाकर मेरी आत्मा और रहस्य-मय हृदय का साक्षात्कार कराती है। तब न जाने कितने आश्चर्य उद्घाटित हो जाते हैं। जब मेरी दृष्टि के सम्मुख सौम्य चन्द्रमा का उदय होता है और वह स्निग्ध शीतल विश्रान्ति बिखेरता हुआ गगन मण्डल की ओर उत्थित होता है तो प्रत्येक कगार और सिक्त झुरमुट से अतीत की अगणित रजत-छायाएँ उठ-उठ कर मेरे चारों ओर मँडराने लगती हैं और चिंतन की निर्मम कर्कशता को मृदुता प्रदान करती हैं।

दिन के प्रकाश में भी रहस्यमयी प्रकृति अवगुण्ठन को सर्वथा निरावरण नहीं करती तथा जो कुछ स्वयमेव तेरी आत्मा पर उद्घाटित नहीं करती उसको दाँव-पेंच की सहायता से तू बलपूर्वक नहीं खोल सकता।"

वास्तव में, स्वभाव से अमूर्त्त होने पर भी जीव कर्मबन्ध के कारण मूर्त्त होने के अनवरत प्रयास में लगा रहता है। उसके विकास में अंतरंग चिन्तन-मनन का बड़ा महत्त्व है। किन्तु इस अंतरंग चिन्तन-मनन को उजागर करने के लिए उसकी सर्वप्रथम चेष्टा होनी चाहिए कि वह हर वस्तु को निर्भय और पूर्वाग्रह मुक्त भाव से देखे ताकि उसमें जो सारतत्त्व, महत्त्वपूर्ण और उपादेय है उसे पहचान सके। आत्मा भले ही भोगने में परतन्त्र हो, पर उपार्जन में स्वतन्त्र है अर्थात् स्वयं ही वह अपने उत्थान-पतन का निर्माता है। गेटे के निम्न उद्धरण में इस अंतर्बोध की कितनी अद्भुत अभिव्यंजना हुई है :

"जो कुछ हमें विदित नहीं उसे हम जानने की आकांक्षा रखते हैं तथा जो हम जानते हैं वह किसी काम का नहीं। देखो तो सही सन्ध्या की लाली में ये हरियाली से आवृत्त भवन कैसे देदीप्यमान हो रहे हैं। सूर्य का प्रकाश विदा लेकर छिप रहा है, दिन समाप्त हो गया, यही प्रकाश अन्यत्र जाकर नवीन जीवन को स्फूर्ति प्रदान करेगा। शोक को प्रकाश के अनवरत अनुसरण के लिए पृथ्वी से ऊपर उड़ा देने वाले पंख मुझे प्राप्त नहीं हैं। ऐसा होता तो मैं सारे जगत् को अपने चरणों के नीचे सांध्य प्रकाश में निमग्न हुआ देखता। प्रत्येक पर्वत-शिखर भास्कर और सब उपत्यकाएँ प्रशान्त दृष्टिगोचर होतीं तथा प्रत्येक रजत प्रभाधारा स्वर्णकान्त महानद सी

प्रवहमान दृष्टिगत होतीं। गम्भीर गह्वरों सहित पर्वत-श्रेणियाँ मेरी दिव्यगति को न रोक पातीं। आलोक-मण्डित सागर अपने वक्षःस्थल को मेरी दृष्टि के सामने फैला देता। ऊपर अनन्त आकाश है और नीचे सागर की लहरें। कैसा मनोरम स्वप्न है, पर शोक, कि दैहिक पंख मानसिक पंखों के समान हल्के-फुल्के नहीं हो सकते। तो भी, लवा नील गगन में गूंजने वाला गीत गाता है तब उच्च देवदास के अमेय विस्तीर्ण में पंखों वाली चील मँडराती है। जब क्रौंच शाद्वलों और सागरों को पार करता हुआ अपने नीड़ की ओर उड़ने का प्रयत्न करता है तब प्रत्येक मानव-हृदय में पृथ्वी से दूर ऊँचे उड़ जाने की उत्कण्ठा जगा करती है।"

अंततः, सर्वात्मा सच्चिदानंद घन में ही समस्त ज्ञान-विज्ञान, भक्ति एवं दर्शन की अखण्ड साधना अव्याहृत है। उससे परे है ही क्या? सचमुच वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही सब कुछ है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' उसी से सब उत्पन्न होते हैं, उसी से पुष्ट होते हैं और उसी में लौटकर समाहित हो जाते हैं। तो वह है क्या चीज़? यथार्थतः यह आत्मा ही ब्रह्म है! उसमें और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं। अतः स्वयमेव को पहचानो। अपनी आत्मा को इतना ऊँचा उठाओ जिससे सर्वाङ्गीण रूप में उसका पूर्ण परिपाक हो सके। जब तर्क थक जाता है, लक्ष्य अस्थिर होकर डगमगाने लगता है और आत्मा में जड़ता का तिमिर छा जाता है तब उसी का आलोक तो भटके हुए को गतिमान करता है। अतएव हर स्थिति में परमेश्वर की अभ्यर्थना ही जीवन की सार्थकता है।

"किसमें यह साहस है कि उसका नाम ले? कौन यह घोषणा कर सकता है कि मैं उसमें विश्वास करता हूँ! कौन अनुभव करने वाला यह कहने का साहस कर सकता है कि मैं उसको नहीं मानता। वह सर्वात्मा, सर्वव्यापक, क्या तुझे-मुझे और स्वयं अपने को घेरे हुए और धारण किए हुए नहीं है? क्या गुम्बद के सदृश आकाश हमारे ऊपर नहीं छाया हुआ है? क्या नीचे धरा स्थिर नहीं पड़ी है? क्या सनातन सौहार्दपूर्ण तारिकाएँ हमारी ओर ताका नहीं करतीं? क्या तेरी निखिल भावनाएँ हृदय और मस्तिष्क की ओर उमड़ कर तेरे चारों ओर सनातन प्रत्यक्ष और परोक्ष रहस्य के द्वार तानाबाना नहीं बुनती! ऐसा महान् है वह, अपने हृदय को उससे परिपूर्ण कर ले और जब तू पूर्णतया उसे आत्मसात् कर ले तो तू उसको जो नाम चाहे दे डालना, चाहे उसको ईश्वर मानना, चाहे हृदय! चाहे प्रेम, चाहे परमेश्वर! मेरे पास उसके लिए कोई नाम नहीं है। भावानुभव ही सर्वस्व है, नाम और उपाधि तो उस स्वर्गिक क्रान्ति को धूमिल करने वाला धुआँ और नाद मात्र है।"

२०

क्रांतदर्शी टाल्सटाय

युग-जीवन का प्रेरक लिओ टाल्सटाय का नाम वास्तविक कला और जन-जीवन की महती निष्ठा और मानवतावादी भावधारा से जुड़ा है। उसकी लेखनी में निर्भीक विचारों की सर्जना के साथ-साथ विश्ववेदना की मर्मस्पर्शी कचोट को उभाड़ने वाली शक्ति सदैव निहित रही—और वास्तव में, टाल्सटाय की कृतियाँ शताब्दियों तक अमर मानवता की कल्पना-शक्ति को उजागर करने वाली स्मारक बनी रहेंगी।

टाल्सटाय की लेखनी उस समय चमकी थी, जब रूस के सामाजिक सम्बन्धों में भारी उथल-पुथल मची हुई थी। रूढ़िग्रस्त कुंठाओं ने विकास के पथ को अवरुद्ध कर लिया था। इस क़दर मुसीबतों और कठिनाइयों का ताँता-सा लगा हुआ था कि तभी टाल्सटाय की लेखनी विश्वास की बुलन्दी में बदली और उसने जीवन का नक्शा अपने ढंग से पेश किया।

"प्रत्येक वस्तु में परिवर्त्तन हो रहा है, केवल अपने को फिर से क़ायम रखने के लिए उसकी नींव सुदृढ़ बनाना है।"

दासवृत्ति के समाप्त हो जाने के पश्चात् पूँजीवाद ने धीरे-धीरे अपनी जड़ें मज़बूत करली थीं, लेकिन जब श्रमिक वर्ग ने नई दुनिया में अपनी आँखें खोलीं और एक मुक्ति आन्दोलन को जन्म दिया तो १८६१ और १९०५ के दौरान यह समय रूसी क्रान्ति और श्रमिक सुधार-आन्दोलन का था। निस्संदेह, टाल्सटाय ने अपनी कला-शक्ति की निखार से उनकी आकांक्षाओं के रुख़ में प्राण फूँका—उनके विचारों और भावनाओं को सबलता प्रदान की, जिनके अन्तर्दाह में दमन और विद्रोह का ऊफ़ान कसमसा रहा था। ज़मींदारों, ज़ार के कर्मचारियों और अभिजात्य वर्ग के प्रति जिनकी द्वेष-भावना उग्र रूप से थी अथवा प्रतिशोध की ज्वाला जिनकी रग-रग में समायी थी, उन सभी संत्रस्तों के लिए टालस्टाय देवतुल्य सिद्ध हुआ और उसकी कला दैत्यों के संघात के साथ मानो आगे बढ़ी। टालसटाय के उपन्यास एवं कथा-साहित्य ने उन्नीसवीं शताब्दी के रूसी जीवन में भारी तहलका मचा दिमा। उस समय जबकि पश्चिम तक में कला अपना मूल्य खो रही थी—क्योंकि जनता में सामाजिक उत्तेजना का प्रसार अधिक और समाज के प्रति दिलचस्पी कम थी, तो टाल्सटाय ने समाज से

संसर्ग स्थापित करके ही एक नवीन, आयासहीन संवेदना को मुखरित किया था।

टाल्सटाय की विवेकशीलता ने काव्य-ग्रंथों में क्लासिकल रुझान के साथ-साथ सांगोपांग सरलता और शक्ति का भी समन्वय किया। इस महान् लेखक ने रूस के पुरुष और नारी के राष्ट्रीय चरित्र का पूर्ण विश्लेषण कर उनके शताब्दियों से चले आ रहे स्वतन्त्रता-संघर्ष को चित्रित किया। न सिर्फ़ उनकी स्वतन्त्रता, उनकी समृद्धि और फौलाद की सी शक्ति के लिए ही उसकी लेखनी ने मार्ग प्रशस्त किया, बल्कि उस सर्वथा नवीन पथ की लीक पकड़ने का भी सकेत किया, जहाँ संघ-स्थापना की पृष्ठभूमि में एक वृहद् मानववादी भावना पनप रही थी। बाद में सार्वजनिक आन्दोलन के साथ-साथ उसने खूनी क्रान्ति का पृष्ठ भी खोला और समकालिक समाज के जीवन का मर्मस्पर्शी चित्रांकन प्रस्तुत किया। आधी से अधिक शताब्दी तक टाल्सटाय की दृढ़ और सत्यवादी आवाज़ संसार भर में गूँजती रही—पूँजीवादी वर्ग की पैशाची वृत्ति के दंभ को तोड़ती हुई और उनकी आत्म अभ्युदय की ख्वाहिश या इस संहिता और तमाम 'सभ्यता' की नक़ाब में पाखण्ड और छल-कपट की परतों में ढकी दासता व खूँखार अनाचार का पर्दाफ़ाश करती हुई।

टाल्सटाय के विषय में प्रसिद्ध है कि यदि अन्य विद्वानों का कृतित्व जोड़ें तो उनसे दुगुना उस एक व्यक्ति ने अकेले ही लिखा। साठ वर्ष तक वह रूस में घूमता रहा, तमाम चीज़ों को देखते हुए—गाँवों-गाँवों में, गाँवों के स्कूलों में...जेलों और हवालातों में, अपराधियों और कैदियों की कोठरियों में, कैबिनेट मंत्रियों और अधिकारियों के आमोद-स्थलों में, राज्यपालों के दफ्तरों में, किसान और मज़दूरों की झोंपड़ियों में, फैशनपरस्त स्त्रियों के ड्राइंग रूमों में, न जानें कहाँ-कहाँ और किन-किन के जीवन में झाँक कर उसने अपने अनुभवों को बटोरा। अपने उदार दृष्टिकोण और नित-नई परिस्थितियों में निरखने-परखने और उसमें से कुछ पा लेने की प्रवृत्ति के कारण उसने कितनी ही समस्याओं से सदैव संघर्ष किया।

टाल्सटाय ने जो मार्ग जनता के सामने प्रशस्त किया था वह अत्यन्त कष्टप्रद था, क्योंकि उसका जीवन और कृतित्व प्रतिकूल धाराओं में बँटा हुआ पेंचीदा सामाजिक उथल-पुथल का परिचायक था। चलती-फिरती ताज़ी घटनाओं ने उसका ध्यान बँटाया और इन्हीं घटनाओं के माध्यम से उसकी सारी आगामी क्रियाओं का सूत्रपात हुआ। वह महान् कलाकार, जो जन्म से ही जीवन का प्रेरक रहा, शनैः-शनैः शोषित वर्ग का रक्षक और बेमेल प्रतिद्वन्द्वियों का भक्षक बना। साथ ही साथ समस्त राजकीय, सामाजिक और आर्थिक संगठनों का—जो बेसहारे निर्धन किसानों को चूसना और लूटना ही जानते थे—उनका एक उत्कट आलोचक भी बन गया। टालस्टाय ने समय की दिशा-दृष्टि को मोड़ा और तमाम परम्परागत अन्धविश्वासों को तोड़ डाला।

"मैं जीवन के दायरे को अपने में समेटने की कोशिश करता हूँ।" टाल्सटाय ने अपनी एक पुस्तक 'कनफेशन' में लिखा है। "मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि यह जीवन नहीं है, बल्कि यह जीवन की बिडम्बना है और एक किस्म का तिरस्कार या

बहिष्कार है। जिन अतिवादों में हम रमे रहते हैं वह जीवन को समझने से हमें वंचित कर देते हैं और जीवन को समझने के लिए किसी के जीवन को अपवाद नहीं समझना चाहिए, क्योंकि इस तरह जीवन की प्रच्छन्न चापलूसी नहीं, बल्कि उन मजदूर, निर्धन किसानों का जीवन समझना है—जो जीवन का निर्माण करने वाले हैं और जिसका अर्थ केवल उन्ही के द्वारा समझा जा सकता है।"

टाल्सटाय की जीवन की परिकल्पना इतनी विराट् थी कि वह मूलभूत भौतिक यथार्थताओं की रगड़ खाकर ऐसी संवेदना का संस्कार करना चाहता था जिसके वृत्त के भीतर अलग-अलग संघर्ष की लीकें पहचानी जा सकें। जो भावुकता की कसौटी को ही अंतिम कहते हों अथवा तर्कों के उन सूत्रों में ही उलझे रहें जो मात्र भावाश्रित हैं तो वे जीवन की अतल गहराइयों में न पैठकर हवा में उड़ानें ही भरते रहते हैं। तात्कालिक परिस्थितियाँ या परिवृत्ति को अस्वीकार करने की कुंठा या असंतोष के कारण उनमे आमूल विद्रोह या नकारात्मक आग्रह तो है पर उसका कोई समाधान नहीं है। यह दुराग्रह और अंतर्विरोध अन्ततः भौतिक जीवन के साथ चेतना का अद्भुत और अनमिल सामंजस्य स्थापित कर सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है। अतएव टाल्सटाय का आक्रोश समवर्ती समस्याओं और आयोजनों के प्रति ही नहीं है, बल्कि समूचे जीवन-विधान के प्रति है। उनके मत में मानवी प्रवृत्तियाँ तो बोधगम्य हैं, पर घटनानुक्रम तर्कातीत और विसंगत है, यही कारण है कि साहित्यकार की जिज्ञासु आत्मा मुखर हो अनेक प्रश्न करती रहती है और कितनी ही भ्रान्तियों और उलझनों से आतंकित रहने के बावजूद भी मूलतः जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण विकसित करती रहती है। अपनी डायरी में एक बार टाल्सटाय ने लिखा :

"कलाकार के लिए यह जानना अनिवार्य है कि उसे क्या कहना चाहिए। साथ ही उसे मानवी भावनाओं का भी विशुद्ध ज्ञान होना चाहिए। युग की उच्चस्तरीय संस्कृति से वह अवगत हो, किन्तु सब से महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि वह आत्मश्लाघी न हो, बल्कि जीवन में सक्रिय भाग लेने वाला हो। कारण—एक अज्ञानी या अपने तईं ही सीमित व्यक्ति कभी भी एक बड़ा कलाकार नहीं बन सकता।"

लेखक की अंतःशक्ति तो साहित्य में ही उजागर होती है, देखना सिर्फ़ यही है कि जीवन के आयामों में निजी अनुभूतियों के मिलेजुले ये यथार्थ चित्र नये सिरे से आँकनें में वह कहाँ तक सफल हुआ है और इस प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से भाव-संघात और सूक्ष्म से सूक्ष्म उद्वेलनों को तात्त्विक ढंग से समझने का प्रयत्न उसने किया है अथवा नहीं। एक बार अपनी नोटबुक में उसने लिखा :

"कलाकार का ध्येय किसी समस्या का निर्विवाद समाधान प्रस्तुत करना नहीं, अपितु पाठक को जीवन के अनेक पक्षों से परिचित कराना है। यदि मुझे कहा जाए कि मैं एक ऐसा उपन्यास लिखूँ जो सामाजिक समस्याओं पर मेरे व्यक्तिगत विचारों को प्रकट करे तो मैं दो घण्टे भी नहीं लिख सकूँगा, परन्तु यदि मुझ से यह कहा जाए कि मैं जो कुछ लिखूँगा वह आज से बीस वर्ष तक उन लोगों द्वारा पढ़ा जाएगा जो

आज बालक हैं और वह रचना उन्हें हँसाएगी, रुलाएगी तो मैं उसको लिखने में अपनी पूर्ण शक्ति और सारा जीवन लगा दूँगा…"

विश्व में कलाकार जितना ही नवीन है उतना ही पुराना भी। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार उसके विचारों में परिवर्त्तन तो होता रहता है, किन्तु उसके सृजन द्वारा जो सहज चिरत्व की स्थापना होती है वह अतीत, वर्त्तमान और भविष्य के छोरों को एक साथ जोड़ देती है। आत्मचेता कलाकार वर्त्तमान की जीर्णता को एकदम पहचान लेता है और विभिन्न स्तरों पर जो यथातथ्य है उसी को 'आधुनिकता' का पुट देकर भूत-भविष्य के संदर्भ में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है। एक स्थल पर :

"कलाकार जो कुछ अभिव्यक्त करना चाहता है, उसे पूरी तरह प्रकट करने के लिए उसके पास हुनर होना चाहिए। हुनर प्राप्त करने के लिए उसे श्रमपूर्वक काम करना चाहिए।

कलाकार को अपने हृदय की गहराइयों से लिखने के लिए अपने विषय में लगन होनी चाहिए। इसलिए उन विषयों के बारे में उसे कुछ नही कहना चाहिए जिसके प्रति वह उदासीन है। किन्तु जिन बातों को वह हृदय से चाहता है, उनके बारे में उसे अवश्य लिखना चाहिए।

कला की उत्पत्ति के लिए ये तीन आधारभूत आवश्यकताएँ हैं और अन्तिम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके बिना अथवा विषय की लगन के बग़ैर कला का कोई कार्य सम्भव नही।"

लेखक बनने की ख्वाहिश तो होती है, पर लेखक बनने के लिए उसे क्या साधना करनी चाहिए, चारों ओर दिशा व काल की परिधि में किस प्रकार अपने हर एक-एक क्षण को चिरन्तनता में बाँध देने की उत्कण्ठा होनी चाहिए अर्थात् कोई पूछे चिरन्तनता क्या ?—तो वह लेखक के स्वयं को विभोर व तन्मय करने वाला मन का पूर्णत्व है जिसका अणु-अणु, कण-कण—दिशा और काल के परे—समय के चिरन्तन प्रवाह में लय हो जाता है। अपने मित्र को लिखे एक पत्र में टालसटाय ने रचनाकार या लेखक के सम्बन्ध में जो उद्‌गार व्यक्त किये वे निम्न हैं :

"मेरी समझ में प्रथमतः व्यक्ति को तब लिखना चाहिए जब उसके वे विचार, जिन्हें वह अभिव्यक्त करना चाहता है, इतने प्रबल हों कि उन्हें शब्दों का रूप दिये बिना वह उनसे छुटकारा न पा सके।

लेखन के अन्य कारण (उदाहरणार्थ, महत्त्वाकांक्षा या आर्थिक विवशता) लेखन के मुख्य कारण (अर्थात् आत्माभिव्यक्ति की अनिवार्यता) से सम्बन्धित होते हुए भी लेखन की श्रेष्ठता एवं ईमानदारी को भ्रष्ट कर देंगे। इनसे सचेष्ट रहना चाहिए।

दूसरे, वह वस्तु जिससे प्रायः ही वास्ता पड़ता है और जिस के लिए कई समकालीन लेखक भी दोषी हैं, उनकी यह कामना है कि दूसरों से भिन्न एवं मौलिक लिखा

जाए तथा पाठकों को अपनी कृति से आश्चर्यचकित कर दिया जाए। यह अधिक हानिकारक है।...सरलता सौन्दर्य का अंश है। जो भी सरल और कलाहीन है वह अनिवार्यतः अच्छा नहीं होगा, परन्तु जो सरल नहीं है और कृत्रिम है, वह कदापि अच्छा नहीं हो सकता।

तीसरे, लेखन में जल्दबाजी अपकारी है और इसके अतिरिक्त वह विचारों को प्रकट करने की सच्ची आवश्यकता से वंचित करती है, क्योंकि यदि आवश्यकता सच्ची और निष्कपट है तो लेखक अपने विचारों को अत्यधिक सरलता और सरसता से व्यक्त करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करेगा।

चौथे, अत्यधिक पाठकों की आवश्यकताओं और रुचियों को संतुष्ट करने की इच्छा नहीं होनी चाहिए। यह इच्छा सृजन के महत्त्व को पूर्णतः नष्ट कर देती है। साहित्य का कोई कार्य तभी मूल्यवान होगा जब वह प्रत्यक्ष रूप से धर्ममन्त्रों की तरह उपदेश न देकर, लोगों के समक्ष नए विचार प्रस्तुत करें...।"

चूँकि टाल्सटाय का उदय उस संक्रान्ति-युग में हुआ था जबकि यथार्थ की ह्रासोन्मुख और विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का द्वन्द्व चरम परिणति को पहुँच चुका था, अतएव साहित्यिक स्थापनाओं और उसके मूल्यों तक ही उसकी दृष्टि सीमित न रह कर मानव और तत्कालीन समाज पर भी केन्द्रित हुई। एक ओर अभिजात्य वर्ग तथा दूसरी ओर वर्गविहीन समाज का उद्भव हो रहा था। लोकतांत्रिक प्रवृत्तियाँ जब रूस में राष्ट्रीय चरित्र के वैशिष्ट्य को रूपायित कर रही थीं तब जागृति की इस असाधारण स्पृहा ने टालसटाय में जनता के रागतन्तुओं को छूकर और उनके व्यापक संघर्ष की पीड़ा और वेदना मे पैठकर ऐसे साहित्य-सृजन के अंतरंग और बहिरंग द्वारा परिवर्त्तन लाने का प्रयास किया जिसकी जड़ें तत्त्वतः जनतंत्र की अनुकूल भूमि मे ही पोषण और संवर्द्धन प्राप्त कर रही थी। सर्वप्रथम उसने इस बात को बड़ी ही गहराई से समझा कि यदि राष्ट्र की आत्मा स्वस्थ नहीं है अथवा वह लोगों को विपरीत शक्तियों से संघर्ष की ओर प्रेरित कर रही है तो इससे न तो नैतिक उत्थान ही संभव है और न राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के बिना लोक-जीवन के साहसिक अभियानों की ओर ही उन्मुख हुआ जा सकता है। अतएव, शुरू में ही रूसो की विचारधारा से प्रभावित होकर उसने अपना सबसे पहला उपन्यास 'ए रशियन लैंडलार्ड' (एक रूसी ज़मीन्दार) लिखा। इसका नायक प्रिंस निखलदोफ एक ऐसा व्यक्ति सिरजा गया जो असहायो, पीड़ितों और दासता के बंधन में जकड़े गुलामों का उद्धारक था। पर जैसा कि प्रायः होता है गुलाम और किसान-वर्ग अपनी मौजूदा स्थिति के इतने अभ्यस्त और उसमें ही इतने रम गए थे कि इस बात का उन्हें किंचित् भी एहसास न था कि इस चौहद्दी, इस दासता की जकड़बन्दी से अलग हटकर भी क्या किया जा सकता है। परिणामस्वरूप वे अपने उद्धारक को संशय और हिक़ारत की नज़र से देखते रहे।

वर्षों तक टाल्सटाय के विचारों में इसी प्रकार का द्वन्द्व चलता रहा। क्रिमियन युद्ध के दौरान सैनिक के रूप में भी उसका साहित्य-सृजन का क्रम यथापूर्व

चलता रहा। मानव-संहार, हिंसा और रक्त-पिपासा हर काल और हर परिस्थिति में गर्हित है, अतएव ध्वंस से निर्माण की ओर प्रेरित होना श्रेयस्कर है। फलतः 'दि इनवेज़न' में उसने युद्ध के विरुद्ध अपने विचार प्रकट किये। एक साहित्यकार को विनाश के भीतर से कौनसी उपलब्धियाँ हो सकती हैं, इसलिए बुनियादी तौर पर संकुचित दृष्टि, स्वार्थ और अनाचार की भावना से पृथक् जीने की कला विकसित होनी चाहिए। मानव-एकता और समग्र सामाजिक प्रगति के लिए अवांछनीय तत्त्वों का मूलोच्छेद कर भौतिक कल्याण और विश्वशान्ति की ओर अग्रसर होने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। उन्हीं दिनों की अपनी डायरी में उसने लिखा :

"मेरे हृदय में यह भावना प्रबल हो गई है कि मैं अपने समस्त जीवन को इस नवीन धर्म के लिए बलिदान कर दूँगा। यह नवीन धर्म अप्रतिरोध, विश्वबंधुत्व और विश्वशांति की ओर प्रेरित करने वाला होगा।"

और तभी से युद्ध के विरुद्ध विश्वव्यापी युद्ध छेड़ने की वैचारिक क्रान्ति ने उसमें सत्य और दार्शनिक बुद्धि की प्रखरता जगाई। उसके विचारों ने अपने जमाने पर ज़बर्दस्त छाप डाली और अपने जीवन-काल में ही वह मानवता के शांतिदूत के रूप में जन-भावनाओं को दूर तक समेट ले गया। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उसके विश्वास अधिकाधिक पुष्ट होकर फलीभूत हुए। उसे देश के भावी जीवन में एक महान् परिवर्त्तन का पूर्वाभास हो गया था। अतः उसकी यह जागरूकता ही उसकी धारणाओं को नित-नये विकास की सीढ़ियाँ चढते हुए इतनी दूर तक ले गई जहाँ खींचतान और कशमकश से परे नये शिल्प और नई कथन-भंगिमा को उभार कर उसने सामने रखा। क्षणवाद, लघु मानववाद और अहंता मनोवृत्तियाँ किसी हद तक क्षम्य मान ली जायें, किन्तु वे अधिकाधिक गहरी जड़ें जमाकर हमारे जीवन की उत्फुल्लता को क़ाहिली, उदासीनता और सड़ी-गली उकताहट की मनहूसियत में न समो ले—यह देखना है। दरअसल, सच्चे कलाकार की खूबी है कि इस ऊब और उदासी में भी अमर विश्वास के स्पंदनों का उसे आभास मिलता रहे।

स्वयं लेनिन ने टालसटाय को एक सच्चे कलाकार के रूप में देखा जिसने सहृदयता से प्रताड़ित और शोषित मजदूर वर्ग की आशाओं का सजीव चित्रण किया। लेनिन ने टालसटाय पर अनेक लेख लिखे।

लेनिन ने एक स्थल पर कहा है—"टालसटाय बड़ा था, बहुत बड़ा। उसने ऐसे-ऐसे विचारों और भावों को प्रस्तुत किया है जो करोड़ों रूसी किसानों में जम चुके थे, वे भी उस समय जबकि अभिजात्य आन्दोलन रूस में अपने पूरे ज़ोरों पर था।"

टालसटाय की डायरी का एक पृष्ठ जो अक्तूबर, १६०५ में लिखा गया था, वर्ष भर के रूसी आन्दोलन की घटनाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

"मैं इन लाखों-करोड़ों के बीच में से देखता हूँ" टालसटाय ने १९१० में अपने एक पत्र में लिखा। इन लाखों-करोड़ों की ओर से और इन्हीं का पक्ष लेते हुए टालसटाय ने धनी-वर्ग की अत्यन्त कटु आलोचना की। अभिजात्य 'सभ्यता' अथवा कला

की अवनति को टालसटाय ने दफ़नाने की कोशिश की—उनका नामोनिशाँ तक न रहने देने का संकल्प किया। टालसटाय की कला-शक्ति ही उसकी असाधारण क्षमता थी जो व्यापक सद्भाव में अधिकाधिक परिणत होती गई।

किन्तु आलोचकों ने उसकी कटु आलोचनाएँ की—'लम्बा साँप जो हर दूध के कलश में ज़हर उगलता है।' 'सभ्य संसार की कचोटती आवाज़,' 'जीवन का हत्यारा'। चूँकि उनके सामने ऐसे जीवन की समस्या का समाधान नहीं था, इसीलिए उन्होंने उसको दुत्कार दिया—उसके समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी सैद्धान्तिक मतवादों पर कीचड़ उछाली। उन्होंने लेखक की दृष्टि से की गई उसकी समस्त व्याख्याओं का खंडन किया और उसे एक क्रिश्चियन राज्य का संहारक और घोर विप्लववादी घोषित किया। किन्तु एक ऐसा वर्ग भी था जो उसके प्रति उतना ही उत्कट आस्थावान और श्रद्धालु भी था। उन्होंने टालसटाय की अमर रचनाओं का स्वागत किया, 'वार एण्ड पीस', 'अन्ना करेनिना,' 'रिसरेक्शन', 'द डेथ आफ इवान इलिच' आदि यथार्थवादी कला की इन बेजोड़ कृतियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

पश्चिमी कला-गुरु बालज़ाक और डिकेन्स से ज़ोला तक ने पूँजीवादी समाज के केवल धुँधले और छिछले रूप को ही प्रस्तुत किया था। उन्होंने जो कुछ किया उसमें पूँजीवाद का विरोध, विलासिता और साथ ही दरिद्रता का अत्युक्तिपूर्ण विवेचन, लोलुपता, मूर्खता, कठमुल्लापन इत्यादि को ही बेहद महत्त्व दिया गया था। पर इसके बावजूद उनमें जीवन के कसमसाते दृश्यांकन और उद्दाम जीवन-चित्र न थे।

किन्तु टालसटाय इस मनोविज्ञान का गम्भीर द्रष्टा था। कारण—उसकी यथार्थवादी कला ने सामाजिक तनाव पर नग्न प्रहार किया था और उसी से लोगों में एक दुर्जेय श्रद्धा का फूल खिला। टालसटाय की दृष्टि में—"उसकी तह तक असंगत रूढ़िवादी अवनत कला बिल्कुल जड़ से मिट चुकेगी। यह अभिजात्य सभ्यता और सामन्तवादी प्रथाएँ भविष्य के लिए ज़हर के बीज बोयेंगी जो लोगों की रुचि का ह्रास करेंगी और मानवता का ग्रास करेंगी।"

टालस्टाय के विषय में रोम्याँ रोलाँ का अभिमत था कि—

"यूरोप में इससे पूर्व ऐसी बुलन्द आवाज़ कभी नहीं गूँजी। टाल्सटाय की कृतियों की प्रशंसा कर देना ही काफी नही है, क्योकि यह तो हमारा कर्त्तव्य ही है। सबसे बड़ी बात—उसमें ऐसी जिन्दादिली थी जिसके धड़कते स्पन्दनों ने हमें प्रभावित किया। उसकी समाज-सुधार की दृढ़ प्रतिज्ञा हमें सदैव एक मशाल लेकर आगे बढ़ायेगी।"

टालसटाय ने अपनी कृतियों को इस भावभूमि पर उतारा है :

"साहित्यकार का लक्ष्य केवल मिथ्या परिकल्पनाओं और बौद्धिक विनोद के उपकरण जुटाना नहीं है। वस्तुतः जीवन और कला का अटूट सम्बन्ध है। यदि कला जीवन, समाज और संस्कृति से संश्लिष्ट होकर आगे नहीं बढ़ेगी, तो वह मिट जाएगी। कला किन्हीं बूझे-अनबूझे पूर्वाग्रहों के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके

आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है। जीवन की कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें स्वस्थ चिंतन हो, स्वातन्त्र्य का पोषक भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो जीवन में गति दे, संघर्ष, बेचैनी व प्रतिक्रिया उत्पन्न करे, हमें पस्त न करे, अपितु जागरूक बनावे। कला के अलग-अलग मानदण्डों का व्यवहार किया जा सकता है, किन्तु उनके द्वारा कला और लोक-जीवन में ऐसी निकटता और सामीप्य लाया जा सकता है जिससे कला को तो संवर्द्धन प्राप्त हो और साथ ही लोक-जीवन भी समृद्ध होता चला जाए। साहित्य में हमारी आत्माओं को जगाने की, हमारी मानवता को सचेत करने की, हमारी रसिकता को तृप्त करने की शक्ति होनी चाहिए।" बाल स्ट्रीट के साहित्यिक विशेषज्ञों ने 'रूसी' षड़यन्त्र-कारियों से मिलकर इस लेखक की रचनाओं को अश्लील व अशुद्ध साबित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने टालसटाय की क्षमता को ग़लत रूप से पेश किया, उसकी कला-दक्षता को मिथ्या और ढकोसला बताया और पूँजीवाद, समाजवादी प्रवृत्ति की खिलाफ़त को कल्पित और बकवास समझा। उनका कहना है कि संसार जिसे मानव-जीवन का चितेरा और जिसकी सबल लेखनी को पूँजावाद का संहारक बताती है, वह उतना अधिक खरी कसौटी पर नहीं उतरता, वह तो केवल संगठित सरकार की ख्याली उड़ानों में ही तैरना जानता है।

अमेरिका के प्रतिक्रियावादी आलोचकों ने न केवल टाल्सटाय की निन्दा की वरन् अपने हिमायतियों के पुछल्ले बन उसके अविस्मरणीय उपन्यासों तक को 'जीवन का अवास्तविक मूल्यांकन' क़रार दिया। 'वार एण्ड पीस' का रचयिता उनके लिए उस उच्छृंखल नागरिक के अतिरिक्त कुछ नहीं था, जिसने एक पारिवा-रिक वंशावली को सभ्य लोगों के पढ़ने का मनोरंजन मात्र बना दिया था। अगर इन आलोचकों पर विश्वास किया जाय तो टालसटाय के उपन्यास ज़ारी अदालत और अवास्तविक घटनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं और न ही १८१२ के स्वदेश-युद्ध के दृढ़-प्रतिज्ञ मनुष्यों के चित्रण—जिनके बलिदान ने 'वार एण्ड पीस' के पृष्ठ रँगे थे।

किन्तु शनैः-शनैः विरोधी पक्ष का आक्रोश भी थमा और कभी-कभार इन कीचड़ उछाल समीक्षाओं में उठाए गए भले-बुरे प्रश्न ही उसकी जागरूक और सतेज प्रतिभा के प्रमाण बन कर प्रकट हुए।

१८१२ के युद्ध पर टालसटाय ने हमें एक अभूतपूर्व मसाला दिया है। नैपो-लियन की सेनाएँ प्लेटन केरेटेस से पराजित नहीं हुई थी, बल्कि रूसी सेना से पराजित हुई थीं जिसके लड़ाकू सैनिक यूरोप भर में अद्वितीय थे, जिन्हें निर्भीक साथियों और रूसी जनता द्वारा दुगुनी सहायता और जोश मिला।

जैसा कि लेखक ने स्वयं कहा है कि 'वार एण्ड पीस' के विचार जनता से उसे मिले हैं। टालसटाय का कहना है—"१८१२ का युद्ध मातृभूमि के लिए जीवन और मृत्यु की खुली चुनौती था। वह संघर्ष था—रूसी हृदयों का। तमाम रूसी पुरुष और

नारी में एक भावना जकड़ चुकी थी कि उन्हें फ्रांसीसी सेना को रूस से खदेड़ना है और उन्हें सदा के लिए ख़त्म करना है।"

लोगों की महत्त्वाकांक्षाओं और स्वदेश-प्रेम को उसने फील्ड-मार्शल कुट्जोव में चित्रित किया है। वह एक महान् सिपाही था जो सैनिकों के सदैव समीप था, लोग उसे समझते थे और वह लोगों को समझता था। उसकी तीक्ष्ण बुद्धि, शांतिप्रियता और स्वाभिमान भरी मनोवृत्ति में रूसी राष्ट्रीय चरित्र का सच्चा चित्र झांकता है।

इसके अतिरिक्त ऐसे कितने ही पात्र हैं जिनमें सभी प्रकार के चेहरे सामने आते हैं और जिनके व्यक्तित्व, भाव-भंगिमाएँ और मनःस्थितियों के चित्रण में बड़ी ही सजीव व प्राणवान कलात्मकता बरती गई है।

झूठे अपवाद की लीक पकड़ कर इतिहास का पात्र बनना असंभव है। टाल्सटाय जब कुट्जोव को जीवन की घटनाओं का निष्क्रिय द्रष्टा बतलाता है, तो वहाँ वह ऐतिहासिक तथ्य से भटक जाता है। पर तब भी कलाकार के जीवन का प्रत्यक्ष विश्लेषण इन ग़लत धारणाओं को धो देता है। इस प्रकार युद्ध के विषम क्षणों में हम कुट्जोव को एक महान् सैनिक के रूप में देखते है, जिसमें आत्मशक्ति और संकल्प का लबालब ऊफ़ान है, जोश है, साथ ही जो एक कुशल योद्धा और राजनीतिज्ञ भी है।

उसके दूसरे विश्व-प्रसिद्ध उपन्यास, 'अन्ना करेनिना' में टालस्टाय ने अपनी अप्रतिम कलात्मक प्रतिभा द्वारा उन समस्त दक़ियानूसी सामाजिक रूढ़ियों पर पदाघात किया है जिसने कि उस समय जीवन के तमाम स्वस्थ और सबल हितों को अपनी मनहूस छाया से ढक लिया था। अभिजात्य-वर्ग और धनी-वर्ग राज्य के टुकड़ों पर पलता था। खुशामद, चापलूसी, स्वार्थ और भोग-विलास का बोलबाला था। पारिवारिक और सामाजिक नैतिकता क़तई नष्ट हो चुकी थी। समाज का वह भाग जो नितान्त खोखला और पंगु हो चुका था, उस पर टाल्सटाय ने अपनी लेखनी द्वारा करारी चोट की।

उक्त उपन्यास की नायिका अन्ना करेनिना—अत्यन्त आकर्षक और महिमामयी नारी--किन्तु जो अपनी आसपास की परिस्थितियों और वातावरण से बँध कर कहीं स्नायविक तनाव और मनोवेगों की उत्तेजित अवस्था में तो कहीं नितान्त निरीह और विवश हो उठी है, और जिसके जीवन का अन्त बड़ा ही कारुणिक और दिल दहलाने वाला है। कारण—उसमें संवेदना और अनुभूति इतनी तीखी है कि तिलमिला देती है। अनेक स्थलों पर यह तिलमिलाहट और जुगुप्सा घावों की खरौंच सी इतनी दर्दीली और सांघातिक साबित होती है कि वह उन समस्त मिथ्याडम्बर और ढकोसलेबाज़ी को सहन नहीं कर सकती जो तात्कालिक जीवन को घेरे थे। यहाँ तक कि सामाजिक औपचारिकताओं के बंधन से भी वह त्रस्त हो उठी है। उक्त उपन्यास लिखते समय लेखक में जो स्वयं अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था उसकी परिणति अन्ना के चरित्र में मूर्त्त हुई। कटुताओं की चोट खाकर उसकी

कलम ने ऐसी विद्रोहिणी नारी का व्यक्तित्व आँका जो साहस पूर्वक ज़िन्दा रही, प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझी और हारी नहीं, चाहे टूट-फूट गई। पति से सम्बन्ध विच्छेद और अन्त में उसकी मृत्यु उस समाज को खुली चुनौती है जो सच्चे मानवीय भावों का खुलेआम गला घोंटते हैं।

मृत्यु के समय स्वयं अन्ना के हृदय के तार भी सहसा झनझना उठे थे जिसे गहरा सदमा और बुझी तमन्नाओं की कलौंच ने ज़ंग चढ़ा दिया था। उसके हृदय की गहराइयों में जो प्रेम का सोता फूट पड़ा था और जिस सुहाने सपने में वह खो सी गई थी और अपने अस्तित्व को विस्मृत कर बैठी थी वहाँ पहुँचकर उसे लगा कि उसमे पग-पग पर चटियल चट्टानें भी है और अंधकार में डूबी खाइयाँ भी।

दरअसल, जीवन में अनेक दारुण आघात सह कर लेखक उत्पीड़ित को उदार करुणा देने में समर्थ हुआ है। करुण पहलू अर्थात् दूसरों के दुःख-दर्द को बड़ी ही पैनी दृष्टि से टटोलना, साथ ही ऐसे प्रसंगों में आत्मा की समूची गहराई उँड़ेल देना उस मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन करता है जिसके बिना कोई भी कला महान् नहीं होती। अकथनीय ग्लानि और भग्नाशा के इस दुहरे भाव की प्रतिक्रिया में एक साथ उमड़ती और सिमटती रेखाएँ स्थायी मानव-समस्याओं के सम्पूर्ण और सच्चे चित्र उभारने की क्षमता रखती हैं।

टाल्सटाय की लेखनी की अद्वितीय ताक़त अवश्य ही अन्ना के जीवन के अन्तिम दिन में बहुत अधिक उग्र रूप कचोट खाकर तिलमिला देती है। जब वह अपनी बग्घी पर राजधानी की सड़कों से घूमती है और भूतकाल के भूले-बिसरे चित्र उसके सामने से गुज़रने लगते हैं, तब वह एक बदलते हुए तान्त्रिक सम्मोहन के वशीभूत हो जाती है और कहती है—"यह सब नीचता है। वे गिरजाघर में घंटे बजा रहे हैं और वह व्यापारी कितनी सावधानी से व्यापार कर रहा है, मानो उसे कुछ खो जाने का डर हो। ये गिरजाघर क्यों हैं, यह घंटा क्यों है और यह क्यों धोखा है, दग़ा है? क्या केवल इसलिए कि हम तथ्य को छुपा दें जिससे हम सब आपस में एक दूसरे से घृणा करें। कैसे वे मोटर-ड्राइवर आपस में खुलेआम गन्दी गालियाँ बक रहे हैं। यह सब मायाजाल है, दगाबाज़ी है, मिथ्या है, षड़यन्त्र है——नीचता है।" उपन्यास की नायिका की मानवीय सुख की खोज और उसकी कारुणिक मृत्यु पाठक की हृदय-तन्त्रियों को झकझोर देती है।

टाल्सटाय का तीसरा प्रमुख उपन्यास 'रिसरेक्शन' है। उसमें निर्दयी अभिजात्य ज़मींदारी प्रथा का मर्मस्पर्शी चित्रांकन है। "यहाँ टालस्टाय ने"—लेनिन के शब्दों में—"सबसे अधिक यथार्थ उँड़ेल झूठे नक़ाब को खोला है।"

कला के बारे में टालसटाय के विचार हैं कि कला लोगों को प्राप्य होनी चाहिए। अपने प्रसिद्ध लेख 'कला क्या है?' में उसने लिखा—"जैसे ही ऊपरी दर्जे की कला को विकास से हटकर कोई कला की अवनति की ओर अग्रसर होने लगता

है, तो मानों उसके लिए कला का सच्चा अर्थ खोजना है। क्या कोई भी कला जन-साधारण के जीवन-स्पन्दन से शून्य रहकर सच्ची कला है ? क्या वह कला की गणना अन्ना के चारित्रिक द्वन्द्व द्वारा की जा सकती है ?"

एक अन्य स्थल पर उसने लिखा, "कला में मुख्य चीज़ होनी चाहिए कि वह कुछ मौलिक कहे, कुछ नवीन वस्तु प्रकट करे। यही महान् कलाकारों में एक होड़ पैदा करती है या नवीन भावनाओं को उत्तेजित करती है। टालस्टाय का घरेलू जीवन शांतिपूर्ण न था, क्योंकि कला-साधना ने उसकी भावनाओं को इतना उदार और संवेदनशील बना दिया था कि उसकी व्यावहारिक पत्नी उन्हें बर्दाश्त न कर पाती थी। दुनियादार पति के रूप में टालसटाय उतना सफल न हो सका, फलतः दोनों में आपसी झड़प होती रहती थी।

पर साहित्य-क्षेत्र में वह एक अविश्रान्त खोजी था। रूसी साहित्य की क्लासिक परम्परा के महत्त्व को आँकते हुए उसने उसकी मौलिकता, विचार-गांभीर्य और कलात्मक ताज़गी को बनाए रखने पर ज़ोर दिया है, चूँकि वह स्वयं भी अपनी लम्बी साहित्य-साधना में इन्हीं चीज़ों का कायल था। गोर्की ने लिखा है—"टालसटाय ने सचमुच वह दिया जो बेजोड़ था, जिसकी कहीं तुलना नहीं। एक समूची शताब्दी के अनुभवों को उसने अपने शब्दों में गूँथ दिया और वह भी आश्चर्यजनक सचाई, शक्ति और सौंदर्य के साथ।"

२१

कुछ पाश्चात्य कवियों की ग्राम्य सामाजिकता

उच्चस्तरीय काव्य जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को आत्मसात् कर निगूढ़ अवतारणा और उदात्त भावना की संस्थिति का निरूपण करता है, पर इससे पृथक् कुछ ऐसा भी सृजन है जो रात-दिन के अनुभूत प्रयोगों और नित्य-प्रति आँखों से गुज़रने वाली घटनाओं और अगणित समस्याओं में से वास्तविकता को ग्रहण कर उसके सत्सौन्दर्य का दर्शन कराता है। ऐसी कविताओं में लोक-संवेद्य उपकरणों के बीच हृदय की सच्ची अनुभूतियाँ तरंगित होकर प्रवहमान रहती हैं। समाज के जीते-जागते दृश्यचित्र ऐसे पद्यों मे जैसे तैरते रहते हैं और परिस्थिति, पात्र एवं प्रसंगानुरूप व्यापक अनुभूतियों के संयोजन से प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करते हैं। कवि का अन्तर्मन लोकमानस की चिन्ता-धारा से जुड़कर एक विशेष सजीवता और सुसम्पन्नता सँजोता है जो जन-मन को तुष्ट करने वाले ज्ञान-वैभव के अमृत कणों को छलकाता है।

यहाँ कतिपय पाश्चात्य कवियों की अनूदित कविताओं में लोक-संस्कृति के उपादानों की स्वीकृति और उनका निर्वाह केवल रूढ़ अर्थों में ही नहीं हुआ, अपितु उनमें ताज़गी, भाव-गांभीर्य और प्रयोजन की सचाई है। जीवन की अनगिन दैनन्दिन घटनाओं मे से कुछ ऐसे व्यावहारिक नुक्तों को चुना गया है जो सीधे मन और प्राणों को छूते हैं।

सर्व सामान्य काव्य की विशेषता है कि कवि अपने विशिष्ट, व्यक्तिगत और इधर-उधर बटोरे अनुभवों को इतना संवेद्य और व्यापक बनाकर प्रस्तुत करे कि जिस से उसकी तह तक पहुँचा जा सके। विभिन्न और बहुविध स्तर की चीज़ों के बावजूद इस प्रकार का सम्पूर्णाभास सर्जनात्मक संभावनाओं को अधिकाधिक विकसित करता है। कला-सृजन की दो मुख्य कसौटियाँ हैं—एक सैद्धान्तिक चेतना और दूसरी व्यावहारिक चेतना। मनोवैज्ञानिक व सैद्धान्तिक विवेचन आंतरिक संघात का दिग्दर्शक है, पर व्यावहारिक चेतना की अनुभूति किस प्रकार सामान्य अनुभूति के साथ एक सतह पर खड़ी की जा सकती है और उससे मानवीय भावनाओं का कैसे तादात्म्य किया जा सकता है—यह देखना है। दरअसल, ऐसी अव्याहत कला ही उस वैचारिक संस्कृति को जन्म देती है जिसकी पृष्ठभूमि में एक परम्परा और दर्शन का निवास होता है तथा कुछ विशिष्ट लोकादर्शों की प्राप्ति के लिए वस्तुस्थिति की सापेक्षता और सत्य

की शक्ति पर अधिक निर्भर करती है ।

इंग्लैण्ड के रोमांटिक कवियों में प्रकृति उपासक महाकवि वर्ड्सवर्थ प्रायः इसी विचारधारा का हामी है । अपने व्यक्तिगत जीवन में शिव-अशिव, सुन्दर-असुन्दर, सत्य-असत्य जो मिला उसी की चरम अनुभूति और द्वंद्व उसके काव्य में प्रकट हुआ । प्रस्तुत कविता 'हार्ट लीप वेल' में घोड़े जैसे निरीह जीव की मृत्यु ने कवि को द्रवित कर दिया है और उसकी करुण संवेदना प्राणों के स्वर में डूबकर प्रकट हुई है ।

"रिचमाण्ड से आस्करिज जाने वाली सड़क के समीप, यार्कशायर में, रिचमाण्ड से लगभग पाँच मील की दूरी पर हार्ट-लीप-वेल नाम का एक छोटा सा जल-स्रोत है । इसका नाम एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घुड़दौड़ की घटना के आधार'पर रखा गया था, जिसकी स्मृति निम्न लिखित कविता के दूसरे भाग में वर्णित स्मारकों द्वारा सुरक्षित है । ये स्मृति-चिह्न अभी तक अवशिष्ट हैं, जिनका मैंने प्रस्तुत कविता में उल्लेख किया है ।

वेन्ज़ले के निर्जन मैदान को पार कर वह शूरवीर ग्रीष्म ऋतु के बादलों की-सी धीमी चाल से आगे बढ़ा और एक सेवक के द्वार के समीप रुक-कर उसने उच्च स्वर में आदेश दिया--"दूसरा घोड़ा लाओ ।" तत्क्षण ही सेवक सर्वोत्कृष्ट, द्रुतगामी, सुन्दर, सुदृढ़ घोड़े को सुसज्जित करके ले आया । सर वाल्टर उस पर सवार हो गये । वह दिन उनके लिए अत्यन्त शुभ था, क्योंकि वे दो बार विजयी होकर तीसरी बार इस घोड़े पर सवार हो रहे थे ।

उत्साही घोड़े के नेत्रों से उल्लास उमड़ा पड़ता था । घोड़ा और घुड़-सवार दोनों की जोड़ी अत्यन्त सुन्दर थी । यद्यपि सर वाल्टर पक्षी की भाँति द्रुतवेग से दौड़ रहे थे, तथापि वातावरण में एक विषाद-मयी निःस्तब्धता छाई हुई थी । सर वाल्टर के इस्तस्ततः खड़ी हुई भीड़ ने उनका स्वागत किया और ज्योंही उन्होंने एड़ लगाई, चारों दिशाएँ जयघोष से गूँज उठीं । अश्व और सवार शीघ्र ही दृष्टि से ओझल हो गये । यह दौड़ असामान्य और बेजोड़ थी ।

तीव्र वायु की भाँति अशान्त सर वाल्टर ने, दौड़ मे श्रमित, कुछ अवशिष्ट कुत्तों को अपने साथ दौड़ाने के लिए आमन्त्रित किया । स्वामी के आदेशानुसार ब्लांच, स्विपट और म्यूज़िक नामक सर्वोत्तम कुत्तों ने उनका अनुसरण किया और वे एक बहुत ही दुर्गम पथ पर चढ़ने का प्रयास करने लगे ।

सर वाल्टर, प्रशंसा-सूचक संकेतों और कठिन आदेशों द्वारा, उन्हें बार-बार प्रोत्साहित करते रहे, किंतु भीषण चढ़ाई की मार ने उन्हें

निर्जीव कर दिया था। अत्यन्त परिश्रम के कारण उनका श्वास घुटा जा रहा था और आँखें निकली पड़ रही थीं। अन्त में वे कुत्ते मार्ग में निश्चेष्ट होकर गिर पड़े। वह जयघोष करती हुई भीड़ अब कहाँ थी ? उसका कोलाहल तो बहुत पहले ही शान्त हो गया था। आनन्द के बाजे, जो इस दौड़ का स्वागत कर रहे थे, बहुत पीछे छूट चुके थे। सर वाल्टर और उनका हार्ट घोड़ा*--ये ही दोनों अकेले दौड़ रहे थे। यह दौड़ पृथ्वी की सी नहीं, वरन् स्वर्गीय सी प्रतीत हो रही थी। बेचारा हार्ट अत्यन्त कष्ट से पर्वत पर चढ़ा। वह कितनी दूर तक दौड़ा, इसका विवरण देने के लिए मैं यहाँ नहीं रुकूँगा, प्रत्युत् उसकी हृदय-विदारक मृत्यु की घटना का ही उल्लेख करूँगा। सर वाल्टर के सम्मुख उनका वीर अश्व दीन-हीन असहायावस्था में मरा हुआ पड़ा था।

वे मृत घोड़े से उतर कर एक झाड़ी के सहारे बैठ गये थे। कुत्ता, मनुष्य अथवा परिचारक कोई भी उनके साथ नही था। इस निर्जन स्थान में उन्होंने विजयसूचक शब्द अथवा वाद्य-ध्वनि करना आवश्यक नही समझा। वे हर्ष से गद्गद् हो चुपचाप उस घोड़े के मृत शरीर को देखते रहे।

उस झाड़ी के समीप जहाँ सर वाल्टर बैठे थे, विजय प्रदान कराने वाला वह मूक प्राणी निर्जीव पड़ा था। उस के मुख से सफ़ेद झाग निकल रहे थे। उसके नासिका-रंध्र पहाड़ी के नीचे बहते हुए स्रोत के जल को स्पर्श कर रहे थे। उसके अन्तिम गहरे श्वास के साथ, जो जल-कण उड़ कर आ गये थे, वे अभी तक वायु में प्रकम्पित हो रहे थे।

घोड़े की मृत्यु का दृश्य अपूर्व था। सर वाल्टर आनन्दातिरेक के कारण बहुत देर तक स्थिर न बैठ सके। वे सोचने लगे--क्या मनुष्य का भाग्य इतना उज्ज्वल भी हो सकता है ? उन्हें अलौकिक, अपरिमित आनन्द की अनुभूति हो रही थी। वे प्रफुल्ल-चित्त चारों तरफ घूम-घूम कर उस स्थान का निरीक्षण कर रहे थे।

कुछ दूर पहाड़ी पर चढ़कर सर वाल्टर ने अनेक वन्य पशुओं के पैरों के चिह्न घास पर देखे। मुख पर से स्वेद-कणों को पोंछकर उन्होंने

---

* (हार्ट, उस घोड़े का नाम है जिस पर सवार होकर सर वाल्टर ने दौड़ में विजय पाई थी। स्वामी-भक्त हार्ट ने, अपने स्वामी को विजयी बनाने के प्रयत्न में, अपने प्राणों की बलि दे दी। हार्ट का यह बलिदान इस कविता की मूल प्रेरणा है।)

स्वयं ही कहना आरम्भ किया, "अभी तक जीवित मनुष्य के नेत्रों ने ऐसा आश्चर्यजनक दृश्य कभी नही देखा। यह बहादुर घोड़ा तीन हो छलाँगों मे पर्वत-शिखर से उस जल-स्रोत तक पहुँच गया।

"इस स्थान पर में सुन्दर आनन्द-भवन बनवाऊँगा और प्राकृतिक शोभा के लिए एक निकुज भी तैयार करवाऊँगा। यह यात्रियों का विश्राम-स्थल और श्रांत पथिकों का आश्रयदाता होगा। लजीली कुमारियाँ यहाँ आकर अपने प्रेमियों के साथ सुख से विहार करेंगी।

"इस घाटी के स्रोत के समीप किसी कुशल कलाकार द्वारा सुन्दर जलाशय का निर्माण कराऊँगा। अश्व की पुनीत स्मृति में यह रमणीक स्थान 'हार्ट-लीप-वेल' के नाम से प्रसिद्ध होगा।

"ओ प्यारे बहादुर घोड़े! तेरी वीरता की प्रशंसा में और भी स्मारक खड़े किये जायेंगे। जिस भूमि के गर्भ में तेरे चरण समा गये हैं, वही तीन प्रस्तर स्तम्भों का निर्माण कराया जायेगा।

"ग्रीष्म ऋतु के लम्बे असह्य उष्ण दिनों में अपनी प्रेयसी के साथ यहाँ आऊँगा। अनेक कुशल नर्तकियाँ तथा गायिकाएँ हमारे आनन्दोत्सव में भाग लेंगी।

"जब तक पर्वत की नीव स्थित रहेगी तब तक मेरा आनन्द-भवन और निकुंज भी स्थिर रहेगा। यहाँ का मनोरम दृश्य सदैव इन खेतों में काम करने वाले तथा यहाँ रहने वाले मनुष्यों को मनोरंजन प्रदान करेगा।"

ऐसा निश्चय करके सर वाल्टर ने अपने घर की ओर प्रस्थान किया। हार्ट के शव को वे वहीं छोड़ गये। उसके श्वास रहित नासिका-रंध्र अभी तक जल का स्पर्श कर रहे थे।

सर वाल्टर ने शीघ्र ही अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की और उनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गयी।

तीन मास के पश्चात् ही तीन सुदृढ़ प्रस्तर-स्तम्भ खड़े करा दिये गए और घाटी में एक आनन्द-भवन का निर्माण भी कराया गया।

जलाशय के समीप ही सुगन्धित पुष्प-लताएँ और वृक्षावली सुशोभित होने लगी। उस रमणीक स्थान में वृक्षों की सघन छाया अत्यन्त ही मनोरम प्रतीत होती थी जो धूप एवं आँधी से सदैव सुरक्षित थी।

गर्मी के लम्बे, असह्य उष्ण दिनों में सर वाल्टर अपनी चकित प्रेयसी के साथ उस मनोरम निकुंज में जाते थे और अनेक नर्तकियों तथा गायिकाओं के नृत्य संगीतादि से अपना आमोद-प्रमोद करते थे।

यथा समय सर वाल्टर की मृत्यु हुई और उनका मृत शरीर उनके पूर्वजों के समाधि-स्थान में दफ़ना दिया गया। किन्तु यह सब बतलाना हमारा उद्देश्य नहीं। अपने आशय को स्पष्ट करने के लिये हमें कुछ और भी कहना है।

आश्चर्यजनक कहानियाँ-किस्से लिखना मेरा व्यवसाय नही, आर न मै इस कला से परिचित ही हूँ। मननशील व्यक्तियों के लिये अवकाश के समय कुछ चिन्तन का विषय प्रस्तुत करने में ही मुझे सुख प्राप्त होता है।

एक बार, जब कि मैं हाब्ज़ से रिचमाण्ड जा रहा था, मैंने मार्ग में एक लम्बी घाटी की चौकोर भूमि के तीनों कोनों पर तीन सूखे हुए जंगली वृक्ष देखे और एक वृक्ष लगभग चार गज की दूरी पर कुएँ के समीप देखा।

इन वृक्षों का क्या अभिप्राय है—यह जानने के लिये कौतूहलवश मैं घोड़े पर से उतर गया और तभी मैंने एक पंक्ति में खड़े तीन पत्थर के खंभों को भी देखा, जिनमें से अन्तिम खंभा अँधेरी पहाड़ी के शिखर पर स्थित था।

वे वृक्ष बिल्कुल सूख गये थे। उनमें पत्ते नहीं थे, शाखाएँ भी नहीं थी। उस चौकोर टीले की हरियाली सर्वथा नष्ट हो चुकी थी, किंतु यह सब देखकर अनुमान लगाया जा सकता था कि विगत काल में यहाँ मनुष्य भी कभी रहते होंगे।

मैंने पहाड़ी के चारों ओर बहुत ध्यान पूर्वक देखा। ऐसा भयानक और निर्जन स्थान मैंने पहले कभी नहीं देखा था। प्रतीत होता था कि वसन्त का आगमन यहाँ होता ही नहीं और प्रकृति सदैव यहाँ रोती रहती है।

मै यहाँ बहुविध भावों और विचारों में खोया हुआ खड़ा था। उस समय एक ग्वाला आता हुआ दिखाई दिया। मैंने उसे पुकारा और उस स्थान के बारे में पूछा।

वह व्यक्ति रुका और उसने वह कहानी बतलाई, जिसका उल्लेख मैं अपनी पूर्वोक्त कविता में कर चुका हूँ। उसने कहा—"गुज़रे-ज़माने

में यह एक बहुत सुन्दर स्थान था, किन्तु अब इसमें सर्वनाश निवास करता है। यह अभिशप्त स्थान है।

"आप इन शुष्क, निर्जीव वृक्षों को देख रहे हैं। ये पहले बहुत सुन्दर, हरे-भरे, सुगन्धित पुष्पों से आच्छादित निकुंज के वृक्ष थे। यहाँ एक सुन्दर भवन था, जिसके समक्ष सैकड़ों राजमहल भी हेय थे।

"यह निकुंज अपनी दुर्दशा का स्वयं ही दिग्दर्शन करा रहा है। पत्थरों, जलाशय और स्रोत की स्थिति भी आप देख रहे हैं और वह विशाल आनन्द-भवन तो अब उजड़े हुए स्वप्न की भाँति हो गया है, जिसका आभास बहुत अनुसंधान करने पर भी नही मिलता।

"इस जलाशय के जल को कुत्ता, बैल, घोड़ा, भेड़ कोई भी पशु स्पर्श नही करता। अर्द्धरात्रि में जबकि सब गहरी नीद सो जाते हैं, तब प्रायः इस जल में से अत्यन्त करुण और दु.खभरी आहें व सिसकियाँ सुन पड़ती हैं।

"कोई कहता है,--यहाँ खून हुआ है और रक्त, रक्त का प्रतिकार चाहता है। कितु मैंने अनेक बार शान्त भाव से बैठकर इस पर मनन किया है कि ये करुण आहे उस अभागे हार्ट के लिए ही हैं।

"महाशय ! आप अनुमान कर सकते हे कि पहाड़ी के उच्च शिखर से निम्नतर प्रदेश में कूदते समय हार्ट के मस्तिष्क में कैसे भीषण विचार उठे होंगे और अन्ततः उसकी तीसरी छलॉग, जो अन्तिम थी, कितनी निर्मम और घातक सिद्ध हुई।

"तेरह घंटे तक निरन्तर एक गति से वह दौड़ता रहा और न जाने किस अज्ञात आकांक्षा की पूर्ति के लिए, न जाने किन रहस्यमय स्नेहभावों को सँजोए हुए वह यहाँ तक आया और इस कुएँ के समीप मरा।

"कदाचित् अपनी माँ से पृथक् होने पर ग्रीष्म ऋतु में उसने पहली बार यही घास पर इसी जलाशय की मधुर थपकियों के मध्य विश्राम किया होगा और इसी स्रोत का जल पीया होगा।

"बसन्त ऋतु में यहीं इन सुगन्धित झाड़ियों के नीचे उसने प्रथम बार उषः काल में पक्षियों का कलरव सुना होगा, क्योंकि जैसा कि मुझे ज्ञात हुआ है—इस स्रोत से लगभग आधे फर्लांग की दूरी पर उसका जन्म हुआ था।

"किन्तु अब न तो यहाँ घास है और न सघन छाया ही। धूप भी इस निर्जन, बीहड़ प्रदेश में कभी नहीं चमकती। मेरी सम्मति में जब तक इन वृक्षों, पत्थरों, जलाशय सभी का क्षय नहीं हो जायगा, तब तक यहाँ सूर्यदेव की कृपा नहीं होगी।"

प्रत्युत्तर में मैंने कहा—"महोदय ! आपका कथन सर्वथा सत्य है। मेरे और आपके विचारों में बहुत कम अन्तर है। उस अभागे जीव की दारुण हत्या प्रकृति की दृष्टि से छिपी नहो, अपितु वह अब भी उसकी मृत्यु पर सहानुभूति से अश्रु-विमोचन करती है।

"वह अव्यक्त शक्ति जो सर्वत्र वायु, मेघ, पत्तों और निकुंजों में निहित है, अपने प्रिय, सरल, निरपराध जीवों के कष्टों और दुःखों की पुनीत स्मृति में सदैव श्रद्धा और प्रेम के आँसू बहाया करती है।

"यद्यपि यह रमणीक स्थान आज वीरान और उजाड़ है और इसके चारों ओर सर्वनाश और अंधकार दृष्टिगोचर हो रहा है तथापि प्रकृति कभी किसी समय इस स्थान का भी स्वागत करेगी और अपने सौंदर्य को वह यहाँ पुनः प्रसारित करेगी।

"अब जो इन वस्तुओं को उसने नष्ट होने के लिए छोड़ दिया है वह इसलिए कि हमे यह विदित हो जाय कि हम कितने तुच्छ मनोवृत्ति के और विवेकहीन हैं। किन्तु भविष्य में दया करके वह इन दुःखद स्मारकों को पृथ्वी के गर्भ में छिपा लेगी। मित्र ! प्रकृति ने जो कुछ हमारे समक्ष प्रदर्शित किया है तथा जो कुछ अपने भीतर छिपा रखा है, उससे हम यह उपदेश ग्रहण करें कि हम अपने सुखों और महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए तुच्छ से तुच्छ जीव को भी कभी क्लेश न पहुँचावें।"

अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'लूसी ग्रे' में वड्र्सवर्थ ने बड़ी मार्मिक और करुणा प्लावित भावनाओं का दिग्दर्शन कराया है जो किसी तार्किक आधार पर स्वतःसिद्ध नहीं अपितु अतर्क्यपूर्ण अंतर संघात को व्यक्त करता है :

"मैं प्रायः लूसी ग्रे के विषय में सुनता था—और एक बार जबकि मैं वन में भ्रमण कर रहा था, तो प्रातःकाल की सांध्य-बेला में मुझे उस एकाकिनी बाला के दर्शन हुए थे।

पृथ्वी की विभूति वह सरल, भोली कन्या एक विस्तृत भूखण्ड में रहती थी। अपने अल्प जीवन में वह सखी-सहेली का परिचय भी प्राप्त न कर सकी। मानव-सृष्टि में ऐसी उत्कृष्ट कुमारियाँ बहुत सौभाग्य

से जन्म लेती हैं। उसके निवास-गृह के समीप पक्षियों का कलरव और खरगोश की मनोरम क्रीड़ा अब भी यदा कदा दीख पड़ती है, लेकिन प्रिय लूसी ग्रे के मधुर, सौम्य दर्शन नितान्त दुर्लभ हैं।

बहुत दिन पूर्व लूसी ग्रे के पिता ने लूसी से कहा था "बेटी ! आज की रात बहुत अशान्त प्रतीत हो रही है। तुम नगर को प्रस्थान करो और अपनी माँ को बर्फ़ीले मार्गों में प्रकाश दिखाकर लिवा लाओ।"

उसने उत्तर दिया—"पिता ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। मैं इस कार्य को अत्यन्त प्रसन्नता से करूँगी। अभी दोपहर नहीं ढला है और गिरजाघर की घड़ी ने केवल दो बजाए हैं। अभी रात्रि बहुत दूर है।"

इसके अनन्तर पिता अपने कार्य में पुनः व्यस्त हो गये और लूसी ग्रे ने प्रकाश लेकर नगर की ओर प्रस्थान किया।

वह मृगछौनी-सी चपल सुकुमारी बालिका धूम्र सदृश आच्छादित हिमकणों को चीरती, पैरों से रौंदती आगे बढ़ती रही, किन्तु बर्फ़ समय से पूर्व ही गिरने लगा और वह इतस्ततः अनिश्चित मार्गों में भटकती रही। अनेक टीलों, पहाड़ियों पर वह चढ़ी, किन्तु नगर में नही पहुँच सकी।

उसके अत्यन्त दुखी, व्यथित माता-पिता सारी रात चिल्लाते-रोते हुए अपनी पुत्री को इधर-उधर ढूँढ़ते रहे, किन्तु कोई भी दृश्य अथवा ध्वनि उनकी सहायक नहीं हुई।

प्रातःकाल एक पहाड़ी पर खड़े होकर उन्होंने मैदान के चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। अपने निवास-गृह से एक फर्लांग की दूरी पर उन्हें एक लकड़ी का पुल दिखाई दिया।

वे निराश होकर करुण क्रंदन करने लगे। अब तो हम सब स्वर्ग में ही मिलेंगे—ऐसा सोचकर ज्योंही वे घर की ओर उन्मुख हुए तभी लूसी की माँ को बर्फ में पद-चिह्न दृष्टिगोचर हुए।

वे बहुत थक गये थे, तो भी ढालू पहाड़ी के नीचे उतरकर उन्होंने उन छोटे पद-चिह्नों का अनुसरण किया और टूटी, काँटेदार झाड़ियों से गुज़रकर एक प्रस्तर दीवार के मार्ग से एक विस्तृत मैदान को पार किया, किन्तु पद-चिन्ह अभी तक पूर्ववत् ही बने थे। उन्होंने

पुनः उनका अनुसरण किया। बहुत दूर तक भी वे समाप्त नहीं हुए। अन्त में लूसी के माता-पिता पुल पर पहुँचे। पुनः बर्फीले किनारे पर उन्हीं पद-चिन्हों का पीछा करते हुए वे पुल के मध्य में पहुँच गये। ठीक उसी स्थल पर इन पद-चिन्हों का अन्त था।

इस दुर्घटना के पश्चात् भी लोगों का दृढ़ विश्वास है कि बालिका अभी तक जीवित है और शून्य वन-कक्ष में यदा-कदा उसके दर्शन होते हैं। ऊँचे-नीचे, दुरूह, विषम पथों मे भटकती हुई वह बिना पीछे मुड़े आगे बढती रहती है और अत्यन्त करुण, दुःखभरा गीत गाती है जो वायु के स्तरों में निरन्तर ध्वनित होता रहता है।"

बड़े-बड़े कवियों तक की कविता के प्रेरणा-स्रोत कभी-कभी इतनी तुच्छ, नगण्य वस्तुओं पर आधारित होते हैं, कभी-कभी वे क्षुद्र जीवों के स्नेह, सौहार्द्र और सहानुभूति में इतने आत्मविभोर हो उठते हैं कि उनके जीवनगत दृष्टिकोण अपनी समस्त यथार्थता के साथ उनके सम्मुख हाथ बाँधे खड़े रहते हैं। इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध कवि राबर्ट बर्न्स की यह विशेषता थी कि तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं में भी उनकी दिलचस्पी और मानसिक रुचि सक्रिय थी। सन् १७८५ के नवम्बर मास में एक दिन ऐसी घटना घटी कि जब बर्न्स खेत में हल चला रहे थे तो उनके हल की धुरी से एक चूहे का बिल उलट-पुलट गया। चूहा भयातुर हो जोर से भागा। बर्न्स का ब्लेन नाम का एक सेवक छड़ी लेकर उसे मारने दौड़ा, किन्तु बर्न्स ने उसे यह कह कर रोक दिया, "क्या इसने तुम्हारी कोई क्षति की है ?" सन्ध्या समय वे काग़ज-कलम लेकर बैठ गए और उन्होंने चूहे पर कविता लिख डाली। बर्न्स की इस सुप्रसिद्ध कविता 'टु ए माउस' (To A Mouse) का भावार्थ नीचे दिया जाता है :

"ओ, छोटे, क्षीण, भयातुर, डरपोक प्राणी ! तेरे पेट में यह कैसी उथल-पुथल मची ? तुझे इस प्रकार आर्त्तनाद करते हुए शीघ्रता से सरपट दौड़ने की आवश्यकता न थी। मै अपनी हिंसक आकांक्षाओं को लेकर तेरे पीछे भागने की धृष्टता न कर सकता था।

मुझे हार्दिक क्षोभ है कि मनुष्य का अनुशासन प्रकृति के सूक्ष्म, सामाजिक बन्धनों को क्षण भर में ध्वस्त कर देता है। मेरे जैसे तुच्छ, पृथ्वी से उत्पन्न सखा और चिरंतन साथी के प्रति तेरी यह दुर्भावना, जिसने कि तुझे द्रुतवेग से भागने को बाध्य किया, न्यायसंगत ही है।

निःसन्देह, तू सदैव फलता-फूलता रहे। ओ छोटे जीव ! तेरा अस्तित्व इतना स्वल्प है कि यदि तू हमेशा बरक़रार रहे तो हानि ही क्या है। मैं तुझे सद्भावना पूर्वक आशीर्वाद देना कभी न भूलूँगा।

तेरा ज़रा सा, छोटा घर उजड़ गया। अब इस चतुर्दिक् फैली हरीतिमा में नया

घर कैसे बनेगा ? दिसम्बर की तीक्ष्ण, घातक हवाएँ अब आरम्भ होने को ही हैं।

तूने तो सोचा था कि खेत उजाड़ और सूना पड़ा है और कड़कड़ाता, भयंकर शीत भी शीघ्र आना ही चाहता है। तूने ओ मित्र ! बर्फीली, तेज हवा से अपनी रक्षा करने के लिए यह आश्रयस्थल खोजा था, किन्तु सर्र से मेरे हल की तेज, निर्मम नोक ने तेरे बिल को चीर डाला।

थोड़े से हरे पत्ते तूने कितने कष्ट और परिश्रम से एकत्रित किये होंगे। अपनी समस्त परेशानियों के बावजूद भी तू अपने मकान से बाहर शीत और ठंडी हवा में कष्ट झेलने के लिए खदेड़ दिया गया।

पर चूहे ! तेरा दोष नहीं, बहुतों की भावी कल्पनाएँ इसी प्रकार निरर्थक साबित होती हैं। चूहे हों या मनुष्य, किसी की भी सोची हुई बातें कभी पूरी नहीं होतीं। जिन भावी सुखों की हम कल्पना किया करते हैं वे प्रायः दुःखों में बदल जाया करते हैं।

तो भी तू मेरी तुलना में बड़ा सुखी है। तुझ पर केवल वर्त्तमान ही असर करता है, किन्तु मैं अपने अतीत दुःखों को याद करके रोता हूँ और भविष्य की सही कल्पना न करने के कारण सम्भावित कष्टों को सोच-सोचकर भयभीत रहता हूँ।"

लगभग एक वर्ष बाद अप्रैल मास में बर्न्स के हाथों एक और दुर्घटना घटी। वे प्रतिदिन की भाँति खेत में हल चला रहे थे कि अकस्मात् हल की नोंक ने एक 'डेज़ी' पुष्प को छिन्न-भिन्न कर दिया। बर्न्स ने उस जर्जरित पुष्प पर अपनी कविता रच कर उसे सदैव के लिए अमर बना दिया।

"ओ नन्हे से, संकुचित, लजीले, लाल पुष्प ! तू मुझे कुसमय में मिला, क्योंकि मैंने अन्य अगणित वस्तुओं के साथ तेरे कोमल वृन्त को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। ओ सुकुमार रत्न ! अब तुझे पहले जैसा बना देना मेरी शक्ति और सामर्थ्य से परे है।"

ध्वस्त पुष्प को देखकर कवि को जीवन की क्षणभंगुरना का स्मरण हो आता है और वह उत्तरोत्तर समीप आती हुई मृत्यु की कल्पना करता हुआ अपने को सम्बोधन करके कहता है।

"अरे तू भी, जो 'डेज़ी' की किस्मत को रो रहा है—इसी प्रकार एक दिन मर जायगा। वह दिन दूर नहीं है जब तेरी भी यही दुर्दशा होगी। क्रूर सर्वनाश रूपी हल की धुरी तेरे यौवन पर कुठाराघात करेगी और सिकुड़ी खाल की झुर्रियों के भार से दब कर तू सीधा मृत्यु के मुँह में चला जाएगा।"

अत्यन्त प्राचीन काल से कबूतर विश्वस्त संदेशवाहक रहा है। विश्व-इतिहास

में ऐसे प्रमाण मिले हैं कि सम्राट् सोलोमन भी कबूतरों को डाक हरकारों के रूप में पालता था।

ग्रीक, रोमन, पारसी और सेरासन्स के शाही सैन्यदल में इन कबूतरों को संदेशवाहक के बतौर इस्तेमाल किया जाता था। युद्ध और शान्ति, प्रेम और व्यवसाय, जीवन-मरण, सुखद-दुखद संदेशों का विनिमय उनके द्वारा होता था। गॉल की विजय के समय जूलियस सीज़र ने कबूतरों से सहायता ली थी और इतिहासकार प्लाइन ने लिखा है कि सम्राट् हरटियस और ब्रूटस ने मोडेना युद्ध-काल में कबूतरों को संदेश-विनिमय का माध्यम बनाया था। सुप्रसिद्ध वाटरलू की लड़ाई में कबूतर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए थे।

हमारे यहाँ मुस्लिम राजाओं से भी पूर्व कबूतरों का उपयोग होता रहा है और अंग्रेजी शासन काल तक उनके द्वारा 'डाक सर्विस' का उल्लेख मिलता है। कहते हैं कबूतर का वेग १२० मील प्रति घंटा से भी अधिक होता था। उक्त कविता ५६३-४७८ ईसा पूर्व एक यूनानी कवि की रचना है, जिसे सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि टामस मूर ने अंग्रेजी में रूपान्तरित किया है।

"मेरे प्यारे कबूतर ! बताओ न !
क्यों तुम इस प्रकार अपने सुकोमल
आर्द्र पंखों को फड़फड़ा कर
वायु में पुष्पों की सुखद, भीनी गन्ध
विकीर्ण करते उड़े चले जा रहे हो।
बताओ न ? किधर, कहाँ,
किस गन्तव्य की ओर
तुम भ्रमण कर रहे हो ? प्रिय पक्षी !
बताओ न मुझे अपनी
पूरी कहानी तो सुनाते जाओ।

विचित्र पथिक !
टीअन संगीत-परम्परा के चारण कवि से
मेरा सम्बन्ध है और मैं नीलवर्ण
शोभन नेत्रों वाली सौन्दर्य-अप्सरी के पास
उसका आदेश-पत्र
लिये जा रहा हूँ
आह !
इन नेत्रों ने न जाने कितनों को मदमत्त बनाया है,
पर कवि तो सर्वाधिक उसके स्नेह-पाश में आबद्ध है।
प्रेम की देवी 'वीनस'

प्रणय गीत लहरी जगाने के लिए
उसके अपने निकुंज में कूकती है।
निश्चय ही वह कैसा सौभाग्यशाली
दिन था जब कि उसने मुझे
दूरस्थ कवि को सौंपा था।
देखिए—तभी से मै उसका
तुच्छ विश्वस्त चाकर हूँ,
जो धीमी, मंथर गति से पंखों पर
तैरता और कवि के प्रेमावेश भरे गीतों को
वायु में लहराता आकर्षक
रूपसी बाला के समीप उसके
प्रेम-संदेश को लिए उड़ा चला जा रहा हूँ।"

पत्र—महज मामूली कागज़ के टुकड़े हैं, पर उनमें अंतरंग भावनाएँ और रहस्य-पूर्ण अनुभूतियाँ छिपी होती हैं। वे विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम बनकर बहुत ही महत्त्वपूर्ण साबित होते हैं। अंग्रेजी कवयित्री एलिज़ाबेथ बेरट ब्राउनिंग ने अन्तिम पद में पत्रवाहक का अभिनन्दन करते हुए उसे निःस्वार्थ परोपकारी के रूप में चित्रित किया है :

"मेरे पत्र ! निर्जीव कागज़ के टुकड़े मात्र—मूक और श्वेत, फिर भी मेरे काँपते हाथों में वे सजीव और स्पन्दित प्रतीत होते हैं। उन विवश कम्पायमान करों में जिन्होंने सम्भालने में असमर्थ बंध शिथिल हो जाने के कारण उन्हें आज रात मेरे घुटने पर बिखरने दिया है।

इस पत्र में लिखा है कि वह साथी के रूप में--केवल एक बार—मुझे अपनी नज़रों के सामने रखना चाहता है। बसन्त ऋतु में एक नियत दिन आकर वह मेरा हाथ स्पर्श करना चाहता है। बहुत साधारण सी बात है, पर मेरा रुदन न जाने क्यों फूटा पड़ रहा है ?

यह पत्र—महज़ हलका सा कागज़--पर इसमें लिखा है—"प्रिये ! मै तुझे प्यार करता हूँ" ओह ! मैं पस्त हूँ और मेरी आत्मा करुण क्रन्दन कर रही है मानो खुदा का क़हर मेरे अतीत पर हावी है। इस पत्र में लिखा है "मै तेरा हूँ" और इसकी स्याही तेजी से धड़कते मेरे वक्षःस्थल पर पड़े-पड़े निःस्पन्द पड़ गई है।

यह पत्र--ओ प्रिय ! तुम्हारे शब्दों का कैसा विषम प्रभाव होगा यदि मैं--जो इसमें लिखा है--दुहराने की चेष्टा करूँ तो।"

"ओ उदार ! ओ महान् कृपालु ! मै बदले में क्या दूँ जिसने बिना कुछ कहे मेरे प्रणयी के अन्तर की स्वर्णाभा का अमल-धवल आलोक मुझ तक पहुँचाया है।

अपनी अवांछित उदारता का परिचय देते हुए उसके संदेश को बाहरी दीवार पर रख दिया है मानो कि मैं उन्हें लूंगी या वहीं पड़े रहने दूंगी ।

क्या मैं निर्मम हूँ या कि कृतघ्न, क्योंकि इन अमूल्य, बेशकीमती उपहारों के बदले में तुम्हें कुछ भी तो नहीं दे पा रही हूँ--सचमुच, कुछ भी नहीं। किन्तु ऐसा नहीं, मैं निर्मम या कृतध्न नहीं बल्कि मजबूर और दयनीय हूँ । ईश्वर से पूछो जो सर्वज्ञ है ।

अनवरत अश्रुओं ने मेरे जीवन की लालिमा को अपहृत कर लिया है और मुझे मृत और नितान्त निष्प्राण बना दिया है । यह ठीक नहीं है, आख़िर मेरा वह आधार नहीं बन सकता जो उसका है ।

आगे जाओ ! मुझ से दूर ! पर मैं ऐसा अनुभव करती हूँ मानो मैं अब से तुम्हारे आश्रय की छाया में खड़ी रहूँगी ।"

संचार-साधनों के समुचित विकास के पूर्व पैदल हरकारों को मार्ग की अनगिनत कठिनाइयों को पार करना पड़ता था। आँधी-तूफान, वर्षा-धूप और ऊँची-नीची, समतल या पर्वतीय भूमि पर दिल दहलाने वाले जंगली जानवरों से लोहा लेते हुए जान हथेली पर रख कर बेझिझक उन्हें आगे बढ़ना पड़ता था । इन हरकारों के पास एक चाबुक होती थी जिसमें छोटी-छोटी घंटियाँ लगी होती थीं, जो इनके आगमन की सूचक थीं। सुप्रसिद्ध कवि रुडियार्ड किपलिंग ने 'ओवरलैंड मेल' की 'फूट सर्विस' (पैदल सेवा) का बड़ा ही रोमांचक वर्णन प्रस्तुत किया है ।

"भारत की महारानी के नाम पर अग्रसर होते रहो, ओ जंगल के स्वामी ! तुम जहां कहीं भी हो, आगे बढ़ते रहो।

सांध्य बेला में वन प्रांतर अस्थिर हो उठता है, यहाँ का वातावरण अशांत हो जाता है, फिर भी हम बनवासी अपने घरों से आने वाले पत्रों की प्रतीक्षा कर रहे हैं । डाकू छिप जाएँ ! शेर अपनी दुम को पीछे मोड़ लें ! पहाड़ी डाक महारानी के नाम पर किसी तरह सुरक्षित पहुँच जाए ।

ज्योंही सांध्य अंधकार सघन होता जाता है घंटियों की रुनझुन के साथ हरकारा पगडंडी पर मुड़ता है—उस पगडंडी पर जो पहाड़ी पर ऊँचे ले जाती है । उसकी पींठ पर डाक के थैले लटके हुए हैं, और ठोड़ी पर कपड़ा लिपटा है । कमरबंद पर डाकखाने का यह सूचक-चिह्न लटका है जिस पर लिखा है "रेल से प्राप्त करते ही अमुक तारीख को हरकारे द्वारा ओवरलैंड मेल के दो थैले भेजे गये ।"

क्या नदी में बाढ़ आ गई है ! उसे तैर कर पार करना होगा या नष्ट हो जाना होगा । क्या वर्षा ने सड़क को अवरुद्ध कर लिया है ? उसे शिखर पर से उतरना होगा । क्या भयंकर तूफ़ान उसे रुकने का संकेत देता है ? पर आँधी-तूफ़ान

उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता। इस कठिन सेवा में 'मगर······" अथवा 'ननुचन' की गुंजायश नहीं है। जब तक उसके मुँह में साँस है उसे बिना किसी झिझक के आगे बढ़ना ही होगा, महारानी के नाम पर ओवरलैंड मेल को ले जाना ही होगा।

अखरोट वृक्ष से बैतूल वृक्ष तक, बैतूल से देवदार वृक्ष तक, समतल से ऊबड़-खाबड़ भूमि तक, ऊबड़-खाबड़ भूमि से शिखर तक, चावल के खेत से चट्टानी मैदान तक, चट्टानी मैदान से मंज़िल तक, हल्के-फुल्के जूतों से उसे उड़कर जाना होता है। सीना फुलाकर श्रमपूर्वक चढ़ना पड़ता है। विषम पथ से नाले तक और पहाड़ी मोड़ों से घाटी तक, ऊँचे--और ऊँचे--रात्रि के मध्य भी--पहाड़ी डाक को ले जाना होता है।

आह ! उधर पहाड़ी की ओर एक धूमिल आकृति दीख पड़ रही है–सड़क पर एक धब्बे की तरह। नीचे पगडंडी पर घंटियों की रुनझुन सुन पड़ रही है। बंदरों के आवास में ऊपर अचानक हड़कम्प-सा मच गया है। दुनिया जग गई है और दूर आकाश में बादल चमक उठे हैं। महारानी के नाम पर 'ओवरलैंड मेल' का स्वागत करने के लिए महान् सूर्य भी मानो अपनी शत-सहस्र किरणों से स्वागत के लिए तैयार खड़ा मुस्करा रहा है।"

वैधव्य जीवन कितना कष्टपूर्ण और दुःखमय है। एक अनजानी घुटन प्राणों को मसोसती हुई समस्त इच्छा-आकांक्षाओं को जैसे राख का ढेर बना देती है। दिल पर गहरे विषाद और कचोटती वेदना की काली छायाएँ मँडराती हे तो श्रम करने में भी बड़ा कष्ट होता है। अतः कोल्हू के बैल की भाँति उसकी ज़िन्दगी बड़ी ही बेमानी और संघर्षशील है। कारण–वह चेतन मन से कार्य-क्षेत्र में तो उतरती है, पर उसकी अन्तश्चेतना के परस्पर विरोधी, कभी-कभी असम्बद्ध और भयावह तत्त्व हैं जो उसकी चेतना को अवचेतन के निरन्तर प्रहारों से प्रताड़ित करते रहते हैं। न्यूयार्क के सुप्रसिद्ध कवि डॉ० वेस्टन मेकडानियल ने कृत्रिम विशेषणों और अलंकारों का प्रयोग किये बग़ैर यथातथ्य गुणात्मक चित्रण को बड़े कौशल से अंकित किया है :

"दुःख के उच्च श्रृंगों पर
निस्तेज दृष्टि गड़ाए
वह पेड़ की सूखी ठूँठों के बीच हल चलाती है।
वृक्षों के ऊबड़ खाबड़ पैशाची अवशेषों के इर्दगिर्द
वह अपंग बैल के सहारे हल चलाती है।

गरीबी के लौहशिकंजे में जकड़ी
और श्रम के क्रूर पाश में आबद्ध

वह हल चलाते बैल से अपनी ताक़त की होड़ करती है
जैसे ही मिट्टी के ढोके उखड़ते हैं
व्यथा के ढोके उसके कण्ठ को रूंध देते हैं।

रात्रि में
जबकि उसका काम ख़त्म होता है
वह पहाड़ियों पर जाती है
उस ध्वस्त वृक्ष की छितराई टहनियों के समीप
घुटने टेकने और रोने, जहाँ उसका पति
बिजली से आहत होकर मरा था।
मुँह अँधेरे से उठकर मध्य रात्रि तक
वह दुःख, क्लेशों से अनभिज्ञ गुलाम सी
कड़ा श्रम करती है;
स्वाभिमान की निर्मम जड़ता सँजोए
अपने असहाय आठ बच्चों का पालन-पोषण करतो हुई
जो ज़िन्दगी के सुखों से वंचित हैं।

मुँह अँधेरे से मध्य रात्रि तक
वह कड़ा श्रम करती है
उस अन्धे बैल की तरह,
जो कोल्हू में जुता हुआ
अपने चिर-परिचित पथ पर अविरत चक्कर काटता है
और दासता के अनाज को दलकर
जीवन की ख़ुराक पैदा करता है।"

मानव की उन्मुक्त आत्मा दासता का बंधन कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहती, मगर ज़िन्दगी की अनगिनत मजबूरियों और पेट की आग ने मज़दूर नाम की चीज़ को जन्म दिया। ग़रीबी की मार उसकी आत्मा के स्वाभिमान को चाट जाती है, उसमें कुछ बचता नहीं। इंजिन की भट्टी में कोयला झोंकने वाले मज़दूरों का एक दृश्य चित्र इसी कवि के मानस पटल पर कैसा उभरा है :

"कमर तक उघड़े बदन
वह भीतर खोह में घुस जाते हैं
उन भयंकर अँधियाली खोहों में,
जो अग्नि से आच्छादित और धुएँ से ठसाठस है
वे नीचे छाया में पैठते हैं
उन सघन छायाओं में, जो धूल, राख और कालिख से ओतप्रोत हैं।

वे नीचे आग की लपटों से संघर्ष करने उतरते हैं
नुकीली जिह्वा सी लपटों से, जो प्राण कचोटकर सखा देती हैं,
खून उबाल देती हैं, और श्वास अवरुद्ध कर देती हैं
मनहूस चेहरे और धुँधली आँखें लिये,
जो बादलों में छिपे सूर्य सी निस्तेज और
क्षितिज के पार डूबते तारे सी निःस्पन्द हैं,
वे खोहों में घुस जाते हैं
उन घंटों से जूझने; जो दिन से काले
और रात द्वारा अधिकाधिक मलिन बनाये गए हैं
क्योंकि वे भट्टों में कोयला झोंकने वाले कोयला मज़दूर हैं
ऐसे भयंकर विस्फोटक भट्टों के,
जो कोयलों के ढेर में आँच की सफेदी
और कच्चे धातु के टुकड़ों के लौह-अंतस्थ को
पिघला देते हैं।

बेढंगी पीठ लिये
वे खोहों में घुसते हैं
नीचे आग की क़ब्र में
वे नीचे, नीचे, एकदम नीचे उतरते जाते हैं
उस भावी संतति के संरक्षण के लिए उत्फुल्ल गीत गाते हुए
जो अभी पैदा नहीं हुई।"

जोंक मज़दूरों के सम्बन्ध में लोगों को बहुत कम जानकारी है, किन्तु इनका जीवन और भी कठिन व श्रमसाध्य है। मौसम और विषम वातावरण की बिना पर्वाह किये वे समुद्री किनारों और जल के बीच जोंक ढूँढ़ने में बेतहाशा जुटे रहते हैं। डॉ० वेस्टन मेकडानियल ने अपने भ्रमण के दौरान एक ऐसे ही वृद्ध जोंक-मज़दूर से मुठभेड़ की जिसकी सहज सरल वाणी से एक-एक शब्द कवि के चिंतन का गंभीर विषय बन गया।

"तमाम रात हवा की भीषण गड़गड़ाहट होती रही।
धुआँधार वर्षा हुई और जल उमड़ बह चला।
किन्तु अब शांत चमकीला सूर्य उदित हो रहा था।
दूर बन-प्रान्तर में चिड़ियाँ गा रही थीं।
पेड़ की अपने मधुर स्वर पर मुग्ध थी।
नीलकण्ठी चहचहाती थी तो नीलकण्ठ उसका उत्तर देता था।
सारा वातावरण जल की सुखद कलकल ध्वनि से भरा था।

सूर्य को प्यार करने वाली सभी वस्तुएँ बाहर निकल आई थीं।

प्रभात के जन्म पर आकाश खुशियाँ मना रहा था।
वर्षा के बिंदुकणों से घास चमक रही थी,
विशाल भूखण्ड में खरगोश उत्फुल्ल हो चौकड़ी भर रहा था।
जलसिक्त धरती से जल का धुंध उड़ाता और कुलाचें भरता हुआ
वह दौड़ रहा था।
जहाँ कहीं जाता था,
यह धुंध भी धूप में दमकता हुआ उसके साथ उड़ रहा था।

मैं तब उस विशाल भू-प्रदेश का पंथी था।
प्रसन्नता में विभोर खरगोश को चौकड़ी भरते मैंने देखा।
दूर वन्य-प्रदेश में जल की गड़गड़ाहट भी मैंने सुनी
अथवा सब सुनकर भी जैसे अनजान था।
चंचल बालक-सा मस्त,
सुहावने मौसम ने मेरे हृदय को अभिभूत कर लिया था।
मेरी अपनी अतीत स्मृतियाँ,
दूसरों की बिडंबना भरी मनहूस बातें,
मैं सभी कुछ विस्मृत कर चुका था।

पर जैसा कि प्रायः होता है खुशी का अतिशय्य विवेच्य-शक्ति
को शिथिल करता हुआ प्रसन्नता में हमें जितना ही ऊपर उठा देता है,
विषाद के क्षणों में उतना ही नीचे धँसा भी देता है।
वह प्रातः मेरे लिए ऐसा ही सिद्ध हुआ।
भय भरी असंभावित कल्पनाओं ने मझे जकड़ लिया।
धुँधली उदासी और आशंकाएँ,
नहीं जानता कि उन्हें क्या कहूँ,
मुझ पर बुरी तरह छा गईं।

मैंने लवा पक्षी को आकाश में चहकते सुना। चपल खरगोश के
बारे में भी मैं सोचता रहा। आह ! मैं पृथ्वी पर कैसा खुशनसीब
प्राणी हूँ। इन सौभाग्यशाली प्राणियों की भाँति ही
मैं समस्त दुश्चिताएँ भुलाकर दुनिया से दूर—बहुत दूर—चला
आया हूँ। लेकिन क्या जाने एक दिन ऐसा भी कभी आए
जब एकाकीपन, मनोवेदना, दुःख और गरीबी मुझे आ घेरे।

सारी जिन्दगी मैंने अलमस्ती में गुजार दी मानों जीवन का व्यापार
केवल चन्द दिनों की बहार हो। मानो सभी अभीप्सित वस्तुएँ
मेरे सुखद विश्वास और अब तक की मेरी सुखद समृद्धि पर रीझकर

स्वयमेव आ जाएँगी। लेकिन भला कोई कैसे दूसरों से
यह आशा करे कि वे उसके लिए प्रयत्न करें, बोएँ और
काटें और उसकी जरा सी पुकार पर उसे प्यार करने
दौड़ें जबकि वह स्वयं अपनी तनिक भी सँभाल नहीं रखता।

मैंन उस मित्र के अद्भुत व्यक्तित्व की याद की। वह बेचैन आत्मा
जो अपने स्वाभिमान से क्षय हुई ! खुशी की गरिमा से भरी जो
पर्वतीय क्षेत्र में अपने हल का सदैव अनुसरण करती रही ! किस
प्रकार अपनी आत्माओं से ही हम प्रताड़ित किए जाते
हैं ? हम, कवि, यौवनोन्माद में फूले नहीं समाते, किन्तु
अंत में क्रमशः नैराश्य और पागलपन हमें जर्जर बना जाता है।

तब फिर, इसे अलौकिक चमत्कार कहिए अथवा अज्ञात प्रेरणा,
या कोई दैवी देन, यह घटना घटी कि इस एकांत स्थल में जब मैं
इन दुःसंभावनाओं से घिरा था, आकाश की विस्फारित
दृष्टि के तले एक जलकुण्ड के समीप मैंने अप्रत्याशित
ही एक व्यक्ति को देखा। उसके बाल इतने सफ़ेद हो
चुके थे कि वह सबसे बूढ़ा आदमी प्रतीत होता था।

ऊँचाई की गंजी खोपड़ी पर औंधा पड़ा हुआ विशाल शिला-खण्ड
जैसे प्रतीत होता है, प्रत्येक देखने वाले के लिए अचरज सा
कि यह किस प्रकार यहाँ आया, कब, कहाँ से ? मानो
यह कोई सजीव वस्तु हो, उस समुद्री जानवर की तरह
जो चुपके से बाहर खिसक आया हो और प्रस्तर-खण्ड
पर अथवा रेत पर धूप तापने के लिये विश्राम कर रहा हो।

ठीक ऐसा ही यह व्यक्ति न जीवित सा, न मृत और न सोया
सा अपनी अति जर्जर वृद्धावस्था में प्रतीत हो रहा था।
उसका शरीर दुहरा झुक गया था। जिन्दगी की लम्बी यात्रा से
थक कर उसके पाँव और सिर एक-सी स्थिति में आ गए थे।
लगता था मानो भारी व्यथा की कशिश अथवा किसी रोग का प्रकोप
उसे गुजरे जमाने में आक्रांत कर चुका है। मनुष्य की
सामर्थ्य से परे कोई दुर्वह भार उसके कन्धों पर सदैव रहा है।

अपने शरीर, अंग-प्रत्यंगों और मुँह को उसने एक लम्बी, भूरी,
साफ लकड़ी की बनी छड़ी के सहारे टिका दिया था,
और अभी तक ज्यों-ज्यों उसकी ओर मैं मंद गति से बढ़ रहा था,

मैदानी बाढ़ के छोर पर वह वृद्ध उस निश्चल बादल सा खड़ा था
जो हवाओं की भीषण गड़गड़ाहट को भी नहीं सुनता
और यदि चलता है तो एक साथ भार-संभार लेकर चलता है।

तदनन्तर अपने को अनिश्चित करके उसने उस तलैय्या को छड़ी
से झकझोरा और उसके गंदले पानी में इस प्रकार दृष्टि गड़ाकर
देखा मानों कंठस्थ करने के लिए वह किसी पुस्तक को
ध्यान से पढ़ रहा हो। एक अपरिचित का श्रेय लेकर
और उसके समीप जाकर मैंने उससे कहा 'आज
का सुबह एक सुन्दर सुहावने दिन का द्योतक है।

वृद्ध ने विनम्र भाषा में, क्रमशः शब्दोच्चारण कर, मेरी बात का
सौम्य उत्तर दिया। फिर मैंने उससे पूछा, 'आप वहाँ क्या कर
रहे हैं ? आप जैसे वयोवृद्ध व्यक्ति के लिए यह जगह नितांत
सूनी है ?' अपनी बुझी आँखों किन्तु अब भी प्रखर दृष्टि
फेंककर किंचित् आश्चर्य के साथ उसने उत्तर दिया।

क्षीण कंठ से क्षीण शब्द धीमे-धीमे बाहर आए, पर प्रत्येक
तरतीबवार, एक के बाद एक, गुरु गंभीरता लिये और ऊँची
भावनाओं को समेटे। चुने हुए शब्द और नपी-तुली बात जो
साधारण व्यक्ति की समझ से परे की चीज़ थी, ऐसी
शानदार वक्तृता जैसी स्काटलैंड के समाधि-निवासी
और धार्मिक व्यक्ति, जो ईश्वर और मानव मात्र के
लिए सर्वस्व अर्पित कर देते हैं, बोलते हैं।

उसने बताया कि जल में वह जोंक ढूँढ़ने आया है। वृद्ध और
निर्धन होने के कारण यह व्यवसाय उसके लिए बड़ा ही कष्टप्रद और
थका देने वाला हो गया है। उसे अनेक मुसीबतें उठानी पड़ती हैं।
एक मैदान से दूसरे मैदान, एक तलैय्या से दूसरी तलैय्या, इस
प्रकार दर-दर भटकता, ईश्वर की कृपा पर निर्भर, जैसा भी मौका
देखता है वहीं आश्रय ग्रहण करता है। इस तरीके से
ईमानदारी के साथ वह अपनी आजीविका कमाता है।

वृद्ध अभी तक मेरे समीप खड़ा बातें कर रहा था। लेकिन अब
उसकी वाणी जल-प्रवाह सी धीमी बड़ी कठिनाई से ही सुन पड़ रही
थी। शब्द को शब्द से पृथक् करना कठिन था। उस आदमी का

सम्पूर्ण व्यक्तित्व ऐसा प्रतीत होता था मानों वह मुझे स्वप्न में
मिला हो अथवा किसी दूर देश से प्रेषित मानव-सा
मुझे सचेत करने और मानवीय शक्ति प्रदान करने वह आया था।

मेरे पहले विचार लौट आए, वह घातक भय और दुराशा जो
संवर्द्धन नहीं चाहती। शीत, दर्द, श्रम और सभी शारीरिक क्लेश
तथा वे महान् कवि, जिन्हें मुसीबतों ने निगल लिया,
सभी मेरे स्मृतिपटल पर कौंध गए। घबराकर और अपनी
तसल्ली के लिए मैंने फिर वही प्रश्न उत्सुकता से
दुहरा दिया, 'आप यहाँ कैसे रहते हैं और क्या करते हैं ?'

उसने मुस्करा कर पुनः अपने उन्हीं शब्दों को दोहराया और कहा
कि जोंक एकत्रित करने के लिए वह इतस्ततः भटकता फिरता है।
जहाँ कहीं भी मिलने की संभावना होती है वह तलैय्या के पानी
को पैरों से टटोल कर उन्हें ढूँढ़ता है। "किसी समय वे हर कहीं
मुझे मिल जाती थीं। पर समय की दीर्घ अवधि ने
उन्हें क्रमशः नष्ट कर दिया है। तो भी जहाँ कहीं वे मिल
सकती हैं, मैं उन्हें ढूँढ़ने में कोई कसर नहीं रखता।"

इस प्रकार जब वह बातें कर रहा था तो उस एकांत स्थल, वृद्ध
के व्यक्तित्व और विवश वाणी सभी ने मुझे परेशान कर दिया। मेरे
मस्तिष्क में शिथिल पाँवों से मैदान में अनवरत चुपचाप और एकाकी
घूमते हुए उस व्यक्ति की तस्वीर खिंच गई। जब भीतर ही भीतर
मैं इन विचारों में उलझा हुआ था, उसने थोड़ा रुककर
फिर वही सब दोहरा दिया।

और शीघ्र ही उस प्रसंग में उसने अन्य बातें भी जोड़ दीं। सौम्य मुद्रा
में प्रसन्नतापूर्वक किन्तु एक विशिष्ट गरिमा लिये उसने बताया।
जब वह समाप्त कर चुका तो मुझे अपने से घृणा हुई और हँसी
आई कि इस जर्जर मनुष्य में कितनी दृढ़ता है। "प्रभु !' मैंने कहा
'मेरी रक्षा करो और मुझे सामर्थ्य दो। शून्य वनखण्ड में
इस जोंक ढूँढ़ने वाले व्यक्ति का मैं सदैव ध्यान रखूँगा।"

आग में कोयला झोंकने वालों की अपेक्षा कोयला खोदने वाले मज़दूरों का काम अधिक परिश्रमसाध्य और आयासपूर्ण होता है। उन्हें आँख, नाक और भीतर अंतड़ियों तक धँस जाने वाली कलौंच से बड़े ही धैर्य और आत्मविश्वास के साथ कड़ा संघर्ष करना पड़ता है और कोयले की चट्टान जैसी सख्ती के साथ-साथ जीवन को भी

दारुण और वज्र सा कठोर बनाना पड़ता है। यही एक तथ्य इस महाकवि की दृष्टि की गहरी पैठ का ज्वलन्त प्रमाण बनकर निम्न कविता में प्रकट हुआ है :

"गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी के प्रस्तर कोण में
और नरक की-सी अंधेरी गलियों में भी
वे कोयला खोदते हैं।
ज़मीन की कठोर काली छाती को चीरकर
वे कोयला खोदते हैं।

हर जगह
कालस की रेखाएँ
जो सघन छायाएँ बनकर उनकी आँखों में धँस जाती हैं,
जबकि रात-सी कालिमा रस्सों द्वारा
झकझोरती हुई
उन्हें काली खंदक में ढकेल देती है।

गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी की अँधेरी सीली कोख में
चुपचाप और अनदेखे
उनका दिल धड़कता है
जबकि ऊपर
भयानक सूनापन
निर्मम, घना
और कोयले की चट्टान-सा दारुण बनकर
उनके सिर पर छाया रहता है

हमेशा
नीले, स्वच्छ आकाश को
एक नज़र देखने के लिए
उनकी आत्मा तड़पती है,
और तारे
असंभावित गुलाब पुष्पों से
विनाश के पृष्ठों में संश्लिष्ट से जान पड़ते हैं,

तथापि कालस की धुंध
और वहाँ की तरलता से अवरुद्ध कंठों से भी
उनके आवेशपूर्ण गीत
चिनगारियों से फूटते हैं
उसी तरह
जैसे बच्चे की धूप से चकाचौंध आँखों में
प्रार्थना का प्रकाश फैल जाता है।"

'नींद के मोड़' शीर्षक कविता में डॉ० मेकडानियल ने बदनसीब बेकारों की विवशता और लाचारी का बड़ा ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी चित्रण किया है :

"सड़कों पर इधर से उधर
चरागाहों में
जलाशयों के साथ-साथ
काले जबड़ों और भौड़े मुँह वाले लोग
छोटी-मोटी आग जलाकर
रात को उजली बनाते हैं;
क्योंकि वे शीत से संघर्ष करने वाले
समाज से त्यक्त अभागे बेकार लोग हैं।

हवा की ओर पीठ फेरे
और कोट के कालर में सिर सिकोड़े हुए
वे निराश मनहूस से लट्ठों पर बैठ जाते हैं
सीले लट्ठों के पास, आग के इर्दगिर्द वृत्त बनाकर
जहाँ वे सभी एकत्रित हुआ करते हैं
भेड़ों की तरह
जो ऊनी बालों से वंचित, खदेड़ी हुई—
और अपने झुंडों से भटकी हुई होती हैं।

जब आग बुझ जाती है
जब पक्षी रात की बर्फ़ीली नीरवता में खो जाते हैं
वे व्यक्ति लट्ठों पर लेट जाते हैं
सीले लट्ठों और आग के चहुँ ओर वृत्ताकार
जहाँ वे भेड़ों का स्वप्न देखते हैं
ऊनी बालों वाली भेड़ों का
जो सुखपूर्वक अपने बाड़ों में विश्राम करती हैं—

जबकि रात में बर्फ़
उनकी आँखों के सामने पिघलता है
वे औंधे लेटे हुए
कसकर, चिपटकर
हाथों से लट्ठों को जकड़े रहते हैं
खूब कसकर जकड़े हुए
मानो नींद के दुर्दान्त मोड़ों को
अपने 'स्व' में समेट लेना चाहते हैं।"

'हलवाहों के प्रति' शीर्षक कविता में भोर के पहले रात्रि में उनकी क्या स्थिति होती है, किस प्रकार आर्थिक दुर्व्यवस्था से अभिशप्त ये मेहनतकश मूक मानव ज़िन्दगी के दुर्वह भार को ढोते हैं और अपनी अभावग्रस्त विभीषिकाओं में स्तब्ध और हतचेत से समय बिताते हैं। डॉ० वेस्टन मेकडानियल ने उनकी मर्मान्तिक वेदना को जैसे शब्दों में सजीव रूप में उभार कर दर्शाया है :

"एक सँकरी कोठरी में ठुँसकर बैठे हुए
जीवन की दुर्गन्ध और मृत्यु की विभीषिका से संत्रस्त,
जहाँ हवा उन्हें कचोटती है
जैसे मोमबत्तियाँ अपनी लपट से पिघलकर नष्ट हो जाती हैं
उसी प्रकार उनका शरीर भी पिघलता है।

एक सँकरी कोठरी में ठुँसकर बैठे हुए
उनकी आँखें दूर रात्रि के अँधेरे में तैरती हैं;
यहाँ तक कि सर्वनाश के घंटाघरों की ओर
और अन्धकार के दूरस्थ कक्षों में
जहाँ चील के पंख भी फड़फड़ा उठते हैं
और पक्षियों के बोल भी ठिठककर थम जाते हैं।

एक सँकरी कोठरी में ठुँसकर बैठे हुए
उनकी आँखें रात की अँधेरे तमस में खो जाती हैं
क्योंकि अभी तक
उनकी आँखों में शिथिल, सुखकर नींद की खुमारी है।
वह नींद जिसमें खेतों का भय समाया हुआ है,
लड़खड़ाते, लिथड़ते खच्चरों का भय,
उखड़ती, फटती लाल धरती का भय,
और दरारों, बेशुमार दरारों की हलकी चीख का भय,

जो घाटियों और पहाड़ी शिखरों तक को
अपने क्रूर पाश में
अग्नि की गड़ारियों पर लिपटते धागे सा
जकड़ लेता है।

शिथिल, सुखकर नींद
जिसे अरुणोदय की प्रथम रेखा फूटने का भय है,
मानो प्रसवकारिणी दाई हाथ में कतरनी लिये
रात की काली, मजबूत डोर को
उषा की नाभि से पृथक् कर देती है।"

सैकड़ों-हजारों वर्षों से मनुष्य सिलेसिलाये कलात्मक डिजाइनों के कपड़े पहनने का शौक़ीन रहा है, पर इन वस्त्र सीनेवालों और छोटी सी सुई की साधना में लगे श्रमिकों पर शायद ही किसी का ध्यान गया हो। डॉ० वेस्टन मेकडानियल ने बड़ी ही खूबी और दिलचस्पी के साथ अपनी संवेदना को उन तक पहुँचाया है।

"दिन ढलता है
रात ढलती है
वे
सीने की तेजी से गरम
चमकीली, इस्पाती सुइयों को
अनवरत दौड़ाते हैं।
श्रांत, सुन्न उँगलियों से
निर्मम, जर्जर उँगलियों से
वे
धागेदार सुइयों को
तेज, अपेक्षाकृत तेज
दिल की धड़कन से भी तेज
अनवरत दौड़ाते हैं।

नीचे से ऊपर
ऊपर से नीचे

वे
कौंधती सुइयों को
सदा टाँका भरती सुइयों को
मीलों
मीलों दूर

मीलों लम्बे कपड़े पर
अनवरत दौड़ाते हैं
श्रांत, सुन्न उंगलियों से
निर्मम, जर्जर उँगलियों से
निष्प्राण, थकी उँगलियों से
अब भी
सदैव
वे ऐसा ही करते हैं।"

न केवल इस कवि की दृष्टि मानवों तक सीमित रही है बल्कि पतझड़ के व्यर्थ, उजाड़ और इधर-उधर उड़ने वाले सूखे पत्तों तक को उसने अपनी उमड़ती संवेदना प्रदान की है।

"हवा के तूफ़ानी झोकों से
पतझड़ के पत्ते
निर्जीव, निष्प्राण और श्रांत से
मानो शरद ऋतु तक विश्राम करने के लिए
चरागाहों में इधर-उधर बिखर गए हैं।
संघर्षों से जूझकर
और झुण्ड बनाकर
वे मानों गरम करने के लिए
झाड़ियों, पेड़ों और जड़ों में रम गए हैं—
जैसे कठिन श्रम करते हुए किसानों को
उनके पाँवों पर लिपटे बोरे
सर्दी से बचाते हैं।"

इस कविता में कवि ने प्रेम और श्रम को परस्पर संश्लिष्ट कर दिया है। प्रेम और श्रम जीवन के प्रमुख व्यापार और एक दूसरे के पूरक, सहयोगी और पाथेय रहे हैं।

"प्रतिक्षण प्रेम को पोषित करो
प्रेम, जो न जाने कब से, कितने चिर काल से
गहन दुर्भेद्य रहस्य है
हृदय के प्रथम स्पन्दन
और गीत के पहले प्रश्वास से भी जो पुरोगामी है।

प्रतिक्षण प्रेम को पोषित करो
प्रम, जो घृणा के भीषण तूफ़ानों को
और अंधकार के दुर्लंघ्य पर्वतों को

ध्वस्त कर देता है।
प्रेम, जो पुष्पित मन्द समीर की भीनी सुगन्ध ले
पृथ्वी के अन्तराल तक पैठकर
उसके अणु-परमाणुओं तक को सिक्त कर देता है।

प्रेम और मनुष्य का श्रम
जो बुभुक्षा-सा अनन्त
और प्यास-सा चिर-चिरान्त है।

प्रतिक्षण प्रेम को पोषित करो
प्रेम, जो रात्रि में ध्रुव तारक-सा अचल, अटल
और वृक्ष के तने में धँसा हुआ तीर-सा सुस्थिर है।
प्रेम, जो बच्चों, रोगियों और और असमर्थ व्यक्तियों का सहारा है।

प्रेम,
जो काले, साँवले
लाल, पीले
और गोरे व्यक्तियों-सा अबोध्य है।

प्रेम,
मानव-सा अविनश्वर
और उन लोगों की इच्छा-अभिलाषा-सा अमर
जो जी-तोड़ परिश्रम करते हुए
ईगल पक्षी के घोंसले से उच्च महत्त्वाकांक्षा वाले
और उसकी असम्भावित उड़ान से भी बढ़कर
कल्पित स्वप्न सँजोने वाले हैं।"

गम्भीर से गम्भीर चिन्तक और कलाकार की कल्पना और रुचि कभी-कभी बहुत ही हल्के 'मूड' में किन्हीं अत्यन्त उपेक्षित और नगण्य वस्तुओं पर जा टिकती है तो लगता है जैसे जिन्दगी के अविश्रान्त डगर पर सरपट दौड़ते-दौड़ते मानो अनायास उसके समक्ष कोई मोड़ आ गया है। जीवन के इस दुर्गम पथ पर तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ और हृदय की गहराइयों से अनायास फूटे सोते उन उठने वाली भाव-लहरियों के सदृश हैं जिनके प्रवाह और गत्यवेग से टकराकर पाठक का मन भी उसमें डूब-उतराकर खोने लगता है। ऐसी अनन्य अनुभूति—स्वर, अलंकार और सायास काव्य-सृजन के तिलिस्म से परे—उस अंतरंग सत्य को उजागर करने के पक्ष में अपना लक्ष्य खोजती है जहाँ इस अकृत्रिम कला को उभारने के लिए बारीक निगाहें भी हैं और कला-पारखी का हृदय भी।

विश्व-साहित्य के इतिहास में ज़िन्दगी को सर्वथा नई दृष्टि देने वाली स्फुट स्थितियों के कुछ अभिनव पहलू या क्षण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं जिन्हें केन्द्र मानकर कलाकार अनुभवों का नया संस्पर्श और दृष्टिकोण प्राप्त करता है। निस्संदेह, ये क्षण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं और इन क्षणों में सिरजी कला में उसका आत्मदर्शन होता है। तात्पर्य है कि प्रकारान्तर से भावों का यह सबल उन्मेष और प्राणवत्ता ही साहित्य की वह थाती है जो अपने सहज स्पर्श से अन्तरात्मा के भीतर तक पैठ कर प्राणों को पुलकित और हर्ष-विभोर करती रहती है।